[अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ६२१००]

भागवतांक खण्ड २

वार्षिक मूल्य भारतमें ५ऽ) विदेशमें ७॥ऽ) (शिलिङ्ग ११)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

केवल इस प्रतिका भारतमें ॥) विदेशमें ॥॥) (१४ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P.(India).

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १६

सं० १९९८-९९ की

निबन्ध-सूची, कविता-सूची तथा चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस, गोरखपुर

वार्षिक मूल्य ५≡)
विदेशोंके लिये ७।≡)

प्रति संख्या ।)

'कल्याण'के आगामी विशेषाङ्क—

संक्षिप्त महाभारताङ्क (प्रथम खण्ड) में

आनेवाले एक बहुरंगे चित्रका इकरंगा नमूना

भीष्मपितामहपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा

पूरे वर्षका मूल्य ५≈) है, केवल संक्षिप्त महाभारताङ्क (प्रथम खण्ड) का मूल्य भी ५≈) ही है।

आप ग्राहक बनिये और मित्रोंको बनाइये।

श्रीहरिः

कल्याणके सोलहवें वर्षकी लेख-सूची

क्रम-संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अखिल चैतन्यका अमोघ रहस्य (१)	(श्रीइलाचन्द्रजी जोशी एम० ए०)	१७५९
२	” ” ” (२)	” ”	१८१८
३	” ” ” (३)	” ”	१९११
४	अपरिग्रह (कहानी)	(श्री ‘चक्र’)	१४४९
५	अमरत्वका राजपथ—ब्रह्मचर्य	(श्री ‘अलख निरञ्जन’)	१५९३
६	अमृत-कण	(‘गांगहरे’)	१८४८
७	अवतार-रहस्य	(श्रीकृष्ण)	१६५६
८	अस्तेय [कहानी]	(श्री ‘चक्र’)	१२७२
९	आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर	(‘कश्चित्’)	१५००
१०	आध्यात्मिकता, अहिंसा, गोरक्षा और निरामिषता	(श्रीयुत के० एल्० रामस्वामी शास्त्री)	१८०८
११	आर्यलोग तेजस्वी और वर्चस्वी क्यों होते थे !	(पं० श्रीअम्बालालजी जानी बी० ए०)	१३३२
१२	ईश्वर-प्रणिधान [कहानी]	(श्री‘चक्र’)	१९१६
१३	एक अंग्रेजकी रामभक्ति	(‘अमरसन्देश’ हिन्दी-प्रचार-समाचारसे)	१६२७
१४	एक एकान्तवासी महात्माके उपदेश	(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)	१७२२
१५	एक भक्तके उद्गार	(अनुवादक—श्रीयुत मुरलीधरजी श्रीवास्तव्य)	१७६९
१६	कल्याण	(‘शिव’)	१२३९, १३१९, १४१३, १६५८, १७२०, १८००, १८८१
१७	‘कल्याण’ के पाठकोंसे प्रार्थना	(श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)	१७८१
१८	कामके पत्र		१२६५, १३४५, १४२५, १५०२, १५८०, १६८३, १७४६, १८२५, १८९३
१९	कुछ बहिनोंके पत्रोंके उत्तर		१८३७
२०	कुम्भ	(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)	१३९९, १४८०
२१	कुम्भका आध्यात्मिक उपयोग	(श्रीमुनिलालजी)	१५१५
२२	खोल दे पलक !	(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)	१५६०
२३	गुरुतत्त्व और सद्गुरुरहस्य	(महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)	१८८२
२४	गृहस्थका परमधर्म—अतिथिसत्कार	(पं० श्रीअम्बालालजी जानी बी० ए०)	१४२९
२५	जग गयी !	(पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)	१२४०
२६	जप-प्राणायाम और मेरे अनुभव	(श्री ‘ॐ’)	१३५८
२७	जीव और ईश	(श्रीकृष्ण)	१९२१
२८	जीवनकी सफलता	(पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०, बी० टी०)	१५७८
२९	जीवनकी सरलता	(श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)	१३५५
३०	जीवनकी शोभा	(श्रीलॉवेल फिल्मोर)	१३४९
३१	जीवनपहेली और श्रीमद्भगवद्गीता	(रायसाहब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)	१५८७
३२	जैनकवियोंके आध्यात्मिक पद	(श्रीयुत अगरचन्दजी नाहटा)	१८५८
३३	ज्ञानका जीवनपर प्रभाव	(श्रीकृष्ण)	१५०५
३४	ज्ञानयोगके अनुसार विविध प्रकारके साधन	(श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१२५३
३५	[illegible]		१४१५

३६ तप [कहानी] ··· ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· ··· १७५०
३७ दानका आनन्द ··· ··· (श्रीलोकेश किशोर) ··· ··· १७६१
३८ दिवाली ··· ··· (पू० श्रीभोलानाथजी महाराज) ··· ··· १३०१
३९ धर्मकी सार्वभौमिकता ··· ··· (पं० श्रीगोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्त शास्त्री) ··· १९४८
४० नमस्कारमात्रसे भगवत्प्राप्ति ··· ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· १४८८
४१ निवेदन और क्षमाप्रार्थना ··· ··· (सम्पादक) ··· ··· ··· १०७२
४२ पथिकसे ··· ··· (श्रीब्रह्मचारी आनन्द) ··· ··· १७७७
४३ परमार्थ-पत्रावली ··· ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· १३३५, १४९३, १५६९, १६५९, १८११, १९२१
४४ पितृसेवा ··· ··· (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ··· १५२४
४५ पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश ··· (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ··· १५५९
४६ पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश ··· ,, ,, ··· ··· १८८०
४७ पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके उपदेश ··· ,, ,, ··· ··· १४७८
४८ पूजाका परम आदर्श ··· ··· (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०) १३२०, १४०६
४९ प्रज्ञाकी सिद्धिमें वृत्तिकी प्रयोजनशीलता ··· (साधु श्रीप्रज्ञानाथजी) ··· ··· १७७२
५० प्रार्थना ··· ··· ··· ··· १२४२, १३२५, १४१४, १६४०, १७१९, १७९९, १८७९
५१ प्रार्थनाकी आवश्यकता ··· ··· (स्वामी श्रीअशेषानन्दजी) ··· ··· १८६२
५२ प्रार्थनामय जीवन ··· ··· (श्रीरिचर्ड ह्वाइटवेल 'Science of Thought Review') १४९६
५३ प्रारब्ध ··· ··· (श्रीकृष्ण) ··· ··· ··· १२५१
५४ बलात्कारके समय क्या करें ··· (महात्मा गांधी 'हरिजनसेवक' से) ··· ··· १७१५
५५ ब्रह्मचर्य [कहानी] ··· ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· ··· १३७२
५६ बाल-प्रश्नोत्तरी ··· ··· (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०) १३१५, १३९३, १४६७, १५५२, १६२९, १७११, १७८५, १८६८, १९५१
५७ बाह्य और अन्तर्जगत्की समरसता ··· (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०) ··· १४४६
५८ बुद्धधर्मका उदय और अभ्युदय ··· (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, सा० आचार्य) १५९९, १७०५
५९ भक्त-गाथा
(क) भक्तिमती निर्मला ··· ··· ··· ··· १२६२
(ख) भक्त वेंकट ··· ··· ··· ··· १९०६
६० भक्तवर बालि ··· ··· (श्रीराजेन्द्रनाथ मिश्र 'अनुरागी') ··· ··· १७६१
६१ भक्तोंका सन्देश ··· ··· (श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३४३
६२ भगवन्नामजपकी सूचना और लोककल्याणके लिये पुनः अपील ··· (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय गोरखपुर) ··· १८७५
६३ भगवान्का प्यार ··· ··· (एक बहिन) ··· ··· ··· १२८१
६४ भय अध्यात्ममार्गका बाधक है ··· (प्रो० श्रीफ़ीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, एल-एल्० बी०) १६३३
६५ भागवतका वास्तविक दिग्दर्शन ··· (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा 'सौरभ') ··· ४०
६६ भागवतकी कुछ फुटकर बातें ··· (महामहोपाध्याय डाक्टर सर गंगानाथजी झा एल-एल्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· ११७६
६७ भागवत-माहात्म्य ··· ··· (श्रीमतिलाल राय) ··· ··· ११९९
६८ भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व ··· (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०) १२४३, १५६३
६९ भारतीय पञ्चाङ्ग ··· ··· (डा० श्रीईश्वरप्रसाद गुप्त एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १९४२

७० भूलना सीखो ··· ··· ('चुचिटी') ··· ··· ··· १३८५
७१ मनुष्य पशु कैसे बन गया ! [कहानी] ··· (मदनमोहन गुगलानी शास्त्री) ··· ··· १९२५
७२ महर्षि कृष्णद्वैपायन और भागवतधर्म ··· (श्रीयुत अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ··· ११७६
७३ महाकवि तुलसीदासजीका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस (श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३५२, १५१०
७४ महान् संकटसे बचनेके साधन ··· (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ··· १६६४
७५ महाराष्ट्रके वारकरी-सम्प्रदायकी प्रेमसाधना ··· (श्रीभालचन्द्र पं० बहिरट बी० ए०) ··· १७७८
७६ महासती जीरादेई ··· ··· (साकेतवासी महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक) ··· १६७७
७७ माखनचोरी और चीरहरण ··· (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ··· ९६
७८ माताजीसे वार्तालाप ··· ··· (श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया) ··· १२७५, १८५२
७९. मान-बड़ाईका त्याग ··· ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· १७३५
८० मानसिक शान्ति ··· ··· (बहिन श्रीगायत्रीदेवी बाजोरिया) ··· ··· १६८८
८१ मुरलीलीलारहस्य ··· ··· (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री) ··· १७२६, १८०१
८२ मुरली-माधुरी ··· ··· (श्रीवैद्यनाथप्रसादसिंहजी) ··· ··· १७६६
८३ मूर्च्छित नारी ··· ··· (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ··· १४३१
८४ मेरा परमप्रिय श्लोक ··· ··· (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०) ··· १२७
८५ योग और उसकी व्यापकता ··· (श्रीमती पिस्तादेवी 'विदुषी', सा० रत्न, आयुर्वेदाचार्य) १५२७
८६ योगसाधनाकी तैयारी ··· ··· (रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए०) ··· १४७४
८७ ये हँसते हुए फूल ! ··· ··· ··· ··· ··· १५५१
८८ रास-लीलाकी महिमा ··· ··· (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ··· १०७
८९ लोककल्याणके लिये नाम-जप कीजिये ··· (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ··· १५५६
९० वर्णाश्रम-विवेक ··· ··· (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशंकरतीर्थजी यति महाराज) १२८३, १३६१, १४३४, १५३७, १५८३, १६७३
९१ विज्ञान और अध्यात्मज्ञान ··· ··· (श्रीनलिनीकान्त गुप्त) ··· ··· १६४८
९२ विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान ··· ··· (डॉ० डी० जी० लौंढे, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· १७४०
९३ विपत्तिमें कल्याण ··· ··· (एक अंग्रेजी मासिक पत्रसे) ··· ··· १७९५
९४ विरहियोंकी प्रेमसाधना ··· ··· (श्रीशंभुप्रसादजी बहुगुना एम्० ए०) ··· १८३२
९५ वैष्णवधर्मका विकास और विस्तार ··· (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री) १३०४
९६ व्रत-परिचय ··· ··· (पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) १२२९, १२९०, १३६६, १४३८, १५४१, १६०५, १६९०
९७ शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रधान आचार्य और उनके सिद्धान्त ··· ··· (पं० श्रीकृष्णदेव उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्यशास्त्री) ··· १९०९
९८ शौच [कहानी] ··· ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· १५९६
९९ श्रीकृष्णलीलापर एक दृष्टि ··· ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· ११७१
१०० श्रीभगवन्नाम और स्मरणभक्ति ··· (श्रीआत्मानन्दजी) ··· ··· १६४१
१०१ श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना ··· (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ··· १४२३
१०२ श्रीभगवानबाबाजी महाराजकी संक्षिप्त जीवनी और उपदेश ··· ··· (पू० श्रीभोलानाथजी महाराज) ··· ··· १६२०
१०३ श्रीमद्भगवद्गीता और वर्तमान युद्ध ··· (डा० श्रीमुहम्मद हाफ़िज सैयद, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· १८३०

१०४ श्रीमद्भागवत (अनुवाद) ··· ··· ··· पृष्ठ १८५ से १०५७
प्रथम स्कन्ध (अध्याय १–१९) ··· ··· ··· १८५–२२९
द्वितीय ,, (,, १–१०) ··· ··· ··· २३१–२५३
तृतीय ,, (,, १–३३) ··· ··· ··· २५५–३२८
चतुर्थ ,, (,, १–३१) ··· ··· ··· ३२९–४०३
पञ्चम ,, (,, १–२६) ··· ··· ··· ४०५–४५६
षष्ठ ,, (,, १–१९) ··· ··· ··· ४५७–५०४
सप्तम ,, (,, १–१५) ··· ··· ··· ५०५–५४५
अष्टम ,, (,, १–२४) ··· ··· ··· ५४७–५९६
नवम ,, (,, १–२४) ··· ··· ··· ५९७–६४७
दशम ,, (,, १–९०) ··· ··· ··· ६४९–९३१
एकादश ,, (,, १–३१) ··· ··· ··· ९३३–१०२४
द्वादश ,, (,, १–१३) ··· ··· ··· १०२५–१०५७
१०५ श्रीमद्भागवत और उसका सन्देश ··· (श्रीयुत पी० एन्० शंकर नारायण अय्यर बी० ए०, बी० एल्०) १२०४
१०६ श्रीमद्भागवत और श्रीचैतन्य ··· (श्रीयुत बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ··· ११९२
१०७ श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य–आश्रयतत्त्व ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ७६
१०८ श्रीमद्भागवतका 'गीताष्टक' और 'गीतपञ्चक' ··· (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी दाधीच बी० ए०) ··· १२२५
१०९ श्रीमद्भागवतका रचनाकाल ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· ५६
११० श्रीमद्भागवतका वर्तमान रूप ही प्राचीन है ··· ,, ,, ··· ··· ४६
१११ श्रीमद्भागवतका सार-संग्रह ··· ,, ,, ··· ··· १३२६
११२ श्रीमद्भागवतकी अनिर्वचनीय महिमा ··· ,, ,, ··· ··· ६१
११३ श्रीमद्भागवतकी अनुष्ठानविधि ··· (संग्रहकर्ता–(१) वेदरत्न पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेद-धर्मशास्त्र-शास्त्री और (२) श्रीरामजीवनशरणजी ब्रह्मचारी) ··· ··· १४६
११४ श्रीमद्भागवतकी धर्मविषयक प्रामाणिकता ··· ··· ··· ··· ४१
११५ श्रीमद्भागवतकी पूजनविधि तथा विनियोग, न्यास एवं ध्यान ··· ··· ··· ··· १३८
११६ श्रीमद्भागवतकी महत्ता ··· (पं० श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम्० ए०, विद्यावारिधि, धर्मविनोद) ··· ··· १२०९
११७ श्रीमद्भागवतकी महिमा ··· (पूज्य श्रीमालवीयजी महाराज) ··· ··· ११
११८ श्रीमद्भागवतके दो आदर्श श्लोक ··· (पं० श्रीशिवदत्तजी शर्मा) ··· ··· २३
११९ श्रीमद्भागवतके साध्य और साधन ··· (पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके विचार) ··· १०
१२० श्रीमद्भागवतपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ ··· ··· ··· ··· ११६५
१२१ श्रीमद्भागवत प्रामाणिक महापुराण है और भगवान् व्यासकृत है ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· ४९
१२२ श्रीमद्भागवत-महापुराणमें भक्तिरसायन ··· (डॉ० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर) ··· ··· ३४
१२३ श्रीमद्भागवत-माहात्म्य (पद्मपुराणसे) अनुवाद अध्याय १–६ ··· ··· १६१–१८३
१२४ ,, ,, (स्कन्दपुराणसे) ,, ,, १–४ ··· ··· १०५९–१०७०
१२५ श्रीमद्भागवतमें 'आश्रय' ··· (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री) ··· ११५९
१२६ श्रीमद्भागवतमें दीपस्तम्भ या प्रेमसरिता ··· (रायबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजी) ··· १२१३

१२७ श्रीमद्भागवतमें राधाप्रसङ्ग ··· (प्रो० श्रीरमेशचन्द्र चक्रवर्ती शास्त्री, काव्य-व्याकरण-पुराण-वेदान्ततीर्थ, पुराणरत्न, सुत्तविशारद, वेदान्त-भागवत-शास्त्री) ··· ··· ··· ११९५
१२८ श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की आदर्श प्रातश्चर्या ··· ··· ··· ··· ४२
१२९ श्रीमद्भागवतमें विशुद्ध भक्ति ··· (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· २५
१३० श्रीमद्भागवतमें शरणागति ··· (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी व्याकरण-साहित्य-शास्त्री 'राम') ··· ··· १२८
१३१ श्रीमद्भागवतमें श्रीराधा-नाम ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· १२०२
१३२ श्रीमद्भागवतमें हिन्दूदर्शन और हिन्दूधर्मका समन्वय ··· (दीवानबहादुर श्रीयुत के० एस्० रामस्वामी शास्त्री) ··· ११८२
१३३ श्रीमद्भागवत-सप्ताह ··· ··· ··· ··· १४५
१३४ श्रीमद्भागवतसे शिक्षा ··· (श्रीताराचन्द्रजी पांड्या) ··· ··· ४५
१३५ श्रीमानस-शङ्का-समाधान ··· (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· १९३७
१३६ श्रीशुकदेवजीका अनुपम दान ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ७२
१३७ श्रीहरिभक्ति सुगम और सुखदायी है ··· (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· १४११
१३८ श्रीश्रीहायीबाबाजीके उपदेश ··· (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· १७२१
१३९ श्रुतिसार श्रीमद्भागवतकी टीकाएँ ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ११३
१४० स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका प्रयोजन ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ११७
१४१ स्वयंभू ज्योति ··· (रेवरेंड आर्थर ई० मैसी) ··· ··· १९१४
१४२ स्वाध्याय [कहानी] ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· १८४९
१४३ स्वामी श्रीचन्द्रोदयानन्दजी पुरीके उपदेश ··· (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ··· ··· १६३९
१४४ स्त्रियाँ और नौकरी ··· ('सिद्धान्त'से) ··· ··· १७५३
१४५ सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ? ··· (पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे एम्० ए०, पं० श्रीभगवत-प्रसादजी शुक्ल) ··· ··· १३८७
१४६ सत्संगका प्रसाद ··· (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ··· १४५२
१४७ सती सुकला ··· (श्रीरामनाथजी 'सुमन') १३०९, १३७५, १४५८, १५३०
१४८ सर गुरुदासकी कट्टरता ··· ('सिद्धान्त'से) ··· ··· १९४१
१४९ सन्तोष [कहानी] ··· (श्री 'चक्र') ··· ··· १६८०
१५० सागवालीका बाट ··· ('भारताजिर'से) ··· ··· १९०३
१५१ साधना और उसका उद्देश्य ··· (श्रीआत्मारामजी देवकर) ··· ··· १५२३
१५२ सिनेमाकी बुराई ··· (श्रीकिशोरलाल मशरूवाला 'हरिजन-सेवक') ··· १७९४
१५३ संकीर्तन और वर्तमान संकट ··· (रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी, बी० ए०) ··· १७८४
१५४ संत-वचन (Tibetan Yoga and Secret Doctrinesसे) ··· १२४८
१५५ संतवाणी ··· (स्वामी श्रीशरणानन्दजी) ··· ··· १५६२
१५६ हवनयज्ञ और राजयक्ष्मा ··· (डाक्टर श्रीकुन्दनलालजी एम्० डी०, डी० एस्० एल्०, एम्० आर० ए० एस०) ··· ··· १९३१
१५७ हिन्दूधर्ममें सत्यका समग्र रूप ··· (श्रीबसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ··· १८९०

पद्य-सूची

क्रम-संख्या		लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अनिर्वचनीय शोभा (सं०)	(श्रीसूरदासजी)	१५९२
२	अनुनय	(श्रीद्विजेन्द्र एम्० ए० साहित्यभूषण)	१७४९
३	अवधकी वीथियोंमें (सं०)	(श्रीतुलसीदासजी)	१२३७
४	आर्तकी पुकार	(श्रीसुदर्शनदासी)	१२
५	आराधना	(श्री 'तिवारी सुमन')	१७४५
६	आवाहन	(श्रीकेदारनाथजी 'बेकल' एम्० ए० (प्री०) एल० टी०)	१२६१
७	आश्चर्य (सं०)	(श्रीसूरदासजी)	६
८	उत्कण्ठा	(श्रीगार्गीदत्तजी मिश्र)	१७६५
९	उद्बोधन (सं०)	(श्रीतुलसीदासजी)	१४९९
१०	एक-अनेक	(श्रीकेदारनाथजी 'बेकल' एम्० ए० (प्री०) एल० टी०)	१५७२
११	कामना	(श्रीहरि)	१४४५
१२	कामना	(श्रीलक्ष्मीनारायणजी गुप्त 'कमलेश')	१७२५
१३	किन्हीं एक प्रेमीका पत्र और उसका उत्तर	(हनुमानप्रसाद पोद्दार)	१७८२
१४	कौन यहाँ अपना है ?	(श्रीबालकृष्णजी बलदुआ)	१४४८
१५	गोपाल-लीला	(श्रीश्यामसुन्दरजी शर्मा)	१८२१
१६	चरणवन्दन (सं०)	(श्रीसूरदासजी)	१५५७
१७	चिन्तन	(श्रीबालकृष्णजी बलदुआ बी० ए०, एल-एल्० बी०)	१३६०
१८	जानकी-वर (सं०)	(श्रीतुलसीदासजी)	१३१७
१९	तृष्णा	(श्रीजगदीशशरणसिंहजी एम्० ए० (प्रथम०)	१७५८
२०	दर्शनकी लालसा	(श्रीवृन्दावनदेवजी)	१७९७
२१	देख चुका मैं ज्योति निराली	(श्री 'यात्री')	१३३१
२२	नन्दलाल	(श्रीहरि)	११६४
२३	नमस्कार	(श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल-एल० बी० 'ललाम')	१३००
२४	नाम-कामतरु (सं०)	(श्रीतुलसीदासजी)	१७१७
२५	नाम-महिमा	(गंगाहरे)	१९१३
२६	निज नाम-लोभ-त्याग	(श्रीशिवकुमारजी केडिया 'कुमार')	१४१४
२७	प्रभुके चरण	(श्रीशशिप्रभादेवी)	१४७९
२८	प्रभुसे	" "	१८८९
२९	प्रभु-स्तवन	(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा एम्० ए०, 'सोम')	१२३८, १३१८, १३९८, १५५८, १६३८, १७१८, १७९८, १८७८
३०	प्रियतमसे—	(पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')	१९४५
३१	प्रेममय संसार	(श्रीदानबिहारीलालजी शर्मा)	१८८०
३२	भगवान् श्रीकृष्णका भूलोकमें अवतरण	(श्रीकृष्णकुमारजी शर्मा एम्० ए०, साहित्याचार्य)	१३४८
३३	भागवतका सन्देश	(श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१२४७
३४	भागवतकी जय हो	(श्रीहित दामोदरजी)	१८३
३५	भागवतकी महिमा	(श्री 'राम')	१०७१
३६	भागवतमें क्या है ?	(श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल-एल० बी०, विशारद, काव्यतीर्थ)	१२९८

३७ मनको उपदेश ··· ··· ··· ··· ··· ११५८
३८ मद्य अमीरस (सं०) ··· ··· (श्रीदादूदयालजी) ··· ··· ··· १५४२
३९ मालिक ! तू निश्चय दयालु है ··· (श्रीबालकृष्णजी बलदुआ बी० ए०, एल्-एल० बी०) ··· १६५५
४० मैं और मेरा ··· ··· (श्रीप्यारेलालजी टहनगुरिया) ··· ··· १५३५
४१ मैं फल पायो ··· ··· (श्रीनागरीदासजी) ··· ··· ··· १६३७
४२ याचना ··· ··· (श्रीमती 'रूप कुक्कू') ··· ··· ··· १४१४
४३ राम-लक्ष्मणकी झाँकी (सं०) ··· (श्रीतुलसीदासजी) ··· ··· ··· १३९७
४४ रसनासे अनुरोध ··· ··· (श्री 'नम्र') ··· ··· ··· १५५९
४५ विनय ··· ··· (श्रीरसिकदेवजी) ··· ··· ··· १८७७
४६ श्रीकृष्णचन्द्रोदय ··· ··· (साकेतवासी श्रीबिन्दुजी ब्रह्मचारी) ··· ··· ३१
४७ श्रीकृष्णसे विनय ··· ··· (स्वर्गीय मुंशी श्रीबनवारीलालजीकी 'बज़्म-ए-वृन्दावन' से) १५७३
४८ श्रीनन्दनन्दन-नाममाला ··· ··· (श्रीशिवकुमारजी केडिया 'कुमार') ··· ··· ७१
४९ श्रीप्रसादी-चन्दन-वन्दना ··· ··· ,, ,, ··· १३२४
५० श्रीमद्भागवत (मूल एवं माहात्म्य) सम्पूर्ण ··· ··· ··· १०७५–११५६
५१ श्रीमद्भागवत (सं०) ··· ··· (श्रीसूरदासजी) ··· ··· ··· ११५७
५२ श्रीमद्भागवत ··· ··· (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न') ··· १९
५३ श्रीमद्भागवतकी आरती ··· ··· ··· ··· भागवताङ्क टाइटल चौथा पेज
५४ श्रीमद्भागवत-महिमा ··· ··· (कविकिङ्कर श्रीरवीन्द्रप्रतापजी शर्मा, आयुर्वेदशास्त्री, राजवैद्य) १३८६
५५ श्रीमद्भागवत-स्तुति ··· ··· (व्यासजी) ··· ··· ··· २५४
५६ श्रीरामसे विनय (सं०) ··· ··· (श्रीतुलसीदासजी) ··· ··· ··· १४७७
५७ श्रीव्रज-रज-वन्दना ··· ··· (श्रीशिवकुमारजी केडिया 'कुमार') ··· ··· १५८६
५८ सच्ची सीख ··· ··· (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न') ··· १४७३
५९ साधु ··· ··· (श्रीजगदीशशरणसिंहजी एम्० ए० (प्रथम)) ··· १९४७
६० सारंगपद ·· ··· (प्रेषक—श्रीविष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए०) ··· १९४६

सङ्कलित

६१ क्रोधके त्यागकी महिमा ··· ··· (महाभारत आदिपर्व) ··· अङ्क १२ टाइटल चौथा पेज
६२ धर्मका स्वरूप ··· ··· (महाभारत) ··· ··· ,, ५ ,, ,, ,,
६३ परात्पर भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार ··· (श्रीमद्भागवत) ··· ··· ··· ३
६४ भगवत्प्रोक्त चतुःश्लोकी भागवत और उसकी व्याख्या ··· ··· (गोलोकवासी आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, 'श्रेय' से उद्धृत) ··· ··· ··· १३
६५ भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार ··· (कुन्तीद्वारा की हुई स्तुतिसे) ··· ··· १०७४
६६ भागवत-कथा-विमुख पुरुषोंकी निन्दा ··· (पद्मपुराण) ··· ··· ··· १८४
६७ भागवतका ही सेवन करना चाहिये ··· (स्कन्दपुराण) ··· ··· ··· ४०४
६८ भागवतसे धर्मरसकी उत्पत्ति ··· (महात्मा गांधीजी) ··· ··· ७५
६९ मङ्गलाचरण ··· (श्रीमद्भागवत) ··· ··· ··· २
७० युगलसरकारकी प्रार्थना ··· (पद्मपुराण) ··· ··· अङ्क ७ टाइटल चौथा पेज
७१ राम-नाम-महिमा ··· ··· ,, ··· ··· ,, ४ ,, ,,
७२ शान्त कौन है ? ··· ··· (योगवासिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण अ० १३) ,, १० ,, ,,
७३ शुकशास्त्रकी सर्वोपरि पवित्रता ··· (पद्मपुराण) ··· ··· ··· १०५८
७४ श्रीकृष्णका आवाहन ··· ··· (ताराकुमारस्य) ··· ··· अङ्क ८ टाइटल चौथा पेज

ख—

७५ श्रीकृष्ण-वन्दना ··· ··· (श्रीमद्भागवत ११ । २९ । ४९) ··· अङ्क १ टाइटल चौथा पेज
७६ श्रीमद्भागवतकी हस्तलिखित प्राचीन पुस्तक ··· (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए० ('कल्याण' के 'कृष्णाङ्क' से)) ··· ५८
७७ श्रीमद्भागवत-महिमा ··· ··· (श्रीमद्भागवत १ । १ । २) ··· अङ्क १ टाइटल चौथा पेज
७८ श्रीमद्भागवत-माहात्म्य ··· ··· (स्वयं श्रीभगवान्के मुखसे ब्रह्माजीके प्रति कथित (स्कन्दपुराण)) ··· ··· ७
७९ श्रीमद्भागवतमें भगवन्नाम-महिमा ··· ··· ··· ··· २०
८० श्रीमद्भागवतमें सत्सङ्गमहिमा ··· ··· ··· ··· ३७
८१ श्रीमद्भागवतरूप दृढ नौका ··· (श्रीहरिसूरि) ··· ··· ··· २३०
८२ श्रीशुकदेवजीको नमस्कार ··· ··· (श्रीमद्भागवत) ··· ··· ··· ५
८३ सत्सङ्गकी महिमा ··· ··· (बृहन्नारदीय पुराण ४ । ३४—३८) ··· अङ्क९ टाइटल चौथा पेज
८४ समतासे ब्रह्मसाक्षात्कार ··· ··· (महाभारत शान्तिपर्व अ० १२६) ··· ,, ६ ,, ,,
८५ सर्वोत्तम वशीकरण ··· ··· (महाभारत) ··· ,, ११ ,, ,,

चित्र-सूची

क्रम-संख्या विषय चित्रकार पृष्ठ-संख्या

सुनहरी

१ श्रीमत्स्यभगवान् (श्रीरामेश्वर) ··· ५९५
२ श्रीश्यामा-श्यामकी झाँकी (ब्रह्मचारी श्रीनन्दकुमारशरणजी वृन्दावनवालोंकी कृपासे प्राप्त) ··· ··· ६४९

तिरंगे

३ अक्रूरको हस्तिनापुर भेजना (श्रीबृजेन्द्र) ··· ७९९
४ अक्रूरका प्रेम (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ७६३
५ अरिष्ट, केशी और व्योमासुरका उद्धार (श्रीजगन्नाथ) ··· ··· ७५६
६ अवधकी वीथियोंमें (श्रीविनयकुमार मित्र) १२३७
७ आत्मारामकी आत्मक्रीड़ा (श्रीजगन्नाथ) ··· १०७
८ उद्धवजीका प्राकट्य (श्रीविनयकुमार मित्र) १०६४
९ एकहीके दो स्वरूप (श्रीजगन्नाथ) ··· १०७३
१० कपिल-देवहूति (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ३१२
११ कंस-उद्धार ,, ··· ७८२
१२ कंसके कारागारमें भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य (स्व० श्रीघासीराम, नाथद्वारा) ··· ६५६
१३ कालयवनका उद्धार (श्रीविनयकुमार मित्र) ८०८
१४ कालियनागपर कृपा ,, ७०४
१५ गजेन्द्र-मोक्ष ,, ५५३
१६ गङ्गावतरण ,, ६१५
१७ गोपियोंकी तन्मयता ,, ७४०
१८ गोपियोंके बीचमें भगवान्का प्रकट होना (श्रीजगन्नाथ) ··· ७४४
१९ गोवर्द्धनधारण (श्रीजगन्नाथप्रसाद गुप्त) ··· ७२८
२० चित्रकेतुपर शेषभगवान्की कृपा (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ४९५
२१ जनकपुरमें राम-लक्ष्मण (श्रीविनयकुमार मित्र) १३९७
२२ जानकी-वर ,, १३१७
२३ दक्षको भगवान्के दर्शन (श्रीजगन्नाथ) ··· ३४३
२४ दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ८८७
२५ द्विविद-उद्धार (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ८६०
२६ दुर्वासाका क्रोध ,, ··· ६०५
२७ दुर्वासाका दुःख ,, ··· ६०५
२८ देवकीके मृतपुत्रोंको वापस लाना (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ··· ९१०
२९ देवकीजीपर कंसका कोप(श्रीविनयकुमार मित्र) ६५१
३० देवमोहिनी मुरली (श्रीजगन्नाथ) ··· ११५७
३१ धनुष-भङ्ग (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६१८
३२ धुन्धुकारीका उद्धार (श्रीजगन्नाथ) ··· १७७
३३ ध्रुवपर कृपा ,, ··· ३५०
३४ नाम-माहात्म्य (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ४६०

३५ परीक्षित्‌से कलियुगकी प्रार्थना (श्री-विनयकुमार मित्र) ··· २२३
३६ प्रचेताओंको भगवान्‌के दर्शन (श्री-विनयकुमार मित्र) ··· ४००
३७ प्रह्लादकी माताको नारदजीका उपदेश (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ५२०
३८ प्रियव्रतके पास ब्रह्माजीका पधारना (श्री-विनयकुमार मित्र) ··· ४०५
३९ पूज्य और पुजारी एक ही (श्रीजगन्नाथ) ७२६
४० ब्रह्मस्तुति (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६९३
४१ भक्ति-नारद-संवाद ,, ··· १६५
४२ भगवान् कल्कि (श्रीरामेश्वर) ··· १०२८
४३ भगवान्‌का ऐश्वर्य (श्रीजगन्नाथ) ··· ८६४
४४ भगवान्‌का परमधामगमन (श्रीविनय-कुमार मित्र) ··· ··· १०२३
४५ भगवान्‌के चौबीस अवतार (श्रीजगन्नाथ) २४३
४६ भगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृतिका जगत्-सृजन (श्रीबृजेन्द्र) ··· १७९७
४७ भगवान् नर-नारायणकी महिमा (श्री-विनयकुमार मित्र) ··· ९४५
४८ भगवान् नृसिंहजी (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ५२४
४९ भगवान् परशुराम (श्रीरामेश्वर) ··· ६२९
५० भगवान् बाँकेबिहारी (श्रीजगन्नाथ) ··· १६१
५१ भगवान् बुद्ध (श्रीरामेश्वर) ··· २४६
५२ भगवान् लक्ष्मीनारायण (श्रीजगन्नाथ) ··· २४९
५३ भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन (श्रीमच्चन्) ··· १
५४ भगवान् वामन (श्रीजगन्नाथ) ··· ५८४
५५ भगवान् शिवका ताण्डवनृत्य (श्रीजगन्नाथ) ८४५
५६ भद्रकालीके द्वारा जडभरतकी रक्षा (श्री-विनयकुमार मित्र) ··· ··· ४२२
५७ भय और प्रज्वार आदिका पुरञ्जनपुरीपर आक्रमण (श्रीबृजेन्द्र) ··· ३९२
५८ भीष्मपितामहपर कृपा (श्रीविनयकुमार मित्र) २०४
५९ महारास—रसमय भगवान्‌की अन्तरङ्ग लीला ,, ७४८
६० मार्कण्डेयजीपर शङ्करकी कृपा ,, १०४९
६१ मुरलीकी मोहिनी (श्रीजगन्नाथ) ··· ७१७
६२ मोहिनी अवतार ,, ··· ५६५
६३ यदुवंशको ऋषियोंका शाप ,, ··· ९३४
६४ योगमाया (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ६६०
६५ योगमायाका प्रभाव ,, ··· ६५९
६६ राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृति ,, ··· १७१७
६७ राजा प्राचीनबर्हिको नारदजीका उपदेश ,, ··· ३८७
६८ वनवासीरूपमें भगवान् श्रीरामचन्द्र (श्रीजगन्नाथ) ··· ९४८
६९ व्यास-शुकदेव ,, ··· १९८
७० वेन-वध (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ३६४
७१ शक्ति-शिक्षा ,, ··· १५५७
७२ शाल्व-उद्धार ,, ··· ८८५
७३ शिशुपालकी अनीति ,, ··· १८७७
७४ शुकदेव-परीक्षित् ,, ··· २२९
७५ शूरशिरोमणि श्रीकृष्ण ,, ··· ८०३
७६ शेषशायीकी झाँकी (प्राचीन) (मियाँ वसन्त सिंहजीकी कृपासे प्राप्त) ··· २७१
७७ शंकरका विषपान (श्रीजगन्नाथ) ··· ५६१
७८ श्रीकृष्ण-उद्धव (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ९५३
७९ श्रीकृष्ण-चरण ,, ··· ७४१
८० श्रीराधिका-चरण ,, ··· ७४१
८१ श्रीवराहभगवान् (श्रीरामेश्वर) ··· २८१
८२ सनकादि और वैकुण्ठके द्वारपाल जय-विजय (श्रीजगन्नाथ) ··· २८७
८३ सनकादिका सत्कार (श्रीविनयकुमार मित्र) १६३७
८४ समग्रब्रह्म श्रीकृष्ण (श्रीजगन्नाथ) ··· मुखपृष्ठ
८५ सीताजीकी खोजका आदेश(श्रीविनयकुमार मित्र)१४७७
८६ सुदामा-सत्कार ,, ··· ८९२
८७ सूतजीकी कथा ,, ··· १८५

इकरंगे

८८ अवीचिमान्, अयःपान, अन्धतामिस्र, सारमेयादन, सूचीमुख, रक्षोगण-भोजन और शूलप्रोत नरक (श्रीबृजेन्द्र) ४५७
८९ असिपत्रवन नरक ,, ··· ४५५
९० कालसूत्र नरक ,, ··· ४५४
९१ कुम्भीपाक नरक ,, ··· ४५४
९२ जगद्गुरु श्रीकृष्ण (श्रीविनयकुमार मित्र) ··· ९३२
९३ चक्रसुदर्शनधारी (श्रीजगन्नाथ) ··· ६४८
९४ धनुर्धर श्रीकृष्ण ,, ··· ५४६
९५ प्राचीन भागवतके एक पृष्ठकी प्रतिलिपि ··· ५८
९६ महारौरव नरक (श्रीबृजेन्द्र) ··· ४५४
९७ योद्धा श्रीकृष्ण (श्रीजगन्नाथ) ··· ८०२
९८ सन्दंश, तप्तसूर्मि, वैतरणी, अन्धकूप, प्राणरोध और वज्रकण्टक-शाल्मली नरक (श्रीबृजेन्द्र) ४५६

९९ सूकरमुख नरक (श्रीसुरेन्द्र) ··· ४५५

इकरंगे (लाइन)

१०० अक्रूर और कुन्ती ··· ··· ८००
१०१ अक्रूरका अद्भुत भाव ··· ··· ७६४
१०२ अक्रूरके भवनमें ··· ··· ७९८
१०३ अक्रूरको दिव्यदर्शन ··· ··· ७६९
१०४ अघासुर-उद्धार ··· ··· ६८६
१०५ अघासुर-दर्शन ··· ··· ६८५
१०६ अजगरकी निरीहता ··· ··· ९५९
१०७ अत्रिमुनिके पास त्रिदेवोंका आगमन ··· ३३०
१०८ अदितिको भगवद्दर्शन ··· ··· ५८२
१०९ अनिरुद्धका बाणासुरके सैनिकोंसे युद्ध ··· ८४८
११० अनिरुद्ध-हरण ··· ··· ८४७
१११ अनेक पत्नियोंवाले पतिकी दुर्दशा ··· ९६४
११२ अभिचाराग्निसे भयभीत द्वारकावासियोंको श्रीकृष्णकी सान्त्वना ··· ··· ८५८
११३ अरिष्टासुरका वध ··· ··· ७५६
११४ अर्जुनका द्वारकासे आगमन ··· २१६
११५ अर्जुन, कालिन्दी और श्रीकृष्ण ··· ८३२
११६ अर्जुनद्वारा विरोधियोंका पराभव ··· ८३४
११७ अश्वत्थामाको दण्ड ··· ··· २००
११८ असुरोंसे पराजित देवताओंका ब्रह्माजीके पास आना ··· ··· ५५४
११९ आकाशगङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक ··· ७३२
१२० आकाशवाणीसे कंसकी उत्तेजना ··· ६५१
१२१ आगसे घिरे हुए ग्वालबाल और गौएँ ··· ७१२
१२२ आग्नीध्रके आश्रमपर पूर्वचित्ति अप्सरा ··· ४०८
१२३ आँखमिचौनी और दोलान्दोलनादि खेल ··· ७१०
१२४ इन्द्रका शरणमें आना ··· ७३१
१२५ इन्द्रद्वारा बृहस्पतिजीका अनादर ··· ४७३
१२६ इन्द्रद्वारा मान्धाताका पोषण ··· ६१०
१२७ इन्द्रपर जम्भासुरका त्रिशूल चलाना ··· ५६९
१२८ इन्द्रयज्ञके विषयमें नन्दजीसे बातचीत ··· ७२५
१२९ इलाकी पुरुषत्वप्राप्तिके लिये महर्षि वशिष्ठकी प्रार्थना ··· ··· ५९८
१३० उग्रसेनको राजतिलक ··· ··· ७८४
१३१ उत्तराका आर्त्तनाद ··· ··· २०१
१३२ उद्धवकी प्रार्थना ··· ··· ९५२
१३३ उद्धवकी विदाई ··· ··· १०१९
१३४ उद्धवके रथसे गोपियोंका सन्देह ··· ७९०
१३५ उद्धवको व्रजयात्राका आदेश ··· ७८७
१३६ उद्धव-विदुर-संवाद ··· ··· २५८
१३७ एक गोपीका भौंरेको सन्देश ··· ७९२
१३८ एक ही समय बहुलाश्व और श्रुतदेवके साथ ··· ९१२
१३९ ऋषभदेवजीका पुत्रोंको उपदेश ··· ४१३
१४० ऋषियोंका अराजकताके चिह्न देखना ··· ३६४
१४१ ऋषियोंद्वारा भगवान् वराहकी स्तुति ··· २८२
१४२ कन्हैयाका बालहठ ··· ··· ६७४
१४३ कन्हैयाकी मुरलीध्वनि ··· ··· ७१६
१४४ कन्हैयाकी वंशीध्वनिपर ग्वालबालोंका नृत्य ··· ७१०
१४५ कपोतदम्पतिका मोह ··· ··· ९५८
१४६ कर्दमजीका वनगमन ··· ··· ३०९
१४७ कर्दमजीकी देवहूतिपर प्रसन्नता ··· ३०४
१४८ कर्दमजीके आश्रमपर पुत्रोंसहित ब्रह्माजी ··· ३०७
१४९ कर्दमजीको भगवान्‌के दर्शन ··· २९९
१५० कलियुगका प्रभाव ··· ··· २२६
१५१ कश्यपजीके पास कामातुरा दिति ··· २८४
१५२ कालियदमन ··· ··· ७०४
१५३ कालियदहमें कूदते हुए नन्द-यशोदाको बलरामजीका रोकना ··· ··· ७०३
१५४ कालियमर्दनका नागपत्नियोंद्वारा पूजन ··· ७०७
१५५ काशिराज सुदक्षिणका अभिचार ··· ८५७
१५६ कुञ्जमेंसे उद्धवजीका प्रकट होना ··· १०६४
१५७ कुण्डिनपुरमें शिशुपाल ··· ८१५
१५८ कुब्जापर कृपा ··· ··· ७७५
१५९ कुबेरपुत्रोंकी धृष्टता ··· ··· ६७७
१६० कुमारी कन्या और सङ्गदोष ··· ९६३
१६१ कुरर पक्षी और परिग्रह ··· ९६२
१६२ कुरुक्षेत्रमें गोपियोंसे भेंट ··· ८९९
१६३ कुवलयापीड हाथीसे युद्ध ··· ७७८
१६४ कुश्तीका खेल ··· ··· ७०९
१६५ केशीवध ··· ··· ७५९
१६६ कृत्यादाह और दुर्वासाजीका पलायन ··· ६०५
१६७ कृष्णलीलाका अनुकरण ··· ७४१
१६८ कंसका अक्रूरको व्रज भेजना ··· ७५७
१६९ कंसका देवकीके हाथसे कन्या छीनना ··· ६६०
१७० कंसकी रङ्गभूमिमें ··· ··· ७७९
१७१ कंस-वध ··· ··· ७८२
१७२ ग्वालबाल बने मोहनपर माताओंका दुलार ··· ६८९
१७३ ग्वालबालोंकी होड ··· ··· ६८४
१७४ ग्वालबालोंके साथ विश्राम ··· ६९९

१७५ ग्वालबालोंद्वारा क्रीडार्थ श्रीकृष्णका आह्वान ६९७
१७६ ग्वालवेषधारी व्योमासुरका आगमन ... ७६१
१७७ ग्वालिनियोंका उलाहना ... ६७२
१७८ गर्गाचार्यद्वारा नामकरण-संस्कार ... ६७०
१७९ गुरुपुत्रसहित गुरुजीके पास लौटना ... ७८७
१८० गोकर्ण-जन्म १७४
१८१ गोकर्णका पिताको उपदेश ... १७४
१८२ गोकुलसे वृन्दावन ६८१
१८३ गोचारणके लिये वनकी ओर ... ६९८
१८४ गोपकुमारियोंका कात्यायनी-पूजन ... ७१९
१८५ गोपियोंका कृष्णगुणगान ... ७४३
१८६ गोपियोंके मध्यमें प्राणेश्वरका प्रादुर्भाव ... ७४६
१८७ गोरसकी चोरी ६७२
१८८ गोरूपसे भगवान्का अमृतपान ... ५३४
१८९ गोवर्धनधारण ७२८
१९० गोवर्धननाथका प्राकट्य ७२६
१९१ गौ और बछड़ोंकी खोज ... ६८८
१९२ चकुलीका खेल ७११
१९३ चरणचिह्नदर्शन ७४१
१९४ चाणूर-मुष्टिकवध ७८१
१९५ चित्रकेतुका मन्त्रानुष्ठान ... ४९५
१९६ चित्रलेखाकी चित्रणचातुरी ... ८४६
१९७ चिन्तातुर रुक्मिणीको सान्त्वना ... ८४०
१९८ जड़भरत और दस्युराजके दूत ... ४२१
१९९ जड़भरतके कन्धेपर राजा रहूगणकी पालकी ... ४२३
२०० जराव्याधकी क्षमा-प्रार्थना ... १०२२
२०१ जरासन्धके आगेसे राम और कृष्णका भागना ८११
२०२ जरासन्धको जीवनदान ६४१
२०३ जरासन्धसे सङ्ग्राम ८०४
२०४ जरासन्ध-वध ८७५
२०५ जाम्बवान्का अपनी कन्याको स्यमन्तकमणि देना ८२५
२०६ जाम्बवान्का कन्यादान ८२७
२०७ जाम्बवान्के साथ श्रीकृष्णका युद्ध ... ८२६
२०८ तक्षककी विषाग्निसे परीक्षित्का प्रयाण ... १०३६
२०९ तन्मयावस्थामें प्यारेका प्रेमालिङ्गन ... ७३६
२१० तृणावर्त्तपर कृपा ६६८
२११ दक्षको जीवनदान ३४३
२१२ दक्षको नन्दीश्वरका शाप ... ३३३
२१३ दक्षसे सतीका प्रश्न ३३६
२१४ दक्षपुत्रोंको नारदजीका उपदेश ... ४६८
२१५ दक्षप्रजापतिका नारदजीको शाप ... ४७०
२१६ दधीचि ऋषिके पास देवताओंका आगमन ... ४८२
२१७ दन्तवक्त्रका वध ८८७
२१८ दर्जीका सद्भाव ७७३
२१९ दहीका मटका फोड़ना ६७५
२२० दावानलपान ७०८
२२१ दारुककी दुःखमयी कथा ... १०२३
२२२ दितिकी सेवामें इन्द्र ५०१
२२३ दिव्यरथोंका अवतरण ८०३
२२४ दुर्योधनका दहेज ८६३
२२५ दुर्योधनका भ्रम ८८२
२२६ दुर्वासाकी भगवान्से क्षमा-प्रार्थना ... ६०६
२२७ देवकीनन्दनका प्रादुर्भाव ... ६५६
२२८ देवगुरु बृहस्पतिजीका उद्धवजीको श्रीमद्भागवतका उपदेश ... १०६५
२२९ देवताओंद्वारा भगवान्की गर्भस्तुति ... ६५४
२३० देवहूतिका प्रणयानुरोध ३०६
२३१ देवहूतिकी जिज्ञासा ३०९
२३२ देवहूतिको बिन्दुसरमें स्नान करनेका आदेश ३०५
२३३ दैत्योंका धन्वन्तरिके हाथसे अमृतघट छीनना ५६४
२३४ दैत्योंद्वारा प्रह्लादकी ताड़ना ... ५१७
२३५ द्रौपदी और श्रीकृष्णकी पटरानियाँ ... ९००
२३६ द्रौपदीद्वारा श्रीकृष्णका सत्कार ... ८३१
२३७ द्वारकादुर्गका अन्तर्भाग ... ८०६
२३८ द्वारकामें प्रवेश ८१२
२३९ द्विविदवध ८६०
२४० धनुर्भङ्ग ७७६
२४१ धुन्धुकारीका वैकुण्ठगमन ... १७८
२४२ धेनुकवध ७००
२४३ धृतराष्ट्रका वनगमन २१३
२४४ धोबीका उद्धार ७७३
२४५ ध्रुवका राज्याभिषेक ३५४
२४६ ध्रुवकी नित्यलोकप्राप्ति ३५९
२४७ ध्रुवके पास कुबेरजीका आगमन ... ३५७
२४८ ध्रुवको सुरुचिका उपालम्भ ... ३४६
२४९ ध्रुवपर भगवत्कृपा ३५०
२५० नन्द-यशोदाके पास उद्धवजी ... ७८९
२५१ नन्दगृहमें वसुदेवजी ६५९
२५२ नाभागकी न्यायनिष्ठा ६०३

२५३ नारदजीका ध्रुवको उपदेश ··· ३४८
२५४ नारदजीके उपास्य श्रीनर-नारायण ··· ४४२
२५५ नारदजीके कथनसे कंसका वसुदेवजीपर कुपित होना ··· ··· ७५७
२५६ निमिके पुनर्जीवनके लिये देवताओंसे प्रार्थना ६२५
२५७ पचासों कन्याओंद्वारा सौभरिका वरण ··· ६१०
२५८ पतिंगोंकी रूपासक्ति ··· ··· ९५९
२५९ परशुरामका कामधेनुका वापिस लाना ··· ६३०
२६० परीक्षित्‌को शाप ··· ··· २२६
२६१ परीक्षित्‌द्वारा वृन्दावनमें श्रीकृष्णकीर्त्तनोत्सव १०६४
२६२ पारिजातहरण ··· ··· ८३८
२६३ पिङ्गलाका मोहभङ्ग ··· ··· ९६१
२६४ पितृराज अर्यमाके उपास्य श्रीकूर्मभगवान् ··· ४३९
२६५ पुत्रशोकाकुल चित्रकेतुके पास नारद और अङ्गिरा ४९२
२६६ पुरञ्जयका दैत्योंके साथ युद्ध ··· ६०९
२६७ पुरूरवाके पास उर्वशी ··· ··· ६२७
२६८ पुष्पकारूढ़ रावणका वध ··· ६२०
२६९ पूतनावध ··· ··· ६६५
२७० पृथ्वीदेवीकी प्रार्थना ··· ··· ८३६
२७१ पृथ्वीदेवीके उपास्य भगवान् वराह ··· ४४०
२७२ पृथुका राज्याभिषेक ··· ··· ३६५
२७३ पृथुकी यज्ञशालामें श्रीभगवान् एवं इन्द्र ··· ३७२
२७४ पृषध्रद्वारा सुरक्षित गौओंमें व्याघ्रका प्रवेश ··· ५९९
२७५ प्यारेकी पुकारपर गोपियोंका उतावलापन ··· ७३५
२७६ प्रचेताओंपर भगवान् शङ्करकी कृपा ··· ३८३
२७७ प्रद्युम्न और शाल्वका युद्ध ··· ८८४
२७८ प्रद्युम्नके प्रति रतिका रहस्योद्‌घाटन ··· ८२३
२७९ प्रद्युम्नद्वारा शम्बरासुरका वध ··· ८२३
२८० प्रलम्बवध ··· ··· ७११
२८१ प्रह्लादका असुरबालकोंको उपदेश ··· ५१८
२८२ प्रह्लादके उपास्य श्रीनृसिंहभगवान् · ४३८
२८३ प्रियतमकी प्रतीक्षामें रुक्मिणीजी ··· ८१६
२८४ प्रियव्रतके पास ब्रह्माजीका आगमन ··· ४०५
२८५ फलोंका मोल ··· ··· ६८०
२८६ बकासुरवध ··· ··· ६८३
२८७ बछड़ोंकी पूँछ पकड़कर दौड़ना ··· ६७१
२८८ बन्धनमुक्त राजाओंद्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति ··· ८७६
२८९ बल्वलवध ··· ··· ८८९
२९० बलरामजीके प्रति रहस्योद्‌घाटन ··· ६९१
२९१ बलरामजीद्वारा रुक्मीका वध ··· ८४५
२९२ बलिकी यज्ञशालामें प्रह्लादका आगमन ··· ५९०
२९३ बलिके भवनमें श्रीकृष्ण-बलराम ··· ९०९
२९४ बलिद्वारा भगवान् वामनका सत्कार ··· ५८६
२९५ बाण बनानेवालेकी एकाग्रता ··· ९६३
२९६ बाणासुर-बाहुच्छेदन ··· ८५०
२९७ बाणासुरको अभयदान ··· ··· ८५१
२९८ बालक प्रह्लादकी भगवत्परायणता ··· ५१४
२९९ बालक कृष्णके समीप छद्मरूपिणी पूतना ६६४
३०० बालगोपालसहित वसुदेवजी यमुनागर्भमें ··· ६५९
३०१ बालरूपमें यमराजका आगमन ··· ५०९
३०२ ब्रह्माजीकी शरणमें दक्षयज्ञके ऋत्विज ··· ३४०
३०३ ब्रह्माजीको दिव्यदर्शन ··· ··· ६९१
३०४ ब्रह्माजीद्वारा भगवान्‌की स्तुति ··· ६९३
३०५ ब्राह्मणीद्वारा सुदामाका स्वागत ··· ८९५
३०६ भक्तिदेवीके पास नारदजी ··· १६३
३०७ भगवान्‌का दैनिक गोदान ··· ८६७
३०८ भगवान्‌का महादेवजीको आश्वासन ··· ५७३
३०९ भगवान्‌के विविध महलोंमें नारदजी ··· ८६५
३१० भगवान् नर-नारायणका अद्भुत योगसामर्थ्य ९४५
३११ भगवान् नृसिंहका प्रादुर्भाव ··· ५२४
३१२ भगवान् शङ्करके उपास्य श्रीसंकर्षणदेव ··· ४३६
३१३ भगवान् शङ्करके पीछे वृकासुर ··· ९२२
३१४ भगवान् शिवका विषपान ··· ५६१
३१५ भगवान् हयग्रीव ··· ··· २४३
३१६ भगवान् हंस ··· ··· २४४
३१७ भद्रश्रवाके उपास्य भगवान् हयग्रीव ··· ४३७
३१८ भाण्डीरवटके पास ··· ··· ७१३
३१९ भृगुजीकी अवज्ञासे शङ्करजीका कुपित होना ९२५
३२० भृगुद्वारा ब्रह्माजीकी परीक्षा ··· ९२४
३२१ भौमासुर-वध ·· ··· ८३६
३२२ भौंरोंकी गुनगुनाहटका अनुकरण ··· ६९९
३२३ मत्स्यके उदरसे प्रद्युम्नका प्रादुर्भाव ··· ८२२
३२४ मत्स्यभगवान्‌से सत्यव्रतका प्रश्न ··· ५९४
३२५ मथुराकी नारियोंकी पुष्पवृष्टि ··· ७७२
३२६ मथुराके मार्गमें ··· ··· ७७१
३२७ मथुराके लिये श्यामकी बिदाई ··· ७६७
३२८ मथुराके व्यापारियोंद्वारा स्वागत ··· ७७५
३२९ मथुरागमनके समाचारसे गोपियोंकी व्याकुलता ७६६
३३० मनुजीका कथाप्रेम ··· ··· ३०३
३३१ मनुजीके उपास्य श्रीमत्स्यभगवान् ··· ४३९
३३२ महर्षि शाण्डिल्यका व्रजमाहात्म्यवर्णन ··· १०६०

३३३ महारास ··· ··· ७४८
३३४ माखनकी लूट ··· ··· ६७५
३३५ माताकी पकड़में श्याम ··· ··· ६७५
३३६ माताकी माँग ··· ··· ९०९
३३७ माताको मायादर्शन ··· ··· ६६९
३३८ माताको मुख दिखलाना ··· ६७३
३३९ मार्कण्डेयजीकी तपस्या ··· ··· १०४२
३४० मार्कण्डेयजीको भगवान् नर-नारायणके दर्शन १०४४
३४१ मार्कण्डेयजीको वटपत्रशायी भगवान्के दर्शन १०४७
३४२ मार्ग न मिलनेसे घरमें रुकी हुई गोपियाँ ··· ७३५
३४३ मालीका प्रेम ··· ··· ७७४
३४४ मुचुकुन्दके दृष्टिपातसे कालयवनका दाह ··· ८०८
३४५ मुञ्जाटवीमें गौओंको एकत्रित करना ··· ७१२
३४६ मुरदैत्यका संहार ··· ··· ८३५
३४७ मृगशावकपर भरतकी ममता ··· ४१८
३४८ मृत गौ और ग्वालबालोंको जीवनदान ··· ७०१
३४९ मैत्रेयजीके पास विदुरजी ··· २६३
३५० मोर, बन्दर एवं पक्षियोंका अनुकरण ··· ६८४
३५१ यज्ञपत्नियोंका प्रेम ··· ··· ७२२
३५२ यदुवंशियोंका परस्परका युद्ध ··· १०२१
३५३ यमलार्जुन-उद्धार ··· ··· ६७८
३५४ याज्ञिक ब्राह्मणोंका पश्चात्ताप ··· ७२३
३५५ युद्धभूमिमें श्रीकृष्ण और राजा पौण्ड्रक ··· ८५६
३५६ युधिष्ठिरकी सभामें नारद और तुम्बुरु ··· २१४
३५७ राजा अङ्गका राजत्याग ··· ··· ३६२
३५८ राजा अङ्गपर अग्निदेवकी कृपा ··· ३६१
३५९ राजा इन्द्रद्युम्नको अगस्त्यजीका शाप ··· ५५३
३६० राजा उग्रसेनकी सभामें वंशविध्वंसक मूसल ··· ९३४
३६१ राजा चित्रकेतुके महलमें अङ्गिराऋषि ··· ४८९
३६२ राजा नाभिको यज्ञभगवान्के दर्शन ··· ४११
३६३ राजा निमि और वशिष्ठ ··· ६२५
३६४ राजा निमिकी यज्ञशालामें नवयोगीश्वर ··· ९३७
३६५ राजा नृगका गिरगिटयोनिसे उद्धार ··· ८५२
३६६ राजा परीक्षित्का वज्रनाभ और श्रीकृष्ण-पत्नियोंसे मिलना ··· १०५९
३६७ राजा पृथुका प्रजाको उपदेश ··· ३७५
३६८ राजा पृथुको सनकादिका उपदेश ··· ३७७
३६९ राजा बलिके पास इन्द्रादिका आगमन ··· ५५८
३७० राजा भगीरथको गङ्गाजीका वरदान ··· ६१५
३७१ राजा यदु और अवधूत ··· ९५५
३७२ राजा ययातिकी यौवनयाचना ··· ६३५
३७३ राजा रन्तिदेवकी अद्भुत उदारता ··· ६४०
३७४ राजा सत्यव्रतकी अञ्जलिमें बालमत्स्य ··· ५९३
३७५ राजा सुद्युम्न और उनके साथियोंका स्त्री हो जाना ५९८
३७६ राजा सौदासकी मित्रसहता ··· ६१६
३७७ राम और श्यामका क्रीडायुद्ध ··· ६८२
३७८ राम और श्यामका घुटनों चलना ··· ६७१
३७९ राम और श्यामको अक्रूरका साष्टांगप्रणाम ··· ७६४
३८० रासक्रीडाके लिये आह्वान ··· ७३४
३८१ राहुका शिरश्छेदन ··· ··· ५६६
३८२ रुक्मिणीका श्रीकृष्णके पास एक ब्राह्मणको भेजना ८१३
३८३ रुक्मिणीके महलमें प्रद्युम्न और रतिका प्रवेश ··· ८२४
३८४ रुक्मिणीके साथ परिहास ··· ८३९
३८५ रुक्मिणी-हरण ··· ··· ८१८
३८६ रुक्मीकी प्राणरक्षाके लिये प्रार्थना ··· ८२०
३८७ रुक्मीको दण्ड ··· ··· ८२०
३८८ लक्ष्मीजी द्वारा श्रीनारायणका वरण ··· ५६३
३८९ लक्ष्मीदेवीके उपास्य भगवान् कामदेव ··· ४३८
३९० वटुवेषधारी भगवान् और वृकासुर ··· ९२३
३९१ वज्रनाभका कूप एवं देवालय आदिका निर्माण १०६२
३९२ वत्सरूप श्यामपर गौओंका स्नेह ··· ६९०
३९३ वत्सासुरवध ··· ··· ६८२
३९४ वनभोजन ··· ··· ६८८
३९५ वनसे व्रजकी ओर ··· ··· ७०१
३९६ वरुणजीसे हिरण्याक्षकी युद्धभिक्षा ··· २९२
३९७ वरुणलोकमें श्रीकृष्ण ··· ··· ७३३
३९८ वसुदेवजी और नन्दबाबाकी बातचीत ··· ९०६
३९९ वसुदेवजीकी सत्यप्रतिज्ञता ··· ६५२
४०० वसुदेवजीके यज्ञमें मुनियोंका आगमन ··· ९०३
४०१ वसुदेव-देवकीकी बन्धनसे मुक्ति ··· ७८३
४०२ विजिताश्वद्वारा इन्द्रका पराभव ··· ३७०
४०३ विदुर और उद्धवका मिलन ··· २५६
४०४ विदुरजीका कौरव-सभासे प्रस्थान ··· २५६
४०५ विदूरथ-वध ··· ··· ८८८
४०६ विमानारूढ़ भगवान् वामन एवं इन्द्रादि देवता ५९२
४०७ विरक्त ब्राह्मणकी सहनशीलता ··· १००३
४०८ विरहातुरा व्रजबालाएँ ··· ··· ७४०
४०९ विश्वरूपके पास इन्द्रादि देवता ··· ४७४
४१० विश्वरूपके मस्तक काटना ··· ४७८
४११ विष्णुभगवान्की क्षमाशीलता ··· ९२५
४१२ वीरभद्रकी उत्पत्ति ··· ··· ३३८
४१३ वृकासुरदाह ··· ··· ९२३
४१४ वृत्रासुरके मुखमें इन्द्र ··· ··· ४८६
४१५ वैकुण्ठनाथद्वारा शिव-पार्वतीका सत्कार ··· ५७१

४१६ वंशीध्वनिका गौ और हिरनोंपर प्रभाव ... ७५३
४१७ ,, ब्रह्मादि देवताओंपर प्रभाव ... ७५४
४१८ ,, वृक्षादिपर प्रभाव ... ७५३
४१९ वंशीध्वनिको सुनकर हिरनियोंकी दशा ... ७५५
४२० व्यासजीसे स्त्रियोंका सङ्कोच ... १९१
४२१ व्योमासुर-वध ७६१
४२२ व्रजपर मूसलधार वर्षा ७२७
४२३ व्रजवल्लभका कालियदहसे बाहर आना ... ७०८
४२४ व्रजराजका वनसे लौटना ... ७५५
४२५ शकटभञ्जन ६६७
४२६ शतधन्वाके पीछे ८२९
४२७ शर्मिष्ठा और देवयानीका झगड़ा ... ६३४
४२८ शर्यातिका भ्रम ६०१
४२९ शर्यातिपर इन्द्रका कोप ६०२
४३० शाल्ववध ८८६
४३१ शिव-पार्वतीकी मार्कण्डेयजीपर कृपा ... १०४८
४३२ शिशुपालके पक्षपातियोंका पराभव ... ८१८
४३३ शिशुपाल-वध ८८०
४३४ शुकदेवजीकी भागवतशिक्षा ... १९८
४३५ शुनःशेपसहित रोहितका पिताके पास लौटना ६१२
४३६ श्यामसुन्दरद्वारा गोपियोंका स्वागत ... ७३६
४३७ श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रति ब्राह्मणका उपालम्भ ९२६
४३८ श्रीकृष्ण और बलरामका यज्ञोपवीत-संस्कार ७८५
४३९ श्रीकृष्ण और बाणासुरका संग्राम ... ८४९
४४० श्रीकृष्ण और रुक्मिणीका दूत ... ८१३
४४१ श्रीकृष्ण और वसुदेवजीकी बातचीत ... ९०८
४४२ श्रीकृष्णका इन्द्रप्रस्थको प्रस्थान ... ८७०
४४३ श्रीकृष्णका कलङ्कशोधन ... ८२७
४४४ श्रीकृष्णका द्वारकाको प्रस्थान ... २०६
४४५ श्रीकृष्णका मङ्गलतिलक ... ७२८
४४६ श्रीकृष्णका सात बैलोंको एक साथ नाथना ... ८३३
४४७ श्रीकृष्णकी अग्रपूजा ८७९
४४८ श्रीकृष्णकी सेवामें जरासन्धके बन्दी राजाओंका दूत ८६७
४४९ श्रीकृष्णके पीछे कालयवन ... ८०७
४५० श्रीकृष्णके पास नारदजी—व्रजमें ... ७६०
४५१ श्रीकृष्णके पास नारदजी सुधर्मासभामें ... ८६८
४५२ श्रीकृष्णके पास ब्रह्मा आदिका आगमन ... ९५०
४५३ श्रीकृष्णपत्नियोंको यमुनाजीका उपदेश ... १०६२
४५४ श्रीनारदजीका प्रचेताओंको उपदेश ... ४०२
४५५ श्रीनारदजीका वसुदेवजीको उपदेश ... ९३६
४५६ श्रीबलरामजीका जरासन्धको बाँधना ... ८०५
४५७ श्रीबलरामजीका हस्तिनापुरको खैंचना ... ८६२
४५८ श्रीरामद्वारा धनुर्भङ्ग ६१८
४५९ सगरपुत्रोंका दाह ६१४
४६० सतीका आग्रह ३३४
४६१ सतीका प्रस्थान ३३५
४६२ सतीका योगाग्निमें दाह ... ३३७
४६३ सत्यभामाके साथ गरुडजीपर ... ८३४
४६४ सत्यव्रतके सामने प्रलयपयोधिपर नौकाका प्रादुर्भाव ५९५
४६५ सत्राजित्का कन्यादान ... ८२७
४६६ सनकादिके पास वैकुण्ठनाथका पधारना ... २८८
४६७ सनकादिसे नारदजीकी भेंट ... १६९
४६८ सनत्कुमाररूपसे भगवान्का ज्ञानोपदेश ... २४३
४६९ संन्यासीद्वारा ब्राह्मणको फलदान ... १७३
४७० सप्ताहश्रवणसे भक्तिकी दुःखनिवृत्ति ... १७०
४७१ स्वर्गच्युत त्रिशङ्कुको विश्वामित्रजीका रोकना ६१२
४७२ सान्दीपनिजीकी गुरुदक्षिणा ... ७८६
४७३ सीताजीकी गोदमें लव-कुश ... ६२२
४७४ सीताविरही राम ६१९
४७५ सुकन्याकी चपलता ६०१
४७६ सुदर्शनचक्रद्वारा काशीका दाह ... ८५९
४७७ सुदामाके तन्दुल ८९४
४७८ सुदामासत्कार ८९२
४७९ सुदामासे पत्नीकी प्रार्थना ... ८९२
४८० सूतजीकी कथा १८७
४८१ सोलह सहस्र राजकुमारियोंद्वारा श्रीकृष्णका वरण ८३७
४८२ सौभ विमानके वीरोंकी दुर्दशा ... ८८५
४८३ सङ्कर्षण भगवान्के लोकमें श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ९२८
४८४ संतकृपा १९५
४८५ संयमनीपुरीमें यमराजद्वारा स्वागत ... ७८६
४८६ हनुमान्जीके उपास्य श्रीसीताराम ... ४४१
४८७ हाथीकी कामासक्ति ९६०
४८८ हिरनकी शब्दासक्ति ९६०
४८९ हिरण्यकशिपुका गुरुपुत्रपर कोप ... ५१६
४९० हिरण्यकशिपुकी गोदमें प्रह्लाद ... ५१५
४९१ हिरण्यकशिपुकी रोषपूर्ण घोषणा ... ५०७
४९२ हिरण्याक्ष-वध २९५

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, सितम्बर १९४१ सौर भाद्रपद १९९८ { संख्या २ पूर्ण संख्या १८२

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । १ । ३)

'रसिक एवं भावुक भक्तजन ! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है । श्रीशुकदेवरूप तोतेके मुखका सम्बन्ध होनेसे यह परमानन्दमयी सुधासे परिपूर्ण हो गया है । यह मूर्तिमान् रस है । जबतक शरीरमें चेतना रहे तथा जबतक संसारका प्रलय न हो जाय, तबतक इस दिव्य भगवद्-रसका निरन्तर बार-बार पान करते रहो । यह इस पृथ्वीपर ही सुलभ है ।'

भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार

(कुन्तीद्वारा की हुई स्तुतिसे)

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥

आप श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दगोपकुमार, गोविन्दको बार-बार नमस्कार, नमस्कार !

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।
नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥

जिनकी नाभिसे ब्रह्माजीका उत्पत्तिस्थान कमल प्रकट हुआ है, जो कमनीय कमलोंकी माला धारण करते हैं, जिनके कमलके समान कोमल और विशाल नेत्र हैं और जिनके चरणकमलोंमें कमल अङ्कित है, ऐसे आप श्रीकृष्णको नमस्कार, नमस्कार, नमस्कार, नमस्कार !

नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥

जो निर्धनोंके परम धन हैं, जो माया-प्रपञ्चसे सर्वथा रहित हैं, जो सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, परम शान्त हैं और कैवल्यमोक्षके मालिक हैं, ऐसे आप श्रीकृष्णको नमस्कार, नमस्कार !

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

जो लोग आपकी लीलाओंका सदा श्रवण, गायन, कीर्तन और स्मरण करते हैं तथा आनन्दमें मग्न होते रहते हैं वे जन्म-मरणरूप भवके प्रवाहसे बचा लेनेवाले आपके चरणकमलोंका शीघ्र ही दर्शन पा जाते हैं ।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥

जैसे गङ्गाजीकी धारा सारे विघ्नोंको हटाती हुई निरन्तर समुद्रमें गिरती रहती है वैसे ही मेरी बुद्धि भी किसी दूसरी ओर न जाकर निरन्तर आपके प्रेमसमुद्रमें ही विलीन होती रहे ।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥

श्रीकृष्ण ! अर्जुनके सखा ! यदुवंशशिरोमणे ! आप पृथ्वीके भाररूप राजवेषधारी दैत्योंको जलानेके लिये अग्निस्वरूप हैं । आपकी शक्ति अनन्त है । गोविन्द ! आपने गौ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख दूर करनेके लिये ही अवतार लिया है । योगेश्वर ! चराचरके गुरुदेव भगवन् ! आपको नमस्कार है ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर उवाच

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच

युधिष्ठिर उवाच

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

सूत उवाच

युधिष्ठिर उवाच

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

सूत उवाच

अर्जुन उवाच

अथ षोडशोऽध्यायः

सूत उवाच

शौनक उवाच

सूत उवाच

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इति तृतीयस्कन्धः समाप्तः ।

श्रीमद्भागवतम्

चतुर्थस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

इति षष्ठः स्कन्धः समाप्तः

इति ॐ तत्सत्

ॐ श्रीगणेशाय नमः

श्रीमद्भागवतम्

सप्तमस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

नारद उवाच

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

नवमस्कन्धः समाप्तः

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतम्

दशमस्कन्धः

अथ प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

अथ विंशतितमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

श्रीभगवानुवाच

अथ द्वाविंशतितमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

श्रीभगवानुवाच

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

इति द्वादशस्कन्धः समाप्तः

हरिः ॐ तत्सत्

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमाहात्म्य

अथ प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

कल्याणकी पुरानी फाइलों तथा विशेषाङ्कोंका ब्योरा

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा। डाकखर्च हमारा होगा)

ला वर्ष—(सन् १९८१-८४)—इस वर्षका कोई भी अङ्क प्राप्य नहीं है।
रा वर्ष—विशेषाङ्क (भगवन्नामाङ्क) नहीं है। केवल अङ्क २ रा है, मूल्य ≠) प्रति।
३ रा वर्ष—विशेषाङ्क (भक्ताङ्क) मूल्य स० १॥), साधारण अङ्क ७, ८, ९, १०, ११ प्राप्य हैं। मूल्य ।) प्रति।
४ था वर्ष—विशेषाङ्क (गीताङ्क) नहीं है। साधारण अङ्क ८, ९, १०, ११, १२ प्राप्य हैं। मूल्य ।) प्रति।
वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (रामायणाङ्क) नहीं है। फुटकर अङ्क भी नहीं हैं।
वर्ष—विशेषाङ्क (कृष्णाङ्क) नहीं है। फुटकर अङ्क भी नहीं हैं।
वर्ष—विशेषाङ्क (ईश्वराङ्क) नहीं है। साधारण अङ्क केवल १० वाँ है। मूल्य ।) प्रति।
वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (शिवाङ्क) नहीं है। साधारण अङ्क केवल ८, ९, १२ हैं। मूल्य ।) प्रति।
९ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (शक्ति-अङ्क) नहीं है। साधारण अङ्क केवल ९, ११, १२ हैं। मूल्य ।) प्रति।
१० वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (योगाङ्क) सपरिशिष्टाङ्क (तीसरा संस्करण) मूल्य ३॥), साधारण अङ्क नहीं हैं।
११ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (वेदान्ताङ्क) सपरिशिष्टाङ्क मूल्य ३), पूरी फाइल वेदान्ताङ्कसहित ४≈).
१२ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (संत-अङ्क) तीन खण्डोंमें मू० ३॥), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित ४≈)
१३ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (मानसाङ्क) प्रथम खण्ड जिसमें अर्थसहित पूरी रामायण है, मू० ३॥), साधारण अङ्क नहीं हैं।
१४ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (गीतातत्त्वाङ्क) प्रथम खण्ड, मूल्य ३॥), साधारण अङ्क केवल २, ३, १२ हैं। मूल्य ।) प्रति।
१५ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (साधनाङ्क) मूल्य ३॥) सजिल्द ४), पूरी फाइल विशेषाङ्कसहित ४≈) सजिल्द दो जिल्दोंमें ५≈)
१६ वाँ वर्ष—विशेषाङ्क (भागवताङ्क) मू० ४॥), केवल (मूल) दूसरे अङ्कका ॥) पूरे वर्षका मू० ५≈)

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर।

THE KALYANA-KALPATARU

(English Edition of the Kalyan)

Special Numbers and Old Files for Sale.

Annual Subscription: Inland Rs. 4/8/-Burma Rs. 5/-and Foreign Rs. 6/10/-or 10 Shillings.

1. The Kalyana-Kalpataru, Vol. 1., 1934 (Complete file of 12 numbers including the Special issue, God Number) pp. 836; Illustrations 63; Unbound Rs. 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-.
2. The God Number of the Kalyana-Kalpataru 1934, pp. 307, Illus. 41; Unbound Rs. 2/8/-; Cloth-bound Rs. 3/-/-.
3. The Kalyana-Kalpataru, Vol. II., (only 11 ordinary issues, excluding the Special issue, the Gita Number) Rs. 2/-, Cloth-bound Rs. 2/8/- Each -/5/-.
4. The Kalyana-Kalpataru, Vol. III., (only 11 ordinary issues, excluding Special issue, the Vedanta Number) Rs. 2/-, Cloth-bound Rs. 2/8/- Each -/5/-.
5. The Kalyana-Kalpataru, Vol. IV., (only 11 ordinary issues, excluding Special issue, the Krishna Number) Rs. 2/-, Cloth-bound Rs. 2/8/- Each -/5/-.
6. The Kalyana-Kalpataru, Vol. V., (only 11 ordinary issues, excluding Special issue, the Divine Name Number) Rs. 2/-, Cloth-bound Rs. 2/8/- Each -/5/-.
7. The Kalyana-Kalpataru, Vol. VI., 1939 (Complete file of 12 numbers including the Special issue, the Dharma-Tattva Number) Unbound Rs. 4/8/-; Cloth-bound Rs. 5/4/-.
8. The Dharma-Tattva Number of the Kalyana-Kalpataru, 1939, Unbound Rs. 2/8/- Cloth-bound Rs. 3/-/-.
9. The Kalyana-Kalpataru, Vol. VII., 1940, only Special issue, the Yoga Number, Unbound Rs. 2/8/- Cloth-bound Rs. 3/-/-.
10. The Kalyana-Kalpataru, Vol. VIII., 1941, only Special issue, the Bhakta Number, Unbound Rs. 2/8/- Cloth-bound Rs. 3/-/-.

THE MANAGER,
Kalyana-Kalpataru, Gorakhpur (INDIA).

Postage free in all cases.

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(श्रीमद्भागवत १।१।२)

'यह श्रीमद्भागवत महापुराण महामुनि भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासके द्वारा रचित है। इसमें उस निष्कपट एवं श्रेष्ठ धर्मका निरूपण हुआ है, जिसमें मोक्षपर्यन्त किसी भी वस्तुकी कामनाकी गन्ध भी नहीं है। वह श्रेष्ठ धर्म अनन्य और विशुद्ध भगवत्प्रेम है। जिनका हृदय शुद्ध है, मत्सरहीन है, उन सत्पुरुषोंके लिये उनके जाननेयोग्य उस वस्तु (परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण) का निरूपण हुआ है जो आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—तीनों तापोंका जड़से नाश करनेवाली और परमकल्याणको देनेवाली है। जो लोग इसका आश्रय लेते हैं, उन्हें विलम्बसे फल देनेवाले अन्य किसी भी साधन अथवा शास्त्रकी आवश्यकता नहीं है। जो सत्पुरुष अपने अनेक जन्मोंके सुकृतोंके फलस्वरूप इस महापुराणके श्रवणकी इच्छा करते हैं, उनके हृदयमें स्वयं भगवान् उसी क्षण आकर विराजमान हो जाते हैं और वहाँसे फिर हटते ही नहीं।'

कल्याण
वर्ष १६
अंक ४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ६०१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ५≡)
विदेशमें ७।।≈)
(शिलिङ्ग ११½)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≤)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar, and C. L. Goswami, M. A., Shastri,
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India)

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण नवम्बर सन् १९४१ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अवधकी बीथियोंमें [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ···	१२३७
२-प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ···	१२३८
३-कल्याण ('शिव') ···	१२३९
४-जल गयी ! (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज) ···	१२४०
५-प्रार्थना ('नाममात्रका तुम्हारा') ···	१२४२
६-भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०)	१२४३
७-भागवतका सन्देश [कविता] (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१२४७
८-संत-वचन ···	१२४८
९-प्रारब्ध (श्रीकृष्ण) ···	१२५१
१०-ज्ञानयोगके अनुसार विविध प्रकारके साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ···	१२५३
११-आवाहन [कविता] (श्रीकेदारनाथजी, बेकल एम्० ए० (प्री०) एल्० टी०) ···	१२६१
१२-भक्त-गाथा ···	१२६२
१३-कामके पत्र ···	१२६५
१४-भागवतमें क्या है ? [कविता] (श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, विशारद, काव्यतीर्थ) ···	१२६८
१५-भागवत-माहात्म्य (श्रीमतिलाल राय) ···	१२६९
१६-अस्तेय [कहानी] (श्री 'चक्र') ···	१२७२
१७-माताजीसे वार्तालाप (अनु०—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया) ···	१२७५
१८-भगवान्का प्यार (एक बहिन) ···	१२८१
१९-वर्णाश्रम-विवेक (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)	१२८३
२०-व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ···	१२९०
२१-नमस्कार [कविता] (श्रीहनुमानप्रसाद गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम') ···	१३००
२२-दिवाली (पू० श्रीभोलानाथजी महाराज) ···	१३०१
२३-वैष्णवधर्मका विकास और विस्तार (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री) ···	१३०४
२४-सती सुकला (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ···	१३०९
२५-बाल-प्रश्नोत्तरी (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल) ···	१३१५

अवधकी वीथियोंमें

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, नवम्बर १९४१ सौर कार्तिक १९९८ { संख्या ४ | पूर्ण संख्या १८४

अवधकी वीथियोंमें

बिहरत अवध-बीथिन राम ।
संग अनुज अनेक सिसु नव-नील-नीरद-स्याम ॥
तरुन अरुन-सरोज-पद बनी कनकमय पद-त्रान ।
पीतपट कटि तून बर कर ललित लघु धनु बान ॥
लोचननिको लहत फल छबि निरखि पुर नर-नारि ।
बसत तुलसीदास उर अवधेसके सुत चारि ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

प्रज्ञान्मानादध्या ये समस्वरञ्छ्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः ;
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥

(ऋ० ९ । ७३ । ६)

सुनो, रे साधो, यह स्वर्गिक संगीत !
बजती है वीणा समस्वरसे अपने धाम अतीत । तार-तारसे मोहक ध्वनिमें निकलें गान पुनीत ।
इसमें पावन यन्त्र जुड़े हैं वेगवान मतिरूप ; पर अन्धे-बहरे क्या सुनते इसका वाद्य अनूप ।
यह प्रभुकी वाणीकी वीणा मधु लहरोंमें लीन ; तर सकते हैं नहीं सत्य पथ सत्कर्मोंसे हीन ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्‌ स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ।

(अथर्व० ७ । ५२ । २)

खोल दो देव, दयाका द्वार !
दीन-हीन-दुख-दलित-गलित हम डूब रहे मझधार—; मिलकर मनसे तत्व विचारें सोचें समझें सार ;
दैवी मनसे दूर न होवें, तजें पाप-परिवार ; अन्धकारके आनेपर भी मचे न हाहाकार ;
टूटें वज्र, प्रलय घन उमड़ें, विपति करे बरु वार ; अविचल लिये साधना, विचरे, हो तेरा आधार ;
सुखका समय न व्यर्थ बितावें करें पुण्यसे प्यार ; आ जावे अनुकूल अवस्था, होन भोगका भार ;
चरण-शरणमें रहें तुम्हारी, पड़े न खर-शर-मार ।

यदाकूतात् समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ।

(यजु० १८ । ५८)

मिला है प्रभुके बलका बिन्दु ;
गुरुकी कृपा आत्मईक्षणसे चमका आत्मिक इन्दु ! हृदय-निवास सुषुप्तिकालमें स्वप्न समय मन बीच ;—
जगनेपर जो रहे नेत्रमें, जीव सकल बल खींच ; इसी त्रिधारा द्वारा पाया मन हर शक्ति-निपात—
कर जिसका अनुसरण मिला है सुकृत लोक अवदात । यहीं यहींपर पहले ऋषि-मुनि पहुँचे कर पथ पार ;
धन्य आज आकूत धन्य है प्रभुका करुणागार ।

कल्याण

विश्वास करो–भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और सबके सुहृद् हैं, और वे सदा-सर्वदा सर्वत्र तुम्हारे साथ हैं, उनका रक्षक हाथ सदा तुम्हारी रक्षाके लिये तैयार है।

विश्वास करो–तुम्हारे अंदर भगवान् विराजमान हैं, तुम्हारे अंदर उनकी शक्ति छिपी हुई है। तुम चाहो तो अपने अंदर उनका अनुभव कर सकते हो, उन्हें देख सकते हो और उनकी अचिन्त्य शक्तिसे शक्तिमान् बन सकते हो!

विश्वास करो–उनकी शक्तिके सामने पाप-तापकी, शोक-मोहकी, विषाद-दुःखकी, माया-ममताकी ताकत नहीं है कि वे तुम्हारे समीप भी आ सकें। तुम्हें वशमें करना तो बहुत दूरकी बात है!

विश्वास करो–तुमपर पाप-ताप आदिका आक्रमण तभी होता है जब तुम भगवान् और भगवान्‌की शक्तिकी ओर नहीं देखते—अपने अंदर ही उनके होनेका विश्वास नहीं करते।

विश्वास करो–तुम चाहो तो सहज ही भगवान्‌की शक्तिके सहारे शान्तिसे अशान्तिको, आनन्दसे शोकको, वैराग्यसे आसक्तिको, ज्ञानसे मोहको, प्रकाशसे तमको, हर्षसे विषादको, आशासे निराशाको, अनुभवसे कल्पनाको और नित्य भगवद्भावसे सारे अभावोंको दूर कर सकते हो!

विश्वास करो—भगवान् समग्र शान्ति, समग्र आनन्द, समग्र ज्ञान, समग्र प्रकाश, समग्र हर्ष, समग्र आशा, समग्र वैराग्य, समग्र अनुभव और समग्र स्वभावको लेकर नित्य-निरन्तर तुम्हारे अंदर विराजमान हैं।

विश्वास करो–विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते ही, स्मरण करते ही भगवान् तुम्हें अपनानेके लिये तैयार हैं। उनका अमल प्रकाश तुम्हारे जीवन-पथको सर्वथा प्रकाशित कर देगा और तुम सहज ही उनके मधुर मनोहर मुसकानभरे मुखड़ेको देखकर निहाल हो जाओगे।

विश्वास करो–इसी जीवनमें, इसी यात्रामें तुम अपनी अनन्त कालकी अपूर्ण कामनाको पूर्ण कर सकते हो, भगवान्‌को पाकर अपने अल्प, ससीम और दुःखमय जीव-जीवनको महान्, असीम, अनन्त और आनन्दमय बना सकते हो!

'शिव'

जल गयी !

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

त्रेतायुगमें एक राजाने सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताको अपना गुरु करनेके उद्देश्यसे अपने देशके सभी विद्वान् ब्राह्मणोंको एकत्र किया। ग्यारह हजार ब्राह्मण राजाकी सभामें आये परन्तु उनमेंसे राजाके प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेमें कोई भी समर्थ न हो सका। तब राजाने तीन दिनोंतक सब ब्राह्मणोंको परस्पर विचार करने और चौथे दिन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये कहा। ब्राह्मण अनशन रहकर तीन दिनतक अग्निदेवका ध्यान करते रहे। चौथे दिन उदास होकर नियत समयपर राजसभामें पहुँचे। राजा भी मन्त्री आदिसहित आ गया और ब्राह्मणोंसे प्रश्न करनेको ही था कि इतनेमें ही अग्निके समान चमकता हुआ एक ब्राह्मण-बालक सभामें आया। ऐसा मालूम होता था मानो ब्राह्मणोंके उपास्यदेवता स्वयं अग्नि ही बालकका रूप धारण करके अपने उपासकोंकी लाज बचानेके लिये आ गये हों। दिव्य बालकको देखकर राजाने ग्यारह हजार ब्राह्मणोंसहित उठकर उसका स्वागत किया और उसे ऊँचे सिंहासनपर बैठाया। तदनन्तर राजा और बालकमें इस प्रकार बातचीत हुई—

'तत्त्वज्ञान कितनी देरमें होता है ?'

'क्षणभरमें।'

'सच्चे वाक्यसे होता है या झूठे वाक्यसे ?'

'झूठे वाक्यसे।'

'ब्रह्मज्ञानीमें काम-क्रोध-लोभ होते हैं या नहीं ?'

'सब होते हैं।'

'तब ज्ञानी और अज्ञानीमें क्या विलक्षणता है ?'

'अज्ञानीके कामादि इस लोकमें उसकी निन्दा कराते हैं और परलोकमें नरककी प्राप्ति कराते हैं, इसके विरुद्ध ज्ञानीके कामादि इस लोकमें ज्ञानीकी कीर्ति फैलाते हैं और परलोकमें अखण्ड स्वराज्य दिलवाते हैं।'

'महाराज ! श्रुति सबसे प्रबल प्रमाण है, फिर भी युक्तिके बिना श्रुति पानीमें पत्थरके समान है। आपका कथन लोकदृष्टिसे विरुद्ध-सा जँचता है, कृपा करके उसे युक्तिसे सिद्ध कीजिये। युक्तियुक्त वाक्यको ही विद्वान् स्वीकार करते हैं, युक्तिरहित वाक्यको कोई स्वीकार नहीं करता।'

'राजन् ! सच है, युक्ति बिना कोई बात मानने योग्य नहीं है। अच्छा सुनो, युक्ति इस प्रकार है— किसी करोड़पति सेठके एक इकलौता पुत्र था। उसके सिवा सेठके दूसरी कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये वह सेठको बहुत ही प्रिय था। सेठकी हवेली शाही सड़कके किनारेपर थी। एक दिन साहूकारका लड़का फाटकके ऊपरकी गोखमें बैठा हुआ था। दैवयोगसे रूईके गट्ठोंसे लदे हुए ऊँटोंकी एक लंबी कतार हवेलीके सामने होकर निकली, लड़का बहुत देरतक ऊँटोंको गिनता रहा, परन्तु ऊँटोंकी लैनडोरी ऐसी लग गयी कि वह उन्हें गिन न सका। अमाप अतोल रूई देखकर लड़केकी आँखें चौंधिया गयीं और आश्चर्यमें भरकर वह पुकार उठा—'कौन धुनेगा ! कौन कातेगा ! कौन बुनेगा !' ज्यों-ज्यों ये शब्द उसके मुखसे निकलते थे, उसका आश्चर्य बढ़ता जाता था। अब तो उसे यही धुन लग गयी। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते वह यही गीत गाने लगा, 'कौन धुनेगा ! कौन कातेगा ! कौन बुनेगा !' यों गाते-गाते वह पूरा पागल हो गया। पिता-माताको बड़ी चिन्ता हुई। वैद्य, डाक्टर और हकीमोंकी जेबें भरी गयीं, ज्योतिषी-सयाने आने-जाने लगे, अनाप-शनाप रुपया खर्च होने लगा। गंडे-ताबीज भी बहुत किये गये, नवग्रह आदिके मन्त्र-जप कराये गये, यज्ञानुष्ठान किये गये, दान भी बहुत बाँटा गया। सारांश यह कि

दुनियाभरके इलाज कराया गया परन्तु लड़केका रोग न गया सो न गया। तब तो सेठ-सेठानी बहुत ही दुखी हुए, उनका खाना, पीना, सोना आदि सभी काम बंद हो गये। एक दिन दैवयोगसे एक संत विचरते हुए साहूकारके यहाँ आ पहुँचे। साहूकारने उनको सब वृत्तान्त सुनाया, लड़केको दिखाया और बहुत ही दीन होकर सब बातें बतलायीं। संत बीमारी समझ गये, कहने लगे—'भाई ! लोकमें यह कहावत है, 'सारा धन जो जात हो, तो आधा दीजे बाँट !' मनुष्यलोक पुत्रसे ही है, धन खर्च होनेसे पुत्रकी रक्षा होती हो, तो बुद्धिमान् पुरुषको धनका लोभ छोड़ देना चाहिये। यदि तू अपना आधा धन मुझे देना स्वीकार करे तो लड़केको मैं अच्छा कर दूँ ! लड़का अच्छा हो जाय, तब धन देना, मैं पहले नहीं माँगता। बिना काम किये मैं किसीका धन नहीं लेता, यह मेरे गुरुकी आज्ञा है।' साहूकार खुशी-खुशी राजी हो गया। संतकी आज्ञासे एक कमरा राजसी ठाटसे सजाया गया, अनेकों प्रकारके देव-देवियोंके अद्भुत चित्र यथास्थान लगाये गये, झाड़-फानूस लटकाये गये, दिव्य-सुगन्धित पदार्थोंसे सब दिशाएँ महका दी गयीं। जब कमरा पूर्ण रीतिसे सज गया तब संत उस लड़केको लेकर कमरेमें घुस गये। उन्होंने और सबको अंदर आनेकी मनाही कर दी। एकान्तमें संतने लड़केसे पूछा—'बच्चा ! क्या कहता है ?' लड़का संतकी दिव्यदृष्टि और मधुर वाणीसे प्रभावित और कमरेकी महकसे कुछ शान्त-सा होकर हाथ जोड़कर कहने लगा—'महाराज ! कौन धुनेगा ! कौन कातेगा ! कौन बुनेगा !' संतने हँसते हुए झटसे कहा—'बच्चा ! वह तो तभी जल गयी।' लड़का होशमें आकर बोला—'क्या जल गयी ?' संत बोले—'हाँ, हाँ, बच्चा ! उसी दिन जल गयी ! मेरे सामने ही जल गयी !' बस, लड़का प्रकृतिस्थ हो गया। जैसा पहले था, वैसा ही बन गया। साहूकारने प्रसन्न होकर संतको पचास लाख रुपये भेंट किये। संतने वहीं उन्हें सत्कर्मोंमें खर्च कर दिया और स्वयं देखते-ही-देखते न मालूम किधरको रम गये।

राजन् ! जैसे संतके मिथ्या वचनसे लड़केका पागलपन जाता रहा, इसी प्रकार गुरु-शास्त्रके मिथ्या वचनसे मिथ्या अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। कहा भी है 'जैसा देव वैसी सेव !' गोबरके गोबरधनमें कौड़ियोंकी ही आँखें लगायी जाती हैं।

जैसे संतकी अग्निरूप वाणीसे क्षणभरमें रूई जल गयी, इसी प्रकार ज्ञानाग्निसे क्षणभरमें कर्मरूपी रूई जल जाती है।* संत स्वाभाविक ही सबके हितके लिये विचरते रहते हैं, यही उनकी कामना—काम है, अधिकारीसे अधिकारके अनुसार लोकसंग्रहार्थ धनादि ले लेते हैं, यही उनका लोभ है, वेदानुसारी धर्ममें उनका राग है और वेदविरुद्ध धर्मसे वे द्वेष भी करते हैं। यों संतोंके काम, क्रोध, लोभ सभी केवल लोकहितके लिये ही होते हैं। उनमें कोई स्वार्थ, आसक्ति, आवेश आदि अज्ञानजनित कारण नहीं होता। सबका निःस्वार्थ हित करना संतोंका स्वाभाविक लक्षण है। जैसे कीले हुए साँप सँपेरेकी हानि नहीं करते किन्तु उसके भरण-पोषणके साधन होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानीके ये दीखने-मात्रके कामादि ज्ञानीकी हानि नहीं करते, उलटा उसका यश बढ़ाते हैं और विश्वभरका हित करते हैं।'

राजाने बालक ब्राह्मणको गुरु बनाया और उसके उपदेशसे वह कृतार्थ हो गया। ब्रह्मादि गुरुओंकी जय !

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

---

* जिसको ज्ञान होता है, उसीके कर्म जलते हैं अन्यके नहीं।

प्रार्थना

मेरे अन्तर्यामी प्रभो ! तुम्हारी कृपासे जिस समय मैं पहले-पहल साधनामें लगा था, उस समय मेरा भाव बहुत सुन्दर था। मैं समझता-सोचता था—'सारा संसार भगवान्‌से भरा है। सब कुछ उन्हींकी प्रेरणासे होता है और सर्वत्र उन्हींकी शक्ति काम करती है। भगवान् ही मेरे जीवनके एकमात्र लक्ष्य हैं। मैं निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ अपने सारे कर्म केवल भगवान्‌के लिये ही करूँगा। मेरी बुद्धि, मेरा मन और मेरी सारी इन्द्रियाँ केवल भगवान्‌की सेवामें ही लगी रहेंगी और मैं पल-पलमें भगवान्‌के मधुर प्रेमका दिव्य स्वाद ले-लेकर मस्त होता रहूँगा।' परन्तु आज तो कुछ दूसरी ही बात हो गयी है! तुम्हारे विराजनेके पवित्र आसनपर मैं मोहवश अपने इन अनित्य, अपवित्र और पाप-कलुषित नाम-रूपको बैठाकर इन्हींकी पूजा करना-कराना चाहता हूँ। मेरी प्रत्येक चेष्टामें आज ममता, अभिमान और आसक्तिका नंगा नाच हो रहा है। संसारके भोगोंमें मेरे मन-प्राण इतने रम गये हैं कि उनमें कभी दोषबुद्धि भी नहीं होती, फिर असद्बुद्धि तो कहाँसे होती! जब तुम्हारा प्यारा स्मरण करने बैठता हूँ, तभी भोगोंके विचित्र-विचित्र चित्र चित्तके सामने दल-के-दल आ जाते हैं और मैं तुम्हें भूलकर उन्हींको देखने लगता हूँ, और उन्हींमें रम जाता हूँ। भगवन्! ऐसा क्यों हो गया? सचमुच प्रभो! मैं पतनकी ओर बढ़ा जा रहा हूँ। विद्या, बुद्धि और ज्ञानका अभिमान मुझसे न मालूम कितनी बार पूजनीयोंका अपमान कराता है। अधिकार, प्रतिष्ठा, सम्मान और सुख्यातिके जादूने इतना प्रभाव जमाया है कि तुम्हारे पवित्र स्मरणकी भी आवश्यकता मन नहीं अनुभव करता और न तुम्हें भूल जानेपर वह कभी पश्चात्ताप ही करता है। दुःख तो यह है, कभी-कभी यह सब 'ज्ञान' के नामपर होता है! मेरी धृष्टता और नीचताका पार नहीं है। प्रभो! मेरी यह दुर्दशा कबतक रहेगी? हाय! हाय! मेरे मालिक! मुझे बचाओ, मेरी इस दयनीय दशाकी ओर दयादृष्टिसे देखो। दया करो! मेरा सारा पुरुषार्थ व्यर्थ हो गया। संसारके सुख, धन, मान, कीर्ति आदिके प्रलोभनोंने मेरी साधनाको नष्ट कर डाला। मैं आज पुरुषार्थहीन हूँ। अब बस, तुम्हारा ही भरोसा है। मैं जान गया, जो कुछ भी होगा तुम्हारी कृपासे ही होगा। तुम अपनी कृपाशक्तिसे मेरे सारे अनर्थकारी मनोरथ-महलोंको ढहा दो; मेरे सारे अभावोंके अनुभवोंका सर्वथा अभाव कर दो। मेरा मन नित्य-निरन्तर तुम्हारे मधुर रूप, अप्रतिम गुण और पावन नामपर मतवाला हुआ रहे। मेरी बुद्धि सदा-सर्वदा तुम्हारे तत्त्वचिन्तनमें ही लगी रहे। मेरी इन्द्रियाँ सर्वत्र सब ओरसे केवल तुम्हारी ही सेवामें संलग्न रहें। मेरी सारी ममता, सारी आसक्ति सब ओरसे सिमटकर एकमात्र तुम्हींमें आकर स्थिर हो जाय। असलमें मेरे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंपर, अहङ्कारपर और आत्मापर—सबपर, सब कुछपर एकमात्र तुम्हारा ही अधिकार हो जाय। तुम मुझे सब प्रकारसे अपनालो मेरे कृपामय स्वामी!

'नाममात्रका तुम्हारा'

भागवतमें ईश्वर और जीवतत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०)

(१)

प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान तथा धर्म-सम्प्रदाय अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार जीव और ईश्वरतत्त्वका निरूपण करनेकी चेष्टा करते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी विभिन्न प्रसङ्गोंमें इसी प्रकारकी आलोचना देखनेमें आती है। इस आलोचनाका आश्रय लेकर आचार्योंने एक बृहत् साहित्यकी रचना की है। हम यहाँ इसके सम्बन्धमें अपना कोई अभिमत प्रकट न करके केवल मूलग्रन्थके अभिप्राय और तात्पर्यकी ओर ध्यान रखकर यथासम्भव संक्षेपमें दो-चार बातें लिखनेकी चेष्टा करेंगे। श्रीमद्भागवतमें उपदिष्ट तत्त्वकी ठीक-ठीक व्याख्या करनेकी योग्यता रखनेवाले पुरुष विरले ही हैं। क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि—

> ब्रह्मानुभवसम्पन्नाः शास्त्रज्ञाश्चानसूयवः।
> तात्पर्यरससारज्ञास्त एवात्राधिकारिणः॥

'जो ब्रह्मानुभूतिसे युक्त हैं, शास्त्रके मर्मको जानते हैं, असूयारहित हैं तथा तात्पर्यके ज्ञाता हैं, वे ही भागवतके गूढ़ार्थको प्रकट करनेका अधिकार रखते हैं।'

हमारी यह चेष्टा तो केवल महाजनोंके चरणचिह्नोंका अनुसरण करते हुए अपनी व्यक्तिगत जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये क्षुद्र उद्योगमात्र है।

श्रीभगवान्‌ने अपने तत्त्वके विज्ञानके विषयमें ब्रह्माजीको इस प्रकार उपदेश दिया है—

> अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
> पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥*
>
> (श्रीमद्भा० २।९।३२)

'सृष्टिके पूर्व केवल मैं ही था—दूसरी कोई वस्तु न थी। तब मैं था केवल, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अथवा कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत् अथवा कारणात्मक सूक्ष्म भाव न था; यहाँतक कि दोनोंका कारण-स्वरूप प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें ही लीन था। सृष्टिके परे भी मैं ही हूँ अर्थात् यह प्रपञ्च-विस्तार अथवा विश्व भी मैं ही हूँ। यह वस्तुतः मुझसे भिन्न नहीं है। फिर प्रलयकालमें सबके लीन हो जानेपर एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूँगा। अतएव मैं अनादि, अनन्त, अद्वितीय तथा परिपूर्णस्वरूप हूँ।'

इससे समझा जा सकता है कि निर्गुण, सगुण, जीव और जगत् सभी ब्रह्मरूप हैं।*

(२)

हम यहाँ और भी स्पष्टरूपसे विभिन्न दृष्टिकोणसे इस विषयको समझनेकी चेष्टा करते हैं।

चैतन्य ही ब्रह्म या भगवान्‌का स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह जब सत्त्वगुणरूपी उपाधिके द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता तब अव्यक्त और निराकारभावमें वर्तमान रहता है। इसीको साधारणतः 'निर्गुण ब्रह्म' कहकर वर्णन किया जाता है। और जब यह सत्त्वसे अवच्छिन्न होता है तब यह साकार या सगुणरूपमें व्यक्त होता है। वस्तुतः निराकार और साकार एक ही अखण्ड वस्तु है। चिद् वस्तु स्वरूपतः अव्यक्त है, वह प्रकृतिके सत्त्वगुणके सम्बन्धसे व्यक्त होती है। परन्तु व्यक्त होकर भी वह एक ही रहती है। रजोगुणके संयोगके कारण वही एक सत्ता विचित्र नाना रूपोंमें आभासित होती है। इसी प्रकार तमोगुणके संयोगके कारण नानात्वका तिरोधान हो जाता है। यह जो अव्यक्त सत्ताकी व्यक्तता है, यही 'स्थिति' कहलाती है, यह विशुद्ध सत्त्वगुणका व्यापार है। इससे जो नाना रूप फूट पड़ते हैं, उसे 'सृष्टि' कहते हैं। एकमें अन्तर्लीन बहुत्वका प्रकट होना ही सृष्टिका दूसरा नाम है। कालान्तरमें यह बहु रूप उपसंहृत होता है। इसीका नाम 'संहार' है। पहले स्थिति है, उसके पश्चात् सृष्टि और फिर संहार। निर्मल सत्त्वके ऊपर रजोगुण और तमोगुण आकर्षण-विकर्षणके रूपमें,

---

* ऋग्वेदसंहिता (८।७।१७) में इसी अवस्थाको 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादि रूपसे वर्णन किया गया है।

* इसी कारण आचार्य वामनने 'श्रुतिकल्पलता'के उपोद्घातमें कहा है—

> निर्गुणं सगुणं जीवसंज्ञितं जगदात्मकम्। × × ×
> एतच्चतुर्विधं ब्रह्म श्रीमद्भागवते स्फुटम्॥

वह स्वयं स्वरूपतः निर्गुण, मायाके योगसे सगुण, अविद्याके कारण प्रतिबिम्बरूपमें जीव तथा विवर्तरूपमें जगत् है।

उन्मेष-निमेषके रूपमें अथवा सङ्कोच-विकासके रूपमें पर्याय-क्रमसे क्रीड़ा करते रहते हैं।

हमने जो भगवान्‌की सत्त्वावच्छिन्न साकार स्वरूपकी बात कही है, वह सत्त्वगुणके तारतम्यके कारण मूलतः एक होते हुए भी विभिन्नरूपमें प्रतीत होता है। सत्त्व दो प्रकारका होता है—विशुद्ध और मिश्र। मिश्र सत्त्व भी एक गुणके मिश्रण अथवा दो गुणोंके मिश्रणके कारण दो प्रकारका होता है। एक गुणके मिश्रणमें भी मिश्र सत्त्व रजोमिश्र तथा तमोमिश्र-भेदसे दो प्रकारका होता है। अतएव भगवान्‌का साकाररूप मुख्यतः चार प्रकारका प्राप्त होता है। जैसे—

१. शुद्ध सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इसे 'विष्णु' कहते हैं।

२. रजोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इसका दूसरा नाम 'ब्रह्मा' है।

३. तमोमिश्र सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य—इसकी शास्त्रीय संज्ञा 'रुद्र' है।

४. तुल्यबल रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे मिश्रित सत्त्वसे अवच्छिन्न चैतन्य—यही 'पुरुष' है।

जगत्‌की स्थिति, सृष्टि और संहारके व्यापारमें विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र—ये तीन निमित्त हैं, तथा सर्वत्र 'पुरुष' ही उपादान रहता है। परन्तु ये चारों ब्रह्मके ही साकाररूप हैं, यह पहले कहा जा चुका है। अतएव भागवतके मतसे एकमात्र ब्रह्मको ही जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण कहा जा सकता है। फिर कार्यात्मक जगत् भी ब्रह्म ही है। अतएव ब्रह्म स्वयं ही कार्य, स्वयं उपादान और स्वयं निमित्त है। निराकार दृष्टिसे कहा जा सकता है कि ब्रह्म कार्य भी नहीं है, कारण भी नहीं है। वह जो है वही है, सदा वही रहता है। सृष्टि आदि इन्द्रजालके समान आविर्भूत होकर केवल अज्ञानदृष्टिसे उसमें आरोपित होती हैं। शुद्ध ज्ञान-दृष्टिसे यह आरोप भी आकाश-कुसुमके समान मिथ्या है। उसका निराकार स्वरूप ही उनका परम रूप है। यह गुणातीत है, कालके द्वारा अपरिच्छिन्न है, निर्विकार है, शान्त तथा अद्वय है—यही विष्णुका परम पद है।

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे॥

(श्रीमद्भा० २।२।१७-१८)

'जहाँ देवताओंके नियामक कालका कोई प्रभुत्व नहीं है, अतएव यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देवता लोग सांसारिक प्राणियोंके नियन्त्रणकारी होते हुए भी अपना प्रभाव वहाँ नहीं चला सकते। जहाँ सत्त्व, रज और तमोगुण नहीं हैं, जहाँ अहङ्कार-तत्त्व (विकार), महत्तत्त्व तथा प्रकृति-तत्त्वका अस्तित्व नहीं है; जिस परम पूज्य भगवत्स्वरूपको योगी लोग 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार विचारके द्वारा तद्भिन्न पदार्थोंका परिहार करनेकी इच्छा करते हुए विषयासक्तिको छोड़कर अनन्य प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रतिक्षण आलिङ्गन करते रहते हैं, उसीको 'विष्णुका परम पद' कहा जाता है।'

इसी परम रूपके वर्णनके प्रसङ्गमें देवकीने स्तुति करते हुए कहा था—

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२४)

'प्रभो! वेदमें आपके जिस रूपको अव्यक्त तथा सबका कारण कहा गया है, जो व्यापक ज्योतिःस्वरूप है, जो गुणहीन तथा विकारहीन है, जो निर्विशेष तथा निष्क्रिय सत्तामात्र है, वही बुद्धि आदिके प्रकाशक विष्णु आप स्वयं हैं।'

इस निर्गुण परमेश्वरका आदि अवतार ही पुरुष है—

'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'—(श्रीमद्भा० २।६।४१)

परमेश्वरका जो अंश प्रधान-गुणस्वरूप है अर्थात् प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्योंका वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है; जो स्वरूपतः एक होते हुए भी नाना प्रकारसे अपने विग्रहांशका विभाग करके निखिल प्राणियोंका विस्तार करता है, जो मायाके सम्बन्धसे रहित होते हुए भी माया-युक्त-सा प्रतीत होता है, जो सर्वदा चित्-शक्तियुक्त है, वही 'पुरुष'पदवाच्य है। इस पुरुषसे ही विभिन्न अवतारोंकी अभिव्यक्ति होती है। ये केवल सङ्कल्पमात्रसे सब कार्य सम्पादन करते हैं, इसलिये प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें प्रविष्ट होते हुए भी अचिन्त्य शक्तिके कारण उनसे स्पर्श नहीं किये जाते। शुद्ध ही रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशो
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥
(११ । ४ । ३-४)

'आदिदेव नारायण प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर पञ्चभूतोंकी सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा ब्रह्माण्ड नामक विराट् पुरी अथवा देहकी रचना करते हैं। तत्पश्चात् उसमें अपने अंशके द्वारा अथवा 'जीवकला' के द्वारा प्रविष्ट होकर 'पुरुष' संज्ञाको प्राप्त होते हैं। यह दृश्यमान त्रिभुवन उनका शरीर है—समष्टि और व्यष्टि जीवोंकी दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ उनकी दिग्वातादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हैं, जीवोंका ज्ञान उनके स्वरूपभूत सत्त्वसे उत्पन्न है। जीवोंका बल (देहशक्ति), तेज (इन्द्रियशक्ति) और क्रिया उनके प्राणसे उत्पन्न हैं। सत्त्वादि गुणोंके द्वारा वही विश्वकी स्थिति आदिके आदिकर्त्ता हैं—विष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र नामक तीनों गुणावतार तो केवल प्रयोजकमात्र हैं।'*

भागवत (८ । २० । २१–३३) में वामनरूपके वर्णनके प्रसङ्गमें पुरुषरूपका वर्णन मिलता है। यह त्रिगुणात्मकरूप है, इसका वहाँ उल्लेख है। इस रूपमें वहाँ भूः, आकाश, द्युलोक, पाताल, मेघ, तिर्यक् योनि, मनुष्य, देवता, ऋषि आदि स्थावर-जंगम समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर हुए थे। दैत्यराज बलिने अपने ऋत्विक् आचार्य और सदस्योंके साथ महा विभूतिसे सम्पन्न श्रीहरिके देहमें त्रिगुणमय विश्वको देखा था। उसमें पञ्चभूत, दसों इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, चार अन्तःकरण तथा जीवकी सत्ताको भी प्रत्यक्ष देखा था—

काये बलिस्तस्य महाविभूतेः सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २० । २२)

अर्जुनने जिस प्रकार भगवान्‌के दिये हुए दिव्य चक्षुओंके द्वारा उनके विश्वरूपका दर्शन किया था, कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बलिने भी उसी प्रकार भगवत्कृपासे दिव्यचक्षु प्राप्त किया था।

भगवान्‌के परम रूपके दर्शनके पूर्व यह विश्वरूप-दर्शन अधिकांश साधकोंको हुआ करता है। बुद्धदेवने भी सम्यक सम्बोधि प्राप्त होनेके पूर्व इस प्रकारके विराट् रूपका दर्शन किया था—इस बातका उल्लेख अश्वघोषने बुद्धचरितमें किया है—

'ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले।'

पुरुषावतारके पश्चात् गुणावतारके विषयकी आलोचना होनी चाहिये। पूर्ववर्णित आद्यपुरुष सर्वप्रथम जगत्‌की सृष्टिके लिये रजोगुणके अंशमें ब्रह्मा बनते हैं, स्थितिके लिये सत्त्वगुणके अंशमें धर्म तथा ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु बनते हैं, तथा संहारके लिये तमोगुणके अंशमें रुद्ररूप धारण करते हैं। गुणत्रयका आश्रय लेकर इस प्रकार एक ही पुरुष उन-उन नामोंको धारण करता हुआ जगत्‌की उत्पत्ति, रक्षा और प्रलयकी व्यवस्था करता है।* इनमें ब्रह्माका वाहन हंस, विष्णुका गरुड़ (सुपर्ण) तथा रुद्रका वृष है। इनके कमण्डलु, चक्र, त्रिशूल आदि अपने-अपने विशिष्ट चिह्न हैं (श्रीमद्भा० ४ । १ । २४)।

शुद्ध सत्त्वात्मक विष्णुरूपका विशेष वर्णन भागवत (१० । ८९ । ५४–५६) में अन्यत्र किया गया है। इसका श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ द्वारकाके मृत ब्राह्मणकुमारको लानेके लिये गर्भोदकमें जाकर दर्शन किया था। श्रीकृष्ण और अर्जुनने दिव्य रथपर सवार होकर पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थान किया, और सप्तद्वीप, सप्तसमुद्र तथा लोकालोक पर्वतको लाँघकर घनघोर अन्धकारमें प्रवेश किया। उस घने अन्धकारमें दिव्य अश्वकी भी चाल रुक गयी। तब उनके आदेशसे सुदर्शनचक्र सहस्रों सूर्यके समान उज्ज्वल अपनी किरणोंको बिखेरकर अन्धकारका नाश करता हुआ आगे-आगे चलने लगा और उसके दिखलाये हुए मार्गसे रथ आगे बढ़ा। इस प्रकार उन्होंने इस निविड़ तमोराशिको भेद करके उसके दूसरे पार स्थित अनन्त व्यापक ज्योतिराशिका दर्शन किया।† अर्जुनने उस ज्योतिकी झलक सहन न करके अपनी आँखें मूँद लीं। इसके बाद भयानक वायुके

---

* 'आदिकर्त्ता' शब्दकी यह व्याख्या श्रीधरसम्मत है। 'हेमाद्रिकैवल्यदीपिका'में कहा गया है कि, आदिकर्त्ता=प्रथम कारण अथवा उपादान—अर्थात् पुरुष है। परवर्ती कारण=निमित्त अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र हैं।

* आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे, इत्यादि (श्रीमद्भा० ११ । ४ । ५)।

† इसकी श्रीधरस्वामीने 'भागवत-ज्योति' के नामसे व्याख्या की है।

वेगसे विशुद्ध विशाल दिव्य जलराशि दीख पड़ी ।* उत्ताल तरङ्गोंसे तरङ्गायमान इस समुद्रमें एक अत्यन्त द्युतिशाली विशाल भवन दिखलायी दिया । यही 'महाकालपुर' (श्रीधरस्वामीके मतसे) था । यह भवन सहस्रों सुदीप्त मणिमय स्तम्भोंके द्वारा सुशोभित हो रहा था । वहाँ सहस्र मस्तकोंसे युक्त भगवान् शेषनाग विराजमान थे, जिनके प्रत्येक मस्तकपर उज्ज्वल मणिमय फण सुशोभित था तथा शरीर अत्यन्त भयानक और अद्भुत था । भगवान् महाविष्णु इस शेषनागरूपी शय्यापर सोये हुए थे । † उनकी शरीरकी घने मेघके समान नील कान्ति थी, वे पीत वस्त्र धारण किये थे, प्रसन्नवदन थे, उनके नेत्र दीर्घ और सुन्दर थे । वे मणिमय किरीट-कुण्डल, बिखरे हुए चमकीले कुन्तल दाम, श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभ और वनमालासे आभूषित थे । उनकी लंबी-लंबी आठों भुजाएँ सुशोभित हो रही थीं । उनके चारों ओर सुनन्द, नन्द आदि पार्षदगण तथा मूर्तिमान् चक्रादि आयुध विराजमान थे । मूर्तिमती पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा तथा अखिल ऋषिवर्ग उनकी सेवा कर रहे थे ।

यहाँ जिस रूपका वर्णन किया गया है वही उनका एकमात्र रूप नहीं है । वे इच्छारूप होनेके कारण भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन-उन स्वरूपोंको धारण करते हैं । अब जो भक्त उनके जिस रूपके दर्शन करनेकी इच्छा करता है, वे उसके सामने उसी रूपमें प्रकट होते हैं ।

> त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
> आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
> यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
> तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥
> (श्रीमद्भा० ३ । ९ । ११)

'हे विष्णो ! तुम पुरुषोंके भक्तियोगसे शोधित हृदय-कमलमें अभिव्यक्त होकर अवस्थान करते हो । तुम्हारे पथ अथवा स्वरूपस्थितिका परिचय एकमात्र वेदसे ही प्राप्त होता है । अतएव भक्तगण तुम्हारे जिस-जिस रूपका अपने मनमें चिन्तन करते हैं, तुम उनपर अनुग्रह करनेके लिये उसी-उसी रूपमें आविर्भूत होते हो ।'

भागवतमें अन्यत्र (३ । २४ । ३१) कहा गया है कि भगवान् 'अरूपी' हैं—उनका कोई रूप नहीं है; परन्तु स्वजनोंमें जिनको जो रूप अच्छा लगे उनका वही रूप जानना चाहिये ।

> तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
> यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥
> (श्रीमद्भा० ३ । २४ । ३१)

यहाँतक हमने पुरुषावतार तथा गुणावतारकी आलोचना की । मुमुक्षु पुरुष समाधि-अवस्थामें इनका दर्शन प्राप्त करते हैं । परन्तु जिन साधकोंका चित्त अभी व्युत्थानावस्थाका अतिक्रमण करके समाधिस्थ नहीं हुआ है, उनके लिये और एक प्रकारके अवतारके ध्यान और चिन्तनकी व्यवस्था है । भगवान्‌के दिव्य जन्म तथा अलौकिक लीलारूपी कर्मोंका श्रद्धापूर्वक चिन्तन करनेसे साधकके विघ्न नष्ट हो जाते हैं, और उसे इष्टकी प्राप्तिमें सहायता मिलती है । ये सब अवतार कल्पावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार और स्वल्पावतार-भेदसे चार प्रकारके हैं । वराह आदि कल्पावतारोंका वर्णन द्वितीय स्कन्धके सप्तम अध्यायमें प्राप्त

---

* यही 'गर्भोदक' है, ऐसा हेमाद्रिने लिखा है । गर्भोदकके अवस्थानादिके विषयमें विशेष वर्णन प्राचीन आगमसाहित्यमें प्राप्त होता है । सप्तद्वीपोंमें अन्तिम द्वीपका नाम 'पुष्कर' है । यह स्वादु जलराशिसे वेष्टित है । इस स्वादु जलमय समुद्रके बाहर सुवर्णभूमि है । यह देवताओंकी क्रीडाभूमि है । इसके आगे वलयाकार लोकालोकपर्वत है । लोकालोकके भीतरकी ओर सूर्य प्रकाशित होता है; बाहर सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँचता । सूर्य मेरु और लोकालोकके अन्तरालमें रहता है । लोकालोकके बाहर घोर अन्धकार है । वह 'दुष्प्रेक्ष्य' है । उसके आगे जीवहीन 'गर्भोद' नामक समुद्रराज है । सप्तसमुद्र तथा सप्तद्वीपा पृथ्वी इसीके गर्भमें स्थित है । गर्भोदकके बाहर ही ब्रह्माण्ड-कटाह है । यही प्रचलित मत है । सिद्धयोगीश्वरतन्त्रके मतसे लोकालोकके निकट 'गर्भोद' और गर्भोदके तीरपर 'कौषेयमण्डल' है । सहस्रों सिद्ध पक्षिमण्डलसे घिरे हुए पक्षिराज गरुड़जी यहीं निवास करते हैं ।

† भागवतकारने 'पुरुषोत्तमोत्तमं' तथा 'परमेष्ठिनां पतिम्' कहकर इसी पुरुषको विशेषित किया है ।

होता है। चौदह मन्वन्तरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले चौदह मन्वन्तरावतारोंका विवरण अष्टम स्कन्धके १, ५, १२ तथा १३ वें अध्यायोंमें देखनेमें आता है। शुक्ल आदि वर्णोंके भेदसे युगावतार चार हैं। इनके अतिरिक्त सृष्टिके व्यापारमें ब्रह्मा, प्रजापतिगण, ऋषिगण और तप; स्थितिके व्यापारमें धर्म, यज्ञ, मनु, अमर और अवनीश अथवा राजा, तथा संहारके कार्यमें अधर्म, हर और मन्युवश (सर्प)—ये सब मायाविभूतियाँ भी अवतारमें गिनी जाती हैं।

गुणातीत और निराकार स्वरूप ही भगवान्का परम रूप है, यह कहा गया है। परन्तु इस रूपकी धारणा करना बहुत ही कठिन है। प्रथम भूमिकामें त्रैगुण्यविषयक धारणा करनी पड़ती है। यही उनके पुरुषरूपका चिन्तन है। इसके द्वारा चित्तके कुछ स्थिर होनेपर द्वितीय भूमिकामें द्वैगुण्यकी धारणा करनी पड़ती है। यह ब्रह्मा रुद्रदेवका रूप-चिन्तन है। इनका एक साथ ध्यान करना असम्भव नहीं है। यदि ध्यानके समय दो मूर्तियाँ रहें तो दोनोंमें अभिन्न भावना करनी पड़ती है। इस द्विविध धारणाके द्वारा रजोगुण और तमोगुणके अभिभूत होनेपर मुमुक्षु पुरुषको सत्त्वगुणको जय करनेके लिये तृतीय भूमिकामें शुद्धसत्त्वमय विष्णुकी धारणा करनी चाहिये। इसके पश्चात् चतुर्थ भूमिकामें निर्गुणकी धारणाका अधिकार प्राप्त होता है। मनुष्यकी बुद्धि स्थूल तथा सूक्ष्म क्रमका आश्रय लेकर अर्थको स्पर्श करती है। इसी कारण त्रिगुणात्मक भगवत्-रूपमें मनको प्रणिहित करके स्थिर कर लेना पड़ता है। फिर वह द्विगुणात्मकरूपमें, उसके बाद शुद्ध सत्त्वमयरूपमें तथा अन्तमें निर्गुण सूक्ष्म ब्रह्ममें प्रविष्ट होकर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूपका ध्यान करके कृतार्थ होता है।

(क्रमशः)

भागवतका सन्देश

कौन जिसे हम अर्चन करते ?
श्रुति बोली—अव्यक्त, अनन्त।
देखा—यशुदाके ऊखलमें—
बँधा रो रहा वह, हो क्लान्त !

मुनि कहते थे—वह अचिन्त्य है,
पूर्णकाम, निःसंग, अरूप।
विधि-हत साथी ढूँढ़ रहा था,
कुंजोंमें चरवाहा रूप !!

लोग बताते हैं—वह निर्गुण,
ताथेइ ताथेइवाला कौन—
अद्भुत गुणी, वेणु लहरी सुन—
जिसकी, जड़-चेतन सब मौन ?

अन्तरमें संघर्ष हो चला,
सच्चे कौन नेत्र या वेद ?
सत्यवती-सुत होकर आया—
वह चंचल, समझाने भेद।

दोनोंका ही एक समन्वय—
प्रेम, जहाँ वह विभु अव्यक्त—
विवश बना है, अज होकर भी—
बार बार होता है व्यक्त।

सम्भव और असम्भव कैसा ?
दोनों शक्य, दिव्य आदेश-
एकमात्र लीलामय उसमें।
यही भागवतका सन्देश !!

—सुदर्शनसिंह

संत-वचन

(१)

दुःखके दस कारण

कल्याण-पथमें चलनेवाले साधकको नीचे लिखी दस बातोंपर विचार करना चाहिये; क्योंकि ये ही दुःखके दस हेतु हैं।

(१) इस देव-दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर, जब हम सत्कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं और जब हमें उस कार्यमें भगवान्की शक्ति प्राप्त है, जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थके कार्योंमें गँवाना दुःखका कारण है।

(२) इस परम दुर्लभ, परम पवित्र एवं भगवत्प्रदत्त मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हम संसारमें, और संसारके भोगोंमें ही लिप्त रहे, धर्म और सदाचारमें न लगे और इसी प्रकार विषयासक्ति और अधार्मिकतामें हमारी मृत्यु हो गयी तो यह दुःखका कारण है।

(३) इस कलियुगमें मानव-शरीर इतना अनिश्चित और क्षणभङ्गुर है कि पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। ऐसी अवस्थामें संसारके प्रपञ्चों और विषय-भोगोंमें समय लगाना दुःखका कारण है।

(४) धर्मकार्यके लिये ही मनुष्यको यह शरीर मिला है, फिर भी यदि हमारा जीवन इस जगत्के प्रलोभनोंका शिकार हो जाय तो यह दुःखका कारण है।

(५) गुरु ही साधन-पथके प्रदर्शक हैं। ज्ञानकी प्राप्तिके पहले ही यदि उनके आश्रयका परित्याग कर दिया तो यह दुःखका कारण है।

(६) श्रद्धा, विश्वास, व्रत, साधनाके द्वारा ही हम इस भवसागरको पार करते हैं—संसारके आकर्षण यदि इन्हें छिन्न-भिन्न कर जायँ तो दुःखका कारण है।

(७) गुरुकी कृपासे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस ज्ञानको प्राप्त कर सांसारिक विषय-वासनाओंमें इसे लुटा देना दुःखका कारण है।

(८) आध्यात्मिक तत्त्वोंपर रोजगार चलाना और उन्हें बेच-बेचकर रोजी कमाना दुःखका कारण है।

(९) चर-अचर सभी प्राणियोंमें ईश्वरका निवास है—ऐसी अवस्थामें किसीके प्रति भी असत्कार या घृणाका भाव रखना दुःखका कारण है।

(१०) जवानी ही शरीर, मन, बुद्धि और आत्माको पुष्ट करनेका सबसे उत्तम समय है। इसे अपवित्र कार्योंमें लगाना दुःखका कारण है।

दुःखके ये ही दस कारण हैं।

दस आवश्यकताएँ

(१) अपनी योग्यता और क्षमता जानकर सुनिश्चित कार्यमें लग जानेकी आवश्यकता है।

(२) गुरुकी आज्ञाके पालनमें श्रद्धा-विश्वास तथा अध्यवसायकी आवश्यकता है।

(३) गुरु-वरणमें भूल न हो जाय—इसके लिये अपने दोष-गुणोंका ज्ञान आवश्यक है।

(४) गुरुके ज्ञानके प्रकाशको ठीक-ठीक ग्रहण करनेके लिये आवश्यकता है अन्तःप्रज्ञा और अखण्ड विश्वासकी।

(५) मन, वचन और कर्मकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये आवश्यकता है सतत सावधानी और अखण्ड तत्परताकी।

(६) हृदयमें धारण किये हुए पवित्र व्रतको भलीभाँति निभानेके लिये आवश्यकता है आध्यात्मिक कवच और अभ्रान्त निष्ठाकी।

(७) बन्धनोंसे मुक्त रहनेके लिये आवश्यकता है

इच्छाओंके स्वाभाविक दमन और मोहहीन होकर सङ्ग-दोषसे बचनेकी।

(८) सदाचार और सद्विचार और सब कर्मोंके ईश्वरार्पण करते रहनेके लिये आवश्यकता है अनवरत साधनाकी।

(९) मनमें और क्रियामें जब प्रेम और दयाकी लहरें तरङ्गित होने लगें तो अपनेको जन-सेवाके कार्यमें लगा देना चाहिये।

(१०) श्रवण, मनन, निदिध्यासनके द्वारा सद-सत्का इतना ज्ञान हो जाना चाहिये कि हम सत् और असत् दोनोंको ठीक-ठीक समझ जायँ और एकको दूसरेके बदलेमें ग्रहण न कर बैठें।

ये हैं दस आवश्यकताएँ।

(२)

जाननेयोग्य दस बातें

(१) हमें यह जानना चाहिये कि समस्त दृश्य-प्रपञ्च असत् है।

(२) हमें यह जानना चाहिये कि मनकी कोई स्वतन्त्र और स्थिर सत्ता नहीं है।

(३) हमें यह जानना चाहिये कि भावोंका उदय कारणोंकी शृङ्खला और तज्जन्य घात-प्रतिघातसे होता है।

(४) हमें यह जानना चाहिये कि हमारा शरीर पञ्चभूतोंके सङ्घातसे बना है अतएव यह विनश्वर है।

(५) हमें यह जानना चाहिये कि अशुभ कर्मोंका फल अशुभ ही होता है और सारे दुःखकी जड़ भी यही है।

(६) दुःखसे ही हम इस संसारसे ऊबकर आध्यात्मिक जीवनके अनुसन्धानमें लगते हैं, इसलिये यह दुःख ही हमारा गुरु है।

(७) संसार और संसारके पदार्थोंसे हमारी ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हम आध्यात्मिक उन्नतिसे वञ्चित होते चले जाते हैं। हमें यह जानना चाहिये कि सांसारिक वैभव और आध्यात्मिक विकासमें महान् अन्तर है।

(८) विपदामें हम ईश्वरका सहारा ढूँढ़ते हैं, इसलिये विपत्ति गुरु है।

(९) संसारकी किसी भी वस्तुकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

(१०) संसारके सभी प्राणी और सभी वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरेपर आश्रित हैं।

ये हैं दस जानने योग्य बातें।

(३)

आचरणमें लाने योग्य दस बातें

(१) साधनाके पथ चलकर अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, न कि सुनी-सुनायी बातोंको चट मान लेना चाहिये, जैसा प्रायः अधिकांश लोग करते हैं।

(२) न अपने शरीरसे मोह होना चाहिये, न अपने परिवारसे, न अपने देशसे। कारण कि यहाँ प्राप्तिका अर्थ है खोना, सृजनका अर्थ है संहार, मिलनका अर्थ बिछोह और जन्मका अर्थ है मृत्यु। ये साथ-साथ लगे ही रहते हैं।

(३) सच्चे गुरुका आश्रय पाकर हमें मद-मोह-ममता-अहङ्कारसे नाता तोड़ लेना चाहिये और गुरुके वचनोंका सचाईके साथ पालन करना चाहिये।

(४) श्रवण और मननके द्वारा जो कुछ भी प्रकाश प्राप्त हो उसपर हमें अभिमान नहीं करना चाहिये, प्रत्युत आत्मसाक्षात्कारमें लग जाना चाहिये।

(५) आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर हमें प्रमाद-आलस्यके द्वारा उसे खो नहीं देना चाहिये, वरं सतत जागरूक होकर अनवरत अध्यवसायके द्वारा उसे अधिकाधिक प्राप्त करते जाना चाहिये।

(६) आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर एकान्तमें जाकर उसका आनन्द लूटो, लोकालयसे हटकर, लोगोंकी भीड़-भाड़ और व्यर्थके कोलाहलसे बचकर भगवान्में ही प्रीति जोड़ो।

(७) आध्यात्मिक तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त कर और उसके लिये अपना सर्वस्व दान कर चुकनेपर भी शिथिल मत हो जाओ; शरीर, मन और वाणीको प्रमादमें फँसने न दो, अपवित्र चिन्तनमें न लगो, अपवित्र क्रियामें न उलझो, अपवित्र बात न बोलो। दीनता, पवित्रता और आज्ञा-पालनका जो व्रत तुमने लिया है, उसका दृढ़ताके साथ पालन करो।

(८) भगवत्-प्राप्ति ही तुम्हारे जीवनका महान् लक्ष्य है—अतएव अब स्वार्थकी सीमासे ऊपर उठो और लोकसेवामें लगो।

(९) साधनाके रहस्यमय पथमें प्रवेश हो चुकनेपर भी शरीर, वाणी और मनकी पवित्रताको अक्षुण्ण बनाये रखनेका ध्यान बना रहे।

(१०) युवावस्थामें उन लोगोंसे न मिलो जो तुम्हें अध्यात्मके पथमें प्रेरित और प्रोत्साहित न कर सकें; गुरुके चरणोंका आश्रय लेकर तप-साधन करते हुए ज्ञानका अर्जन करो।

ये हैं आचरणमें लाने योग्य दस बातें।

(४)

आत्मकल्याणकी दस बातें

(१) जगत्‌के विषय-सुखोंसे मुँह मोड़कर परम पावन धर्म-पथमें चलना ही आत्मकल्याणका सरल साधन है।

(२) स्वजनों, परिजनों और आत्मीय बन्धुओं और मित्रोंसे अलग रहकर भगवान्‌की सेवा-शुश्रूषामें जीवन लगाना आत्मकल्याणका महान् साधन है।

(३) जगत्‌के प्रपञ्चोंसे अलग रहकर श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी साधना आत्मकल्याणमें परम सहायक है।

(४) सामाजिक उत्सवों और त्योहारोंसे तटस्थ होकर एकान्तमें ईश्वर-चिन्तन करना आत्मकल्याणका परम सुन्दर साधन है।

(५) सुख और भोगकी इच्छाओंका दमन करके कष्ट सहन करनेमें आनन्द मानना ही आत्मकल्याणकी कुञ्जी है।

(६) सरल, निश्छल जीवन, वैभव-ऐश्वर्यके लोभसे सर्वथा अलग रहना—यह है आत्मकल्याणका व्यावहारिक साधन।

(७) दूसरोंसे किसी प्रकारका भी स्वार्थ-साधन न करनेका सङ्कल्प आत्मकल्याणकी साधनामें बहुत बल प्रदान करता है।

(८) संसारके क्षणिक सुखोंकी लालसासे मुक्त होकर मोक्षके अमर-सुखमें लगना ही आत्मकल्याणका उत्तम साधन है।

(९) संसारके लुभानेवाले, भटकानेवाले प्रलोभनोंसे मुँह मोड़कर सत्य वस्तुका ज्ञान अर्जन करना आत्म-कल्याणका मङ्गलमय पथ है।

(१०) शरीर, वाणी और मनके द्वारको बंद कर, उनपर संयम करना और उनका सदुपयोग कर सत्य-मार्गमें आगे बढ़ना—यह है आत्मकल्याणका प्रशस्त मार्ग।

ये हैं आत्मकल्याणकी दस बातें।

(५)

दस सर्वोत्तम वस्तु

(१) जिनके पास बुद्धि थोड़ी है, वे इधर-उधरकी मत्थापच्चीमें न पड़ें। उनके लिये इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि यहाँ इस जगत्‌में कार्य-कारणकी एक शृङ्खला चल रही है।

(२) साधारण बुद्धिके मनुष्यको इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक क्रिया भी प्रतिक्रिया होती है—घात-प्रतिघात प्रकृतिका सनातन नियम है।

(३) उत्तम बुद्धिके मनुष्यको इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाना ही सर्वोत्तम ज्ञान है।

(४) कम बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम ध्यान है किसी एक वस्तुपर चित्त स्थिर करना।

(५) साधारण बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम ध्यान है असत् और सत्का विवेक और उस विवेकके सहारे सत्में स्थिति ।

(६) उत्तम बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम ध्यान है समतामें स्थिर हो जाना, विचारके प्रवाहको रोककर ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटीको 'एक' में लय कर देना ।

(७) कम बुद्धिके मनुष्यके लिये कार्य-कारणके नियमको मानकर चलना ही उत्तम धार्मिक अभ्यास है ।

(८) साधारण बुद्धिके मनुष्यके लिये सर्वोत्तम धार्मिक अभ्यास यही है कि वह समस्त दृश्य-प्रपञ्चको स्वप्नमें देखी हुई चीज या जादूकी चीज समझें—जो न होते हुए भी दीख रहा है !

(९) उत्तम बुद्धिके मनुष्यके लिये यह सर्वोत्तम धार्मिक अभ्यास है कि संसारकी समस्त इच्छाओं और क्रियाओंसे बचे—मानो वे हों ही नहीं ।

(१०) कम, साधारण और उत्तम बुद्धिके मनुष्योंको समानरूपसे ही आध्यात्मिक विकास इस बातमें समझना चाहिये कि संसारके विषयोंके प्रति आकर्षण क्रमशः शिथिल हो रहा हो और स्वार्थकी मात्रा घट रही हो तथा चित्तका सहज प्रवाह अध्यात्मकी ओर हो रहा हो ।

ये हैं दस सर्वोत्तम वस्तु ।*

प्रारब्ध

(श्रीकृष्ण)

मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है—चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक—यदि वह शुद्ध मनसे किसी आसक्तिके बिना उदासीनभावसे किया गया है तो उसका अन्त:करणपर कोई संस्कार नहीं पड़ता । क्योंकि वह क्रिया रागद्वेषरहित साधारण भावसे की हुई है विशेष भावसे नहीं । यदि वही क्रिया सामान्य भावसे न होकर विशेष भावसे अर्थात् आसक्तिसे या विकारसहित अशुद्ध मनसे की जाय तो उस क्रियासे तुरंत कितने ही नये संस्कार अन्त:करणपर पड़ते हैं । फिर वही संस्कार मनको वैसी ही क्रियाओंकी ओर खींचते हैं और उसे इतना बाध्य कर देते हैं कि वह वैसे ही कर्म करनेको तैयार हो जाता है । यों करते-करते उसको उन्हीं कर्मोंमें रस आने लगता है और वे संस्कार धीरे-धीरे विशेष दृढ़ हो जाते हैं, जो उसी प्रकार मनको ऐसी ही क्रियाओं-की ओर दृढ़तासे खींचते रहते हैं । इस तरह पुराने संस्कार कामरूपमें परिणत होकर वास्तविक इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक मनसे ऐसी ही क्रियाएँ कराते रहते हैं । इसी प्रकार क्रियाएँ होती रहती हैं, और नये संस्कार पैदा करती रहती हैं । यह चक्र सदा इसी प्रकार चला करता है, इसका अन्त नहीं होता । इसका अन्त तो तभी हो सकता है, जब नये संस्कार पैदा होने बंद हो जायँ । नये संस्कारोंका पैदा होना तब बंद हो सकता है जब क्रियाओंमें रस ही न हो, वे उदासीनतासे हों, जिनमें केवल पुराने संस्कारोंके कारण ही प्रवृत्ति हो, किसी विशेष इच्छासे नहीं । क्रियामें प्रवृत्ति होनेपर भी उदासीनता रहे, आसक्ति न हो, ऐसा तभी हो सकता है, जब जीवको उस क्रियामें सुख-प्राप्तिकी चाह न हो । यह तब हो सकता है जब उसे अपने आनन्दस्वरूपकी जानकारी हो और दृढ़ ज्ञान हो । वह ज्ञान ही नये संस्कारोंको पैदा नहीं होने देगा ।

पुराने संस्कारोंमेंसे कितने ही ऐसे दृढ़ और परिपक्व होते हैं कि उनका बलात्कारसे भोग होता है ।

* (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेससे प्रकाशित "Tibetan Yoga and Secret Doctrines" से).

ऐसे परिपक्व और दृढ़ फलोन्मुख संस्कारोंके भोगनेके लिये अनुकूल भूमि चाहिये। यदि यह शरीर उस भोग भोगनेके अनुकूल न हो और इस शरीरसे भोगने योग्य भोग समाप्त हो गया हो तब जीव इस शरीरको छोड़ देता है और दृढ़ फलोन्मुख संस्कारको भोगने योग्य दूसरा शरीर धारण करता है। इन्हीं फलोन्मुख संस्कार-समुदायको प्रारब्ध कहते हैं। नया शरीर इसी प्रारब्धके भोग भोगनेके लिये प्राप्त होता है। इसीसे शरीरको भोगायतन कहते हैं। प्रारब्धके कितने ही भोग इतने छोटे-छोटे होते हैं कि उनको जीव स्वप्नावस्थाके शरीरसे भोगता है। प्रारब्धकी समाप्ति भोगनेसे ही होती है, ये भोग अन्य कोई उपायसे दूर नहीं होते। जबतक प्रारब्धके भोग भोगने बाकी रहते हैं तबतक शरीर रहता ही है, उसका पतन नहीं हो सकता। प्रारब्ध पूरे होते ही, शरीरका पतन हो जाता है। जो संस्कार अति दृढ़ होते हैं वे फलोन्मुख होकर प्रारब्ध बन जाते हैं और उनके योग्य भोगायतन शरीर प्राप्त हो जाता है। परन्तु बाकीके जो संस्कार अतिदृढ़ नहीं होते, यानी जो फलोन्मुख नहीं होते वे वैसे ही पड़े रहते हैं, इन्हें 'सञ्चित' कहते हैं। इन संस्कारोंमें यदि अपनी जातिके नये-नये संस्कार और मिलें तो ये भी समय पाकर फलोन्मुख बन जाते हैं— 'प्रारब्ध' रूपमें परिणत हो जाते हैं। ज्ञानी हरेक भोगकी क्रिया अनासक्त मनसे उदासीनतापूर्वक करता है, जिससे नये संस्कार उत्पन्न ही नहीं होते। सञ्चित संस्कारोंको नये संस्कारोंकी सहायता न मिलनेसे वे कभी फलोन्मुख नहीं होते। इतना ही नहीं बल्कि, जीवको अपने चिदानन्दस्वरूपका ज्ञान होनेसे परमानन्द-भोगके संस्कार इतने दृढ़ हो जाते हैं कि दूसरे नये संस्कार अपने ही आप मिट जाते हैं, इसीसे कहा जाता है कि ज्ञानाग्नि समस्त संस्कारोंको जला देती है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि प्रारब्धके भोग भोगनेमें जीव पूर्ण परतन्त्र है अर्थात् वे भोग उसे भोगने ही पड़ेंगे। यह शरीर इस प्रारब्ध-भोगके लिये ही बना है, इसीसे वे भोग आवश्यक पुरुषार्थ करावेंगे ही। इस प्रारब्ध-भोगके अतिरिक्त नये संस्कार बनाना या कोई भी नया संस्कार न बनने देना, और इस तरह पुराने संस्कारोंको फलोन्मुख न होने देना अर्थात् उनका नाश कर देना—इसमें जीव पूर्ण स्वतन्त्र है। यह पुरुषार्थ बिना निश्चयके नहीं होता। भोग भोगनेके लिये पुरुषार्थके निश्चयकी कोई आवश्यकता नहीं, वह तो अपने-आप स्वाभाविक ही भोगना पड़ेगा। नये संस्कार बनानेके लिये या कोई भी नया संस्कार न बनने देनेके लिये पुरुषार्थके निश्चयकी आवश्यकता है। स्थूल भोगमें जीव पूर्ण परतन्त्र है किन्तु सूक्ष्म मानसिक सृष्टिमें वह स्वतन्त्र है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि षड् विकार, अहङ्कार, स्वार्थ-परमार्थ, अपना-पराया-भाव, सद्गुण-दुर्गुण ये सब मानसिक सूक्ष्म भोग हैं। इनमें पुराने संस्कार अपना जोर जरूर लगाते हैं। परन्तु यदि अधिक पुरुषार्थ किया जाय तो पुराने संस्कार निर्बल तथा निःसार हो जाते हैं और उनकी कुछ भी नहीं चलती। सारांश यह कि इन सूक्ष्म मानसिक क्रियाओंमें जीव स्वतन्त्र है और अपनी इच्छानुसार उनमें वह उलट-फेर कर सकता है इसीसे यहाँ पुरुषार्थकी मुख्य आवश्यकता है। इसीसे पूजा-पाठ, सत्सङ्ग इत्यादि शुभ संस्कार बनानेवाले कार्योंमें–जिनसे नये संस्कार बनने बंद होकर ज्ञानकी प्राप्ति हो, पुरुषार्थकी मुख्य आवश्यकता होती है। यह समझ लेना चाहिये परमार्थके लिये पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है, प्रारब्धके भोग तो अपने-आप ही मिलेंगे, उनके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। होनहार तो होकर ही रहेगी।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध प्रकारके साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है । यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं । उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है ।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान । यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है । योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है । उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकों-को प्राप्त होता है (गीता अध्याय ५ श्लोक ४–५) ।

फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है, यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है । श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परमपदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अथवा ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं । उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है । इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं । वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं । उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है । अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड़, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है ।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है । इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है ।

(३) जड़-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है,
है—
वह सब 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है ।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा है । इस आत्माको ही देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है । यह आत्मा सबका द्रष्टा और साक्षी है ।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है । इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है । मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता । इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता । वह अनिर्वचनीय है । वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थ-से सर्वथा विलक्षण है । मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है । जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता । यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है । भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है ? इस ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है ।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं ।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना । गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(४ । २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है ।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है । साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जागृति हो जाती है ।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी । अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है । ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये, और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये । कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये । यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोग भोगनेकी दृष्टिसे है । यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३ । १४ । १) के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतप्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना । तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना, गीतामें इसका वर्णन निम्नलिखित है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(१३ । १५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है ।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय साधनके अवान्तर भेदोंका उल्लेख किया जाता है ।

(क) यह जो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, वह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है । ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये । ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती । उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है । गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥
(४ । २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मारूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं । मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म । साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान भी स्वयं जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करनेसे क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन

हो जाते हैं, और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है। गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप है, जिनकी बुद्धि तद्रूप है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह चराचर जड चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्माका सङ्कल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है। तब व्यापक-व्याप्य-भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें यह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
(९ । ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ५)

'और वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता है, और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जडका ही होता है। चेतन वस्तु जड बुद्धिका विषय नहीं है। इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसार-का बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३ । १२)

'जो जाननेयोग्य है, तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदि-रहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्-से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहिये। जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं हैं। घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है, और वास्तवमें वह एक ही है। घड़ोंकी उपाधि रहनेपर

* इसका विस्तार कल्याणके चौदहवें वर्षके विशेषांक श्रीगीता-तत्त्वांक पृष्ठ ५७० से ५७१ तक देखना चाहिये।

भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती। वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है। इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
(१३।२७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वर-को नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(१८।२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है वैसे ही केवल चेतन-भावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है, जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है, वह भी इस जड संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्द-भावकी प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञाना-नन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी ही तरङ्गें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोधस्वरूप है, यही ज्ञान-स्वरूप है—यह आनन्द अचिन्त्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है वे तत्पदार्थको लक्ष्यमें रखकर 'इदम्' रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तवमें ब्रह्म 'इदम्' अथवा 'अहम्' किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है। साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढ रूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर 'इदम्' वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर 'अहम्' बुद्धिसे होने-वाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) 'सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २।४।६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूतप्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरेमें सबके सुख-

दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है । उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे, और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे । वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है । इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है ।

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
> (४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

> यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
> येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
> (४ । ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

(ख) जो कुछ जड़-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है । ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है । जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है । इस प्रकार समझकर चराचर भूत-प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये । इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
> (६ । २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है ।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे । अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे । इस प्रकार समस्त भूतोंको आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ! गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
> सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
> (६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं । 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है ।

ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभंगुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जड़वर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभंगुर एवं जड़ दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२ । १७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२ । १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२ । २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान् अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्यागकर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल अभावका द्रष्टा-साक्षी चेतन पुरुष ही बच रहता है। वह भाव और अभावका साक्षी ही आत्मा है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६ । २५)

'क्रम क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

(ग) जिस प्रकार सत्की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे अहम् (त्वम्) पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण

आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है। वह आनन्द ही आत्मा है। आनन्द ही मेरा स्वरूप है। मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फकी डली। इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे सङ्कल्पोंसे रहित हो जाय और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है—इस ज्ञानपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार अचल, ध्रुव नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है। आत्मामें अज्ञानान्धकाररूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्दमग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(गीता ५।२४)

'जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।*

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्मस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंको करते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायामय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। यह सब क्षणभङ्गुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे अलग और निर्लेप

* यह साधन ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे माया-मरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

> नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
> पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
> प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
> (गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

> नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
> गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
> (गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है।

(च) यह साधना विचारकाल अथवा चिन्तनकाल-की है। इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी इससे परे है। पृथ्वीसे तेज, वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर हैं। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है, और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्यदृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके आभ्यन्तर दृष्टिसे भी चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने आप है, और सबकी सीमा है। आत्मासे लेकर परमात्मातक जो कुछ भी दृश्यवर्ग है वह मायामय है—मायाका कार्य है। इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है। अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्‌को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये, और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है—

> इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
> (३। ४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।'

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
> (कठोपनिषद् १। ३। १०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करने-के लिये साधक साधना करता है। इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता,

ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे, एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे और किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी रुचि, भावना, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

आवाहन

कन्हैया! आओ मिल जाओ तुम्हें माखन खिलाऊँगा,
दही और दूधकी अमृतमयी नदियाँ बहाऊँगा।

हृदयकी कुञ्जमें छोटा-सा वृन्दावन बसाऊँगा,
मैं अपने आँसुओंसे प्रेमकी यमुना बहाऊँगा।

तुम्हारे मगमें, आओ तो सही, आँखें बिछाऊँगा,
अटल श्रद्धाके कुसुमोंसे सुभग-शय्या सजाऊँगा।

बनाऊँगा तुम्हारी गोपियाँ शुभ-कामनाओंको,
चपल-मन मनसुखा, मैं दास बन पंखा डुलाऊँगा।

कभी तुम काम-क्रोध अरु मोह-असुरोंका दमन करना,
कभी मैं रास प्रेमालापका नूतन रचाऊँगा।

रहूँगा, जिस तरह रक्खोगे, खाऊँगा जो दे दोगे,
चरण-सेवामें आठों याम तन, मन, धन लगाऊँगा।

करूँगा मैं वही स्वामी! जो मुझको आज्ञा दोगे,
इशारेपर, प्रभो! अम्बरके तारे तोड़ लाऊँगा।

पसीनेपर तुम्हारे खून मैं अपना बहा दूँगा,
तुम्हारा नाम ले लेकर तुम्हींमें मैं समाऊँगा।

गरज़ आ जाओ अब ज्यादा न तरसाओ मदनमोहन!
गले मिलकर गिले शिकवे सुनूँगा और सुनाऊँगा।

बहुत गोपाल! बेकल हूँ, बँधाओ धीर गिरिधारी!
मेरी बिगड़ी बना जाओ, तुम्हारी जय मनाऊँगा॥

—केदारनाथ, बेकल एम्० ए० (प्री०) एल्० टी०

भक्त-गाथा

[भक्तिमती निर्मला]

निर्मला सचमुच बहुत ही निर्मल थी। कलियुगकी कालिमाएँ उसे छू नहीं गयी थीं। वह दिव्यलोककी देवी, वैराग्यकी मूर्तिमती प्रतिमा और भगवद्भक्तिका सजीव विग्रह थी। उसका मुखमण्डल जैसा सुन्दर और भोला-भाला था, उसका अन्तःकरण उससे भी कहीं अधिक मनोहर और सरल था। संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका मन फँसा नहीं था, उसको किसी भी चीज़की चाह नहीं थी और कहीं भी उसकी सीमाबद्ध गंदी ममता नहीं थी। वह अपने प्राणाराम राममें अनुरक्त थी, राम ही उसकी चाहके एकमात्र लक्ष्य थे और समस्त विश्वमें व्याप्त विश्वातीत रामके ही पावन चरणोंमें उसकी ममता थी। सदा प्रसन्न रहना उसका स्वभाव था। मोटी साफ़ सफेद साड़ी, सफेद कब्जा, गलेमें तुलसीजीकी माला, मस्तकपर सफ़ेद चन्दन और जीभपर नित्य नाचनेवाला रामनाम—यही उसका स्वाभाविक शृङ्गार था। हृदयमें रामका ध्यान, मुँहमें रामका नाम और शरीरसे दिनभर रामकी भावनासे घरभरकी छोटी-बड़ी सब तरहकी सेवा, यही उसका मन, वाणी, शरीरका काम था। वह कभी न थकती थी, न ऊबती थी, न झल्लाती थी। शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द, मुसकान मानो भगवान्की देनके रूपमें सदा उसकी सेवा करते थे। वह रातके पिछले पहर उठती। शौच-स्नानके बाद छः बजेतक रामजीकी मूर्तिके सामने बैठकर ध्यान-पूजन और रामायणका पाठ करती; फिर काममें लग जाती। दुपहरको एक समय विना मसालेका सादा भोजन करती। जीभके स्वादको उसने जीत लिया था। चार घड़ी रात बीतनेपर उसका काम पूरा होता तब जमीनपर टाट बिछाकर उसपर कुशका आसन डालकर बैठ जाती और प्रातःकालकी भाँति ही रामजीका ध्यान, पूजन करती; एक पहर रात बीत जानेपर कुशका आसन उठाकर उसी टाटपर रामजीके चरणोंमें उनके नामका स्मरण करती हुई सो जाती। जाड़ेमें भी उसका यही नियम चलता। उन दिनोंके लिये वह एक रूईदार कब्जा और ऊनी कम्बल और रखती।

× × ×

पण्डित विश्वनाथ गौड़ ब्राह्मण थे। थे तो गुजरातके, परन्तु काशीमें जाकर बस गये थे। विश्वनाथके पास भोगविलासके लिये धन तो नहीं था परन्तु भगवान्की कृपासे उनके घर किसी बातकी कमी नहीं थी। वे बड़े विद्वान् थे। लोगोंमें उनका बड़ा आदर था। उनकी संस्कृतपाठशाला थी, वे विद्यार्थियोंको बड़े चावसे व्याकरण, न्याय और मीमांसा आदि दर्शनोंकी शिक्षा देते थे। बड़े विलक्षण व्याकरणी तथा दर्शनशास्त्रके महान् पण्डित होनेपर भी उनके हृदयप्राङ्गणमें भक्तिदेवी सदा नाचती रहती थीं। वे सन्ध्याके समय नित्यप्रति वाल्मीकीय रामायणकी बड़ी ही सुन्दर कथा बाँचते थे। जो एक बार उनकी कथा सुन लेता, वह फिर उसे कभी न छोड़ता। उनकी वाणीमें बड़ा मधुर रस था, समझानेकी सुन्दर शैली थी और उससे पवित्र भावोंकी अखण्ड धाराएँ बहती रहती थीं। कथा बाँचते-बाँचते वे गद्गद हो जाते, कभी-कभी तो रो पड़ते। श्रोताओंकी भी यही दशा होती। घरमें सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। पतिकी भाँति पत्नी भी रामजीकी भक्त थी। निर्मला उन्हींकी एकमात्र पुत्री थी। वह बचपनसे ही कथा सुनने लगी थी। पिता-माता दोनों भक्त थे। इससे बचपनमें ही निर्मलाके निर्मल हृदय-सरोवरमें भक्तिलता लहराने लगी थी। पितासे उसने भगवान् रामकी पूजापद्धति सीख ली थी। बड़ी होनेपर पिताने बड़ी धूमधामसे निर्मलाका ब्याह किया। निर्मला पण्डितजीकी एकमात्र सन्तान थी, इससे उनके भक्तोंने

निर्मलाके विवाहमें बड़ी उदारता और उमंगके साथ धन खर्च किया। वर भी बड़ा सुशील, सुन्दर और सदाचारी था। उसका नाम गुलाबराय था। सचमुच वह गुलाब-सा सुन्दर था और अपने सद्गुणोंकी सुगन्धसे सबको सुखी करता था। विधाताका विधान कोई टाल नहीं सकता। सालभरके बाद ही हैजेसे उसका देहान्त हो गया। विश्वनाथपर मानो वज्रपात हुआ। उनका हृदय आकुल हो उठा; परन्तु प्रभु रामजीकी भक्तिने उनको सँभाला। आकुलतामें ही उनका मन रामजीके चरणोंमें चला गया। विश्वनाथजी रो-रोकर मानसिक भावोंसे रामजीकी पूजा करने लगे। प्रभु रामजीने भक्तपर कृपा की। वे अपने संतसुखदायी सर्वदुःखहारी मङ्गलमय स्वरूपमें प्रकट हो गये और भक्त विश्वनाथजीको ढाढ़स बँधाते हुए बोले—'भैया विश्वनाथ! इतना आतुर क्यों हो रहे हो! जानते नहीं हो मेरा प्रत्येक विधान मङ्गलमय होता है? निर्मलाको यह वैधव्य तुम्हारे और उसके कल्याणके लिये ही प्राप्त हुआ है। सुनो! पूर्वजन्ममें भी तुम सदाचारी ब्राह्मण थे। वहाँ भी निर्मला तुम्हारी कन्या थी। तुम्हारा नाम था जगदीश और निर्मलाका नाम था सरस्वती। तुममें और सरस्वतीमें सभी सद्गुण थे। परन्तु तुम्हारे पड़ोसमें एक क्षत्रियका घर था, वह बड़ा ही दुष्टहृदय था। वह मनसे बड़ा कपटी, हिंसक और दुराचारी था, परन्तु ऊपरसे बहुत मीठा बोलता था। वह बातें बनानेमें बहुत चतुर था। सद्गुणी होनेपर भी उसके कुसङ्गसे तुम्हारे हृदयपर कुछ कालिमा आ गयी थी, वह सरस्वतीको कुदृष्टिसे देखता था। उसके बहकावेमें आकर सरस्वतीने अपने पतिका घोर अपमान किया था और तुमने उसका समर्थन किया था। सरस्वतीके पतिने आकुल होकर मन-ही-मन सरस्वतीको और तुमको शाप दे दिया था। यद्यपि उसके लिये यह उचित नहीं था, परन्तु दुःखमें मनुष्यको चेत नहीं रहता। उसी शापके कारण निर्मला इस जन्ममें विधवा हो गयी है और तुम्हें यह सन्ताप प्राप्त हुआ है। पतिके तिरस्कारके सिवा सरस्वतीका जीवन बड़ा पवित्र रहा। उसने दुराचारी पड़ोसीके बुरे प्रस्तावको ठुकरा दिया। जीवनभर तुलसीजीका सेवन, एकादशीका व्रत और रामनामका जाप करती रही। तुम इसमें उसके सहायक रहे। इसीसे तुमको और उसको दूसरी बार फिर वही ब्राह्मणका शरीर प्राप्त हुआ है और मेरी कृपासे तुम दोनोंके हृदयमें भक्ति आ गयी है। मेरी भक्ति एक बार जिसके हृदयमें आ जाती है, वह कृतार्थ हुए बिना नहीं रहता। भक्तिका यह स्वभाव है कि एक बार जिसने उसको अपने हृदयमें धारण कर लिया उसको वह मेरी प्राप्ति कराये बिना नहीं मानती। बड़ी-बड़ी रुकावटोंको हटाकर, बड़े-बड़े प्रलोभनोंसे छुड़ाकर वह उसे मेरी ओर लगा देती है और मुझे ले जाकर उसके हृदयमें बसा देती है। मैं भक्तिके वश रहता हूँ—यह तो प्रसिद्ध ही है। तुमलोगोंपर जो यह दुःख आया है, यह भक्तिदेवीकी कृपासे तुम्हारे कल्याणके लिये ही आया है। यह दुःख तुम्हारे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश कर देगा।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये!

विश्वनाथ विचित्र स्वप्न देखकर जगे हुए पुरुषकी भाँति चकित-से रह गये। इतनेमें ही निर्मला सामने आ गयी। निर्मलाको देखकर विश्वनाथका हृदय फिर भर आया। उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे। वे दुःसह मर्मपीड़ासे पीड़ित हो गये! परन्तु निर्मलाकी साधना बहुत ऊँची थी। वह अपने वैधव्यकी हालतको खूब समझती थी, परन्तु वह साधनाकी जिस भूमिकापर स्थित थी, उसपर वैधव्यकी भीषणताका कुछ प्रभाव नहीं था। उसने कहा—'पिताजी! आप विद्वान्, ज्ञानी और भगवद्भक्त होकर रोते क्यों हैं? शरीर तो मरणधर्मा है ही। जड पञ्चभूतोंसे बने हुए शरीरमें तो मुर्दापन ही है। फिर उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये? यदि शरीरकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो

हिंदू-स्त्री अपने स्वामीकी अर्धाङ्गिनी है। उसके आधे अङ्गमें वह है और आधे अङ्गमें उसके स्वामी हैं। इस रूपमें स्वामीका विछोह कभी होता ही नहीं। हिंदू-स्त्रीका स्वामी तो सदैव अर्धाङ्गरूपमें उसके साथ मिला हुआ ही रहता है। अतएव हिंदू-स्त्री वस्तुतः कभी विधवा होती ही नहीं। वह विलासके लिये विवाह नहीं करती, वह तो धर्मतः पतिको अपना स्वरूप बना लेती है। ऐसी अवस्थामें—पृथक् शरीरके लिये रोनेकी क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सारा जगत् ही प्रकृति है, पुरुष, स्वामी तो एकमात्र भगवान् श्रीरघुनाथजी ही हैं। श्रीरघुनाथजी अजर, अमर, नित्य, शाश्वत, सनातन, अखण्ड, अनन्त, अनामय, पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। प्रकृति कभी उनके अंदर सोती है, कभी बाहर उनके साथ खेलती है। प्रकृति उनकी अपनी ही स्वरूपशक्ति है। इस प्रकृतिसे पुरुषका वियोग कभी होता ही नहीं। पुरुषके बिना प्रकृतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। अतएव हमारे रघुनाथजी नित्य ही हमारे साथ हैं। आप इस बातको जानते हैं, फिर आप रोते क्यों हैं? कर्मकी दृष्टिसे देखें तो, जीव अपने-अपने कर्मवश जगत्में जन्म लेते हैं, कर्मवश ही सबका परस्पर यथायोग्य संयोग होता है, फिर कर्मवश ही समयपर वियोग हो जाता है। कर्मजनित यह सारा सम्बन्ध अनित्य, क्षणिक और मायिक है। यह नश्वर जगत् संयोग-वियोगमय ही तो है, यहाँपर नित्य क्या है? इस संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद क्यों होना चाहिये?

फिर, भगवान्का भक्त तो प्रत्येक बातमें भगवान्के मङ्गलमय विधानको देखकर, विधानके रूपमें स्वयं विधाताका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित होता रहता है। चाहे वह विधान देखनेमें कितना ही भीषण क्यों न हो जाय। अतएव पिताजी! आप निश्चय मानिये—भगवान्ने हमारे परम मङ्गलके लिये ही यह विधान किया है, जो जगत्की दृष्टिमें बड़ा ही अमङ्गलस्वरूप और भयानक है। आप निश्चिन्त रहिये हमारा परम कल्याण ही होगा।'

निर्मलाके दिव्य वचन सुनकर विश्वनाथजीकी सारी पीड़ा जाती रही। उन्होंने कहा—'बेटी! तू मानवी नहीं है, तू तो दिव्यलोककी देवी है। तभी तेरे ऐसे भाव हैं। तूने मुझको शोकसागरसे निकाल लिया! मैं धन्य हूँ, जो तेरे पिता कहलाने योग्य हुआ हूँ।'

तभीसे निर्मला पिताके घर रहने लगी और माता-पितासहित अपना जीवन भगवान्के भजनमें बिताने लगी। घरमें श्रीरघुनाथजीका विग्रह था। माता-पिताकी तथा श्रीरघुनाथजीकी सेवा करना ही उसका काम था। घरका काम करते समय भी उसका मन भगवान्में लगा रहता। भगवान्का सङ्ग उसके जीवनका जीवन बन गया था। वह कुछ भी करती, किसी भी काममें रहती, स्वाभाविक ही भगवान्के साथ रहती। भगवान्के बिना वह रह ही नहीं सकती।

कुछ समय बाद उसके माता-पिता दोनों एक ही दिन भगवान्का स्मरण करते हुए संसारसे विदा हो गये। वह रोयी नहीं। भगवान्के नित्य सान्निध्यने उसके जीवनको निर्भय, रसमय, आनन्दमय, संयोगमय, चिन्मय और भगवन्मय बना दिया था। किसी भी बाहरी अवस्थाका उसकी इस नित्य स्थितिपर असर नहीं पड़ता था। माता-पिताकी यथोचित क्रिया करनेके बाद वह घर छोड़कर गङ्गातीरपर कुछ दूर चली गयी। उस समय काशीका गङ्गातट तपोभूमि थी। वहाँ उसने माँ भागीरथीके पावन तटपर तीस साल भगवान्के ध्यानमें बिताये और अन्तमें शरीरको गङ्गामैयाकी गोदमें छोड़कर भगवान् शङ्करकी कृपासे भगवान् श्रीरामजीके दिव्य साकेतमें पहुँचकर उनकी नित्य-चर्यामें नियुक्त हो गयी।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

(१)

धनसे हानि और धनका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला, उत्तर लिखनेमें बहुत देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। धनकी सार्थकता उसे भगवान्‌की सेवामें लगानेमें है। लक्ष्मी भगवान्‌की सेविका हैं, उन्हें निरन्तर भगवान्‌की सेवामें ही नियुक्त करते रहना चाहिये। इससे लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और उनका विस्तार होता है। लक्ष्मीपति नारायण तो प्रसन्न होते ही हैं। संसारमें जिसके पास जो कुछ भी है सब भगवान्‌का है। हमने जो उसपर अपना अधिकार मान लिया है यह तो हमारी बेईमानी है। हम सेवक हैं, हमारा काम है मालिककी सम्पत्तिकी रक्षा करना, और उनके आज्ञानुसार, उनकी माँगके अनुसार उनकी सेवामें उसे समर्पित करते रहना। सारे जीव भगवान्‌के स्वरूप हैं—उनमें जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहीं भगवान् उस वस्तुको चाह रहे हैं। जिसके पास वह वस्तु है, उसे चाहिये कि भगवान्‌की इस माँगको ठुकरावें नहीं, और बड़े आदरके साथ उसपर अपना कोई अधिकार न समझकर उसे यथायोग्य अभावग्रस्त प्राणियोंके अर्पण कर दें। अभावग्रस्त प्राणियोंको दयाका पात्र न समझे और न अपनेको दाता समझकर मनमें अभिमान या उनपर अहसान करे। उन्हें भगवान्‌का स्वरूप समझे और भगवान्‌के नाते उस वस्तुपर उनका सहज अधिकार समझे। यह समझे कि मैंने भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को ही दी है। जो वस्तुका स्वामी है, उसीको वह वस्तु दी जाय; इसमें हमारे लिये अभिमानकी कौन-सी बात है ! इस प्रकार निरभिमान होकर धनके द्वारा भगवान्‌की सेवा करता रहे, इसीमें धनकी सार्थकता है और ऐसा करनेसे ही धनका उत्तम परिणाम होता है। नहीं तो, धन केवल कष्टदायक होता है और नाना प्रकारके पाप उत्पन्न करके नरकोंमें और दुःखपूर्ण योनियोंमें पहुँचा देता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥
(११ । २३ । १५—२१)

'प्रायः देखा जाता है कि केवल इकट्ठा करनेवाले कृपणोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। यहाँ तो रात-दिन धन कमाने और उसकी रक्षा करनेकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर—धर्मका सदुपयोग न करके उसे पापकर्मका कारणरूप बनानेके कारण घोर नरकोंमें गिरते हैं। जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर शरीरके सौन्दर्यको बिगाड़ देता है, वैसे ही धनका तनिक-सा लोभ भी यशस्वियोंके निर्मल यशमें और गुणवानोंके सद्गुणोंमें कलङ्क लगा देता है। धन कमानेमें, कमाकर उसे बढ़ानेमें, रक्षा करनेमें, खर्च करनेमें, भोगनेमें और नाश हो जानेमें दिन-रात परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रममें डूबे रहना पड़ता है। १ चोरी, २ हिंसा, ३ झूठ

बोलना, ४ दम्भ—दिखाऊ श्रेष्ठता, ५ काम, ६ क्रोध, ७ गर्व, ८ मद-अहंकार, ९ भेदबुद्धि, १० वैर, ११ अत्यन्त प्यारोंमें भी अविश्वास, १२ स्पर्धा, १३ लम्पटता, १४ जूआ और १५ शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनसे ही पैदा होते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ऐसे अर्थनामधारी अनर्थ करनेवाले अर्थको दूरसे ही प्रणाम कर लेना (त्याग देना) चाहिये। स्नेह-बन्धनमें बँधकर सदा एक रहनेवाले सगे भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों आदिमें भी धनकी कौड़ियोंके कारण इतनी फूट पड़ जाती है कि वे एक दूसरेके वैरी बन जाते हैं। थोड़ेसे धनके लिये वे क्षुब्ध हो जाते हैं, उनके क्रोधकी आग भड़क उठती है। वे आपसमें लड़ने लगते हैं और पुराने प्रेम-बन्धनको तोड़कर सहसा एक दूसरेका गला काटनेको तैयार हो जाते हैं।'

इसपर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है। धनासक्ति, धन-कामना, धनप्राप्ति और धनसंग्रहका यह परिणाम जगत्‌में आज प्रत्यक्ष हो रहा है! यह सत्य है—धन आवश्यक है, धनकी सार्थकता भी है और धन कमाना भी चाहिये, परन्तु कमाना चाहिये उसे भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌के नियमोंकी रक्षा करते हुए, भगवान्‌के अनुकूल उपायोंसे ही, और धनके प्राप्त होनेपर उसका भगवान्‌के आज्ञानुसार सदुपयोग करना चाहिये। अपने धनपर जो गरीबोंका अधिकार समझता है और उनके हितार्थ उसका यथायोग्य उपयोग करता है, वही सच्चा धनी है। शेष धन-संग्रह करनेवाले लोग तो धनके रूपमें पापका संग्रह करते हैं और सदा दरिद्र ही रहते हैं। धनका वही उपयोग उत्तम है, जो परिणाममें शान्ति, प्रसन्नता और सुख उत्पन्न करनेवाला हो। जो किसीको कुछ देकर पछताता है, वह या तो धनका दुरुपयोग करता है, अथवा धनासक्तिमें फँसा हुआ प्राणी है, जो धनके नामपर पाप कमाता रहता है!

मेरी स्पष्ट बातोंसे आपको दुःख नहीं होगा, ऐसी आशा है। और यह भी आशा है कि आप अबसे अपनेको धनका स्वामी नहीं, परन्तु ईमानदार तथा सावधान ट्रस्टी समझेंगे और नियमानुसार उसका सदुपयोग करनेकी चेष्टा करेंगे!

(२)

मनुष्य-जीवनकी सफलता

भैया! आपकी अवस्था अवश्य ही दुःखद है। विषयासक्तिका यही परिणाम होता है। मनुष्य ऐसा फँस जाता है कि फिर न तो उसका उसमें रहते ही बनता है और न वह निकल ही सकता है।

महाकवि कालिदासने कहा है—

> गन्धश्यासौ भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा
> पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
> अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैश्छिन्नपक्षः
> स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः॥

'मधुलोभी चञ्चल भ्रमर भ्रमसे कमल समझकर जगत्प्रसिद्ध सुगन्धवाले स्वर्णवर्ण केतकी पुष्पमें जा पड़ता है, वहाँ केतकीके परागसे उसकी आँखें फूट जाती हैं और काँटोंसे उसकी पाँखें टूट जाती हैं। इससे न तो वह उसमें रह ही सकता है और न वहाँ उड़कर जा ही सकता है। हे सखे! इस प्रकार भ्रमर उभय संकटमें पड़ जाता है।'

यही दशा विषयोंमें सुख समझकर उनमें फँस जानेवालोंकी होती है। मनुष्य-देह मिला था—रहा-सहा सारा बन्धन काटनेके लिये। परन्तु यहाँ आकर वह अपने बन्धनोंकी गाँठोंको और भी बढ़ा लेता तथा उलझा लेता है। बहुत जन्मोंके बाद यह सुदुर्लभ मनुष्य-शरीर भगवत्कृपासे मिलता है।

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'

यह शरीर भी अनित्य है। इस शरीरको पाकर जो विषय-भोगोंमें न फँसकर भगवान्‌के भजनमें अपना तन-मन लगा देता है, वही भवसागरसे तरकर मनुष्य-जीवनको सफल बनाता है। इस शरीरके कालके गालमें पड़नेसे पहले-पहले ही बड़ी फुर्तीसे यत्न करके भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीमें बुद्धिमानी है। विषयभोग तो दूसरी योनियोंमें भी प्राप्त होते हैं—मनुष्य-योनि तो केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। कितने दुःखकी बात है कि ऐसे शरीरको पाकर भी हमलोग स्वप्नके पदार्थोंकी तरह असत्, बिजलीकी चमककी भाँति चञ्चल और अनित्य भोगोंकी प्राप्तिमें जीवन खो देते हैं, न मालूम कितना अधर्म करते हैं। कितनोंको सताते और ठगते हैं, कितनोंका दिल दुखाते हैं, कैसे-कैसे छलछंद रचते हैं, यह हमारी कैसी दुर्दशा है? भागवतमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११।२०।१७)

'यह मनुष्य-शरीर सारे मङ्गलोंका मूल है, शुभ कर्म करनेवाले पुण्यजनोंको यह सुलभतासे मिलता है, और अशुभ कर्म करनेवाले दुर्जनोंके लिये यह अत्यन्त दुर्लभ है। संसार सागरसे पार जानेके लिये यह सुदृढ़ नौका है। परमार्थ-तत्त्वके ज्ञाता गुरुदेव विश्वास करते ही इसके केवट बन जाते हैं और शरण लेते ही मैं स्वयं अनुकूल वायु बनकर इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ा ले जाता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा भवसागरसे पार नहीं उतर जाता, वह तो अपने हाथों अपनी हत्या करता है।'

तुम्हारी ही भाँति बहुत लोग फँसावटका अनुभव करते हैं परन्तु सच बात तो यह है कि यह विचार तभीतक रहता है, जबतक कोई खास अड़चन रहती है। जहाँ अड़चन हटी कि फिर वही प्रपञ्चका मोह!

तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
है अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥

यही दशा है। भैया! यदि सचमुच तुम दुखी हो और दुःखसे निकलना चाहते हो तो इसका उपाय है—सीधा उपाय है। वह है भगवान्‌की कृपा-पर विश्वास करके उनके शरण होना और जहाँतक बन सके निरन्तर उन्हें स्मरण रखनेकी चेष्टा करना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(१८।५८)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९।२२)

'मुझमें चित्त लगानेसे तुम मेरी कृपासे सारे संकटों-को अनायास ही पार कर जाओगे। हे अर्जुन! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको बहुत ही सहजमें मैं प्राप्त हो जाता हूँ। जो केवल मुझमें ही प्रेम करनेवाले पुरुष निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझे ही भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंको, जो लौकिक-पारमार्थिक वस्तु प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति मैं स्वयं करवा देता हूँ और जो प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं स्वयं करता हूँ।'

भगवान्‌की इस वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर रहना सीखो और निर्भरचित्तसे उनका स्मरण करो। फिर देखोगे कुछ ही समयमें तुम्हारी स्थिति पलट जायगी। तुम्हारा रूपान्तर हो जायगा। और तुम मानव-जीवनकी सफलताकी ओर द्रुतगति दौड़ने लगोगे।

(३)

पापका प्रकट होना हितकर है

आपका पत्र मिला था। आपकी स्थिति अवश्य ही दयनीय है। इस स्थितिमें आपको दुःख होना कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु यह मनुष्यहृदयकी दुर्बलता है। पापके प्रकट हो जानेको असलमें पापका निकल जाना समझना चाहिये और इधर-उधरकी झूठ-कपटभरी चेष्टा करके उसे छिपानेका प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि छिपा पाप बढ़ता रहता है। जिसको पाप छिपानेमें सफलता मिल जाती है, उसका दिल दूने उत्साहसे पाप करनेकी प्रेरणा करता है। ऐसा मनुष्य अन्तमें पापमय बन जाता है। आपको पाप छिपानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये और पापके प्रकट होनेसे आपका जो अपमान-तिरस्कार हो रहा है। इसे भगवान्‌की कृपा समझनी चाहिये। इसमें आपका पाप नष्ट हो रहा है और आप विशुद्ध हो रहे हैं। असलमें पापका फल सामने आनेपर मनुष्यकी जैसी दशा होती है, इस दशाकी, यदि पाप करते समय मनुष्य कल्पना कर सके तो उससे सहजमें पाप नहीं होते। परन्तु उस समय तो विषयासक्तिवश वह अन्धा हुआ रहता है।

आप घबड़ाइये नहीं। भगवान् दयामय हैं, उनका द्वार पापी-तापी सबके लिये सदा खुला है। फिर, आपके पाप तो पश्चात्तापकी आगसे जल रहे हैं। भविष्यमें ऐसा कर्म न बने, इसके लिये प्रतिज्ञा करते हैं, यह भी बड़ा शुभ लक्षण है। इसे भी भगवत्कृपा ही समझिये। भगवान्‌से शक्ति माँगिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनके बलपर दृढ़ प्रतिज्ञा कर लीजिये। आपका निश्चय दृढ़ होगा तो पापकी शक्ति नहीं है कि वह आपका स्पर्श कर सके। मनुष्यसे जो बुरे कर्म होते हैं, वे आत्माके मूक आदेशसे ही होते हैं। आप पापोंका होना और रहना सह लेते हैं, इसीसे पाप बनते हैं। जिस क्षण आप इन्हें सहन नहीं करेंगे और कामरागवर्जित भगवत्स्वरूप जो परम बल आपको प्राप्त है, उससे अपनेको बलवान् मानकर मन-इन्द्रियोंको ललकार देंगे, उसी क्षण वे पाप-तापको अपने अंदरसे निकाल देंगे, और भगवान्‌के बलके सामने नये पाप-तापोंको तो आनेका मार्ग ही नहीं मिलेगा।

आप भगवान्‌का पावन स्मरण कीजिये और अपमान-तिरस्कारको पापोंका नाश करनेवाली भगवान्‌की भेजी हुई आग समझकर साहसके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने सारे पापोंकी—पापवासनाओंकी उसमें आहुति दे डालिये। आप पवित्र हो जायँगे।

भागवतमें क्या है ?

(रचयिता—श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्‌-एल्० बी०, विशारद, काव्यतीर्थ)

आगम-निगम धर्मशास्त्र इतिहास काव्य
न्याय नीति आदिके प्रमाण भागवतमें,
वैभव, विकास, सुख, शान्ति और योग, यज्ञ
निश्चित निहित निरवाण भागवतमें।

पीड़ित निराश्रित निराश अभिशापितका
पापी और पातकीका त्राण भागवतमें,
निर्गुण निरीह निराकार और निर्विकार
पुरुष पुराण है पुराण भागवतमें॥

भागवत-माहात्म्य

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

जिसका वेदोंमें विश्वास नहीं, वह हिंदू नहीं। लोकाचार और सामाजिक विधान युगधर्मके अनुसार बदलते रहते हैं, इनका संस्कार होता है, ग्रहण और त्यागमें इनका रूपान्तर होता है, परन्तु अपौरुषेय वेद नित्य और शाश्वत हैं, प्रलयकालमें स्वयं भगवान् वेदकी रक्षा करते हैं।

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्।
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे !

परन्तु वेदोंका अर्थ अत्यन्त कठिन है, सत्यके समझनेवाले कुछ ही मनुष्य होते हैं, इसीसे वेद-पाठका अधिकार प्राप्त करनेके लिये विद्यार्थीको कठोर तपस्या करनी पड़ती है। विशुद्ध हुए बिना वेदका अर्थ हृदयङ्गम नहीं होता। तथापि मनुष्य जिसमें सहज ही वेदोंके धर्मको जान सके, इसके लिये महामुनि व्यासजीने असाधारण प्रयत्न किया है। हिंदूधर्मके मर्मको समझनेका एकमात्र उपाय ही है भगवान् व्यासजीके चरणोंकी शरण ग्रहण करना। जिस दिन संसारभरमें सार्वभौम सत्यके रूपमें वेदोंकी पूजा होगी, उस दिन जगत्के आदिगुरु व्यासदेव विश्वविद्यालयोंके केन्द्र-तीर्थमें देवताके आसनपर प्रतिष्ठित होकर विश्वके मानव-समाजके द्वारा नित्य पूजाका अर्घ्य ग्रहण करेंगे।

भगवान् व्यास वेदोंका विभाग करके ही नहीं रह गये बल्कि वेदोंकी व्याख्याका विश्वमें अधिकाधिक प्रचार करनेके उद्देश्यसे उन्होंने वेदान्तकी रचना की। उत्तर और पूर्वमीमांसाकी रचना करके वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयको और भी सरल बना दिया। इससे भी उनके हृदयको सान्त्वना न मिली; सांसारिक जीवोंका मोह दूर करनेके विचारसे उन्होंने अठारह पर्वोंमें महाभारतकी रचना की, सतरह पुराणोंका प्रणयन किया, तब भी भगवान् व्यासके चित्तको शान्ति न मिली। वे लोकोद्धारकी कामनासे उद्बुद्ध हो गये और अन्तमें उन्होंने परम भक्तिरसमिश्रित श्रीमद्भागवत ग्रन्थको भारतवासियोंके हाथमें देकर उनके भागवत-परायण होनेके लिये अभ्रान्त पथका निर्देश कर दिया। भारतके अंदर महागुरु व्यासदेव तथा असंख्यों ऋषियों-मुनियोंकी इस प्रकारकी कल्याण-कामनाने ऐसे एक प्रबल शक्ति-प्रवाहकी सृष्टि की है कि यह जाति धर्मकी प्राप्तिके लिये इच्छा करनेमात्रसे ही सफल हो सकती है। भारतका धर्म सहज ही साध्य है, परन्तु कालचक्रसे हम इतने हृदयहीन हो गये हैं कि धर्मके कल्पवृक्षके नीचे वास करते हुए भी इसके अमृत फलके आस्वादनसे वञ्चित हो रहे हैं—यह अधःपतनका चरम चिह्न है।

उस भागवत-ग्रन्थकी शृंखला भारतके हृदयमें दृढ़तापूर्वक बँधी हुई है, जिस भागवतवृक्षके देख-भालका भार अपापविद्ध ऋषि-महापुरुषोंके ऊपर है। वेद-वेदान्त जिसके काण्ड हैं, राम-कृष्ण प्रभृति ईश्वरके अवतार जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, योग जिसका पत्र है, शुद्धि जिसके फल-फूल हैं। जिसकी प्रत्येक डालीपर शङ्कर, बुद्ध आदि महापुरुष सुन्दर पक्षियोंके समान सुमधुर स्वरमें ईश्वरानुरागका झंकार करते हैं; वही भारत आज मुँहसे धर्मकी महिमाका गुणगान करता है, और उसका हृदय सत्यकी अमर शक्तिसे पूर्ण नहीं है, इससे बढ़कर दारुण दुर्भाग्यकी बात और क्या हो सकती है !

लक्ष्यभ्रष्ट होकर हम आज सहज और सीधे मार्गको छोड़कर विपरीत पथकी ओर यात्रा करके आत्मघाती बन रहे हैं, ईश्वरोपासनाके लिये बैठकर हम अपने क्षुद्र मनकी कल्पनाओंको पूजते हैं। ध्यान और चिन्तन करते हैं विषयोंका, और गर्व करते हैं साधनाका। हम परवश हैं यह समझते हैं, परन्तु साहस नहीं होता कि सत्यको स्वीकार करें। ऐसा कबतक चलेगा ? हमारे इस विपरीत मार्गमें चलनेका कोई प्रतिकार नहीं, इस भ्रान्तिमें सुख नहीं है, यह माया हमारे लिये विष हो रही है। इस जातिकी जड़ ही ईश्वर-ज्ञानमें गड़ी हुई है, भागवतमय न हो जाना हमारे स्वभावमें नहीं है। हमारा स्वभाव ही है 'भागवत'।

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

इस नित्यमुक्त स्वभावको खोकर, अस्वाभाविक जीवन-यात्रामें विजातीय दुःख-यन्त्रणासे हम आज मृतप्राय हो रहे हैं। हमें अब अपने जीवनको स्वधर्ममें लगाना ही पड़ेगा।

हमारा स्वधर्म है 'ब्राह्मी स्थिति'। इसका उपाय है ब्रह्मयोग। जिस दिनसे हम इस धर्मके सच्चे मर्मकी धारणासे वञ्चित होकर अधःपतनके निचले मार्गपर आ गिरे, उसी दिनसे हमारे अध्यात्मका स्वरूप विकृत हो गया। जबतक

भ्रान्त-पथकी नीति धर्मके नामपर हमारे अन्तःकरणको प्रभावित करती रहेगी, तबतक हमारी मुक्ति नहीं। आज हम धर्मके गूढ़ रहस्यकी उपलब्धि न करके बाहरी आचरणों-की सुव्यवस्थामें ही अपनेको लगा रहे हैं। सङ्गठनके मूल तत्त्व, 'सत्य' की अनुभूतिका यदि अभाव है तो मनुष्य एक गढ़ा खोदकर दूसरे गढ़ेको भरने तथा सत्य और मिथ्या दोनोंमें आग लगाकर भस्मका ढेर बनानेकी ही चेष्टामें लगा रहेगा, सत्यकी विजय-मूर्तिकी प्रतिष्ठा उससे न होगी।

हिंदू शास्त्रोंका उद्देश्य है ब्रह्म और संसारके ज्ञानको परिस्फुट करना। जीवको ब्रह्मसे युक्त कर पृथ्वीपर ही स्वर्ग-राज्यकी प्रतिष्ठा करना। ब्रह्मशक्तिको जाग्रत् करके प्रेमतत्त्वसे जातिको भरपूर कर देना। इस मूल तत्त्वकी ही व्याख्या नाना प्रकारसे वेदों, उपनिषदों तथा सांख्य और योगमें है। महाभारत और पुराण, सारे धर्मशास्त्र इस एक ही लक्ष्यका अनुगमन करते हैं, आधुनिक युगके सहजिया और तन्त्र भी इसी एक पथके यात्री हैं। भारतका धर्म सार्वभौम सर्वधर्मसमन्वयका समुद्र है। भारतका यह दुर्भाग्य है कि भारतका धर्म आज सम्प्रदाय-विशेषमें खण्डित है, सीमाबद्ध है। भारत निःशङ्क होकर आज जगत्को आलिङ्गन नहीं करता, ऐसा करनेसे उसका धर्म चला जाता है। आज उसका जीवन इस भेदके भँवरमें डूब-उतरा रहा है। हाय! हाय! तुम इतने छोटे नहीं हो, छोटे बनकर गर्वका अनुभव करना पागलपनके सिवा और क्या हो सकता है ?

जो ब्रह्मनिष्ठ हैं वे तो सत्यकी प्राप्तिके द्वारा विशुद्ध और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर होते हैं—

सत्यपूतश्च शुद्धश्च सर्वप्राणिहिते रतः।

अतएव भारतके इस दिव्य चरित्रकी प्राप्तिके उपाय हमारे शास्त्रोंमें यदि फड़कती हुई भाषामें वर्णित हों तो इसमें क्या आश्चर्य है ! परन्तु उसके सदर्थको ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर हमने वेद, उपनिषद् और गीताको तो छोड़ ही दिया है। आकाशबेलकी तरह बीचमें ही लटकते हुए लोकाचारगत धर्मको अपौरुषेय वेदकी अपेक्षा अधिक महत्त्वकी वस्तु समझकर हम लोकगतिकी अवनतिके साथ-साथ धर्मका भी अपमान कर रहे हैं।

यह कलियुग है, और हम उसके गुलाम हैं। हमारी एक आँखमें आँसू है और दूसरीमें हिंसाकी आग। धर्मके तीन पैर हमने तोड़ डाले हैं, बचे हुए एक पैरपर भी चोट करनेसे हम नहीं चूकते। परन्तु अन्तर्यामी भगवान्-की यह इच्छा नहीं है, पद-पदपर संकोच और संशयका बिच्छू डंक मारता है, तब भी मनको धोखा देकर हम बाह्य लोकाचारको ही सनातन धर्म बतला रहे हैं। किसीका दोष नहीं है, हम तो अपनी ही खोदी हुई खाईंमें डूबकर मर रहे हैं!

भागवत-शास्त्रका मूल उद्देश्य दब गया है। भागवत-शास्त्र एक श्रेष्ठ धर्म-विज्ञान है, ब्रह्ममीमांसाका एक अव्यर्थ अस्त्र है, इस बातको कितने लोग समझते हैं! भागवत-शास्त्रकी व्याख्याके द्वारा ब्रह्म-प्रेम जगानेकी अब कोई चेष्टा नहीं की जाती है। उपन्यास-नाटकादिके समान ब्रह्म-विज्ञानका मीमांसावाद आस्थारहित साधारण लोगोंके मनोंमें साधारण भाव ही जाग्रत् करता है, भागवत शास्त्रकी सहायतासे श्रेष्ठतम ब्रह्म-साधनाकी प्राप्तिके बदले प्राकृत प्रेमके आदिरस शृङ्गारके रूपमें आज लोग राधा-कृष्णकी प्रणय-कथाको ही वर्णन करते हैं, मानो यह लीला प्राकृत साधारण मनुष्यके उपभोगकी वस्तु हो! त्याग और वैराग्यकी आग जिसके हृदयमें जलती है, वही पुरुष इस अमृत-स्रोतमें अवगाहन करके शान्ति-लाभका सन्धान पाता है।

जिस भागवतका प्रणयन भारतके सर्वश्रेष्ठ मनीषी भगवान् व्यासजीने एक ही साथ गृहस्थ और संन्यासी दोनोंके हृदयमें ब्रह्मज्ञान जाग्रत् करनेके लिये किया था, जो आर्य ऋषियोंके द्वारा प्रकाशित अमूल्य शास्त्र-ग्रन्थोंमें एक उज्ज्वल रत्न है—तपस्वी, भक्त, परमहंस, गृहस्थ सबके लिये अमृतस्वरूप है, उसीकी व्याख्या समाजमें आज कथा-कहानीके रूपमें की जाती है, इससे बढ़कर लज्जाकी बात और क्या हो सकती है ?

हम उदीयमान हिंदू-जातिके भीतर हिंदू-शास्त्रोंके सत्य धर्मकी धारणा करनेका सङ्केत करना चाहते हैं तथा ऐसी व्यवस्था करना चाहते हैं जिससे इसके लिये रुचि उत्पन्न हो, क्योंकि जबतक भारतका सनातनधर्म नहीं जगेगा, जबतक भारत अपने धर्मके सत्य मर्मकी उपलब्धि न करेगा तबतक इस धर्मप्राण जातिके जीवनमें जागरणकी विद्युत् दीर्घकालतक स्थायी न होगी। धर्मसाधनाके द्वारा हम रक्षणशील स्वभाव प्राप्त करके जगत्से स्वतन्त्र रहना नहीं चाहते, पर धर्मकी आस्थाको खोकर विदेशी विचार और साधनामें जातीय वैशिष्ट्य और अस्तित्वकी सत्य कामना-

की प्राप्ति न करके हम अपने भविष्यके पथमें काँटे बिखेर रहे हैं। धर्म यदि भारतका प्राण है, तो धर्मका प्रभाव प्राणोंको कमी पङ्गु नहीं करेगा, वरं उन्हें वह अग्निमय कर देगा, सफल बनावेगा, देवताकी प्रतिष्ठा तो प्राणवेदीपर ही निर्भर करके सिद्ध होगी।

भागवतमें लिखा है—

> नैमिषेऽनिमिषक्षेत्र ऋषयः शौनकादयः।
> सत्रं स्वर्गायलोकाय सहस्रसममासत॥
> (१।१।४)

इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ जीवनमें जिस योगका सन्धान प्रदान करता है उसके समझनेपर समस्त भागवत-शास्त्रका उद्देश्य हाथमें आँवलेके समान स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

नैमिष नामक अनिमेष क्षेत्रमें शौनकादि ऋषियोंने स्वर्गलोककी कामना करके सहस्र वर्षव्यापी यज्ञ किया था। वायुपुराणमें लिखा है—"ब्रह्मणो विसृष्टस्य मनोमयस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते कुण्ठीभवति यत्र तन्नैमिषं नेमिषमेव नैमिषम्।" व्यासजीके सतरह पुराणोंका उद्देश्य इससे समझा जा सकता है। पहले ही कहा गया है कि 'वेदोंके दुरूह अर्थको विशद करनेके लिये ही उन्होंने वेदान्त तथा पुराणादिकी रचना की है, टुकड़े-टुकड़े करके वेदोंका भाव सब जीवोंके भीतर प्रवेश कराकर जगत्-वासी पुरुषोंको ब्रह्मानन्दमयसे भर देना उनकी सत्यकामना थी।' न जाने किस दिन उनका यह सदुद्देश्य सफल होगा।

गीतामें कहा गया है—

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
> (२।७२)

ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति उसीको होती है जो मृत्युकालमें ब्राह्मी स्थितिकी रक्षा करता है। 'ब्राह्मी स्थिति'—सुख-दुःखसे अतीत नित्य अवस्थामें जो चेतना होती है, समतासम्पन्न योगी उस अपनी व्यक्तिगत चेतनाको ब्रह्ममें संयुक्त करके शान्त हो जाते हैं, अर्थात् उनका स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्त हो जाता है। यह मृत्युका नामान्तर नहीं है। निर्वाणका अर्थ है ब्रह्मचेतनामें अपनी आत्माको संयुक्त करनेका आस्वाद—इसे समाधिका आनन्द कहेंगे, वासना-मुक्त जीवनकी यही चेतना है, यही आदर्श परमावस्था है, इसीकी प्राप्तिकी साधना भागवत प्रदान करता है। मनोमय चक्र नैमिष मन चार अंशोंसे गठित है—मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार। यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। यह जहाँ स्थिर होता है वही नैमिष नामक अनिमेष क्षेत्र है, जहाँ ऋषिलोग हजारों वर्षों-तक स्वर्गकी कामनासे यज्ञमें रत रहते हैं। मन कहाँ स्थिर होता है?—इष्टमें। और इष्टकी प्राप्ति किसको होती है? जिसको विश्वास होता है। विश्वासका स्थान रतिके आश्रित होता है। बिना रति उत्पन्न हुए घूमता हुआ मन कैसे स्थिर हो सकता है? मनका धर्म है चाञ्चल्य; चित्त क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ आदि वृत्तिमय है; बुद्धि संशयाच्छन्न है; अहंकार, माया सब ही अस्थिर हैं, चञ्चल हैं। परन्तु रतिरसके स्पर्शसे, जिस प्रकार मक्खी मधुमय पुष्पमें स्थिर होकर बैठ जाती है, उसी प्रकार मन भी स्थिर हो जाता है। रतिसे ही श्रद्धा-की उत्पत्ति होती है और श्रद्धाकी परिणति भक्तिमें होती है। भक्ति प्रेमका बीज है। इस प्रेमके उदयसे मन निःसङ्कोच हो उठता है। इसीलिये स्थिर मनका अनिमेष क्षेत्र है अनाहत हृदयपद्म। ऋषिलोग यहीं बैठकर स्वर्गकी कामनासे सहस्रों वर्ष यज्ञ करते हैं। कामनाहीन होनेपर आत्मा ही स्वर्ग है। सहस्रवर्षका अर्थ है प्रवाहमान काल। निष्काम कर्मयोग ही यज्ञ है। गीतामें यह बात अनेकों बार कही गयी है। अतएव भागवतके प्रथम श्लोकका निगूढ आध्यात्मिक अर्थ पाठकको योगका ही—इस योगका ही मार्ग दिखलाता है। इस योग-साधनाकी विधिको रूपकके बहाने भागवतके पात-पातमें बिखेर कर व्यासजी भारतके प्राणोंको उद्बुद्ध कर रहे हैं। जातीय शिक्षाकी पुण्य वेदी-पीठपर बैठकर सत्य कब ब्रह्मज्ञानीके कण्ठमें ऋक्को झंकृत करेगा? कब भारतके कोटि-कोटि स्त्री-पुरुष भारतीय धर्मके सत्य मर्मको समझकर उदात्त स्वरसे सारी जातिको पुकार उठेंगे? एक ही धर्मके छत्रके नीचे महामेला लगावेंगे? ऐसा सुयोग भारत-को ही प्राप्त है। जीव अधिक दिनोंतक धर्महीन न रहेगा, और न रह सकेगा। अन्तरकी प्यास विषय-तृष्णा नहीं है, भगवान्के स्पर्शकी कामना है। उस वाञ्छाके पूर्ण करनेका कल्पतरु है भारतवर्ष। हृदयकी श्रद्धा प्रदान कर इस वृक्षको सञ्जीवित करो—पृथ्वीके पापका भार दूर हो जायगा।

अस्तेय

[अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'गुरुदेव, कलसे भूखा हूँ !'

'तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो !'

बेचारे बालकके नेत्र भर आये। वह नहीं जान सका कि गुरुदेव उससे इतने असन्तुष्ट क्यों हैं। उसके शरीरपर एकमात्र कौपीन थी और इस शीतकालमें दो दिनसे उसके पेटमें एक दाना भी नहीं गया था। उसका अङ्ग-अङ्ग ठिठुरा जाता था। ऊपरसे यह फटकार। धीरे-धीरे वह सिसकने लगा।

'रामदास !' गुरुदेव द्रवित हुए और स्नेहसे पुचकारा 'मैं चार दिनके लिये बाहर गया और आश्रम खाली हो गया, सोचो—ऐसा क्यों हुआ ?' बालक सिसकता जाता था। आश्रममें ऐसा था ही क्या जो खाली हो गया ? गुरुदेव कुल आधसेर तो आटा छोड़ गये थे। उसीको उलटा-सीधा सेंककर बिना नमकके ही उसने दो दिन किसी प्रकार काम चलाया। उनके समय जिन भक्तोंकी भीड़ लगी रहती थी, उनकी अनुपस्थितिमें उनमेंसे कोई मुख दिखाने भी नहीं आया था।

'देखो, झोलेमें थोड़े फल हैं और कुछ मीठा भी। उन्हें निकाल लो !' गुरुदेवकी इस आज्ञाका पालन नहीं हुआ। क्योंकि शिष्य इतना दुखी हो गया था कि उसे रोनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता था। वह रोता जाता था और अपने हाथोंसे आँसू भी पोंछता जाता था।

'बेटा, रो मत ! झोला उठा तो ला !' चुपचाप उसने आज्ञाका पालन किया और फिर एक ओर खिसककर आँसू पोंछने लगा। गुरुदेवने बहुत-से फल निकाले और कुछ लड्डू भी। अञ्जलि भरकर उसे देने लगे। अब उससे रहा नहीं गया। वह उनके चरणोंमें मस्तक रखकर फूट पड़ा। हिचकी बँध गयी।

गुरुदेवने उठाकर उसे गोदमें बैठा लिया। आँसू पोंछ दिये। कमण्डलुके जलसे स्वयं मुख धो दिया और स्वयं उसे फल छीलकर खिलाने लगे। 'बच्चे, तुम सदा बच्चे ही नहीं रहोगे ! अपनेको समझो और यह तुच्छ मोह दूर करो !' गुरुदेव यों ही कुछ कहते जाते थे। वे प्रायः ऐसी बातें करते थे, जो उनका बाल-शिष्य समझ नहीं पाता था।

बालकका दुःख कितनी देरका ? गुरुके स्नेहसे वह चुप हो गया। उनकी गोदसे उतरकर वह स्वयं उन फलोंसे क्षुधा शान्त करने लगा।

× × ×

(२)

'केवल चोरको अभाव होता है। जो चोरी नहीं करता, उसके चरणोंमें विश्वकी समस्त सम्पत्ति लोटा करती है। जब किसीको फटे हाल और भूखों मरते देखो तो समझ लो कि वह चोर है। यदि कोई किसी प्रकारकी तनिक भी चोरी न करे तो उसे कभी भी आर्थिक कष्ट न होगा।'

एक छोटा-सा ब्राह्मणकुमार था। सुन्दर गौर एवं लंबे शरीरका। माता-पिता उसे बचपनमें छोड़ चुके थे। वह समीपके प्रसिद्ध संत सिद्ध महाराजके आश्रम-पर आया। महाराज न तो किसीको शिष्य करते थे और न आश्रमपर रहने देते थे। लेकिन न जाने इस बालकमें उन्होंने क्या देखा अथवा बालकका प्रारब्ध समझिये, इसे उन्होंने अपना लिया। पुत्रकी भाँति वे इसका पालन करते और बालक पितासे कहीं अधिक उन्हें मानता।

यों तो श्रद्धालु भक्तोंकी सदा ही आश्रमपर भीड़

लगी रहती थी; पर आज अभीतक कोई आया नहीं था। महाराज बाहरसे लौटे थे, इससे सम्भवतः भक्तोंको अभी पता नहीं लगा होगा। एकान्त पाकर वे अपने शिष्यको समझा रहे थे जो अपनी लंबी जटाओंको एक हाथसे सहलाता हुआ कौपीन लगाये उनके सामने बैठा उत्सुकतासे उनके वचनोंको सुन रहा था।

'देखो, संसारका यह नियम है कि तुम दूसरोंके जिस पदार्थको हानि पहुँचाओगे, तुम्हारा वही पदार्थ तुमसे छिन जायगा। यही भगवान्‌का न्याय है। जो दूसरेके लड़कोंको सताता या उनसे द्वेष करता है, उसे लड़के नहीं होते या होकर मर जाते हैं। जो दूसरोंके स्वास्थ्यको बिगाड़ता है, वह रोगी होता है। जो चोरी करता है, वह दरिद्र होता है। इसी प्रकार दूसरोंके ऊपर तुम जो चोट करते हो, वह दीवारपर मारी हुई गेंदकी भाँति तुम्हारे ही ऊपर लौट आती है।'

बालक अभी बालक ही था। उसकी बुद्धि इतने उपदेशोंको ग्रहण नहीं कर सकती थी। उसने स्वाभाविक चपलतासे बीचमें ही पूछा 'गुरुदेव! चोर तो धन चुराता है, फिर उसके पास खूब धन रहेगा। वह दरिद्र कैसे होगा?'

गुरुदेवने गम्भीरतासे शिष्यको देखा 'मैं पहले ही समझता था कि तेरा अधिकार अस्तेय-साधनसे ही प्रारम्भ करनेका है। ठीक है, माता प्रकृति तुझे उत्सुक और उत्थित कर रही है।' फिर उन्होंने स्वाभाविक स्वरमें कहा 'इसे फिर समझाऊँगा! अभी तो मुझे आज सन्ध्याको पुनः एक यात्रा करनी है। तुम भी साथ चलनेको तैयार रहो!'

गुरुदेवके साथ यात्रामें चलनेका आदेश सुनकर बालक खिल उठा और वह झटपट उठकर उनका झोला ठीक करनेमें लग गया।

× × ×

(३)

'यहीं खड़े रहो और देखो!'

'इस गंदी सँकरी गलीके पास तो खड़े रहनेको जी नहीं चाहता और इस अँधेरी रात्रिमें यहाँ देखनेको है भी क्या? कोई यहाँ खड़ा देखेगा तो जाने क्या समझेगा!'

'अभी यहाँ बहुत कुछ होनेवाला है। तुम शान्त होकर देखो! बोलना मत! आओ, इधर एक ओर छिपकर खड़े रहो!' एक अँधेरी गलीमें श्रावणकी तमसाच्छन्न रजनीमें एक साधु अपने शिष्यसे उपर्युक्त बातें कर रहे थे। आकाशमें बादल छाये थे और छोटी-छोटी बूँदें गिरने लगी थीं। दोनों एक कोनेमें छिप रहे।

गलीमें किसीके आनेकी आहट हुई। दो व्यक्तियों-की अस्पष्ट फुसफुसाहट सुनायी पड़ी। गली दो अट्टालिकाओंका पिछवाड़ा था। उनमेंसे एककी खिड़की खुली थी। सर्रसे एक ध्वनि हुई और तनिक देरमें कोई काली बड़ी-सी वस्तु ऊपरको जाती दिखलायी दी। एक छोटा-सा खटका हुआ। वह काली वस्तु खिड़कीके भीतर चली गयी। खिड़कीसे आता धीमा प्रकाश बंद हो गया।

बड़ी देरतक गलीमें सन्नाटा रहा। साधुका बालक शिष्य अपने भीतरकी आकुलता दबाये चुपचाप खड़ा था। मनमें बहुत कुछ पूछनेकी उत्सुकता थी; किन्तु गुरुजी बार-बार हाथ दबाकर उसे शान्त रहनेका संकेत कर रहे थे।

ऊपरसे हल्की ताली बजी, नीचेसे भी किसीने वैसे ही संकेत किया। अबकी बार ऊपरसे क्रमशः दो काली-काली वस्तुएँ उतरीं। फिर सन्नाटा हो गया। साधु अपने शिष्यको लेकर गलीसे निकले और उसे चुप रहनेको कहकर एक ओर तीव्रतासे चल पड़े। बड़ी दूर नगरसे बाहर जाकर दो-तीन नाले पार करके

एक झाड़ीके पास वे रुक गये। थोड़ी दूरपर एक बत्ती जलती थी। दो व्यक्ति बैठे थे, जो अभी-अभी कहींसे एक सन्दूक लाये थे। प्रकाशमें उनका मुख स्पष्ट दिखायी देता था। उन्होंने बक्सके तालेको रेतीसे काटकर बक्स खोला। उसमेंसे सोनेके आभूषण और मुहरें निकालीं। बक्स इन्हींसे भरा था। इतना शिष्यको दिखलाकर गुरु उसे लेकर एक ओर चले।

ठीक एक सप्ताह बाद—दोपहरीमें साधु अपने शिष्यके साथ नगरमें घूम रहे थे। एक झोंपड़ीके बाहर दो भाई परस्पर झगड़ रहे थे। झगड़ा था पावभर सत्तूको लेकर। उनमें उस सत्तूका बटवारा हो रहा था और प्रत्येक चाहता था अधिक भाग प्राप्त करना। उनके वस्त्र चिथड़े हो रहे थे। शरीर धूलसे भरा था। मुख देखनेसे पता लगता था कि सम्भवतः कई दिनपर इन्हें यह सत्तू प्राप्त हुआ है।

सत्तू सानकर बाँटना निश्चित हुआ। जल मिलाकर उन्होंने उसका पिण्ड बनाया। फिर बाँटनेके लिये झगड़ा हो ही रहा था कि पीछेसे कूदकर एक बंदर उसे उठा ले गया। उनकी इस दीनतापर वह बालक साधु रो पड़ा।

'रामदास, इन्हें पहले पहचानो और तब रोओ!'

गुरुके वचनोंसे बालकको कुछ स्मरण हुआ। उसने ध्यानसे देखा 'ये तो उस रातवाले चोर हैं! इनके वे गहने और मुहरें क्या हुईं?'

साधु हँसे 'तू तो कहता था कि चोर धन चुराकर धनी हो जायगा।'

'गुरुदेव! पर इनका धन हो क्या गया?'

'इन्होंने आभूषण और मुहरें छिपानेके लिये उन्हें एक सेठके यहाँ रक्खा। उसे भी उसमें भाग देनेको कहा। उसे लोभ सवार हुआ। जब ये दुबारा माँगने गये तो देना तो दूर, उसने इन्हें पकड़वा देनेकी धमकी दी। विवश होकर ये लौट आये। इनसे सेठको भय था कि यहाँ रहेंगे तो बदला लेंगे। अतएव उसने अपने आदमियोंसे इनके घरके सब बर्तन, वस्त्र, पशु प्रभृति चोरी करवा दिये। इस प्रकार घरकी पूँजी भी खोकर अब ये दाने-दानेको तरस रहे हैं!'

'गुरुदेव! इन्होंने तो चोरी की थी, तब भूखों मर रहे हैं। मैंने क्या अपराध किया जो दो दिन मुझे अन्न नहीं मिला और आपने कहा कि तुम इसी योग्य हो कि भूखों मरो!'

'चोरी केवल धनकी ही नहीं होती। जिस वस्तुमें दूसरोंको भाग मिलना चाहिये, उसे छिपकर खा लेना, दूसरेकी वस्तुको बिना माँगे ले लेना आदि भी चोरी ही है। बेटा! बड़ी चोरीसे तो बहुत लोग बचते हैं, लेकिन इन छोटी चोरियोंसे ही बचना कठिन है। तुम्हें स्मरण है कि एक दिन एक भक्त तुम्हें इलायची दे रहा था। तुमने उसके देनेपर तो अस्वीकार कर दिया और उसके हटनेपर दो इलायची चुपकेसे उठा लीं। इसी चोरीके फलस्वरूप तुम्हें दो दिन अन्न नहीं मिला।'

शिष्यके नेत्र भर आये। गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर उसने फिर कभी कोई चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा की।

× × ×

समर्थ रामदास जब किसीको शिष्यरूपमें स्वीकार करते थे तो किसी प्रकारकी कोई भी छोटी-से-छोटी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञा कराते थे। उनके शिष्योंने इस प्रतिज्ञाका कितना पालन किया, सो पता नहीं। लेकिन सभी जानते हैं कि छत्रपति शिवाजीकी समस्त राज्यविभूति श्रीसमर्थके चरणोंमें लुण्ठित उन्हींकी प्रसादस्वरूप थी। यह समर्थकी अस्तेय-प्रतिष्ठाका प्रताप था।

माताजीसे वार्तालाप

(७)

मनोमय जगत्–मनशक्ति कैसे काम करती है–बाधाएँ—शारीरिक व्याधियोंका मूल कारण

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[भाग १५ पृष्ठ १७९५से आगे]

'विचारके अंदर जो शक्ति है वह किस कोटिकी है ? क्या प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने जगत्का कर्त्ता है, यदि हाँ, तो कैसे और किस हदतक ?'

बौद्धमतके अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने ही रचे हुए जगत्में रहता और विचरण करता है, उसका यह जगत् दूसरे मनुष्यके जगत्से सर्वथा स्वतन्त्र होता है; और इन विभिन्न जगतोंमें जब एक प्रकारका सामञ्जस्य हो जाता है केवल तभी ये जगत् एक दूसरेमें अन्तःप्रविष्ट हो सकते हैं और तभी मनुष्य परस्पर सम्पर्कमें आते और एक दूसरेके विचारोंको समझ सकते हैं। जहाँतक मनसे सम्बन्ध है वहाँतक यह बात ठीक है, कारण, प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मानसिक जगत्में, जो उसके अपने ही विचारोंद्वारा सृष्ट किया हुआ होता है, विचरण करता रहता है। यह बात यहाँतक सच है कि सदा ही, जब कोई बात कही जाती है तब प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही बातको विभिन्न रूपमें समझता है, कारण जो कुछ कि कहा गया है उसको वह ग्रहण नहीं करता, बल्कि वह किसी ऐसी चीजको ग्रहण करता है जो कि उसके मगजमें पहलेसे ही भरी हुई है। परन्तु यह सत्य मनोमय भूमिकाकी गतियोंसे ही सम्बन्ध रखता है और उसी भूमिकापर लागू होता है।

कारण मन कर्म करने और आकार बनानेका कारण है, ज्ञानका कारण नहीं। यह प्रत्येक क्षण आकारोंकी रचना करता रहता है। विचार आकारमय होते हैं और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन होता है जो उनके स्रष्टासे सर्वथा स्वतन्त्र होता है। स्रष्टा जब इन विचारमय आकारोंको जगत्में भेज देता है तो उसके बाद ये अपने अस्तित्वके प्रयोजनको पूरा करनेके लिये जगत्में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्तिके विषयमें विचार करते हो तब तुम्हारा विचार एक आकार धारण कर लेता है और उस व्यक्तिको खोजनेके लिये निकल पड़ता है, और यदि तुम्हारे विचारके साथ-साथ उसके पीछे-पीछे कोई संकल्प लगा रहता है, तो तुम्हारे अंदरसे निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने-आपको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करता है। उदाहरणके लिये, मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आवे, और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकारके साथ एक जोरदार कल्पना भी जुड़ी हुई है, तो तुम कल्पना करोगे कि 'यदि वह आवेगा तो वह ऐसा होगा अथवा वह वैसा होगा।' अब मान लो कि कुछ कालके बाद इस विचारको तुमने सर्वथा त्याग दिया, लेकिन तुम नहीं जानते कि इस बातको भूल जानेके बाद भी, तुम्हारे विचारका अस्तित्व बना हुआ है। वास्तवमें अभी भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपना काम कर रहा है, और उसको उसके इस कामसे वापस बुला लेनेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होगी। वह उस विचारसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तिके वातावरणमें प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आनेकी इच्छा उत्पन्न करता रहता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकारमें अपने कार्यको सिद्ध कर लेनेकी पर्याप्त इच्छाशक्ति है, यदि उस आकारका गढ़न भलीभाँति हुआ है तो वह अपना काम करके ही छोड़ेगा। परन्तु इस आकाररचना और उसके कार्यकी सिद्धिके बीचमें कुछ समय लगता है और यदि इस कालके

बीच तुम्हारा मन बिल्कुल दूसरी ही चीजोंमें लगा रहा हो, तो जबतक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्यमें परिणत होता है, तबतक हो सकता है कि तुमको यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसको आश्रय दिया था, तुमको यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसको क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम हुआ है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि इन विचारमय आकारोंका जब फल प्राप्त होता है, तब उस विषयकी इच्छा करना या उससे दिलचस्पी रखना तुमने छोड़ दिया होता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें इस प्रकारकी रचना-शक्ति बहुत ही बलवती होती है और उनकी मनोरचनाएँ सदा कार्यान्वित होती हैं, लेकिन चूँकि उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता खूब अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीज-को इच्छा करते हैं तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएँ और उनके परिणाम, एक दूसरेसे टकराते और भिड़ते रहते हैं। और ऐसी अवस्था देखकर ये लोग आश्चर्य करते हैं कि उनका जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित और असामञ्जस्यपूर्ण क्यों रहता है ? वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने ही विचारों और इच्छाओं-के कारण ही यह हुआ है कि उनके इर्दगिर्द एक इस प्रकारकी परिस्थिति निर्मित हो गयी है जो उनको इतनी बेमेल और परस्परविरोधी जान पड़ती है और जिसके कारण उनका जीवन प्रायः असह्य-सा हो गया है।

यह ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यदि इसको इसके सदुपयोग किये जानेके रहस्यके साथ-साथ दिया जाय। आत्म-संयम और आत्म-शासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूलको तथा भागवत-संकल्पके अनवरत शासन-को—कारण, केवल भागवत-संकल्पका अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी सम्पूर्ण और सामञ्जस्यमय सिद्धि प्रदान कर सकता है—अपने-आपमें खोज निकालना ही यह रहस्य है। साधारणतया, मनुष्य इस बातको जाने बिना ही कि उनकी ये विचार-रचनाएँ किस प्रकार विचरण और क्रिया करती हैं, विचारोंको रचा करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानमय और विशृङ्खल अवस्थामें गढ़े हुए ये विचार परस्पर टकराते रहते हैं और तुमपर इस प्रकारका प्रभाव डालते हैं मानो तुम कोई जोर लगा रहे हो, कोई प्रयास कर रहे हो, मानो इस कार्यमें तुम क्लान्त हुए जा रहे हो और तुमको ऐसा महसूस होता है मानो तुम किन्हीं असंख्य बाधाओंके बीचसे अपना मार्ग साफ कर रहे हो। अज्ञान और असंगतिकी इन अवस्थाओंके कारण एक विशृङ्खल संग्राम प्रारम्भ हो जाता है और इस संग्राममें जो विचारमय आकार सबसे अधिक बलवान् होते हैं तथा जो सबसे अधिक देरतक टिक सकते हैं, वे दूसरोंपर विजय लाभ करते हैं।

मन और उसके कार्यके विषयमें एक बात निश्चित है और वह यह कि तुम केवल उसी बातको समझ सकते हो, जिसका तुम्हें अपने अन्तरात्मामें पहलेसे ही ज्ञान होता है। किसी पुस्तकके पढ़नेपर उसकी जो बात तुमपर असर करती है, वह वही होती है जिसको तुमने अपने अंदरकी गहराईमें पहले ही अनुभव कर लिया होता है। मनुष्य किसी पुस्तक या उपदेशको अत्यन्त अद्भुत पाते हैं और बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि 'यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इस विषयके सम्बन्धमें मैं स्वयं अनुभव करता और जानता हूँ, किन्तु इस विषयका वर्णन इस स्थानपर जितने सुन्दर ढंगसे किया गया है वैसा मैं नहीं कर सका था।' जब मनुष्य किसी सत्य-ज्ञानकी पुस्तकका पारायण करते हैं तो उसमें प्रत्येक पाठक अपने-आपको पाता है, और उसके प्रत्येक नवीन पाठमें उसको कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें वह पहले नहीं देख सका था, प्रत्येक आवृत्तिमें यह ग्रन्थ उसके सामने ज्ञानके एक नवीन क्षेत्रको, जिसको वह अभीतक उसमें नहीं पा सका था, खोलकर दिखा देता

है। परन्तु यह इसलिये होता है कि उस मनुष्यकी अवचेतनामें ज्ञानके जो स्तर अभिव्यक्त होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे, यह पारायण उनका स्पर्श करता है और वह देख पाता है कि उस ज्ञानकी अभिव्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिद्वारा ही हो गयी है और वह भी, जैसी कि वह स्वयं कर सकता था उससे कहीं अधिक सुन्दर ढंगसे। परन्तु यह अभिव्यक्ति जहाँ एक बार हुई कि तुरंत ही वह उसको पहचान जाता है कि, यही सत्य है। जो ज्ञान तुम्हें बाहरसे आता हुआ दिखायी देता है वह तो उस ज्ञानको, जो तुम्हारे अंदर ही है, बाहर ले आनेका केवल एक अवसरमात्र है।

यह एक साधारण अनुभव है कि हम जो कुछ कहते हैं उसे प्राय: दूसरे ही रूपमें समझा या प्रदर्शित किया जाता है, इसका कारण भी उपर्युक्त प्रकारका ही है। जो कुछ हम कहते हैं वह सर्वथा स्पष्ट होनेपर भी लोग उस बातको जिस प्रकार समझते हैं उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी ही बात देखता है जो कहनेवालेके अभिप्रायसे अलग ही होती है अथवा यहाँतक होता है कि वह उसमें कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उसके आशयके सर्वथा विपरीत होती है। यदि तुम किसी बातको सत्यरूपमें समझना और उपर्युक्त प्रकारके भ्रमसे बचना चाहते हो, तो तुम्हें उस कथनकी ध्वनि और उसके शब्दोंकी जो गति होती है उसके पीछे जाकर अपने अंदरकी निस्तब्ध-नीरवतामें उसको सुनना-सीखना चाहिये। यदि तुम इस तरह सुनोगे तभी तुम्हें ठीक-ठीक सुनायी पड़ेगा, ठीक-ठीक समझमें आवेगा। परन्तु जबतक तुम्हारे मस्तिष्कमें कोई चीज घूम रही और कोलाहल कर रही हो तबतक तुम केवल वही बात सुनोगे जो तुम्हारे अपने सिरमें घूम रही है, न कि वह जो कही गयी है।

'योगसे प्रथम परिचय होते ही विरोधी अवस्थाओंकी एक फौज-सी क्यों पीछे पड़ जाती है? किसीने कहा है कि योग-साधनाका द्वार खोलते ही अनगिनत बाधाएँ सामने आ खड़ी होती हैं, क्या यह बात ठीक है?'

यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है और बहुत कुछ व्यक्तिविशेषपर निर्भर करता है। बहुतोंके पास विरोधी अवस्थाएँ इसलिये आती हैं कि उनकी प्रकृतिके जो कमजोर स्थान हैं उनकी परीक्षा हो जाय। योगमार्गपर तुम स्वतन्त्रतापूर्वक चल सको इसके पहले तुममें जिस वस्तुकी अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये, जो योगके लिये अनिवार्य आधार है—वह है समचित्तता। अत: इस दृष्टिसे देखनेपर, सभी क्षोभ साधककी परीक्षाके लिये होते हैं और तुमको इन परीक्षाओंमें सफल होना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारे मनने जो सीमाएँ तुम्हारे चारों ओर बना ली होती हैं उनको तोड़नेके लिये भी इनकी आवश्यकता है, कारण ये सीमाएँ दिव्य ज्योति और सत्यके प्रति तुम्हारे उद्घाटनको रोकती हैं। तुम्हारा समग्र मनोमय जगत्, जिसमें कि तुम रहते हो, एक सीमामें बँधा हुआ है फिर चाहे उसकी सीमाओंका तुम्हें ज्ञान या अनुभव हो या नहीं, और यह आवश्यक है कि कोई चीज आवे और इस भवनको जिसके अंदर तुम्हारे मनने अपने-आपको बंद कर रक्खा है, तोड़ डाले और उसको इस बन्धनसे मुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बँधे हुए नियम, विचार अथवा सिद्धान्त होते हैं, जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो। अधिकांशत: ये किन्हीं नैतिक सिद्धान्तों अथवा उपदेश वचनोंके आधारपर होते हैं, जैसे कि 'अपने माता-पिताका आदर कर' (मातृदेवो भव—पितृदेवो भव) या 'तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये' (अहिंसा परमो धर्म:) इत्यादि-इत्यादि। प्रत्येक मनुष्यकी अपनी कुछ धुन होती है अथवा वह दूसरोंकी अपेक्षा अपने सम्प्रदायमें कोई विशेषता मानता है। प्रत्येक मनुष्य यह समझता है कि दूसरे लोग जिन अमुक-अमुक साम्प्रदायिक रूढ़ियोंमें बँधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह इस प्रकारके साम्प्रदायिक मताग्रहोंको बिल्कुल मिथ्या समझनेके लिये भी तैयार रहता है। परन्तु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरोंकी तरहका नहीं है, वह तो बिल्कुल सत्य ही है! मनके बनाये हुए किन्हीं भी नियमोंमें

आसक्ति होना इस बातका सूचक है कि अभी भी कहींपर अन्धापन छिपा हुआ है। उदाहरणके लिये उस सार्वत्रिक अन्धविश्वासको ले लो जो समस्त जगत्में फैला हुआ पाया जाता है कि वैरागी-जीवन और योग एक ही बात है। यदि तुम किसीका योगी अथवा योगिनी कहकर वर्णन करो तो तुरंत उस व्यक्तिके बारेमें लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो खाता न हो अथवा दिनभर एक आसनसे अडोल बैठा रहता हो, जो किसी कुटियामें अत्यन्त दरिद्रतापूर्वक रहता हो, जिसने अपना सब कुछ दे दिया हो और जो अपने लिये कुछ भी न रखता हो। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्यके सम्बन्धमें किसीसे कुछ कहा जाता है तो सौमें निन्यानबे आदमियोंके मनमें उस व्यक्तिके सम्बन्धमें इसी प्रकारका चित्र खिंच जाता है, इनके लिये आध्यात्मिकताका एकमात्र सबूत है—दरिद्रता तथा जो कोई भी चीज सुखदायक या आराम पहुँचानेवाली हो उससे परहेज। यह एक मनोनिर्मित धारणा है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्यका साक्षात्कार और अनुसरण करनेके लिये स्वतन्त्र हो जाना चाहते हो तो तुम्हें इस प्रकारकी धारणाको दूर कर देना होगा। कारण, आध्यात्मिक जीवनमें तुम सच्ची अभीप्साके साथ आते हो और तुम चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवनमें भगवान्से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; अब होता यह है कि तुम एक ऐसे स्थानमें पहुँचते हो जिसको किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहाँ तुम्हारी एक ऐसे भागवत-पुरुषसे भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, सब कुछ खाते हैं, उनके चारों ओर सुन्दर और अमीरीकी चीजोंका ठाठ लगा हुआ है, जो कुछ उनके पास है उसको वे गरीबोंको बाँट नहीं दे रहे हैं, बल्कि लोग जो कुछ उनकी भेंट चढ़ाते हैं उसको वे स्वीकार करते और उसका उपभोग करते हैं। यह देखकर तुम अपने बँधे हुए मनोनिर्मित नियमके अनुसार तुरंत घबड़ा जाते हो और चिल्ला उठते हो कि 'क्यों, यह सब क्या है ! मैंने तो सोचा था कि मेरी किसी योगीसे भेंट होगी, पर यहाँ तो ऐसी कोई बात नहीं है।' इस प्रकारकी धारणाको दूर कर देना चाहिये, ऐसा करना चाहिये जिसमें इसका तुममें अस्तित्वतक न रह जाय। एक बार जहाँ यह चली गयी कि तुम्हें कुछ ऐसी चीज प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्यके संकीर्ण सिद्धान्तसे बहुत ही श्रेष्ठ है, तब तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि कोई चीज तुमको दी जाती है तो उसे तुम्हें स्वीकार करना चाहिये और यदि उसी चीजको तुम्हें छोड़ देना होता है तो तुम्हें उसी तत्परताके साथ छोड़ देना चाहिये। तुम्हारा भाव तो यह होना चाहिये कि अगर कोई चीज आयी तो तुमने उसको ग्रहण किया, अगर कोई चीज चली गयी तो तुमने उसको जाने दिया और इन दोनों ही समय अर्थात् लेते समय और छोड़ते समय तुम्हारी मुसकानमें वही समता बनी रहे।

जब तुम भगवान्के पास जाते हो तो तुम्हें अवश्य ही अपनी समस्त मानसिक धारणाओंका त्याग कर देना चाहिये, किन्तु ऐसा करनेके बदले उलटे तुम अपनी ही धारणाओंको भगवान्पर लादना चाहते हो और यह चाहते हो कि भगवान् उनका अनुसरण करें। योगीके लिये सच्चा भाव तो केवल यही है कि वह नमनशील बना रहे और भगवान्की ओरसे जो भी आदेश मिले उसका पालन करनेके लिये तैयार रहे; उसके लिये कोई चीज भी ऐसी न होनी चाहिये जिसके बिना उसका काम ही न चले तथा कोई भी चीज उसको भाररूप भी न होनी चाहिये। जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं उनका पहला आवेश यह होता है कि जो कुछ भी उनके पास हो उसको वे फेंक दें, किन्तु वे ऐसा इसलिये करना चाहते हैं जिससे वे एक बोझसे छुटकारा पा जायँ न कि इसलिये कि वे अपना सब कुछ भगवान्के अर्पण कर दें। जिनके पास धन है तथा जिनके इर्द-गिर्द अमीरी और भोगकी सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं, वे जब भगवान्की ओर मुँह करते हैं तो तुरंत उनकी प्रवृत्ति इन सब

चीजोंसे दूर भागनेकी ओर होती है, अथवा जैसा कि वे कहते हैं 'इनके बन्धनसे निकल आने' की ओर होती है। परन्तु यह गलत प्रवृत्ति है, तुमको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं—वे तो भगवान्‌की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीजका भोग करो तो उसका तुम भोग करो, किन्तु दूसरे ही क्षण यदि उसको छोड़ना पड़े तो उसके लिये भी सदा प्रसन्नचित्तसे तैयार रहो।

'शारीरिक व्याधियाँ क्या हैं? क्या ये आक्रमण विरोधी शक्तियोंके हैं और क्या ये बाहरसे होते हैं?'

इस विषयमें दो बातें हैं जिनपर विचार करना चाहिये। एक वह जो बाहरसे आता है और दूसरा वह जो तुम्हारी आन्तरिक अवस्थाओंसे आता है। तुम्हारी आन्तरिक अवस्था रोगका कारण तब बनती है जब वहाँपर कोई प्रतिरोध या विद्रोह होता है अथवा जब कि तुम्हारे अंदर कोई ऐसा भाग होता है जो भागवत संरक्षणका प्रत्युत्तर नहीं देता अथवा वहाँ कुछ ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक और जान-बूझकर विरोधी शक्तियोंको अंदर बुलाती हो। इस प्रकारकी कोई मामूली-सी गति भी तुम्हारे अंदर हो तो वह पर्याप्त है, विरोधी शक्तियाँ तुमपर चढ़ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोगका रूप धारण करता है।

'परन्तु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओंके कारण ही रोग होते हैं, योगसाधनाकी क्रियाके अंगभूत होकर नहीं?'

कहाँसे भला योगका आरम्भ समझें और कहाँ अन्त? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है? तुम्हारे शरीरमें और उसके आसपास रोगकी सम्भावनाएँ सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अंदर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकारकी बीमारियोंके कीटाणु या रोग-जन्तु विद्यमान होते हैं अथवा ये तुम्हारे चारों ओर मँडराते रहते हैं। जो रोग तुमको वर्षोंसे नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो? तुम कहोगे कि इसका कारण 'प्राण-शक्तिका सुस्त पड़ जाना' है। परन्तु यह प्राणोंकी सुस्ती कहाँसे आती है? यह सत्तामें किसी प्रकारका असामञ्जस्य होनेसे, भागवत शक्तियोंके प्रति ग्रहणशीलताका अभाव होनेसे आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योतिसे जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको जुदा कर लेते हो तब यह सुस्ती होती है, तब जिसको वैद्यक शास्त्र 'रोगके लिये अनुकूल क्षेत्र' कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इसका फायदा उठा लेती है। सन्देह, निरुत्साह, विश्वासका अभाव, निजी स्वार्थके लिये भगवान्‌की ओरसे मुँह फेरकर पुनः अपनी ओर पलट आना—ये हैं जो ज्योति और दिव्यशक्तिसे तुम्हें अलग कर देते हैं और आक्रमणको इस प्रकारका लाभ पहुँचाते हैं। यही है तुम्हारे बीमार पड़नेका कारण न कि रोगके कीटाणु।

'परन्तु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदि रखनेमें सुधार करनेसे औसत नागरिकका स्वास्थ्य सुधरता है?'

औषध और सफाई साधारण जीवनके लिये अपरिहार्य हैं, किन्तु इस समय मैं औसत नागरिकके सम्बन्धमें नहीं कह रही हूँ, मैं तो उनके बारेमें कह रही हूँ जो योगसाधना करते हैं। फिर भी सफाई आदिकी पद्धतिसे यह घाटा होता है कि जहाँ तुम इससे रोगके पकड़में आनेकी सम्भावनामें कमी ले आते हो वहाँ रोगका प्रतिरोध करनेकी तुम्हारी जो अपनी स्वाभाविक शक्ति है उसको भी तुम क्षीण कर देते हो। अस्पतालमें काम करनेवाले, जो सदा अपने हाथ निःसंक्रामक ओषधियोंसे धोते रहते हैं, यह पाते हैं कि उनके हाथ औरोंकी अपेक्षा सहजमें संक्रामक जन्तुओंके शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक प्रभावग्राही हो गये हैं। इनके विपरीत, उन लोगोंको ले लो जो स्वास्थ्यकर सफाई आदिके विषयमें कुछ भी नहीं जानते और अत्यन्त अस्वास्थ्यकर काम करते रहते हैं, फिर भी वे संक्रामक दोषोंसे मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनकी

सहायता करता है, कारण, आरोग्यशास्त्रकी बातोंके ज्ञानके कारण जो ऐसे विचार हमारे मनमें बैठ जाते हैं कि ऐसा होनेसे यह रोग होता है और वैसा होनेसे वह रोग, वैसे खयालोंकी वहाँ कोई सम्भावना ही नहीं होती। दूसरी ओर, स्वास्थ्यकर संरक्षणमें जो तुम्हारा विश्वास होता है वही इन विचारोंको भी कार्य करनेमें सहायता पहुँचाता है। कारण, तुम समझते हो कि, 'अब मैंने निःसंक्रामक औषधका प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूँ,' तो उस हदतक ही यह तुमको सुरक्षित रखता भी है।

'तब फिर हमें स्वास्थ्यकर सावधानी—जैसे कि छाना हुआ पानी पीना—क्यों रखनी चाहिये ?'

क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावोंका कुछ भी असर न होता हो ? यदि तुम बिना छाना हुआ पानी पीओ और सोचो कि 'अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूँ' तो तुम्हारे बीमार पड़नेकी बहुत कुछ सम्भावना हो जाती है। और यद्यपि इस प्रकारके सुझाव सचेतन मनके द्वारा न भी पहुँचें तो तुम्हारी समग्र अवचेतना तो पड़ी ही है जो किसी भी ऐसे सुझावको ग्रहण करनेके लिये बुरी तरह खुली हुई रहती है। जीवनमें अवचेतनाके कार्यका भाग अधिक होता है और सचेतन भागोंकी अपेक्षा अवचेतना सौगुनी शक्तिशालिताके साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था वह अवस्था है जो भय और आशङ्काओंसे भरी हुई है। यदि तुम अपने मनको दस मिनटतक गहरी दृष्टि डालकर देखो तो तुमको यह पता लगेगा कि उसके दसमेंसे नौ विचार भयसे भरे हुए हैं, वह अपने अंदर बृहत् और क्षुद्र, समीपवर्ती और दूरवर्ती, देखी हुई और बिना देखी हुई, अनेक चीजोंके भयको लिये रहता है, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टिमें नहीं आती, पर तुम्हारे अंदर ये भय तो होते ही हैं। समस्त भयसे मुक्त हो जाना—यह अवस्था तो अनवरत प्रयास और साधनाद्वारा ही आ सकती है।

और, साधना और प्रयासके द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राणको आशंका तथा भयसे मुक्त भी कर लिया हो तो भी शरीरको मना लेना अधिक कठिन होता है। परन्तु यह भी करना ही पड़ेगा। एक बार तुमने योगमार्गमें प्रवेश किया कि तुमको समस्त भयोंसे मुक्त हो जाना चाहिये,—अपने मनके भयोंसे, अपने प्राणके भयोंसे, अपने शरीरके भयोंसे, जो उसके एक-एक रोम-कूपमें भरे पड़े हैं, मुक्त हो जाना चाहिये। योगमार्गमें तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहन करने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त कर दें। जिन कारणोंसे तुम्हें भय होता है वे उस समयतक तुमपर बार-बार हमला करते रहते हैं जबतक कि तुम इस योग्य न हो जाओ कि तुम उनके सामने स्वतन्त्र और उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसीको समुद्रसे भय होता है, कोई आगसे डरता है। अब, हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्निसे भय खाता हो उसको एकके बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डोंको उस समयतक अपनी आँखोंके सामने होते हुए देखना पड़े जबतक कि वह इतना अभ्यस्त न हो जाय कि इस काण्डसे उसके शरीरका एक लोमकूपतक न काँपे। जिस चीजसे तुमको त्रास पैदा होता है वह उस समयतक बारम्बार आती रहती है जबतक कि उससे तुममें त्रास होना बिलकुल बंद न हो जाय। जो रूपान्तरित होना चाहता है और जो इस मार्गका साधक है उसे तो सर्वांशतः भयमुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बन जाना पड़ेगा कि कोई भी घटना उसकी प्रकृतिके किसी भी भागको छू या हिला न सके।

भगवान्‌का प्यार

(लेखिका—एक बहिन)

जब तुम एक अबोध शिशु थे, बिल्कुल नन्हें-से, घुटुरुओंके बल रेंगते हुए, धूल-कीचड़में सने हुए, उस समय क्या तुम अपने हाथ-पैर धोकर और कपड़े-लत्ते बदलकर अपनी माँके पास जाते थे ? और क्या तुम अपनी माँसे अपनी बात सुनानेके लिये खूब सोच-विचारकर चुने हुए शब्दोंका प्रयोग करते थे ? क्या उस समय तुम मनोविज्ञानकी दृष्टिसे ऐसे-ऐसे शब्दोंका प्रयोग करते थे जो माताके हृदयमें तुम्हारे लिये प्रीति और सहानुभूति जगाकर तुम्हारी सहायताकी ओर प्रेरित कर सके ?

नहीं; कदापि नहीं। तुम जैसे भी थे धूल और कीचड़में सने थे तो क्या और तुम्हारे कपड़े गंदे और फटे थे तो क्या, तुम ज्यों-के-त्यों माँके समीप पहुँचते थे और तुम्हारे मनमें यह सहज निश्चय था कि माँ तुम्हें प्यार करेगी, तुम्हें पुचकारेगी, चुम्बियाँ लेगी, तुम्हारी पीठ थपथपायेगी और तुम्हारी चोटोंकी मरहम-पट्टी करेगी।

परन्तु आज हममेंसे कितने ऐसे हैं जो शिशुकी सरलताके साथ प्रभुकी गोदमें जाते हों ? तरह-तरहकी आशङ्काएँ, संशय, सन्देह हमने अपनी ही ओरसे खड़े कर लिये हैं;—कभी सोचते हैं, हम महान् पतित हैं, भगवान्‌का प्यार भला हमें क्यों मिलने लगा ?—कभी सोचते हैं—अजी हमारी प्रार्थना भला भगवान् क्यों सुनें ?—कभी सोचते हैं—हम जो प्रार्थना कर रहे हैं उसमें शब्दोंका चुनाव ठीक-ठीक नहीं हो रहा है; और कभी सोचते हैं—प्रभुसे हम जो कुछ माँग रहे हैं, सम्भव है वह हमारे प्रारब्धमें हो ही नहीं।

हम इतना ही जान जायँ कि भगवान् हमारे लिये उस स्नेहमयी माँके समान है जो हमारी करनीको न देखकर हमें प्यार ही करती जाती है—जो हमारे शरीर-मन-प्राणके कण-कणसे परिचित है, जो रात-दिन आठों पहर हमारे पास रहती है, हमारे गुणोंपर प्रसन्न होती रहती है और दोषोंपर पर्दा डालती है, जो सदा-सर्वदा हमें ऊपर उठानेमें ही संलग्न है और हमारे सुखके लिये क्या-क्या कष्ट नहीं उठाती—भगवान्‌को ऐसी माँके रूपमें देखकर क्या हम एक अबोध नन्हें शिशुकी तरह उनकी गोदमें नहीं जायँगे ? और क्या उनकी गोदमें जानेपर भी हमें सुख और शान्तिके लिये तरसना पड़ेगा ? वह प्रभु, वह दयामयी माँ तो हममेंसे प्रत्येकके, एक-एकके हृदयमें छिपी बैठी है जो बराबर हमारा सारा सँभाल रखती है जिस प्रकार पलकें आँखोंकी रक्षा करती हैं ठीक उसी प्रकार वह हमारी रक्षा करती है, जुगोती रहती है।

और चूँकि भगवान् हमारे लिये दयामयी जननी हैं इसलिये भगवान्‌से प्रार्थना करते समय हमें इस बातका विचार नहीं करना चाहिये कि प्रार्थनाके शब्द, पद, छन्द, ताल ठीक हैं या नहीं; व्याकरण अथवा छन्दः-शास्त्रका कोई दोष तो इसमें नहीं आ गया है। आवश्यकता तो एकमात्र विश्वासकी है—ठीक वह विश्वास जिसे लेकर शिशु अपनी माँके पास जाता है। संक्षेपमें, तात्पर्य यह है कि हमें अपना हृदय खोलकर, हृदयके अंदर ही हृदयधनसे मिलना चाहिये, उनका—एकमात्र उन्हींका आसरा-भरोसा रखना चाहिये और सारी बातोंमें एकमात्र उन्हींका सहारा लेना चाहिये। प्रार्थना जब हृदयकी भाषामें हृदयसे निकलती है तो उसे भगवान् अवश्य सुनते हैं। हम जहाँ चाहें और जब भी चाहें भगवान्‌का स्पर्श वहीं और उसी समय पा सकते हैं।

हृदयसे निकली हुई सच्ची प्रार्थनामें अमोघ—अपार शक्ति है, इतनी, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। थके हुए शरीरको पूर्ण विश्राम, क्लान्त मनको दिव्य शान्ति और व्याकुल प्राणोंको अलौकिक आश्वासन मिलता है। चिन्ताएँ पता नहीं, कहाँ काफूर हो जाती हैं, शंकाएँ और आशङ्काएँ जाने कब हवामें उड़ जाती हैं और हृदयके भीतर-भीतर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई 'अपना' गुदगुदा रहा है; कुछ धीरे-धीरे अपनी कह रहा है, कुछ हमारी सुननेके लिये मचल रहा है।

भगवान्‌के पास जाओ और अपने तमाम उधेड़-बुनको उनके हाथोंमें छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ, विमुक्त हो जाओ।

कभी-कभी हम अपनेको तुच्छ, नाचीज और अकिञ्चन समझ लेते हैं और साथ ही यह भी सोच लेते हैं कि भगवान् इतने महान् एवं सर्वव्यापी हैं कि हमारे-जैसोंकी सुध लेनेके लिये उन्हें अवकाश ही कहाँ है ? सबकी देख-भालमें वे इतने व्यस्त जो हैं। हमारा ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। परन्तु हम इतना क्यों नहीं सोचते कि भगवान्‌के व्यस्त रहते हुए भी हमें वायु, प्रकाश, जल—जिनके बिना एक दिन भी हमारा काम नहीं चल सकता, हमें आवश्यकतानुसार मिलता ही है। और मिट्टीमें पड़े हुए अन्नके दानेको ठीक माँकी तरह भगवान् पालते हैं। पोसते हैं, अंकुरित करते, पनपाते तथा पल्लवित-पुष्पित करते हैं। जीवन, प्रेम, ज्ञान, सत्य और करुणाको भगवान् खुले हाथों लुटा रहे हैं। भगवान्‌को अपनेसे दूर मत मानो, न उन्हें इतना गूँगे-बहरे ही समझो कि उन्हें प्रार्थनाओं-स्तुतियों और आवाहनोंके द्वारा जगानेकी आवश्यकता है। ऐसा मत मानो कि उन्हें तुम्हारी ओर देखने, तुम्हारी बात सुननेके लिये फुरसत नहीं है।

भगवान् तो सर्वत्र हैं, सब वस्तुओंमें, जर्रे-जर्रेमें व्याप्त हैं—प्रत्येक वस्तुके हृदयमें बैठे हैं और वहीं बैठे-बैठे वे उसकी सुध लेते रहते हैं, सँवारते-सँभालते रहते हैं। अनन्त और परात्पर होते हुए भी वे प्राण-प्राणमें बंदी बना बैठे हैं। वे सबके होते हुए भी—'समं सर्वेषु भूतेषु' होते हुए भी हममेंसे एक-एक व्यक्तिके परम प्रियतम, परम सुहृद्, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण हैं, परम स्नेहमयी माता हैं, धाता हैं—वे क्या नहीं हैं। सबके होते हुए भी वे हममेंसे प्रत्येकके 'अपने' हैं, सर्वथा अपने हैं। इसीलिये तो हम कहते हैं—हमारे स्वामी, हमारे प्रभु, हमारे हृदयेश !

और सच मानो, भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करनेके लिये किसी जादूभरे—अचरजभरे देश या वातावरणकी कल्पना करनेकी कतई आवश्यकता नहीं है। वे तो सभी देश और समस्त वातावरणमें हैं और खूब हैं, भरपूर हैं। हम जहाँ भी हैं और जैसे भी हैं—भगवान्‌में हैं और भगवान्‌के हैं—वे हर हालतमें हमें हमेशा अपनाये हुए हैं, सदैव स्वीकार किये हुए हैं—यह बात जान लेनेपर फिर क्या प्रार्थना, क्या न प्रार्थना—सब समान हैं। तैयारी तो करते हैं हम भगवान्‌के पास जानेकी, पर देखते क्या हैं कि वे तो हमारे ही पास थे—ठीक माँकी तरह। माँ, माँ कहकर पुकारा नहीं कि वे प्रकट हुए। पुकारनेके पहले ही उनकी आवाज सुनायी पड़ेगी क्योंकि हमारी प्रार्थना केवल सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर परमात्मासे नहीं है; परन्तु 'सुहृदं सर्वभूतानाम्'—सबके सुहृद् सबकी माँ—स्नेहमयी, दयामयी माँसे है। विश्वास करो, निश्चय मानो, भगवान् तुम्हें प्यार करते हैं, भगवान् तुम्हारी सुनते हैं और भगवान् तुम्हारी प्रत्येक बातकी सार-सँभाल रखते हैं।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री१०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज)

[भाग १५ सं० ९ पृष्ठ १४१८से आगे]

भगवान् वेदव्यासने कहा है–

ब्राह्मणः सम्भवाचैव देवानामपि दैवतम् ।
(व्याससंहिता ४ । ४९)

अर्थात् ब्राह्मण जन्मसे ही देवताओंके भी पूज्य हैं ।

महर्षि शातातप कहते हैं–

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थम् । (शातातपसंहिता १ । १४)

अर्थात् ब्राह्मण चलते-फिरते तीर्थ हैं ।

भगवान् अत्रि कह रहे हैं—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥
(अत्रिसंहिता १४१-१४२)

जन्मसे 'ब्राह्मण' होता है, उपनयन संस्कारसे ब्राह्मण 'द्विज' कहलाता है, विद्याके द्वारा वह 'विप्रत्व'को प्राप्त होता है, एवं तीनों प्रकारसे अर्थात् जन्म (ब्राह्मणत्व), उपनयन (द्विजत्व) तथा वेद-विद्या (विप्रत्व) के द्वारा वह 'श्रोत्रिय' संज्ञाको प्राप्त होता है । यहाँ भगवान् अत्रिने स्पष्ट निर्देश कर दिया है कि ब्राह्मणत्व जन्मगत है ।

महाभारतके अनुशासनपर्वके ३५ वें अध्यायमें कहा गया है—

जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक् ॥ १ ॥

हे महाभाग ! जन्मके द्वारा ही 'ब्राह्मण' होता है, ब्राह्मणकुलमें जन्म लेनेके कारण ही वह समस्त प्राणियोंके लिये नमस्य अर्थात् नमस्कार करने योग्य होता है और अतिथिरूपमें सुपक्व अन्नका सर्वप्रथम भोक्ता बनता है ।

इसी पर्वके १५१ वें अध्यायमें कहा गया है—

तेषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति ।
तपोविद्याविशेषात्तु मानयन्ति परस्परम् ॥
अविद्वान् ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत् ।
विद्वान् भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसन्निभः ॥
अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हविर्यज्ञे च विधिवद् गृह एव विशोभते ॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणो मान्यो दैवतं विद्धि तत्परम् ॥
(१९-२१)

'ब्राह्मणोंमें क्या वृद्ध, क्या बालक–सभी सम्मानके योग्य हैं । उनमें जो तपस्या तथा साङ्गोपाङ्ग वेद-विद्यामें अपेक्षाकृत अधिक विशेषता प्राप्त करते हैं वे तदनुसार ही ब्राह्मणोंमें परस्पर अधिक सम्मानके पात्र बनते हैं । जो ब्राह्मण साङ्गोपाङ्ग वेदविद्यासे रहित है, वह भी (ब्राह्मणकुलमें जन्म लेनेके कारण) दूसरेको पवित्र कर सकता है । अतएव जो ब्राह्मण वेदवित् है, उसके समुद्रवत् परम पावन होनेमें आश्चर्य ही क्या है । ब्राह्मण वेदविद् हो या वेदज्ञानसे रहित हो, उसे परम देवतास्वरूप जानना आवश्यक है । अग्नि मन्त्रयोगसे संस्कृत हो अथवा मन्त्रयुक्त न होनेके कारण असंस्कृत हो, उसमें देवत्व सर्वदा ही विद्यमान रहता है । जिस प्रकार तेजस्वी अग्नि श्मशानमें रहनेपर भी कभी दूषित नहीं होती, बल्कि यज्ञमें और गृहकार्यमें विधिवत् व्यवहृत हो सकती है, उसी प्रकार ब्राह्मण कुछ भी कार्य करे उसे परम देवता समझकर उसका सम्मान करना उचित है ।'

पराशरस्मृतिमें कहा है—

युगे युगे तु ये धर्मास्तेषु धर्मेषु ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ब्राह्मणाः ॥
(११ । ४८)

युग-युगमें जिन धर्मोंकी व्यवस्था होती है, युग-युगमें द्विजगण जिन धर्मोंका आचरण करते हैं, उन युगोंमें उनकी

निन्दा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण युगके अनुसार संस्कार लेकर ही पैदा होते हैं।

वेदमन्त्रोंमें उल्लिखित है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके मुख आदि चार अवयवोंसे हुई है। इन चारों वर्णोंके निमित्तकारण एक ईश्वर हैं, परन्तु उपादानकारण गुणोंकी विभिन्नताके कारण सबके भिन्न-भिन्न हैं। इसी कारण चारों वर्णोंमें भेद है। यह भेद प्रकृतिगत है, अतएव जबतक सृष्टि रहेगी, तबतक इसका रहना भी अनिवार्य है।

शतपथमें ब्राह्मणको 'मुख्य' कहा गया है 'यस्मादेते मुख्याः। तस्मात् मुखतः असृज्यन्त।' मुखसे उत्पन्न होनेके कारण ब्राह्मणको 'मुख्य' कहा गया है। 'शरीरावयवाद्यत्'— इस पाणिनिके सूत्रसे 'मुख्य' पद सिद्ध होता है। 'मुखे भवो मुख्यः।' भगवान् मनुने भी 'मुखबाहूरुपज्जानाम्' कहते हुए ब्राह्मणको 'मुखज' बतलाया है। क्षत्रियको 'बाहुज', वैश्यको 'ऊरुज' तथा शूद्रको 'पदज' कहा गया है।

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रके भाष्यकारने वैश्यको 'जघन' से उत्पन्न होनेके कारण 'जघन्य' बतलाया है। अथर्ववेदका 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' यह पाठ भी इसी बातका समर्थन करता है। जघन शरीरके मध्यभागको कहते हैं। शूद्र 'पदज' हैं, शूद्रके उपादानकारण 'चरण' हैं। मनुस्मृति (१।९२) में ब्राह्मणको 'मेध्य' कहा गया है, और वेदमें शूद्रको 'अमेध्य' कहा है। 'चत्वारो वर्णा ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्राः। ४। तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्।५।' अर्थात् वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इन जातियों (वर्णों) में शूद्रकी अपेक्षा वैश्य श्रेष्ठ हैं, वैश्यकी अपेक्षा क्षत्रिय तथा क्षत्रियकी अपेक्षा ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रके इन दो सूत्रोंके अनुसार शूद्रके अतिरिक्त अन्य तीन वर्ण जन्मतः श्रेष्ठ गिने और माने जाते हैं। शूद्रमें जन्मगत श्रेष्ठता नहीं है। नहीं तो ५ वें सूत्रमें 'पूर्वः' पद निरर्थक हो जाता है।

उपादानकारणमें जो गुण होता है, वही कार्यमें भी आ जाता है। जिस प्रकार मृत्तिकाका रूप घटगतरूपके प्रति कारण है। पृथ्वी भगवान्का चरण है। यह तमःप्रधान है। रात्रिमें इसका तमःप्रभाव सारे संसारको ढक देता है। इसी कारण इसे 'गो-तमः' कहते हैं। शूद्रमें पार्थिव अंश अधिक होता है। तमोगुणकी अधिकताके कारण दूसरे गुण शूद्रमें सदा लीन रहते हैं। यही शूद्रकी हीनताका कारण है।

ब्राह्मण अग्निप्रधान है—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' ऐसा ऐतरेय-श्रुति कहती है। क्षत्रिय वायुप्रधान है। वैश्य जल-प्रधान है। शूद्र पृथ्वीप्रधान है।

'मुखादग्निरजायत' यह श्रुतिवाक्य अग्निको 'मुखज' बतलाता है। और ब्राह्मण भी मुखसे उत्पन्न है। इस कारणसे अग्निमें तथा ब्राह्मणमें समानगुणता विद्यमान है। श्रुति कहती है—'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, अतस्तेजोमयी वाक्।' अग्निने वाणीका स्वरूप धारणकर मुखमें प्रवेश किया। अतएव वाणी तेजःस्वरूप है। इसी प्रकार शूद्र चरणसे उत्पन्न हुआ है, तथा पृथ्वी भी चरणोद्भूत है। अतएव दोनोंका उद्भवस्थान एक होनेके कारण शूद्रसे तमःप्रधानता दूर नहीं हो सकती। पार्थिव तमोगुण तमःप्रधान शूद्रमें सदा विद्यमान रहता है। इसी कारण शूद्रके लिये वेदाध्ययनका निषेध है।

गुणोंकी अधिकता अथवा इनके अभावके कारण जन्म-गत जाति या वर्णका परिवर्तन एक ही शरीरमें नहीं हो सकता। हाँ, शूद्र यदि लिखना-पढ़ना सीख ले, विनयी, नम्र तथा सदाचारी बन जाय तो उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, तथा शूद्र जातिमें उसका यथायोग्य पूजा-प्रतिष्ठा और सत्कार-सम्मान होगा। और ब्राह्मण वेद-विद्यासे हीन मूर्ख हो तो इससे उसकी भी अप्रतिष्ठा ही होगी, वह यज्ञादि कर्मोंके अधिकारसे वञ्चित हो जायगा, तथा दान लेनेका उसे अधिकार न रहेगा। परन्तु इस जन्ममें उसकी जाति नष्ट या परिवर्तित न होगी। वह रहेगा ब्राह्मण ही। हाँ, जन्मभर धर्माचरणमें लगे रहनेपर शूद्र भी दूसरे जन्ममें अगले उच्च वर्णमें जन्म ग्रहण कर सकता है। तथा आचारहीन जीवन व्यतीत करनेपर ब्राह्मण भी दूसरे जन्ममें नीच योनिमें जन्म ग्रहण कर सकता है। परन्तु वृत्तियोंके गुणोंकी तारतम्यतासे इसी जन्ममें 'ब्राह्मण' कभी 'शूद्र' नहीं हो सकता तथा 'शूद्र' कभी 'ब्राह्मण' नहीं हो सकता। यह प्रकृतिका साधारण नियम है।

महाभारत-अनुशासनपर्वके १४३ वें अध्यायमें जगज्जननी पार्वतीदेवी कहती हैं, 'भगवान् ब्रह्माने ही पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंकी सृष्टि की है,

परन्तु वैश्य किस दुष्कर्मके कारण शूद्रत्व तथा किस शुभ कर्मके कारण क्षत्रियत्वको प्राप्त करता है ? ब्राह्मणका क्षत्रिय, वैश्य या शूद्रकी योनिमें जन्म ग्रहण करनेका कारण क्या है ? किन कारणोंसे क्षत्रिय वैश्यत्व या शूद्रत्वको प्राप्त होता है ? तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये प्रकृतिसिद्ध तीन वर्ण किस प्रकार ब्राह्मणत्वको प्राप्त करते हैं, इन बातोंको कृपा करके बतलाइये ।'

महेश्वरने कहा—'देवि ! ब्राह्मणत्वको प्राप्त करना बहुत ही कठिन है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण प्रकृतिसिद्ध हैं; ब्राह्मण केवल अपने दुष्कर्मके कारण ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट होता है, अतएव सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मणत्वको प्राप्त कर उसकी रक्षाके लिये सावधान रहना सर्वतोभावेन आवश्यक है । यदि क्षत्रिय या वैश्य धर्ममें स्थित होकर ब्राह्मणत्वका (ब्राह्मणके गुणोंका) पालन करता है, तो इससे उसे दूसरे जन्ममें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति होगी । जो ब्राह्मण स्वधर्मका परित्याग करके क्षत्रियधर्म अथवा लोभ-मोहके वश होकर वैश्यधर्मका पालन करता है, वह मरनेके बाद क्षत्रियत्व या वैश्यत्वको प्राप्त होता है । जो ब्राह्मण लोभ-मोहके प्रभावसे अपने धर्मसे च्युत होकर शूद्र-धर्मका अवलम्बन करते हैं, वे निश्चय ही मरनेपर भयानक नरक-यन्त्रणाका भोग करके, अन्तमें शूद्र-योनिको प्राप्त होते हैं । यदि क्षत्रिय या वैश्य स्वधर्मका परित्याग कर शूद्रोचित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, तो वे दूसरे जन्ममें स्वजातिसे भ्रष्ट होकर शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं । हे देवि ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको इसी प्रकार शूद्रत्वकी प्राप्ति होती है ।'

आर्षशास्त्र उन्नति-क्रमके सम्बन्धमें कहते हैं—

शूद्रः स्वधर्मनिरतस्तु मृतो वैश्यत्वमाप्नुयात् ।
वैश्यः स्वधर्मनिरतस्तु देहान्ते क्षत्रियो भवेत् ॥
क्षत्रियस्तु शुभाचारो मृतो वै ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणो निःस्पृहः शान्तो भवरोगात् प्रमुच्यते ॥

स्वधर्मका पालन करनेवाला शूद्र मरनेपर वैश्यत्वको प्राप्त होता है और स्वधर्मका पालन करनेवाला वैश्य मरनेपर क्षत्रिय होता है । शुभ आचरण करनेवाला क्षत्रिय मरनेपर ब्राह्मण होता है और शान्त तथा निःस्पृह ब्राह्मण भव-रोगसे छूटकर परमात्माको प्राप्त करता है ।

वैदिक शास्त्र कहते हैं—

भेदः पशूनां स तु पादपानां खगेषु भेदः किल बाह्यभेदः ।
पाषाणभेदो नरजातिभेद आभ्यन्तरो भस्मसु योऽपि भेदः ॥

अर्थात् पशु, पक्षी, वृक्ष आदि जातियोंमें जो भेद है वह बाह्य भेद है । जैसे गाय और गधा, आमका पेड़ और नीमका पेड़, तोता और मोर—इस भेदको साधारण आदमी भी देखकर समझ सकता है । परन्तु पाषाणके भेद, धातुओंके भस्मके भेद, मनुष्य-जातिके वर्णभेद—ये आभ्यन्तर भेद हैं । इन्हें साधारण मनुष्य देखकर समझ नहीं सकता; ये भेद विशेषज्ञोंके सामने ही प्रकट होते हैं, तथा वे ही इन्हें समझ सकते हैं । हीरा, पन्ना, नीलम आदि पत्थरोंके भेदको सब मनुष्य नहीं पहचान सकते; कोई प्रवीण जौहरी ही इनके भीतरी भेदको पहचान सकता है, तथा भेदानुकूल मूल्य बतला सकता है । इसी प्रकार सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा प्रभृति विभिन्न धातुओंके भस्मके भेदको प्रत्येक व्यक्ति नहीं समझ सकता; अत्यन्त प्रवीण वैद्यराज ही इनके भेदको जान सकते हैं । मनुष्योंमें भी बाह्य भेद नहीं होता, बाह्यरूपमें ब्राह्मण और शूद्र दोनोंके शरीर पाञ्चभौतिक उपादानोंसे बने होते हैं । परन्तु मनुष्योंमें आभ्यन्तर भेद होते हैं, और उन्हें साधारण मनुष्य नहीं समझ सकते । तपस्या, वेदज्ञान और जन्म—इन तीनोंके संयोगसे अथवा गुण, कर्म और जन्मके कारण जो श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं, वे कहीं केवल दर्शनमात्रसे, कहीं बातचीतके द्वारा तथा कहीं व्यवहारसे उपर्युक्त भेदको समझ सकते हैं । जैसे महर्षि गौतमने सत्यकामको ब्राह्मणरूपमें पहचान लिया था । कीड़ा काटनेकी घटनासे श्रीपरशुरामजीने कर्णको क्षत्रिय जाना था । श्रीरामचन्द्रजीने तपस्या करते हुए शम्बूकको शूद्ररूपमें पहचाना था; भीलके वेषमें भीलका-सा आचरण करनेवाले रत्नाकरको देवर्षि नारदजी ब्राह्मणके रूपमें पहचान सके थे । इस प्रकारके अनेकों दृष्टान्त प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें पाये जाते हैं ।

भविष्यपुराणमें ब्राह्मखण्डके ४०वेंसे ४२वें अध्यायतक वर्णित शतानीक-सुमन्तुसंवादके पढ़नेसे पता लगता है कि युक्ति और दृष्टान्तके द्वारा सर्वज्ञ ब्रह्माजीने जिज्ञासु ऋषियोंके 'जाति'विषयक सारे संशयोंको दूर कर दिया था । उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि यदि बाह्य भेदके अनुसार ही जाति मानी जाय तो विद्या, देह, आत्मा, संस्कार और कर्म—इनमेंसे किसीके भी द्वारा 'ब्राह्मणत्व' उत्पन्न नहीं हो सकता, अर्थात् इनमेंसे किसीमें भी

ब्राह्मणत्व नहीं है। तब ऋषियोंने पूछा—हे भगवन्! फिर ब्राह्मणत्व किस आधारपर स्थित है? सर्वज्ञ ब्रह्माजी बोले—

> इदं शृणु मयाऽऽख्यातं तर्कपूर्वमिदं वचः।
> युष्माकं संशये जाते कृते वै जातिकर्मणोः॥
> पुनर्वच्मि निबोधध्वं समासाच्च तु विस्तरात्।
> संसिद्धिं यान्ति मनुजा जातिकर्मसमुच्चयात्॥
> सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैवकर्मसमुच्चयात्।
> एवं संसिद्धिमायाति पुरुषो जातिकर्मणोः॥
> इत्येवमुक्तवान् पूर्वं शिष्याणां बोधने पुरा।
> योगीश्वरो महातेजाः समासाच्च तु विस्तरात्॥
>
> (भविष्यपुराण ब्राह्मखण्ड ४५ अध्याय)

इसका भावार्थ यह है कि 'हे ऋषियो! जाति और

---

१. 'वेद' साधारण बुद्धिके लिये उपयोगमें आनेयोग्य विशद रूपमें (amplified) होकर सरल (simplified) होकर, तथा तरल भावमें (diluted) आकर अपनेको पुराणरूपमें परिणत करके 'पुराण' नामको प्राप्त हुए हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—इस श्रुतिवाक्यके अनुसार शाश्वतधर्मगोप्ता 'पुराणपुरुष' को विस्तारपूर्वक—'अणोरणीयान् महतो महीयान्' रूपमें—जानकर तथा वर्णन करके 'पुराणपुरुष' होनेके कारण जो 'पुराण' नामसे पुकारे गये हैं; 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।' इस मन्त्रमें बृहदारण्यक श्रुति (२। १०) ने जिस 'पुराण' को अपौरुषेय ब्राह्मण-वेदके (इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्या और अनुव्याख्या—इन आठ भागोंमें वेदका ब्राह्मणभाग विभक्त है) रूपमें उल्लेख किया है, उस पुराणको अर्वाचीन आधुनिक शास्त्र समझकर उसकी अवज्ञा करना कैसी अर्वाचीनता और धृष्टता है—यह वेदशास्त्रनिष्ठ सदाचार-परायण मनीषिगणके लिये विचारणीय है।

'ऋषिर्दर्शनात्' (निरुक्त, नैघण्टुककाण्ड) दर्शनार्थक 'ऋष्' धातुसे 'ऋषि' पद निष्पन्न हुआ है। जो समस्त सूक्ष्म अर्थोंको देखते हैं अर्थात् जो सनातन मन्त्रद्रष्टा हैं, जो अतीन्द्रिय पदार्थोंके द्रष्टा हैं, वे ही ऋषि हैं। ('ऋषिर्दर्शनात्'—पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मानर्थान्। दुर्गाचार्यकृत निरुक्तव्याख्या।) ऋग्वेदभाष्यमें पूज्यपाद सायणाचार्यने 'ऋषि' शब्दकी निम्नलिखित व्याख्या की है—

'वेदप्राप्त्यर्थं तपोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयम्भूर्वेदपुरुषः प्रादुर्बभूव। तथा च श्रूयते—'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वमिति।' (ऋग्वेदसंहिताके प्रथम मन्त्रकी भाष्यभूमिका)

इसका तात्पर्य यह है कि वेद-प्राप्तिके लिये जिन्होंने तपस्या की थी, वेदपुरुष स्वयम्भू उनके सामने साक्षात् प्रकट हुए थे। तैत्तिरीय आरण्यक-श्रुतिमें भी कहा गया है कि 'अजगणने (कल्पके आदिमें ब्राह्मणोंकी—ऋषियोंकी सृष्टि होती है, साधारण मनुष्योंके समान कल्पके बीचमें वे बारंबार जन्म ग्रहण नहीं करते; इसी कारण ऋषियोंको 'अज' अर्थात् जो जन्म ग्रहण नहीं करते, कहा गया है।) स्वभावतः शुद्ध—निर्मल होनेपर भी पुनः तप किया। ऋषियोंके तपसे सन्तुष्ट होकर ब्रह्मने (जगत्के कारण स्वतःसिद्ध परब्रह्म वस्तुने) कोई शरीर धारण करके—सत्यसङ्कल्प परमेश्वर अपनी शक्तिके द्वारा सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रकारके रूप धारण कर सकते हैं। वेदमें यह बात बहुत स्थानोंमें कही गयी है—

> 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।' (ऋग्वेदसंहिता ३। ३। २०। १)
> 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥' (कठोपनिषद् २। २। ९)

—तपस्यामें लगे हुए ऋषियोंको अनुगृहीत करनेके लिये उनके सामने आकर प्रत्यक्ष दर्शन दिये। 'ऋष्' धातुका अर्थ है दर्शन। 'ऋषियोंने ब्रह्मके दर्शन किये थे, इसी कारण (ऋष् धातुके अनुसार) ऋषियोंका 'ऋषि' नाम हुआ है।'

(तैत्तिरीय-आरण्यक-भाष्य)

वेदभाष्यकार सायणाचार्यने और भी कहा है—

'तथातीन्द्रियस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनाद् ऋषित्वमिति अभिप्रेत्य स्मर्यते……।' अर्थात् इन्होंने परमेश्वरके प्रसादसे अतीन्द्रिय वेदके प्रथम दर्शन किये थे, इसी कारण इनका नाम 'ऋषि' है। यही बात स्मृतियोंमें भी पायी जाती है।

भगवान् यास्कने निरुक्तके प्रथमाध्यायमें कहा है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः।' (निरुक्त।)

जिनको धर्मका साक्षात्कार हुआ है—जिन्होंने विशिष्ट तपस्याके द्वारा धर्मको प्रत्यक्ष देखा है—जो मन्त्रद्रष्टा हैं, अर्थसहित मन्त्रसे युक्त हैं, अमुक रीतिसे अनुष्ठित अमुक कर्मका अमुक फल होता है—जो इस बातको जानते हैं, तथा जो लोग अनुग्रह-

कर्मके सम्बन्धमें आप लोगोंको जो संशय उत्पन्न हुआ था उसका युक्तिपूर्वक विवेचन मैंने किया है, आप लोगोंने भी उसे सुना है। अब मैं पुनः संक्षेपमें (विस्तारपूर्वक नहीं) इस विषयमें कुछ कहता हूँ। मनुष्य जन्म और कर्म—इन दोनोंके द्वारा ही उत्तम सिद्धि लाभ कर सकता है। जिस जन्म और कर्मके द्वारा मनुष्यको उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है, उसी जन्म और कर्मके समुच्चयको 'जाति' का आधार मानना होगा। इस प्रकार जन्म और कर्म—इन दोनोंके द्वारा जाति माननेपर मनुष्यका कल्याण होता है।' पूर्वकालमें शिष्योंके ज्ञानके निमित्त महातेजा योगीश्वर ब्रह्मदेवने संक्षेपमें यह उत्तर दिया था।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जन्म और कर्म—इन दोनोंमें

पूर्वक अन्य लोगोंको, अर्थात् उन लोगोंको जिन्होंने धर्मका साक्षात्कार नहीं किया है, उपदेशके द्वारा सब मन्त्रोंको प्रदान करते हैं, उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है।' ऋषियोंको किस कारण 'ऋषि' कहा गया है, वे लोग किस प्रकार ऋषित्वको प्राप्त हुए हैं—इस बातको प्रमाणित करनेके लिये भगवान् यास्कने निरुक्तमें यह ब्राह्मण-वचन उद्धृत किया है। (मन्त्र और ब्राह्मण, वेदके दो भाग हैं; मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका नाम वेद है—मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।)—'तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणाम् ऋषित्वमिति विज्ञायते।' इस ब्राह्मण-वाक्यकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'यद् यस्माद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म ऋग्यजुःसामाख्यं स्वयम्भु अकृतकम् अभ्यानर्षत् अभ्यागच्छत् आविर्भूतमित्यर्थः। अनधीतमेव तत्त्वतो ददृशुः तपोविशेषेण। तदृषीणामृषित्वम् इत्येवं ब्राह्मणेऽपि 'वि' विचार्यमाणे ज्ञायते।' (निरुक्तव्याख्या)

इसका तात्पर्य है—'क्योंकि ब्रह्मके (ऋग्वेदादि वेदत्रयके) विशिष्ट तपःसाधनमें तत्पर, सम्यक् रूपसे वेद-तत्त्वकी पर्यालोचनामें निरत इनके हृदयमें ब्रह्म (वेद) का स्वयं आविर्भाव हुआ था; क्योंकि इन्होंने बिना अध्ययनके ही तत्त्वतः ब्रह्म या वेदका दर्शन किया था। इसी कारण इन लोगोंको 'ऋषि' नाम प्राप्त हुआ है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधारणतः जाने-समझे हुए जिन उपायोंका आश्रय लिया जाता है, उनके बिना ही वेदका सम्यक् तत्त्व भलीभाँति दृष्टिगोचर हो जाना वस्तुतः 'ऋषित्व' है।'

वाक्यपदीय १। ३१ में कहा गया है—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते। ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्॥

इस श्लोककी टीकामें कहा गया है कि 'आगमोक्तधर्मसंस्कृतानामेव ऋषित्वेन तज्ज्ञानस्याप्यागमपूर्वकत्वात्।' इसका भावार्थ यह है कि आगमके बिना केवल तर्कके द्वारा धर्माधर्मका निश्चय नहीं होता। जो ऋषि हैं, वे ही मन्त्रद्रष्टा हैं; उन्होंने ही धर्मका साक्षात्कार किया है। उनका ज्ञान आगममूलक अर्थात् वेदमूलक है। वेदोक्त धर्मानुष्ठानके द्वारा जिनका हृदय संस्कृत हो गया है, वे ही पुरुष 'ऋषित्व' लाभ करते हैं; वेदोक्त धर्मानुष्ठान ही ऋषित्वकी प्राप्तिमें हेतु है।'

'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।' (ब्रह्मसूत्र १। ३। ३३)

इस सूत्रके भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—'ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्।' अर्थात् मन्त्र-ब्राह्मणद्रष्टा ऋषियोंकी सामर्थ्यकी तुलना हमारी सामर्थ्यसे करना उचित नहीं। तथा ऋषिगण ही जब इतिहास-पुराणादिके प्रवक्ता हैं, तो मानना ही पड़ेगा कि इतिहास और पुराणादि भी समूल अर्थात् वेदमूलक हैं।'

वात्स्यायन मुनिने भी 'पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः' इस न्यायसूत्रके भाष्यमें कहा है—'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्नितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति। तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति।…य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति।' इसका भावार्थ यह है कि 'वेदके प्रमाणके द्वारा ही इतिहास-पुराणादिका प्रामाण्य प्रमाणित होता है, यह ज्ञात होता है। (छान्दोग्य० ७। १। ४) तथा (बृहदारण्यक० २। ४। १०) श्रुतिने इतिहास-पुराणका उल्लेख करके इतिहास-पुराणको पञ्चम वेद स्वीकार किया है। जो लोग मन्त्र और ब्राह्मणभागसे युक्त वेदके द्रष्टा और प्रवक्ता हैं, वे ही लोग इतिहास-पुराणके द्रष्टा और प्रवक्ता हैं।'

वेदका तथा इन सब महापुरुषोंका यह सिद्धान्त होनेपर भी जो लोग इतिहास-पुराणके प्रामाण्यको स्वीकार नहीं करते, परन्तु अपनेको सनातनी अथवा वेदका अनुयायी बतलाते हैं, उनके लिये प्रतिदिन भगवान्से उनकी बुद्धिकी निर्मलताके लिये प्रार्थना करनेके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं है। जो लोग जातिभेद नहीं मानते तथा इसे उठा देना चाहते हैं, उनकी बात ही दूसरी है। इस लेखमें उनको लक्ष्य करके कोई आलोचना नहीं करनी है। वेदोक्त ऋषित्व अथवा ऋषिप्रोक्त शास्त्रोपदेशको लौकिक युक्तिसे

जातिको उत्पन्न करनेमें मुख्यता किसकी है ? इस प्रश्नका समाधान १८४ वें अध्यायमें इस प्रकार किया गया है—

> एवमेतन्न सन्देहो यथा वदसि खेचर।
> ममाप्यभिमतं वीर ब्राह्मणं न परीक्षयेत् ॥३७॥
> सर्वदेवमयं विप्रं सर्वलोकमयं तथा।
> तस्मात् सम्पूजयेदेनं न गुणांस्तस्य चिन्तयेत् ॥३८॥
> केवलं चिन्तयेज्जातिं न गुणान् विनतात्मज।
> तस्मादामन्त्रयेत् पूर्वमासन्नं ब्राह्मणं बुधः ॥३९॥
> यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादृते।
> दूरस्थान् पूजयेन्मूढो गुणाढ्यान् नरकं व्रजेत् ॥४०॥
>
> (भविष्यपुराण, ब्राह्मखण्ड)

हे गरुड़ ! तुम जो कुछ कहते हो, उसमें कोई सन्देह नहीं। मेरा भी सिद्धान्त यही है कि ब्राह्मण वेदवेत्ता है या वेद-ज्ञान-शून्य, इस प्रकारकी परीक्षा करना उचित नहीं है। ब्राह्मण सर्वदेवमय है, अर्थात् समस्त देवता ब्राह्मणके शरीरमें रहते हैं; केवल यही नहीं, ब्राह्मण सर्वलोकमय है। अतएव ब्राह्मणकी सेवा (पूजा) करना कर्तव्य है; उसमें विद्यादि गुण हैं या नहीं, इसका विचार करना ठीक नहीं। हे विनतानन्दन ! इस कारणसे ब्राह्मणके विषयमें केवल जातिका ही विचार करना चाहिये। अर्थात् केवल यही देखना ठीक है कि उसने ब्राह्मण-कुलमें जन्म ग्रहण किया है या नहीं—वह ब्राह्मणके वीर्यसे तथा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुआ है या नहीं। ब्राह्मण गुणवान् है या गुणहीन, यह विचार करना उचित नहीं। अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति ब्राह्मण-भोजन करानेके समय सबसे निकटवर्ती ब्राह्मणको ही निमन्त्रित करे। जातिसे च्युत ब्राह्मणको छोड़कर सबसे निकटके ब्राह्मणको ही भोजनार्थ निमन्त्रित करना उचित है। ऐसा न करके जो आदमी दूरदेशस्थ गुणयुक्त ब्राह्मणको निमन्त्रित करके पूजा करता है, वह नरकमें जाता है।

भविष्यमहापुराणसे यही सिद्ध होता है कि जाति जन्मगत है, जाति जन्म और गुण—इन दोनोंमें नहीं है; गुण तो जातिका केवल गौण अङ्ग है।

यदि बाह्य भेदके अनुसार ब्राह्मणादि जातियोंके निर्णयकी चेष्टा की जाय तो आत्मा, संस्कार, विद्या, देह, कर्म—इनमेंसे एकके भी द्वारा ब्राह्मणादि जातियोंकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि कर्म आदि, जिनका जातित्वके आधारके रूपमें अनुमान किया जाता है, बाह्य भेद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं। कहा गया है—

> जीवोऽपि ब्राह्मणः प्रोक्तो वैरतत्त्वज्ञमानवैः।
> प्रभ्रष्टब्राह्मणत्वात् ते जायन्ते विप्रसङ्गतः॥
>
> (भविष्यपुराण, ब्राह्मखण्ड ४० । २२)

तत्त्वज्ञानहीन मनुष्य जो जीवको (आत्माको) ब्राह्मण कहता है, वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह आत्मा ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट होकर देहत्यागके अनन्तर ब्राह्मणसे अतिरिक्त शूकर आदि योनिको भी प्राप्त होता है। अतएव कोई भी विचारशील मनुष्य आत्मामें ब्राह्मणत्व अर्थात् जातित्वका आरोप नहीं कर सकता।

यदि कोई कहे कि—

> गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः।
> तपसा ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तेन कारणम्॥
>
> (४१ । २९)

महामुनि वसिष्ठदेव (किसी कल्पमें) गणिकाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे, किन्तु तपस्याके प्रभावसे (दूसरे जन्ममें) ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए। अतएव ब्राह्मणादि जातिमें जन्म-ग्रहण ही जातित्वका कारण नहीं है, बल्कि संस्कार ही जातित्वका कारण है।

इसके उत्तरमें कहा गया है—

> संस्कारतः सातिशयो यदि स्यात्
> सर्वस्य पुंसोऽस्त्यतिसंस्कृतस्य।
> यः संस्कृतो विप्रगणप्रधानो
> व्यासादिकैस्तेन न तस्य साम्यम्॥
>
> (४१ । ३०)

यदि संस्कारके प्रभावसे ही श्रेष्ठता प्राप्त होती तो संस्कार-

न समझ सकनेके कारण जो अपनी प्रतिभाके दोषसे ऋषिवाक्योंका विपरीत अर्थ करते हैं; ऋषिवाक्योंको यथार्थ रूपमें समझनेके लिये मन, वाणी और शरीरके मलोंको धोकर संयत और शान्त होकर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' प्राप्त करनेके लिये दृढप्रयत्न होना अत्यन्त आवश्यक है, इसे जो स्वीकार नहीं करते; 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।' 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।'—इन दोनों श्रुतियोंके तात्पर्यको जो नहीं समझ सके हैं, उनको लक्ष्य करके इस लेखमें कोई आलोचना नहीं की गयी है।

प्राप्त सभी मनुष्य श्रेष्ठ हो जाते। परन्तु ऐसी बात नहीं है। संस्कारसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, क्या वे उन संस्कारोंके कारण व्यासादिकी समताकर सकते हैं, जिनके कोई संस्कार नहीं हुए ? अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि संस्कार ब्राह्मणत्व (जातित्व) का कारण नहीं है।

वेदाध्ययनमप्येतद् ब्राह्मण्यं प्रतिपद्यते।
विप्रवद् वैश्यराजानौ राक्षसा रावणादयः॥
(४१।१)

यदि वेदाध्ययन ब्राह्मणत्वका कारण होता तो वेदपाठी क्षत्रिय या वैश्य अथवा रावण आदि राक्षस भी ब्राह्मणके नामसे पुकारे जाते। वाल्मीकिरामायणमें लिखा है—

अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे।

—राक्षसोंके घर-घरमें वेदपाठ और अग्निहोत्र होता था। तथापि रावण आदिने ब्राह्मणत्वको क्यों नहीं प्राप्त किया ? वेदवेत्ता जनक, भीष्म प्रभृतिकी अथवा वेदनिष्णात वैश्योंकी ब्राह्मणकोटिमें उन्नति क्यों नहीं हुई ! अतएव वेदाध्ययन ब्राह्मणत्वका कारण नहीं है।

कहा गया है—

न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पवर्णाः।
न चेह वैश्याः हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गारसमानवर्णाः॥
(४१।४१)

ब्राह्मण चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद रंगके नहीं हैं तथा क्षत्रिय किंशुक पुष्पके समान लाल नहीं हैं, वैश्य हरितालके सदृश पीले नहीं हैं तथा शूद्र कोयलेके-जैसे काले नहीं हैं !

मूर्तिमत्त्वाच्च नाशित्वं नाशित्वाच्छेषभूतवत्।
देहाधारे निविष्टानां ब्राह्मण्यं न प्रकल्पयेत्॥
(४१।५१)

देह मूर्तिमान् है, अतएव नाशवान् है; क्योंकि 'यत्र यत्र मूर्तिमत्त्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्।' नाशवान् शरीर केवल पञ्चमहाभूतोंकी समष्टि है। पञ्चमहाभूतोंकी समष्टि देहमें प्रविष्ट आत्मा देहानुसार ब्राह्मण्यादि लाभ नहीं कर सकता, क्योंकि देहमात्र ही पञ्चभूतमय है।

बहुवनस्पतिशङ्खपिपीलिकाभ्रमरवारणजातिमुदाहरन्।
गतिषु कर्ममितो नटवत् सदा भ्रमति जन्तुरलब्धसुदर्शनः॥
(४२।९)

कर्मानुसार जीव वनस्पति, शङ्ख, चींटी, भ्रमर, हाथी प्रभृति अनेकों जातियोंमें जन्म ग्रहण करके अनेकों प्रकारके कर्म करता है; परन्तु इससे उसे भगवद्दर्शन नहीं हो सकता। अतएव कर्म भी श्रेष्ठताका (ब्राह्मणत्वका) कारण नहीं हो सकता।

भगवान् मनु कहते हैं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥
सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्तएव ते॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार ही वर्ण हैं, पाँचवाँ वर्ण या जाति नहीं है। इनमेंसे पहले तीन द्विजाति हैं, अर्थात् उपनयन संस्कारसे उत्पन्न द्वितीय जन्मके अधिकारी हैं। अगले श्लोकमें ब्राह्मणादिके निर्णयका विधान बतला रहे हैं—सभी वर्णोंके लिये, अक्षतयोनि पत्नीसे अनुलोम-क्रमसे उत्पन्न मनुष्योंको उस-उस जातिमें समझना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण ब्राह्मणकन्यासे विवाह करके, क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्यासे, वैश्य वैश्यकन्यासे तथा शूद्र शूद्रकन्यासे विवाह करके अपनी-अपनी पत्नीसे जो सन्तान उत्पन्न करते हैं, वह सन्तान उन उत्पन्न करनेवाले माता-पिताकी जातिको प्राप्त होती है। यहाँ भगवान् मनुने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जाति जन्मगत है। समस्त स्मृतिशास्त्र इसी सिद्धान्तको मानते हैं। किसी भी स्मृतिमें अथवा वेदानुकूल पुराण, इतिहास, तन्त्रादि शास्त्रोंमें गुणमूलक जातिवादका प्रमाण नहीं है। सर्वत्र ही कहा गया है कि स्वजातिकी पत्नीसे स्वजातिके पुरुषद्वारा उत्पन्न सन्तान ही स्वजातिको ग्रहण करती है। मनुसंहिताके भाष्यकार मेधातिथिने सत्यकाम जाबालिके उपाख्यानके प्रसङ्गसे प्रमाणित किया है कि जाति गुणमूलक नहीं, बल्कि जन्ममूलक है। (क्रमशः)

व्रत-परिचय

(लेखक–पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[गतांकसे आगे]

(८)

(कार्तिकके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) कार्तिकस्नान (हेमाद्रि)–धर्म-कर्मादिकी साधनाके लिये स्नान करनेकी सदैव आवश्यकता होती है। इसके सिवा आरोग्यकी अभिवृद्धि और उसकी रक्षाके लिये भी नित्य स्नानसे कल्याण होता है। विशेषकर माघ, वैशाख और कार्तिकका नित्य स्नान अधिक महत्त्वका है। मदन-पारिजातमें लिखा है कि—'कार्तिकं सकलं मासं नित्यस्नायी जितेन्द्रियः। जपन् हविष्यभुक्छान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥' कार्तिक मासमें जितेन्द्रिय रहकर नित्य स्नान करे और हविष्य (जौ, गेहूँ, मूँग तथा दूध-दही और घी आदि) का एक बार भोजन करे तो सब पाप दूर हो जाते हैं। इस व्रतको आश्विनकी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके ३१वें दिन कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको समाप्त करे। इसमें स्नानके लिये घरके बर्तनोंकी अपेक्षा कूँआ, बावड़ी या तालाब आदि अच्छे होते हैं और कूपादिकी अपेक्षा कुरुक्षेत्रादि तीर्थ, अयोध्या आदि पुरियाँ और काशीकी पाँचों नदियाँ एक-से-एक अधिक उत्तम हैं। ध्यान रहे कि स्नानके समय जलाशयमें प्रवेश करनेके पहले हाथ, पाँव और मैल अलग धो लेवें। आचमन करके चोटी बाँध लें और जल-कुशसे संकल्प करके स्नान करें। संकल्पमें कुशा लेनेके लिये अङ्गिराने लिखा है कि 'विना दर्भैश्च यत् स्नानं यच्च दानं विनोदकम्। असंख्यातञ्च यज्जप्तं तत् सर्वं निष्फलं भवेत् ॥' स्नानमें कुशा, दानमें संकल्पका जल और जपमें संख्या न हो तो ये सब फलदायक नहीं होते।......यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि धर्मप्राण भारतके बड़े-बड़े नगरों, शहरों या गाँवोंमें ही नहीं, छोटे-छोटे टोलेतकमें भी अनेक नर-नारी (विशेषकर स्त्रियाँ) बड़े सबेरे उठकर कार्तिक-स्नान करती, भगवान्‌के भजन गाती और एकभुक्त, एकग्रास, ग्रास-वृद्धि, नक्तव्रत या निराहारादि व्रत करती हैं और रात्रिके समय देवमन्दिरों, चौराहों, गलियों, तुलसीके बिरवों, पीपलके वृक्षों और लोकोपयोगी स्थानोंमें दीपक जलाती और लंबे बाँसमें लालटेन बाँधकर किसी ऊँचे स्थानमें 'आकाशी दीपक' प्रकाशित करती हैं।

(२) करकचतुर्थी (करवाचौथ) (वामनपुराण)–यह व्रत कार्तिक कृष्णकी चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थीको किया जाता है। यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी हो या दोनों ही दिन न हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते' के अनुसार पूर्वविद्धा लेना चाहिये। इस व्रतमें शिव-शिवा, स्वामिकार्तिक और चन्द्रमाका पूजन करना चाहिये और नैवेद्यमें (काली मिट्टीके कच्चे करवेमें चीनीकी चासनी ढालकर बनाये हुए) करवे या घीमें सेंके हुए और खाँड मिले हुए आटेके लड्डू अर्पण करने चाहिये। इस व्रतको विशेषकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ अथवा उसी वर्षमें विवाही हुई लड़कियाँ करती हैं और नैवेद्यके १३ करवे या लड्डू और १ लोटा, १ वस्त्र और १ विशेष करवा पतिके माता-पिताको देती हैं।......व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि नित्य कर्म करके 'मम सुखसौभाग्यपुत्रपौत्रादिसुस्थिरश्रीप्राप्तये करकचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करके बालू (सफेद मिट्टी) की वेदीपर पीपलका वृक्ष लिखे और उसके नीचे शिव-शिवा और षण्मुखकी मूर्ति अथवा चित्र स्थापन करके 'नमः शिवायै शर्वाण्यै सौभाग्यं सन्ततिं शुभाम्। प्रयच्छ भक्तियुक्तानां नारीणां हरवल्लभे ॥' से शिवा (पार्वती) का षोडशोपचार पूजन करे और 'नमः शिवाय' से शिव तथा 'षण्मुखाय नमः' से स्वामि-कार्तिकका पूजन करके नैवेद्यका पक्वान्न (करवे) और दक्षिणा ब्राह्मणको देकर चन्द्रमाको अर्घ्य दे और फिर भोजन करे। इसकी कथाका सार यह है कि–'शाकप्रस्थपुरके वेदधर्मा ब्राह्मणकी विवाहिता पुत्री वीरवतीने करक-चतुर्थीका व्रत किया था। नियम यह था कि चन्द्रोदयके बाद भोजन करे। परन्तु उससे भूख नहीं सही गयी और वह व्याकुल हो गयी। तब उसके भाईने पीपलकी आड़में महताब (आतिशबाजी) आदिका सुन्दर प्रकाश फैलाकर चन्द्रोदय दिखा

दिया और वीरवतीको भोजन करवा दिया। परिणाम यह हुआ कि उसका पति तत्काल अलक्षित हो गया और वीरवतीने बारह महीनेतक प्रत्येक चतुर्थीका व्रत किया तब पुनः प्राप्त हुआ।

(३) **दशरथपूजा** (संवत्सरप्रदीप)—कार्तिक कृष्ण चतुर्थीको दशरथजीका पूजन करे और उनके समीपमें दुर्गाका पूजन करे तो सब प्रकारके सुख उपलब्ध होते हैं।

(४) **दम्पत्यष्टमी** (हेमाद्रि)—पुत्रकी कामनावाले स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि वे कार्तिक कृष्णाष्टमीको डाभकी पार्वती और शिव बनाकर उनका स्नान, गन्ध, अक्षत, पुष्प और नैवेद्यसे पूजन करें और उनके समीपमें ब्राह्मणका पूजन करके उसे दक्षिणा दें ऐसा करनेसे पुत्रकी प्राप्ति होती है। इस व्रतमें चन्द्रोदयव्यापिनी तिथि लेनी चाहिये। यदि वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो दूसरे दिन व्रत करना चाहिये।

(५) **कृष्ण एकादशी** (ब्रह्मवैवर्त)—कार्तिक कृष्णकी एकादशीका नाम 'रमा' है। इसका व्रत करनेसे सब पापोंका क्षय होता है। इसकी कथाका सार यह है कि— 'प्राचीन कालमें मुचुकुन्द नामका राजा बड़ा धर्मात्मा था। उसके इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर और बिभीषण-जैसे मित्र और चन्द्रभागा-जैसी पुत्री थी। उसका विवाह दूसरे राज्यके शोभनके साथ हुआ था। विवाहके बाद वह ससुराल गयी तो उसने देखा कि वहाँका राजा एकादशीका व्रत करवानेके लिये ढोल बजवाकर ढिंढोरा पिटवाता है और उससे उसका पति सूखता है। यह देखकर चन्द्रभागाने अपने पतिको समझाया कि इसमें कौन-सी बड़ी बात है। हमारे यहाँ तो हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, बकरी और भेड़तकको एकादशी करनी पड़ती है और एतन्निमित्त उस दिन उनको चारा-दानातक नहीं दिया जाता। यह सुनकर शोभनने व्रत कर लिया।'

(६) **गोवत्सद्वादशी** (मदनरत्नान्तर्गत भविष्योत्तरपुराण)—यह व्रत कार्तिक कृष्ण द्वादशीको किया जाता है। इसमें प्रदोषव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो 'वत्सपूजा वटश्चैव कर्तव्यौ प्रथमेऽहनि' के अनुसार पहले दिन व्रत करना चाहिये। उस दिन सायंकालके समय गायें चरकर वापस आयें तब तुल्य वर्णकी गौ और बछड़ेका गन्धादिसे पूजन करके 'क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते। सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' से उसके (आगेके) चरणोंमें अर्घ्य दे और 'सर्वदेवमये देवि सर्वदेवैरलङ्कृते। मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥' से प्रार्थना करे। इस बातका स्मरण रक्खे कि उस दिनके भोजनके पदार्थोंमें गायका दूध, दही, घी, छाछ और खीर तथा तेलके पके हुए भुजिया पकौड़ी या अन्य कोई पदार्थ न हों।

(७) **नीराजनद्वादशी** (भविष्योत्तर)—कार्तिक कृष्ण द्वादशीको प्रातःस्नानसे निवृत्त होकर काँसे आदिके उज्ज्वल पात्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जलका पात्र रखकर देवता, ब्राह्मण, गुरुजन (बड़े-बूढ़े), माता और घोड़े आदिका नीराजन (आरती) करे तो अक्षय फल होता है। यह नीराजन पाँच दिनतक किया जाता है।

(८) **यम-दीपदान** (स्कन्दपुराण)—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको सायङ्कालके समय किसी पात्रमें मिट्टीके दीपक रखकर उन्हें तिलोंके तेलसे पूर्ण करे। उनमें नवीन रूईकी बत्ती रक्खे और उनको प्रकाशित करके गन्धादिसे पूजन करे। फिर दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके 'मृत्युना दण्डपाशाभ्यां कालेन श्यामया सह। त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतां मम॥' से दीपोंका दान करे तो उससे यमराज प्रसन्न होते हैं। यह त्रयोदशी प्रदोषव्यापिनी शुभ होती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो दूसरे दिन करे।

(९) **धनत्रयोदशी** (व्रतोत्सव)—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको सायङ्कालके समय एक दीपकको तेलसे भरकर प्रज्वलित करे और गन्धादिसे पूजन करके अपने मकानके द्वारदेशमें अन्नकी ढेरीपर रक्खे। स्मरण रहे वह दीप रातभर जलते रहना चाहिये, बुझना नहीं चाहिये।

(१०) **गोत्रिरात्र** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीसे दीपावलीके दिनतक किया जाता है। इसमें उदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो पहले दिन व्रत करे। इस व्रतके लिये गोशाला या गायोंके आने-जानेके मार्गमें आठ हाथ लंबी और चार हाथ चौड़ी वेदी बनाकर उसपर सर्वतोभद्र लिखे और उसके ऊपर छत्रके आकारका वृक्ष बनाकर उसमें विविध प्रकारके फल, पुष्प और पक्षी बनाये। वृक्षके नीचे मण्डलके मध्य भागमें गोवर्द्धन भगवान्की; उनके वाम भागमें रुक्मिणी, मित्रविन्दा, शैब्या और जाम्बवतीकी; दक्षिण भागमें सत्यभामा, लक्ष्मणा, सुदेवा और नाग्नजितीकी; उनके अग्र भागमें नन्दबाबा, पृष्ठ भागमें बलभद्र और यशोदा और कृष्णके सामने सुरभी,

सुनन्दा, सुभद्रा और कामधेनु गौ—इनकी सुवर्णमयी सोलह मूर्तियाँ स्थापित करे। और उन सबका नाममन्त्र (यथा—गोवर्द्धनाय नमः आदि) से पूजन करके 'गवामाधार गोविन्द रुक्मिणीवल्लभ प्रभो। गोपगोपीसमोपेत गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥' से भगवान्‌को और 'रुद्राणां चैव या माता वसूनां दुहिता च या। आदित्यानां च भगिनी सा नः शान्तिं प्रयच्छतु॥' से गौको अर्घ्य दे। और 'सुरभी वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता। प्रतिगृह्णातु मे ग्रासं सुरभी मे प्रसीदतु॥' से गौको ग्रास दे। इस प्रकार विविध भाँतिके फल, पुष्प, पक्वान्न और रसादिसे पूजन करके बाँसके पात्रोंमें सप्तधान्य और सात मिठाई भरकर सौभाग्यवती स्त्रियोंको दे। इस प्रकार तीन दिन व्रत करे और चौथे दिन प्रातःस्नानादि करके गायत्रीके मन्त्रसे तिलोंकी १०८ आहुति देकर व्रतका विसर्जन करे तो इससे सुत, सुख और सम्पत्तिका लाभ होता है।

(११) **रूपचतुर्दशी** (बहुसम्मत)—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तमें—जिस दिन चन्द्रोदयके समय चतुर्दशी हो उस दिन प्रभात समयमें दन्तधावन आदि करके 'यमलोकदर्शनाभावकामोऽहमभ्यङ्गस्नानं करिष्ये।' यह संकल्प करे और शरीरमें तिलोंके तेल आदिका उबटन या मर्दन करके हलसे उखड़ी हुई मिट्टीका ढेला, तुंबी और अपामार्ग (ऊँगा)—इनको मस्तकके ऊपर बार-बार घुमाकर शुद्ध स्नान करे। यद्यपि कार्तिकस्नान करनेवालोंके लिये 'तैलाभ्यङ्गं तथा शय्यां परान्नं कांस्यभोजनम्। कार्तिके वर्जयेद्यस्तु परिपूर्णव्रती भवेत्॥' के अनुसार तैलाभ्यङ्ग वर्जित किया है, किन्तु 'नरकस्य चतुर्दश्यां तैलाभ्यङ्गं च कारयेत्। अन्यत्र कार्तिकस्नायी तैलाभ्यङ्गं विवर्जयेत्॥' के आदेशसे नरकचतुर्दशी (या रूपचतुर्दशी) को तैलाभ्यङ्ग करनेमें कोई दोष नहीं। यदि रूपचतुर्दशी दो दिनतक चन्द्रोदयव्यापिनी हो तो चतुर्दशीके चौथे प्रहरमें स्नान करना चाहिये। इस व्रतको चार दिनतक करे तो सुख-सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(१२) **हनुमज्जन्म-महोत्सव** (व्रतरत्नाकर)—'आश्विनस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि। भौमवारेऽञ्जनादेवी हनुमन्तमजीजनत्॥' अमान्त आश्विन (कार्तिक) कृष्ण चतुर्दशी भौमवारकी महानिशा (अर्धरात्रि) में अञ्जनादेवीके उदरसे हनूमान्‌जीका जन्म हुआ था। अतः हनुमत्-उपासकोंको चाहिये कि वे इस दिन प्रातःस्नानादि करके 'मम शौर्यौदार्यधैर्यादिवृद्ध्यर्थं हनुमत्प्रीतिकामनया हनुमज्जयन्तीमहोत्सवं करिष्ये' यह संकल्प करके हनुमान्‌जीका यथाविधि षोडशोपचार पूजन करे। पूजनके उपचारोंमें गन्धपूर्ण तेलमें सिन्दूर मिलाकर उससे मूर्तिको चर्चित करे। पुन्नाम (पुरुषनामके हजारा-गुलहजारा आदि) के पुष्प चढ़ाये। और नैवेद्यमें घृतपूर्ण चूरमा या घीमें सेंके हुए और शर्करा मिले हुए आटेका मोदक और केला, अमरूद आदि फल अर्पण करके वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करे। और रात्रिके समय घृतपूर्ण दीपकोंकी दीपावलीका प्रदर्शन कराये। यद्यपि अधिकांश उपासक इसी दिन हनुमज्जयन्ती मनाते हैं और व्रत करते हैं, परन्तु शास्त्रान्तरमें चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको हनुमज्जन्मका उल्लेख किया है; अतः चैत्रके व्रतोंमें इसका विशेष वर्णन मिलेगा और वहीं हनूमान्‌जीका पूजाविधान होगा।……कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको हनुमज्जयन्ती मनानेका यह कारण है कि लङ्काविजयके बाद श्रीराम अयोध्या आये। पीछे भगवान् रामचन्द्रजीने और भगवती जानकीजीने वानरादिको विदा करते समय यथायोग्य पारितोषिक दिया था। उस समय इसी दिन (का० कृ० १४ को) सीताजीने हनूमान्‌जीको पहले तो अपने गलेकी माला पहनायी (जिसमें बड़े-बड़े बहुमूल्य मोती और अनेक रत्न थे), परन्तु उसमें राम-नाम न होनेसे हनूमान्‌जी उससे सन्तुष्ट न हुए, तब सीताने अपने ललाटपर लगा हुआ सौभाग्यद्रव्य 'सिंदूर' प्रदान किया। और कहा कि 'इससे बढ़कर मेरे पास अधिक महत्त्वकी कोई वस्तु नहीं है, अतएव तुम इसको हर्षके साथ धारण करो और सदैव अजरामर रहो।' यही कारण है कि कार्तिक कृष्ण १४ को हनुमज्जन्म-महोत्सव मनाया जाता है और तैल-सिंदूर चढ़ाया जाता है।

(१३) **यम-तर्पण** (कृत्यतत्त्वार्णव)—इसी दिन (का० कृ० १४ को) सायंकालके समय दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके जल, तिल और कुश लेकर देवतीर्थसे 'यमाय धर्मराजाय मृत्यवे अनन्ताय वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने वृकोदराय चित्राय और चित्रगुप्ताय।' इनमेंसे प्रत्येक नामका 'नमः' सहित उच्चारण करके जल छोड़े। यज्ञोपवीतको कंठीकी तरह रक्खे और काले तथा सफेद दोनों प्रकारके तिलोंको काममें ले। कारण यह है कि यममें धर्मराजके रूपसे देवत्व और यमराजके रूपसे पितृत्व—ये दोनों अंश विद्यमान हैं।

(१४) **दीपदान** (कृत्यचन्द्रिका)—इसी दिन प्रदोषके

समय तिलतेलसे भरे हुए प्रज्वलित और सुपूजित चौदह दीपक लेकर 'यममार्गान्धकारनिवारणार्थे चतुर्दशदीपानां दानं करिष्ये ।' से संकल्प करके ब्रह्मा, विष्णु और महेशादिके मन्दिर, मठ, परकोटा, बाग, बगीचे, बावली, गली, कूचे, नजरनिवास (हमेशा निगाहमें आनेवाले बाग), घुड़शाला तथा अन्य सूने स्थानोंमें भी यथाविभाग दीपस्थापन करे। इस प्रकारके दीपकोंसे यमराज सन्तुष्ट होते हैं ।

(१५) **नरकचतुर्दशी** (लिङ्गपुराण)—यह भी इसी दिन होती है । इसके निमित्त चार बत्तियोंके दीपकको प्रज्वलित करके पूर्वाभिमुख होकर 'दत्तो दीपश्चतुर्दश्यां नरकप्रीतये मया । चतुर्वर्तिसमायुक्तः सर्वपापापनुत्तये ॥' इसका उच्चारण करके दान करे । इस अवसरमें (आतिशबाजी आदिकी बनी हुई) प्रज्वलित उल्का लेकर 'अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम । उज्ज्वलज्योतिषा दग्धास्ते यान्तु परमां गतिम् ॥'से उसका दान करे तो उल्का आदिसे मरे हुए मनुष्योंकी सद्गति हो जाती है ।

(१६) **कार्तिकी अमावास्या** (भविष्योत्तर)—इस दिन प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर देव, पितृ और पूज्यजनोंका अर्चन करे और दूध, दही तथा घी आदिसे श्राद्ध करके अपराह्णके समय नगर, गाँव या बस्तीके प्रायः सभी मकानोंको स्वच्छ और सुशोभित करके विविध प्रकारके गायन, वादन, नर्तन और संकीर्तन करे और प्रदोषकालमें दीपावली सजाकर मित्र, स्वजन या सम्बन्धियोंसहित आधीरातके समय सम्पूर्ण दृश्योंका निरीक्षण करे। उसके बाद रात्रिके शेष भागमें सूप (छाजला) और डिंडिम (डमरू) आदिको वेगसे बजाकर अलक्ष्मीको निकाले ।

(१७) **कौमुदी-महोत्सव** (हेमाद्रि)—उपर्युक्त प्रकारसे हृष्ट-पुष्ट और सन्तुष्ट होकर दीपक जलाने आदिसे कौमुदी-महोत्सव सम्पन्न होता है । वह्निपुराणके लेखानुसार यह व्रत कार्तिक कृष्ण एकादशीसे आरम्भ होकर अमावास्यातक किया जाता है ।

(१८) **दीपावली** (व्रतोत्सव)—लोकप्रसिद्धिमें प्रज्वलित दीपकोंकी पंक्ति लगा देनेसे 'दीपावली' और स्थान-स्थानमें मण्डल बना देनेसे 'दीपमालिका' बनती है, अतः इस रूपमें ये दोनों नाम सार्थक हो जाते हैं। इस प्रकारकी दीपावली या दीपमालिका सम्पन्न करनेसे 'कार्तिके मास्यमावास्या तस्यां दीपप्रदीपनम्। शालायां ब्राह्मणः कुर्यात् स गच्छेत् परमं पदम् ॥' के अनुसार परमपद प्राप्त होता है । ब्रह्मपुराणमें लिखा है कि 'कार्तिककी अमावास्याको अर्धरात्रिके समय लक्ष्मी महारानी-सद्गृहस्थोंके मकानोंमें जहाँ-तहाँ विचरण करती हैं । इसलिये अपने मकानोंको सब प्रकारसे स्वच्छ, शुद्ध और सुशोभित करके दीपावली अथवा दीपमालिका बनानेसे लक्ष्मी प्रसन्न होती हैं और उनमें स्थायी रूपसे निवास करती हैं । इसके सिवा वर्षाकालके किये हुए दुष्कर्म (जाले, मकड़ी, धूल-धमासे और दुर्गन्ध आदि) दूर करनेके हेतुसे भी कार्तिकी अमावास्याको दीपावली लगाना हितकारी होता है । यह अमावास्या प्रदोषकालसे आधी राततक रहनेवाली श्रेष्ठ होती है । यदि वह आधी राततक न रहे तो प्रदोषव्यापिनी लेना चाहिये ।

(१९) **लक्ष्मीपूजन**—कार्तिक कृष्ण अमावास्या (दीपावलीके दिन) प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'मम सर्वापच्छान्तिप्रशमनपूर्वकदीर्घायुष्यबलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं गजतुरगरथराज्यैश्वर्यादिसकलसम्पदामुत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थम् इन्द्रकुबेरसहितश्रीलक्ष्मीपूजनं करिष्ये ।' यह संकल्प करके दिनभर व्रत रक्खे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके पूर्वोक्त प्रकारकी 'दीपावली', 'दीपमालिका' और 'दीपवृक्ष' आदि बनाकर कोशागार (खजाने) में या किसी भी शुद्ध, सुन्दर, सुशोभित और शान्तिवर्द्धक स्थानमें वेदी बनाकर या चौकी-पाटे आदिपर अक्षतादिसे अष्टदल लिखे और उसपर लक्ष्मीका स्थापन करके 'लक्ष्म्यै नमः;' 'इन्द्राय नमः;' और 'कुबेराय नमः' इन नामोंसे तीनोंका पृथक्-पृथक् (या एकत्र) यथाविधि पूजन करके 'नमस्ते सर्वदेवानां वरदासि हरेः प्रिया । या गतिस्त्वत्प्रपन्नानां सा मे भूयात्त्वदर्चनात् ॥' से 'लक्ष्मी'की; 'ऐरावतसमारूढो वज्रहस्तो महाबलः । शतयज्ञाधिपो देवस्तस्मा इन्द्राय ते नमः ॥' से 'इन्द्र'की और 'धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च । भवन्तु त्वत्प्रसादान्मे धनधान्यादिसम्पदः ॥' से 'कुबेर'की प्रार्थना करे । पूजनसामग्रीमें अनेक प्रकारकी उत्तमोत्तम मिठाई, उत्तमोत्तम फल-पुष्प और सुगन्धपूर्ण धूपदीपादि ले और ब्रह्मचर्यसे रहकर उपवास अथवा नक्तव्रत करे ।

शुक्ल पक्ष

(१) **गोवर्धनपूजा** (हेमाद्रि)—दीपावलीके दूसरे दिन प्रभातके समय मकानके द्वारदेशमें गौके गोबरका गोवर्धन बनाये । शास्त्रमें उसको शिखरप्रयुक्त, वृक्ष-शाखादिसे संयुक्त और पुष्पादिसे सुशोभित बनानेका विधान है; किन्तु

अनेक स्थानोंमें उसे मनुष्यके आकारका बनाकर पुष्पादिसे भूषित करते हैं। चाहे जैसा हो, उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'गोवर्धन धराधार गोकुलत्राणकारक। विष्णुबाहुकृतोच्छ्राय गवां कोटिप्रदो भव ॥' से प्रार्थना करे। इसके पीछे भूषणीय गौओंका आवाहन करके उनका यथाविधि पूजन करे और 'लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता। घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु ॥' से प्रार्थना करके रात्रिमें गौसे गोवर्धनका उपमर्दन कराये।

(२) **अन्नकूट** (भागवत और व्रतोत्सव)—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको भगवान्‌के नैवेद्यमें नित्यके नियमित पदार्थोंके अतिरिक्त यथासामर्थ्य (दाल, भात, कढ़ी, साग आदि 'कच्चे'; हलवा, पूरी, खीर आदि 'पक्के'; लड्डू, पेड़े, बर्फी, जलेबी आदि 'मीठे'; केले, नारंगी, अनार, सीताफल आदि 'फल'-फूल; बैंगन, मूली, साग, पात, रायते, भुजिये आदि 'सलूने' और चटनी, मुरब्बे, अचार आदि खट्टे-मीठे-चरपरे) अनेक प्रकारके पदार्थ बनाकर अर्पण करे और भगवान्‌के भक्तोंको यथाविभाग भोजन कराकर शेष सामग्री आशार्थियोंमें वितरण करे। अन्नकूट यथार्थमें गोवर्धनकी पूजाका ही समारोह है। प्राचीन कालमें व्रजके सम्पूर्ण नर-नारी अनेक पदार्थोंसे इन्द्रका पूजन करते और नाना प्रकारके षड्रसपूर्ण (छप्पन भोग, छत्तीसों व्यञ्जन) भोग लगाते थे। किन्तु श्रीकृष्णने अपनी बालक-अवस्थामें ही इन्द्रकी पूजाको निषिद्ध बतलाकर गोवर्धनका पूजन करवाया और स्वयं ही दूसरे स्वरूपसे गोवर्धन बनकर अर्पण की हुई संपूर्ण भोजनसामग्रीका भोग लगाया। यह देखकर इन्द्रने व्रजपर प्रलय करनेवाली वर्षा की, किन्तु श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठाकर और व्रजवासियोंको उसके नीचे खड़े रखकर बचा लिया।

(३) **मार्गपाली** (आदित्यपुराण)—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको सायंकालके समय कुश या काँसका लंबा और मजबूत रस्सा बनाकर उसमें जहाँ-तहाँ अशोक (आशापाला) के पत्ते गूँथकर बंदनवार बनवाये और राजप्रासादके प्रवेशद्वारपर अथवा दरवाजेके आकारके दो अति उच्चस्तम्भोंपर इस सिरेसे उस सिरेतक बँधवा दे और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'मार्गपालि नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखप्रदे। विधेयैः पुत्रदाराद्यैः पुनरेहि व्रतस्य मे ॥' से प्रार्थना करे। इसके बाद सर्वप्रथम नराधिप (या बस्तीका कोई भी प्रधान पुरुष) और राजपरिवार और उनके पीछे नगरके नर-नारी और हाथी, घोड़े आदि हर्षध्वनिके साथ जयघोष करते हुए प्रवेश करें और राजा यथास्थान स्थित होकर सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा नीराजन करायें और हो सके तो रात्रिके समय बलिराजाका पूजन करके 'बलिराज नमस्तुभ्यं विरोचनसुत प्रभो। भविष्येन्द्र सुराराते पूजेयं प्रतिगृह्यताम् ॥' से प्रार्थना करे। जिस समय बलिने वामन भगवान्‌के लिये तीन पैंड पृथ्वीके दानको पूर्ण करनेके लिये आकाश और पातालको दो पैंडमें मानकर तीसरे पैंडके लिये अपना मस्तक दिया, उस समय भगवान्‌ने कहा था कि 'हे दानवीर! भविष्यमें इसी प्रतिपदाको तेरा पूजन होगा और उत्सव मनाया जायगा।' इसी कारण उस दिन बलिका पूजन किया जाता है और करना ही चाहिये।···'मार्गपाली और बलिकी पूजा करनेसे और विशेषकर मार्गपालीकी बंदनबारके नीचे होकर निकलनेसे उस वर्षमें सब प्रकारकी सुख-शान्ति रहती है और कई रोग दूर हो जाते हैं।······अनेक बार देखनेमें आता है कि मनुष्योंमें जनपदनाशक महामारी और पशुओंमें बीमारी होती है तब देहातके अनक्षर और साक्षर सामूहिक रूपमें सलाह करके सन, सूत या खींपका बहुत लंबा रस्सा बनवाकर उसमें नीमके पत्ते गूँथ देते हैं और बीचमें ५ या ७ पाली नीचे ऊपर लगाकर उसको गाँवमें प्रवेश करनेकी जगह बाँध देते हैं। ताकि उसके नीचे होकर निकलनेवाले नर-नारी और पशु (गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि) रोगी नहीं होते और सालभर प्रसन्न रहते हैं।

(४) **यमद्वितीया**—कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको यमका पूजन किया जाता है, इससे यह 'यमद्वितीया' कहलाती है। इस दिन वणिक्-वृत्तिवाले व्यवहारदक्ष वैश्य मषिपात्रादिका पूजन करते हैं, इस कारण इसे 'कलमदानपूजा' भी कहते हैं और इस दिन भाई अपनी बहिनके घर भोजन करते हैं, इसलिये यह 'भय्या दोयज' के नामसे भी विख्यात है। हेमाद्रिके मतसे यह द्वितीया मध्याह्नव्यापिनी पूर्वविद्धा उत्तम होती है। स्मार्तमतमें आठ भागके दिनके पाँचवें भागकी श्रेष्ठ मानी है। और स्कन्दके कथनानुसार अपराह्णव्यापिनी अधिक अच्छी होती है, यही उचित है।······व्रतीको चाहिये कि प्रातःस्नानादिके अनन्तर कर्मकालके समय अक्षतादिके अष्टदलकमलपर गणेशादिका स्थापन करके 'मम यमराजप्रीतये 'यमपूजनम्'—व्यवसाये व्यवहारे वा सकलार्थसिद्धये मषिपात्रादीनां पूजनम्—भ्रातुरायुष्यवृद्धये मम सौभाग्यवृद्धये च भ्रातृपूजनं च करिष्ये।' यह संकल्प करके गणेशजीका पूजन

करनेके अनन्तर यमका, चित्रगुप्तका, यमदूतोंका और यमुनाका पूजन करे । और 'धर्मराज नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज । पाहि मां किङ्करैः सार्धं सूर्यपुत्र नमोऽस्तु ते ॥' से 'यम' की– 'यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने लोकपूजिते । वरदा भव मे नित्यं सूर्यपुत्रि नमोऽस्तु ते ॥' से 'यमुना' की और 'मषिभाजनसंयुक्तं ध्यायेत्तं च महाबलम् । लेखनीपट्टिकाहस्तं चित्रगुप्तं नमाम्यहम् ॥' से 'चित्रगुप्त' की प्रार्थना करके शङ्खमें या ताँबेके अर्घ्यपात्रमें अथवा अञ्जलिमें जल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर 'एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त यमान्तकालोकधरामरेश । भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमोऽस्तु ते ॥' से यमराजको 'अर्घ्य' दे । ······उसी जगह मषिपात्र (दावात), लेखनी (कलम) और राजमुद्रा (मुख्य मुहर) स्थापन करके 'मषिपात्राय नमः ।' 'लेखन्यै नमः ।' और 'राजमुद्रायै नमः ।' इन नाममन्त्रोंसे उनका पूजन करके 'मषि त्वं लेखनीयुक्तचित्रगुप्तशयस्थिता । सदक्षराणां पत्रे च लेख्यं कुरु सदा मम ॥' से 'मसिपात्र' की; 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता या वीणा वरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना । या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥'–'तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे । निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥' 'कृष्णानने कृष्णजिह्वे चित्रगुप्तशयस्थिते । प्रार्थनेयं गृहाण त्वं सदैव वरदा भव ॥' से 'लेखनी' की और 'हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसन्निभे । प्रार्थनेयं गृहाणेमां नमस्ते राजमुद्रिके ॥' से 'राजमुद्रा' (मुहर) की प्रार्थना करके सफेद कागजपर श्रीरामजी, श्रीरामो जयति, गणपतिर्जयति, शारदायै नमः और लक्ष्म्यै नमः आदि लिखे । इसके अतिरिक्त ······ ज्येष्ठा भगिनीके घर जाकर बहिनकी की हुई पूजा ग्रहण करे । बहिनको चाहिये कि वह भाईको शुभासनपर बिठाकर उसके हाथ-पैर धुलाये । गन्धादिसे उसका पूजन करे और दाल, भात, फुलके, कढ़ी, सीरा, पूरी, चूरमा अथवा लड्डू, जलेबी, घेवर आदि यथासामर्थ्य उत्तम पदार्थोंका भोजन कराये और 'भ्रातस्तवाग्रजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिमं शुभम् । प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः ॥' से उसको सम्बोधन करे । इसके बाद भाई बहिनको यथासामर्थ्य अन्न-वस्त्र-आभूषण और सुवर्ण-मुद्रादि द्रव्य देकर उससे शुभाशिष प्राप्त करे । ······यदि सहजा (सगी) बहिन न हो तो पितृव्य-पुत्री (काकाकी कन्या), मातुल-पुत्री (मामाकी बेटी) या मित्रभगिनी (मित्रकी बहिन) –इनमें जो हो उसके यहाँ भोजन करे । यदि यमद्वितीयाको यमुनाके किनारेपर बहिनके हाथका बनाया भोजन करे तो उससे भाईकी आयुवृद्धि और बहिनके अहिवात (सौभाग्य) की रक्षा होती है ।

(५) **नागव्रत** (कूर्मपुराण)–कार्तिक शुक्ल चतुर्थीको मध्याह्नके समय शेषसहित शङ्खपालादि नागोंका पूजन करे, दूधसे स्नान कराये, गन्ध-पुष्प अर्पण करे और दुग्धका पान (भोजन) कराये तो विषजन्य बीमारियोंका भय नहीं होता और न सर्प डसते हैं । यह चतुर्थी मध्याह्नव्यापिनी ली जाती है ।

(६) **जयापञ्चमी** (भविष्योत्तर)–यह व्रत कार्तिक शुक्ल पञ्चमीको किया जाता है । एतन्निमित्त तिलोद्वर्तनपूर्वक गङ्गादि तीर्थोंके स्मरणसहित शुद्ध स्नान करके शुद्धासनपर बैठकर भगवान् 'हरि' का और उनके वाम भागमें 'जया' का स्थापन करे । विविध प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे प्रीतिपूर्वक पूजन करे । और हरिके चरण, घुटने, ऊरु, मेढ्, उदर, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख और मस्तक इनमें पद्मनाभ, नरसिंह, मन्मथ और दामोदर आदि नामोंसे अंगपूजा करके 'जयाय जयरूपाय जय गोविन्दरूपिणे । जय दामोदरायेति जय सर्व नमोऽस्तु ते ॥' से अर्घ्य दे और बाँसके पात्रमें सप्तधान्य भरकर लाल वस्त्रसे ढाँककर 'यथा वेणुफलं दृष्ट्वा तुष्यते मधुसूदनः । तथा मेऽस्तु शुभं सर्वं वेणुपात्रप्रदानतः ॥' से ब्राह्मणको दे । और एक वस्त्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, सरसों और दूर्वा रखकर 'रक्षापोटलिका' तैयार करके 'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः । तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल ॥' से रक्षाबन्धन करे । इस व्रतके करनेसे ब्रह्महत्या-जैसे पापोंकी निवृत्ति होती है और सब प्रकारके सुख उपलब्ध होते हैं ।

(७) **वह्निमहोत्सव**(मत्स्यपुराण)–कार्तिक-शुक्लपक्षकी भौमयुक्त षष्ठीको अग्निका और स्वामिकार्तिकका पूजन करे और दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके घी, शहद, जल और पुष्पादि लेकर 'सप्तर्षिदारज स्कन्द सेनाधिप महाबल । रुद्रोमाग्निज षड्वक्त्र गङ्गागर्भ नमोऽस्तु ते ॥' से अर्घ्य दे और ब्राह्मणको आमान्न (भोजनयोग्य आटा, दाल आदि) देकर आप भोजन करे और रात्रिमें भूमिपर सोये तो रोग-दोषादि दूर हो जाते हैं ।

(८) **शाकसप्तमी**–कार्तिक शुक्ल सप्तमीको उपलब्ध शाक-पत्रादिका दान करके रात्रिमें स्वयं भी शाकमात्रका

भोजन करे और फिर प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको वर्षपर्यन्त करता रहे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ।

(९) **गोष्ठा (गोपा) ष्टमी** (निर्णयामृत, कूर्मपुराण)–कार्तिक शुक्ल अष्टमीको प्रातःकालके समय गौओंको स्नान करावे। गन्ध-पुष्पादिसे उनका पूजन करे और अनेक प्रकारके वस्त्रालंकारसे अलंकृत करके उनके गोपालों (गुवालों) का पूजन करे, गायोंको गोग्रास देकर उनकी परिक्रमा करे और थोड़ी दूरतक उनके साथ जाय तो सब प्रकारकी अभीष्ट-सिद्धि होती है । इसी गोपाष्टमीको सायंकालके समय गायें चरकर वापस आवें उस समय भी उनका आतिथ्य, अभिवादन और पञ्चोपचार पूजन करके कुछ भोजन करावे और उनकी चरणरजको मस्तकपर धारण करके ललाटपर लगावे तो उससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है ।

(१०) **नवमीव्रत** (हेमाद्रि, देवीपुराण)–कार्तिक शुक्ल नवमीको व्रत, पूजा, तर्पण और अन्नादिका दान करनेसे अनन्त फल होता है । इसमें पूर्वाह्णव्यापिनी तिथि ली जाती है । यदि वह दो दिन हो या न हो तो 'अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिणा । न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन ॥' इस ब्रह्मवैवर्तके वचनके अनुसार पूर्वविद्धा लेनी चाहिये । इस दिनका किया हुआ पूजा-पाठ और दिया हुआ दान-पुण्य अक्षय हो जाता है, इस कारण इसका नाम 'अक्षयनवमी' है । इस दिन गो, भू, हिरण्य और वस्त्राभूषणादिका दान किया जाय तो यथाभाग्य इन्द्रत्व, शूरत्व या नराधिपत्वकी प्राप्ति होती है । और ब्रह्महत्या-जैसे महापाप मिट जाते हैं ।······यही (कार्तिक शुक्ल नवमी) 'धात्रीनवमी' और 'कूष्माण्डनवमी' भी है । अतः इस दिन प्रातःस्नानादि करके धात्रीवृक्ष (आँवला) के नीचे पूर्वाभिमुख बैठकर 'ॐ धात्र्यै नमः' से उसका आवाहनादि 'षोडशोपचार' अथवा स्नान-गन्धादि 'पञ्चोपचार' पूजन करके 'पिता पितामहाश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः । ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः ॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः । ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः ॥' इन मन्त्रोंसे उसके मूलमें दूधकी धारा लगाये । और फिर 'दामोदरनिवासायै धात्र्यै देव्यै नमो नमः । सूत्रेणानेन बध्नामि धात्रि देवि नमोऽस्तु ते ॥' इस मन्त्रसे उसको सूत्रसे आवेष्टित करे (सूत लपेटे) और कर्पूर या घृतपूर्ण बत्तीसे नीराजन करके 'यानि कानि च पापानि॰' से परिक्रमा करे ।·······तदनन्तर सुपक्व कूष्माण्ड (अच्छा पका हुआ कोहला–कुम्हड़ा) लेकर उसके अंदर रत्न, सुवर्ण, रजत या रुपया आदि रखकर उसका गन्धादिसे पूजन करके 'कूष्माण्डं बहुबीजाढ्यं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा । दास्यामि विष्णवे तुभ्यं पितृणां तारणाय च ।' से प्रार्थना करे और दान-पात्र ब्राह्मणके तिलक करके 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकसुख-सौभाग्यादीनां उत्तरोत्तराभिवृद्धये कूष्माण्डदानं करिष्ये ।' यह संकल्प करके ब्राह्मणको दे दे ।

(११) **सार्वभौमव्रत** (वराहपुराण)–कार्तिक शुक्ल दशमीको प्रातःस्नान करके नक्तव्रत करनेकी प्रतिज्ञा करे और विविध प्रकारके चित्र-विचित्र गन्ध-पुष्पादिसे दिशाओंका पूजन करके दध्योदनादिकी शुद्ध बलि दे । उस समय—'सर्वा भवत्यः सिध्यन्तु मम जन्मनि जन्मनि ।' यह प्रार्थना करे और अर्धरात्रिमें दध्योदन (दही और भात) का भोजन करे । इस प्रकार प्रत्येक मासकी शुक्ल दशमीको वर्षभर करे तो दिग्विजयी (अथवा सर्वत्र विजयी) होता है ।

(१२) **आशादशमी** (भविष्योत्तर)–धन, राज्य, खेती, वाणिज्य या पुत्रादि प्राप्त होनेकी आशा पूर्ण होनेके लिये कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी) को स्नान करके शुद्ध स्थानमें जौके चूनसे सायुध और स्वस्वरूप-युक्त इन्द्रादि दिक्पालोंको लिखकर उनका पूजन करे । गन्ध-पुष्पादि चढ़ाये । घीसे भलीभाँति भीगा हुआ भोजन और कालजात (उस ऋतुके) फल अर्पण करे । दीपक जलाये और 'आशाः स्वाशाः सदा सन्तु सिद्ध्यन्तां मे मनोरथाः । भवतीनां प्रसादेन सदा कल्याणमस्त्विति ॥' से प्रार्थना करे । इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो धनार्थी, पुत्रार्थी, सुखार्थी, राज्यार्थी या अन्यकामार्थी आदिकी धन, पुत्र, सुख, राज्य और काम आदिकी आशा सफल हो जाती है ।

(१३) **आरोग्यव्रत** (गरुडपुराण)–कार्तिक शुक्ल नवमी (या किसी भी शुक्ल नवमी) को उपवास करे । दशमीको स्नान करके हरिका ध्यान करे । फल, पुष्प और मधुरान्न-पानादिका भोग लगावे । साथ ही चक्र, गदा, मूसल, धनुष और खड्ग–इन आयुधोंका लाल पुष्पोंसे पूजन करके गुडान्नका नैवेद्य अर्पण करे । इसके अतिरिक्त अजिन (मृगचर्म) पर द्रोणपरिमित तिलोंका कमल बना-कर उसपर सुवर्णका अथवा अच्छे वर्णका अष्टदल स्थापित करके उसकी प्रत्येक पँखुड़ीपर पूर्वादिक्रमसे मन, ओज,

त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, प्राण और बुद्धि—इनका पूजन करके 'अनामयानीन्द्रियाणि प्राणश्च चिरसंस्थितः। अनाकुला च मे बुद्धिः सर्वे स्युर्निरुपद्रवाः॥ मनसा कर्मणा वाचा मया जन्मनि जन्मनि। उद्दिष्टं क्षपयत्वेनः कालात्मा भगवान् हरिः॥' से इनकी प्रार्थना करे तो रोगी आरोग्य और निरोगी सदैव सुस्वस्थ रहता है।

(१४) **राज्यप्राप्तिव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतके निमित्त १–क्रतु (यज्ञ), २–दक्ष, ३–वसु, ४–सत्य, ५–काल, ६ काम, ७–मुनि, ८–कुरुवान्मनुज, ९–परशुराम और १०–विश्वेदेव—इनका गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और अन्नादिसे पूजन करके 'पारणान्ते' (व्रतके अन्तमें) सुवर्णादि सामग्री ब्राह्मणको दे। यह व्रत कार्तिक शुक्ल दशमीसे आरम्भ किया जाता है और उपर्युक्त क्रतु-दक्षादि दस देव केशवके आत्मा हैं, अतः इनके अर्चनसे अवश्य ही राज्यलाभ होता है।

(१५) **ब्रह्मप्राप्तिव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी) को १–आत्मा, २–आयु, ३–मन, ४–दक्ष, ५–मद, ६–प्राण, ७–हविष्मान्, ८–गविष्ठ (स्वर्गस्थ), ९–दत्त और १०–सत्य—इनका तथा अङ्गिरसका यथाविधि पूजन करके उपवास करे तो ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है।

(१६) **शुक्लैकादशी** (वराहपुराण)—कार्तिक शुक्ल एकादशी 'प्रबोधिनी' के नामसे मानी जाती है। इसके निमित्त स्नान-दान और उपवास यथापूर्व किये जाते हैं। विशेषता यह है कि एक वेदीपर सोलह आर (कोण या पत्ती) का कमल बनाकर उसपर सागरोपम, जलपूर्ण, रत्नप्रयुक्त, मलयागिरिसे चर्चित, कण्ठप्रदेशमें नालसे आबद्ध और सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित चार कलश स्थापित करे और उनके बीचमें पीताम्बर धारण किये हुए शङ्ख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज और शेषशायी भगवान्‌की सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापित करके उसका 'सहस्रशीर्षा॰' आदि ऋचाओंसे अङ्गन्यासपूर्वक यथाविधि पूजन करे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिनके प्रभातमें वेदपाठी पाँच ब्राह्मणोंको बुलाकर उक्त चार कलश चारको और योगेश्वर भगवान्‌की (स्वर्णमयी) मूर्ति पाँचवेंको देकर उनको भोजन करवाके स्वयं भोजन करे तो गङ्गादि तीर्थों, सुवर्णादि दानों और भगवान् आदिकी आके समान फल होता है।

(१७) **प्रबोधैकादशीकृत्य** (मदनरत्न)—यह तो प्रसिद्ध ही है कि आषाढ़ शुक्लसे कार्तिक शुक्लपर्यन्त ब्रह्म, इन्द्र, रुद्र, अग्नि, वरुण, कुबेर, सूर्य और सोमादि देवोंसे वन्दित, जगन्निवास, योगेश्वर क्षीरसागरमें शेषशय्यापर चार मास शयन करते हैं और भगवद्भक्त उनके शयन-परिवर्तन और प्रबोधके यथोचित कृत्य दत्तचित्त होकर यथासमय करते हैं। उनमें दो कृत्य आषाढ़ और भाद्रपद-के व्रतोंमें प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरे (प्रबोध) का विधान यहाँ प्रकट किया जाता है। यद्यपि भगवान् क्षणभर भी कभी सोते नहीं हैं, तथापि 'यथा देहे तथा देवे' मानने-वाले उपासकोंको शास्त्रीय विधान अवश्य करना चाहिये। ··यह कृत्य कार्तिक शुक्ल एकादशीको रात्रिके समय किया जाता है। उस समय शयन करते हुए हरिको जगानेके लिये (१) सुभाषित स्तोत्रपाठ, भगवत्कथा और पुराणादिका श्रवण और भजनादिका 'गायन', (२) घंटा, शंख, मृदंग, नगारे और वीणा आदिका 'वादन' और (३) विविध प्रकारके देवोपम खेल-कूद, लीला और नाच आदिके द्वारा भगवान्‌को जगाये और साथ ही 'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते। त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्॥' 'उत्थिते चेष्टिते सर्वमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ माधव। गता मेघा वियच्चैव निर्मलं निर्मला दिशः।'—'शारदानि च पुष्पाणि गृहाण मम केशव।' इन मन्त्रोंका उच्चारण करे। अनन्तर भगवान्‌के मन्दिर (अथवा सिंहासन) को नाना प्रकारके लता-पत्र, फल-पुष्प और बंदनवार आदिसे सजावे और 'विष्णुपूजा'—या 'पञ्चदेवपूजाविधान' अथवा 'रामार्चनचन्द्रिका' आदिके अनुसार भली प्रकार पूजन करे और समुज्ज्वल घृतवर्तिका या कर्पूरादिको प्रज्वलित करके नीराजन (आरती) करे। अनन्तर 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमा-न्यासन्। तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥' से पुष्पाञ्जलि अर्पण करके 'इयं तु द्वादशी देव प्रबोधाय विनिर्मिता। त्वयैव सर्वलोकानां हितार्थं शेषशायिना।' इदं व्रतं मया देव कृतं प्रीत्यै तव प्रभो। न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादाज्जनार्दन॥' से प्रार्थना करे। और प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक और भीष्मादि भक्तोंका स्मरण करके चरणामृत, पञ्चामृत या प्रसादका वितरण करे।······इसके पीछे एक रथमें भगवान्‌को विराजमान करके नरवाहनद्वारा उसे सञ्चालित कर नगर, ग्राम या गलियोंमें भ्रमण कराये। जो मनुष्य उस रथके वाहक बनकर उसको चलाते हैं, उनको प्रत्येक पदपर यज्ञके

समान फल होता है। जिस समय वामन भगवान् तीन पद भूमि लेकर विदा हुए थे, उस समय सर्वप्रथम दैत्यराज (बलिराजा) ने वामनजीको रथमें विराजमान कर स्वयं उसे चलाया था। अतः इस प्रकार करनेसे 'समुत्थिते ततो विष्णौ क्रियाः सर्वाः प्रवर्तयेत् ।' के अनुसार विष्णुभगवान् योगनिद्राको त्याग कर प्रत्येक प्रकारकी क्रिया करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं और प्राणीमात्रका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। प्रबोधिनीकी पारणामें रेवतीका अन्तिम तृतीयांश हो तो उसको त्याग कर भोजन करना चाहिये।

(१८) **भीष्मपञ्चक** (पद्मपुराण)–यह व्रत कार्तिककी प्रबोधिनीसे प्रारम्भ होकर पूर्णिमाको पूर्ण होता है। इस निमित्त काम-क्रोधादिका त्याग कर ब्रह्मचर्य धारण करके क्षमा, दया और उदारतायुक्त होकर सोने या चाँदी-की लक्ष्मीनारायणकी मूर्ति बनवाके वेदीपर स्थापित करे। ऋतुकालमें प्राप्त होनेवाले गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादि-से पूजन करके पाँच दिनपर्यन्त निराहार, फलाहार, एकभुक्त, मिताहार या नक्तव्रतादिमें जो बन सके, व्रत करे। प्रति-दिन पद्मपुराणोक्त कथा सुने। पूजनमें सामान्य पूजाके सिवा–पहले दिन भगवान्‌के हृदयका कमलके पुष्पोंसे, दूसरे दिन कटि-प्रदेशका बिल्वपत्रोंसे, तीसरे दिन घुटनोंका केतकी (केवड़े) के पुष्पोंसे, चौथे दिन चरणोंका चमेलीके पुष्पोंसे और पाँचवें दिन सम्पूर्ण अङ्गका तुलसीकी मंजरियोंसे पूजन करे। नित्यप्रति 'ॐ नमो भगवते वासु-देवाय' के सौ, हजार, दस हजार या जितने बन सके जप करे और व्रतान्तमें पारणाके समय ब्राह्मणदम्पतिको भोजन करवाके स्वयं भोजन करे। इस देशमें अधिकांश स्त्रियाँ एकादशी और द्वादशीको निराहार, त्रयोदशीको शाकाहार और चतुर्दशी तथा पूर्णिमाको फिर निराहार रहकर प्रतिपदाके प्रभातमें द्विजदम्पतिको जिमाकर स्वयं भोजन करके 'पँचभीखण' न्हाती हैं।

(१९) **तुलसीविवाह** (विष्णुयामल)–पद्म-पुराणमें कार्तिक शुक्ल नवमीको तुलसीविवाहका उल्लेख किया गया है; किन्तु अन्य ग्रन्थोंके अनुसार प्रबोधिनीसे पूर्णिमा-पर्यन्तके पाँच दिन अधिक फल देते हैं। व्रतीको चाहिये कि विवाहके तीन मास पूर्व तुलसीके पेड़को सिंचन और पूजनसे पोषित करे। प्रबोधिनी या भीष्मपञ्चक अथवा ज्योतिः-शास्त्रोक्त विवाह-मुहूर्तमें तोरण-मण्डपादिकी रचना करके चार ब्राह्मणोंको साथ लेकर गणपति-मातृकाओंका पूजन, नान्दी-श्राद्ध और पुण्याहवाचन करके मन्दिरकी साक्षात् मूर्तिके साथ सुवर्णके लक्ष्मीनारायण और पोषित तुलसीके साथ सोने और चाँदीकी तुलसीको शुभासनपर पूर्वाभिमुख विराजमान करे और सपत्नीक यजमान उत्तराभिमुख बैठकर 'तुलसी-विवाह-विधि' के अनुसार गोधूलीय समयमें 'वर' (भगवान्)का पूजन, 'कन्या' (तुलसी) का दान, कुशकण्डी-हवन और अग्नि-परिक्रमा आदि करके वस्त्राभूषणादि दे और यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(२०) **तुलसीवास** (स्कन्दपुराण)–कार्तिक शुक्ल नवमीको प्रातःस्नानादि करके मकानके अंदर बालूकी वेदी बनाये। उसपर तुलसीका प्रत्यक्ष पेड़ और चाँदीकी सपत्र शाखा तथा सोनेकी मंजरीयुक्त निर्मित पेड़ रखके यथाविधि पूजन करे। ऋतुकालके फल-पुष्पादिका भोग लगाये। एक दीपकको घीसे पूर्ण करके लंबी बातीसे उसे अखण्ड प्रज्वलित रक्खे। और निराहार रहकर रात्रिमें कथा-वार्ता श्रवण करनेके अनन्तर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार नवमी, दशमी और एकादशीका उपवास करनेके अनन्तर द्वादशीको (रेवतीके अन्तिम तृतीयांशकी २० घड़ियाँ हों तो उनको त्यागकर) ब्राह्मणदम्पतिको दान-मानसहित भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(२१) **ब्रह्मकूर्च** (हेमाद्रि)–कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको स्नानादिके अनन्तर उपवासका संकल्प करके देवोंको तोयाक्षतादिसे और पितरोंको तिलतोयादिसे तृप्त करके कपिला गौका 'गोमूत्र', कृष्ण गौका 'गोमय', श्वेत गौका 'दूध', पीली गौका 'दही' और कर्बुर (कबरी) गौका घी लेकर वस्त्रसे छान करके एकत्र करे। उसमें थोड़ा कुशोदक (डामका पानी) भी मिला दे और रात्रिके समय उक्त 'पञ्चगव्य' पीवे तो उससे तत्काल ही सब पाप-ताप और रोग-दोष दूर होकर अद्भुत प्रकारके बल, पौरुष और आरोग्यकी वृद्धि होती है।

(२२) **पाषाणचतुर्दशी** (देवीपुराण)–उसी चतुर्दशीको औके चूनकी चौकोर रोटी बनाकर गौरीकी आराधना करे और उक्त रोटीका नैवेद्य अर्पण करके स्वयं उसीका एक बार भोजन करे तो सुख-सम्पत्ति और सुन्दरता प्राप्त होती है।

(२३) **वैकुण्ठचतुर्दशी** (सनत्कुमारसंहिता)–हेमलम्ब संवत्सरकी कार्तिक शुक्ल अरुणोदयव्यापिनी चतुर्दशीको 'मणिकर्णिक' ब्राह्ममुहूर्तमें प्रातःस्नानादिके पश्चात्

विश्वेश्वरी और विश्वेश्वरका पूजन करके व्रत करे तो वैकुण्ठ-वास होता है।

(२४) कार्तिकी (बहुसम्मत)—इसको ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अङ्गिरा और आदित्य आदिने महापुनीत पर्व प्रमाणित किया है। अतः इसमें किये हुए स्नान, दान, होम, यज्ञ और उपासना आदिका अनन्त फल होता है। इस दिन कृत्तिका हो तो यह 'महाकार्तिकी' होती है[1]। भरणी हो तो विशेष फल देती है[2]। और रोहिणी हो तो इसका महत्त्व बढ़ जाता है[3]। इसी दिन सायङ्कालके समय मत्स्यावतार हुआ था। इस कारण इसमें दिये हुए दानादिका दस यज्ञोंके समान फल होता है[4]। यदि इस दिन कृत्तिकापर चन्द्रमा और बृहस्पति हों तो यह 'महापूर्णिमा' होती है[5]। इस दिन कृत्तिकापर चन्द्रमा और विशाखापर सूर्य हों तो 'पद्मक' योग होता है। यह पुष्करमें भी दुर्लभ है[6]। कार्तिकीको सन्ध्याके समय 'त्रिपुरोत्सव' करके 'कीटाः पतङ्गा मशकाश्च वृक्षे जले स्थले ये विचरन्ति जीवाः। दृष्ट्वा प्रदीपं न हि जन्मभागिनस्ते मुक्तरूपा हि भवन्ति तत्र ॥' से दीपदान करे तो पुनर्जन्मादिका कष्ट नहीं होता[7]। यदि इस दिन कृत्तिकामें स्वामी (विश्वस्वामी) का दर्शन किया जाय तो ब्राह्मण सात जन्मतक वेदपारग और धनवान् होता है[8]। इस दिन चन्द्रोदयके समय शिवा, शम्भूति, प्रीति, सन्तति, अनसूया और क्षमा—इन छः तपस्विनी कृत्तिकाओंका पूजन करे (क्योंकि ये स्वामिकार्तिककी माता हैं)। और कार्तिकेय, खड्गी (शिवा), वरुण, हुताशन और सशूक (बालियुक्त) धान्य—ये निशागममें द्वारके ऊपर शोभित करने योग्य हैं; अतः इनका उत्कृष्ट गन्धादिसे पूजन करे तो शौर्य, वीर्य और धैर्यादि बढ़ते हैं[9]। कार्तिकीको नक्तव्रत करके वृषदान करे तो शिवपद प्राप्त होता है[10]। यदि गौ, गज, रथ, अश्व और घृतादिका दान किया जाय तो सम्पत्ति बढ़ती है[11]। कार्तिकीको सोपवास हरिस्मरण करे तो अग्निष्टोमसमान फल होकर सूर्यलोककी प्राप्ति होती है[12]। कार्तिकीको अपनी या परायी अलङ्कृता कन्याका दान करे तो 'सन्तानव्रत' पूर्ण होता है[13]। कार्तिकीको सुवर्णका मेष दान करे तो ग्रहयोगके कष्ट नष्ट हो जाते हैं[14]। और कार्तिकी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके प्रत्येक पूर्णिमाको नक्तव्रत करे तो उससे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।[15]

---

१. आग्नेयं तु यदा ऋक्षं कार्तिक्यां भवति क्वचित्।
महती सा तिथिर्ज्ञेया स्नानदानेषु चोत्तमा ॥ (यम)

२. यदा याम्यं तु भवति ऋक्षं तस्यां तिथौ क्वचित्।
तिथिः सापि महापुण्या मुनिभिः परिकीर्तिता ॥
(स्मृत्यन्तर)

३. प्राजापत्यं यदा ऋक्षं तिथौ तस्यां नराधिप।
सा महाकार्तिकी प्रोक्ता ··· ··· ··· ॥ (स्मृतिसार)

४. वरान् दत्त्वा यतो विष्णुर्मत्स्यरूपोऽभवत्ततः।
तस्यां दत्तं हुतं जप्तं दशयज्ञफलं स्मृतम् ॥ (पद्मपुराण)

५. पूर्णा महाकार्तिकी स्याज्जीवेन्द्वोः कृत्तिकास्थयोः। (ब्राह्म)

६. विशाखासु यदा भानुः कृत्तिकासु च चन्द्रमाः।
स योगः पद्मको नाम पुष्करे त्वतिदुर्लभः ॥
(पद्मपुराण)

७. पौर्णमास्यां तु सन्ध्यायां कर्तव्यस्त्रिपुरोत्सवः।
दद्यात् पूर्वोक्तमन्त्रेण सुदीपांश्च सुरालये ॥ (भविष्य)

८. कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात् स्वामिदर्शनम्।
सप्त जन्म भवेद् विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः ॥
(काशीखण्ड)

९. ततश्चन्द्रोदये पूज्यास्तापस्यः कृत्तिकास्तु षट्।
कार्तिकेयस्तथा खड्गी वरुणश्च हुताशनः ॥
धान्यैः सशूकैर्द्वारोर्ध्वं भूषितव्यं निशामुखे।
माल्यैर्धूपैस्तथा ··· ···दीपादिभिः पूजयेत् ॥
(ब्रह्मपुराण)

१०. कार्तिक्यां तु वृषोत्सर्गं कृत्वा नक्तं समाचरेत्।
शैवं पदमवाप्नोति शैवव्रतमिदं स्मृतम् ॥
(मत्स्यपुराण)

११. गजाश्वरथदानं च घृतधेन्वादयस्तथा।
प्रदेयाः पुण्यकृद्भिस्तु ··· ··· ··· ॥
(निर्णयामृत)

१२. कार्तिके पौर्णमास्यां तु सोपवासः स्मरेद् हरिम्।
अग्निष्टोमफलं विन्देत् सूर्यलोकं च विन्दति ॥
(ब्रह्मपुराण)

१३. कार्तिक्यामुपवासी यः कन्यां दद्यात् स्वलंकृताम्।
स्वकीयां परकीयां वा अनन्तफलदायिनी ॥ (हेमाद्रि)

१४. कार्तिक्यां नक्तभुग् दद्यान्मेषं हेमविनिर्मितम्।
एतद् राशिव्रतं नाम ग्रहोपद्रवनाशनम् ॥ (भविष्य)

१५. कार्तिक्यां तु समारभ्य सम्पूर्णं शशलक्षणम्।
पूजयेद्वत्सरे राजन् सदा नक्ताशनो भवेत् ॥ (हेमाद्रि)

(२५) कार्तिकीका उद्यापन (व्रतोद्यापन-प्रकाश)— कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको गणपति-मातृका, नान्दीश्राद्ध, पुण्याहवाचन, सर्वतोभद्र, ग्रह और हवनकी यथापरिमित वेदी बनवाके रात्रिके समय उनपर उक्त देवोंका स्थापन और पूजन करे। इसके लिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुवर्णकी भगवान्‌की सायुध-मूर्ति बनवाकर व्रतोद्यापनकौमुदी या व्रतोद्यापनप्रकाशादिके अनुसार सर्वतोभद्रमण्डलपर स्थापित किये हुए सुवर्णादिके कलशपर उक्त मूर्तिका यथाविधि स्थापन, प्रतिष्ठा और पूजन करके रात्रिभर जागरण करे और पूर्णिमाके प्रभातमें प्रातःस्नानादि करके गोदान, अन्नदान, शय्यादान, ब्राह्मणभोजन (३० जोड़ा-जोड़ी) और व्रत-विसर्जन करके जाति-बान्धवोंसहित भोजन करे।

नमस्कार

(रचयिता—श्रीहनुमानप्रसाद गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी० 'ललाम')

(१)

जिसका तेज चमकता रविमें,
शांति-सुधा शशि बरसाता।
जिसकी है दृढ़ता हिमाद्रिमें,
कंज मृदुलता सरसाता॥
प्रबल पवनमें गति है जिसकी,
गभीरता सागर पाता।
स्नेह-स्रोत सरितामें बहता,
नभ व्यापकता दरसाता॥
छाया है जिसकी उदारताकी वह मेघावली अपार।
उस कर्तार-पदोंमें मेरा नमस्कार है बारंबार॥

(२)

रंग-बिरंगी है यह दुनिया,
जिस मालीकी फुलवारी।
खिला-खिला जो नित्य नये गुल,
खेल दिखाता खिलवारी॥
जिसकी रचना-चतुराईसे,
चतुर चकित चितमें भारी।
नित्य नचाता जो अँगुलीपर
कौतुकमयी सृष्टि सारी॥
जिसकी भूलभुलैयाँमें पड़ भूल रहा सारा संसार।
उस मायावीके चरणोंमें नमस्कार है बारंबार॥

(३)

प्रभुओंका प्रभु, आश दासका,
भक्त-सखा, सबका दाता।
निराकार तू, निर्विकार तू,
निराधार, त्रिभुवन-त्राता॥
नाम अनेकों तेरे, तो भी
एक न तुझे छेक पाता।
अस्तु, अनाम नाम रख तेरा,
चरणोंमें अर्ज़ी लाता॥
जन-जनमें मैं निजको देखूँ, निजमें तुझको प्राणाधार।
तुझमें सब कुछ देख करूँ फिर नमस्कार प्रभु! बारंबार॥

दिवाली

(लेखक—पू० श्रीभोलानाथजी महाराज)

शब गुरेज़ाँ होगी आख़िर जलवए ख़ुरशीदसे।
यह चमन मामूर होगा नग़मए तौहीदसे॥
मनका मंदिर फिर चमक उट्ठेगा उस परकाशने।
दिलका अंधेरा जहाँसे फिर निहाँ हो जायगा॥

[आज असली दिवाली मनाइये। ऐ प्रभो! मैं तुझसे वह दीपक माँगता हूँ, जिससे तेरा सच्चा पूजन कर सकूँ।]

आज फिर एक वर्षके बाद दिवालीका त्यौहार मनाया जा रहा है। हर बच्चा, जवान और बूढ़ा खुश नजर आता है। ख्याल है कि आज रातको अँधेरी रातमें दीपक जलाये जायँगे और लक्ष्मी-पूजन होगा।

वास्तवमें जिस समय रात्रिको दीपक जलेंगे, एक अद्वितीय दृश्य होगा; दूसरे लक्ष्मी-पूजनका फल घरसे दरिद्रताको दूर करना होगा। परन्तु आश्चर्य है कि तमाम लक्ष्मी-पूजन करनेवाले न तो अमीर बनते हैं और न इन दीपकोंसे ज़्यादा देरतक अँधेरा ही दूर होता है।

असली दिवाली तो उस दिन मनायी जायगी, जब दिलोंसे अन्धकार दूर हो जायगा और उसमें प्रेमके दीपक जलने लगेंगे। लक्ष्मी-पूजन सच्चा उस दिन होगा जब विष्णुभगवान् हृदयमें विराजमान होंगे, क्योंकि लक्ष्मीजी सदा विष्णुभगवान्के साथ ही दृष्टिमें आ सकती हैं। इसलिये जरूरी यही है कि आज रातको अपने मन-मन्दिरमें (जहाँ अँधेरा है) प्रेमरूपी दीपक जलायें और धर्म और सत्रूप विष्णुभगवान्को हृदयमें लानेकी कोशिश करें। जब ऐसा होगा, तब लक्ष्मीजी स्वयं ही प्रसन्न हो जायँगी।

परन्तु यह दीपक जले कैसे और विष्णुभगवान् हृदयमें क्योंकर आयें? तेल और बत्तीवाला दीपक होता तो सभी जला ही लेते। उधर मनके मन्दिरके टूटे हुए दरवाजोंसे इच्छाओंकी आँधी कुछ ऐसे जोरके साथ चल रही है कि प्रथम तो दीपकका जलना ही कठिन है और यदि जल भी जाय तो उसका जलते रहना कठिन है। फिर इस अँधेरे घरमें विष्णुभगवान्का पूजन कैसे हो!

चलिये मनके अंदर देखें क्या है! अँधेरा........ ख़ैर, इतना तो अच्छा है कि आपने इस अँधेरेका पता पा लिया। सुना है इस मन्दिरमें एक मूर्ति भी है, जिसका नाम विष्णुभगवान् है। वह नजर क्योंकर आये? यहाँ तो अँधेरा है! नहीं, ग़लत बात है, जहाँ विष्णुभगवान् हों, वहाँ अँधेरा हो ही नहीं सकता। फिर क्या है? या तो वे नहीं या अँधेरा नहीं। लेकिन आप कहेंगे कि अँधेरा भी है और वे भी हैं। तो फिर मालूम होता है कोई ख़ास बात है। सम्भव है कि वहाँ उजाला हो और आपकी आँखें बंद हों। जरा आँखोंको खोलिये और फिर देखिये तो भला, कि क्या मामला है! लीजिये, आँखें खुल गयीं; लेकिन अबतक भी अँधेरा-ही-अँधेरा है। अब क्या मामला है? मालूम होता है, भगवान् यहाँ नहीं हैं। चलिये, वापस चलें; लेकिन वापस जाकर कहाँ ढूँढ़ें—कौन-सी जगह है? यही सुना है वे मनके मन्दिरमें रहते हैं। ओहो! देखिये!! जरा इस अँधेरेमें आगे बढ़िये! टटोलिये कौन-सी चीज़ रुकावट पैदा कर रही है! लीजिये मालूम हो गया। एक दरवाजा है, जो बंद है—बाहरसे बंद हो तो खोल लीजिये! अफ़सोस, बाहर इसके न कुंडी है न ताला—यह तो अंदरसे ही बंद है! यदि यह बात है तब तो निश्चय हो गया कि अवश्य कोई अंदर होगा, नहीं तो दरवाजा बंद कैसे होता और इसको बंद कौन करता! आपका बल तो समाप्त हुआ जब कि बाहर न ताला है न कुंडी। अब रहा अंदरवाला—वह कौन है? कैसा है? अपना है या बेगाना—मालूम ही नहीं!

खैर, दरवाजा तो खटखटाइये; मालूम हो जायगा। खटखटाया—कोई आवाज नहीं ! चलिये, वापस चलें; लेकिन कहाँ ? सुना तो है कि वे यहीं होते हैं और कुछ दरवाजेकी बनावट भी इस बातका प्रमाण है कि भीतर 'कोई' है।

आइये, मिलकर आवाज दें !

ऐं ! दरवाजेके छिद्रोंसे कुछ किरणें निकलती मालूम होती हैं। अहा ! देखिये, इसके अंदर तो रोशनी भी है, जरूर कोई है। चलिये, फिर दरवाजा खटखटायें; क्या मालूम कोई बोल पड़े।

(सब मिलकर खटखटाते हैं)

आवाज नदारद !

प्रतीक्षा कीजिये, अधीरता ठीक नहीं। बादशाहों और सम्राटोंके दर्शनोंके लिये उनके दरवाजोंपर मुद्दतों बैठना पड़ता है।

(इतनेमें दरवाजेपर और लोग आ गये)

जीमें यह है कि दर पै किसीके पड़े रहें,
सर ज़ेरे बारे मिन्नते दरबाँ किये हुए।
दिल ढूँढता है फिर वही फ़ुरसतके रात-दिन
बैठे रहें तसव्वुरे जानाँ किये हुए॥

(मनमें अनादिकालसे छुपे हुए प्रेमकी वासना फिर प्रकट होकर भगवान्‌के दरवाजेको टटोल रही है; लेकिन वहाँ अहङ्काररूपी पहरेदार मौजूद है, जो अंदर नहीं जाने देता। यह उसके चरण पकड़कर कह रही है कि 'मेरे ऊपर तेरा बड़ा अहसान होगा अगर तू मुझको यहाँसे न उठाये।' मन फिर उस हृदयके एकान्त-को ढूँढ़ रहा है, जिसमें प्रभुका साक्षात्कार हो और कह रहा है कि 'वह समय शीघ्र फिर आये कि जब मैं सिवा अपने ध्येयके सब कुछ भूल जाऊँ; और यदि याद रहे तो केवल वही, जिसके ध्यानमें मैं सब कुछ भूलनेकी कोशिश कर रहा हूँ।')

सबने दरवाजा खटखटाना शुरू किया—आवाज नहीं, चिल्लाना शुरू किया—कुछ नहीं।

आखिर एक व्यक्ति निराश होकर धड़ामसे जमीनपर गिरा ! कौन है ?

बेचारा, गरीब, दीन-हीन, कंगाल, निरीह, बीमार, अपाहिज !!

(इतनेमें अंदरसे आवाज आती है) 'कौन है ? क्या है ? दरवाजेपर शोर कैसा है ?'

(एक सन्नाटा छाया हुआ है ! कुछ देरके बाद एक आवाज आती है)—'हम हैं तेरे पुजारी, हम हैं तेरे प्रेमी उपासक'।

(प्रश्न होता है) किस चीजसे मेरा पूजन करोगे ? किस प्रकार प्रेमका प्रकाश होगा ?

उत्तर—'हम तुझसे प्रेम करते हैं, दीपकोंसे तेरा पूजन करेंगे।'

(फिर आवाज) देखो, जाओ ! तुम्हारे सम्बन्धी तुमको बुला रहे हैं और तुम्हारे दीपक भी बुझे हुए हैं !

(प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दीपककी ओर देखता है, सब बुझे हुए हैं)

(वही आवाज) 'पहले इन दीपकोंको जलाओ, फिर अंदर आना। पुजारी बिना दीपकके, प्रेमी बिना प्रेमके ! क्या अजब तमाशा है !!

(फिर वही कठोरहृदय व्यक्ति)—भगवन् ! सचमुच हमारे दीपक बुझे हुए हैं और प्रेमका एक कण भी नहीं है। असलमें हम भिक्षुक हैं !

(वही आवाज) 'अच्छा, फिर क्या चाहते हो ?'

'हम आपसे वह दीपक माँगने आये हैं, जिनसे आपका पूजन कर सकें और वह प्रेम चाहते हैं, जिसमें तुम्हारे सिवा और कोई न हो। लीजिये, ये हैं हमारे टूटे भावोंकी बत्तियाँ और बुझे हुए प्रेमके दीपक ! प्रकाश एकमात्र तुम्हारे घरमें है, इसलिये तुझसे ही उम्मीद है। जला दे हमारे दीपकोंको, और हमको पूजन कर लेने दे, ऐ प्रेमके देवता ! ऐ दयाके सागर !!'

(वही आवाज)—'जाओ, कोई और घर ढूँढ़ो ! तुमको कैसे विश्वास है कि तुम्हारा मतलब यहाँ पूरा हो सकता है ?'

पुजारी—'आखिर कहाँ जायँ जब कि सब घर अँधेरे हैं ?'

(दरवाजा खोला जाता है, अंदरसे एक हाथ

निकलता है, जिसमें बड़ी खूबसूरत मोमबत्ती जल रही है।)

'आओ, और अपने दीपक जला लो इस आगसे।'

(सब दीपक आगे बढ़ते हैं। लेकिन कोई टूटे हैं, किसीमें बत्ती ही नहीं; वह प्रकाश बेकार जाता है)

(वही आवाज) 'तुम आये और साबत दीपक और बत्ती भी न लाये। जाओ, पहले ठीक सामान लाओ; फिर आना।'

(प्रेमी पुजारी)—'अब कहाँ जायँ ? सुना है इस घरमें बत्तियाँ और तेल भी बहुत है और अनन्त दीपक भी हैं। लाइये, भिखमंगोंको दीजिये। आखिर हम कोई गाहक तो हैं नहीं। हैं तो आखिर भिखमंगे ही। तू दाता है, हम भिखारी हैं !'

(फिर अंदरसे आवाज) 'ये भिखमंगे कौन हैं ?'

जवाब—'तेरे दीन-हीन, अकिञ्चन पुजारी—जिनके पास पूजनका कोई सामान नहीं। लेकिन उनके हृदयमें तेरे दर्शनकी तीव्र लालसा है।'

(दाताकी आवाज)—'अच्छा दो इनको जो कुछ चाहते हैं, सच्चे प्रार्थी मालूम होते हैं।'

(पहला हाथ दीपक बाँटता है)

(दूसरा तेल ढालता है)

(तीसरा बत्तियाँ देता है)

लेकिन पहला हाथ गुम हो जाता है, जिसमें मोमबत्ती थी। दीपक फिर बुझे हुए हैं। इस तरह फिर उनकी इच्छाको बढ़ाया जाता है और उनकी बेकसी और बेबसीको उनके सामने रक्खा जाता है।

(पुजारी) 'प्रभो ! सब सामान होनेपर भी तेरी कृपाकी आवश्यकता है। हमारा तो प्रत्येक श्वास तेरी ही कृपापर अवलम्बित है। इसलिये आ, और इनमें आग लगा दे, झुलसा दे, सुलगा दे !!

(तमाम बत्तियाँ जल उठती हैं लेकिन एकके बाद दूसरी बुझने लगती हैं।) क्यों ? दरवाजा खुला है, आँधी जोरोंसे चल रही है !

(फिर वही आवाज) मेरे प्रेमी ! आओ !! अंदर आ गये !

दरवाजा बंद कर लीजिये !

(फिर दुबारा दीपक जलते हैं)

सामने कौन बैठा है, जिसके दर्शनसे दुःख भाग रहे हैं, आनन्द बढ़ रहा है, दिलमें प्रेम उमड़ा आता है ?

ओहो ! यह तो विष्णुभगवान् हैं। क्या यही अंदरसे आवाजें दे रहे थे ? यहाँ तो करोड़ों सूर्योंका प्रकाश है, बड़े ही दयालु हैं। लेकिन लक्ष्मीजी तो हैं ही नहीं। अच्छा आइये, इन्हींका पूजन कर लें।'

(पूजन शुरू होता है, तत्काल लक्ष्मीजी आ जाती हैं, सब प्रणाम करते हैं)

लक्ष्मीजी—बेटो ! अब मैं तुम्हारे पूजनसे प्रसन्न हूँ। तुमने हृदयके द्वार खटखटाकर उसको ढूँढ़ा, जिसके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। तुमने उसका पूजन किया। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। मैं कभी भगवान्से पृथक् नहीं हो सकती। यदि तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारा साथ दूँ तो तुम सत् और धर्म और उनके पिता विष्णुभगवान्को न भूलो। एक ओर तुम्हारे अंदर ईश्वरीय प्रेम होगा और दूसरी ओर सांसारिक पदार्थ शोभा देंगे।

पुजारी—धन्य हमारी गरीबी ! पूजनके लिये न तो कोई भी सामान है और न कुछ सामग्री ही। ये उन्हींके दीपक, उन्हींकी बत्तियाँ और उन्हींका प्रकाश है, जिससे पूजन हो रहा है और सच तो यह है कि दरवाजे खोलनेवाले भी तो वह स्वयं आप ही हैं और बंद करनेवाले भी आप।

हम इससे अधिक क्या करें ? दरवाजेको खटखटाते रहें, जब उचित समझेंगे 'वे' खोल देंगे !

आइये, उसके दरवाजेको खटखटाइये। दरवाजा खुलेगा, दीपक माँगिये—जलते हुए। अंदर जाकर दरवाजे बंद कर लीजिये—वहाँ फिर विष्णुभगवान् और लक्ष्मीजी होंगे, पूजन समाप्त होगा। फिर अगर दिल चाहे तो दरवाजे खोलकर बाहर सैरको भी आ जाया करना !

वैष्णवधर्मका विकास और विस्तार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

वेदका मन्त्रभाग अनेक स्तवोंका भाण्डार है। इन स्तवोंके विषय हैं—अग्नि, जल, वायु, सूर्य आदि सत्ताएँ जो आधिभौतिक कहलाती हैं; किन्तु प्राचीन ऋषिवरोंने इन सत्ताओंके अभिमानी देवताओंका भी दर्शन किया था जो कि चेतन हैं। अधिष्ठात्री देवता-का नाम अधिष्ठेय द्रव्यके समान होता है, जैसे कि अग्नि (भौतिक) का अग्नि (चेतन); इसके विपरीत अधिष्ठाता चेतनका नाम अधिष्ठेय द्रव्यके नामसे भिन्न भी होता है, जैसे जलका अधिष्ठाता वरुण[1]।

आकार[2], शस्त्रास्त्र[3], गृह[4], जाया[5], वाहन[6], शत्रुदमन[7] आदि लक्षणोंके वर्णनसे चेतन देवताओंके अस्तित्व-में विश्वास दृढ़ हो जाता है। यह आधिदैविक सत्ता कहलाती है।

आध्यात्मिक-सत्ताविषयक ऋषियोंके अनुभवमें कोई सन्देह नहीं है। निम्नाङ्कित मन्त्र दिग्दर्शनके लिये दिया जाता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे
सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयु-
स्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जीभ, नाक, मन और बुद्धि—ये सात ऋषि शरीरमें स्थित हैं और वे सावधान होकर सदा इसकी रक्षा करते हैं। देहमें व्याप्त ये सातों हृदयाकाशनिवासी जीवके साथ स्वप्नावस्थामें मिल जाते हैं, किन्तु प्राण और अपान उस समय भी कार्य करते रहते हैं। वे नहीं सोते। वे जीवन-सूचक हैं।

उपर्युक्त तीनों सत्ताओंको विभिन्न दृष्टिसे देखने-वाले भी महर्षि एक ऐसी तुरीय सत्ताका अनुभव करते थे जो इन तीनोंमें—अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्ममें—इस प्रकार व्याप्त, व्यापक किंवा प्रविष्ट है जैसे मालाके दानोंमें डोरा[8]। सर्वत्र प्रविष्ट इस सर्वोत्कृष्ट सत्ताको वैदिक साहित्यमें 'विष्णु' कहा गया है। यह सत्ता अधियज्ञ[9] है। यज्ञोंमें इसी इज्यका यजन होता है।

'विष्[10]' धातुमें 'नु' प्रत्यय लगानेसे 'विष्णु' शब्द सिद्ध होता है। 'वेवेष्टि[11] इति विष्णुः।' जो चर-अचरमें, जड-चेतनमें व्याप्त है, सबमें समाया हुआ है, वह विष्णु है।

'विष्णु' शब्दके सूर्य,[12] वसु[13], अग्नि आदि अनेक अर्थ होनेपर भी दार्शनिक चर्चामें 'विष्णु' शब्दका वाच्यार्थ वही परम सत्ता है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

अन्य देवताओंके सूक्तोंकी अपेक्षा वेदमें विष्णु-सूक्त संख्यामें कम हैं। किन्तु इससे विष्णुके गौरवमें लाघव नहीं आ सकता। संख्यामें न्यूनता माहात्म्यकी

१. वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु (अथर्व० ५ । २४ । ४)
२. ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू (वेद)
३. यः सोमपा निचितो वज्रबाहुः (,,)
४. सुरणं गृहं ते (,,)
५. कल्याणीर्जाया (,,)
६. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि (,,)
७. यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् (,,)
८. मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। (गीता)
९. अधियज्ञोऽहमेवात्र (गीता)
१०. 'विषेः किच्च' (उणादि सूत्र)
११. 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादिगणीय धातु)
१२. द्वादश आदित्योंमेंसे एकका नाम विष्णु है।
१३. आठ वसुओंमेंसे एकका नाम विष्णु है।

बाधक नहीं हो सकती। यह तो विद्वानोंको विदित ही है कि वेदमें कर्ममीमांसाकी अपेक्षा ब्रह्ममीमांसाकी ऋचाएँ न्यून हैं, किन्तु इस न्यूनतासे ब्रह्ममीमांसाका तिरस्कार नहीं हो सकता। त्रिलोकपावनी विमलोदका गङ्गानदीका नाम वेदमें केवल एक बार[१४] ही आया है। क्या इससे उस दिव्य सरिताकी दिव्यतामें कुछ ह्रास आता है? नहीं। इसी प्रकार वेदोंमें वैष्णव-सूक्तोंके कम होनेपर भी विष्णुकी महिमा स्वतः सिद्ध है। वह सब देवताओंमें वरिष्ठ[१५] है।

वेदमें विष्णुके सम्बन्धमें जो स्तव हैं, उनसे हम इन सिद्धान्तोंपर पहुँचते हैं—

१—यः पार्थिवानि विममे रजांसि=जिसने इन भौतिक भुवनोंका निर्माण किया।

२—यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थम्=जिसने ऊपरकी निवासभूमिको अर्थात् तारामण्डलमण्डित गगनको रोक रक्खा है, धारण कर रक्खा है। 'अस्कभायत्' शब्द 'स्कम्भु' धातुसे निष्पन्न होता है। यह सौत्र धातु है; क्योंकि पाणिनिके सूत्रपाठसे ही इसका ज्ञान होता है, धातुपाठसे नहीं। इसके दो अर्थ हैं—(अ) रोधन और (आ) धारण। इसी स्कम्भन नामक गुणके कारण विष्णुका नाम स्कम्भ भी है। 'स्कभ्नाति स्कभ्नोति वा इति स्कम्भः।' वेदमें जो स्कम्भ-सूक्त[१६] है, वह भी मनीषियोंद्वारा मननीय है।

३—(अ) विचक्रमाणः त्रेधा=जिसने तीन प्रकारसे विक्रमण किया।

(आ) इदं विष्णुर्विचक्रमे=विष्णुने इस (विश्व) का विक्रमण किया।

(इ) त्रीणि पदा विचक्रमे=विष्णुने तीन चरण रक्खे।

(ई) यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा=जिसके तीन विस्तृत विक्रमणोंमें सारे लोक निवास करते हैं।

इन वर्णनोंसे विष्णुके नाम उरुक्रम और त्रिविक्रम[१७] पड़े हैं। अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म—इन तीनोंमें अथवा ऊर्ध्व (स्वर्ग), मध्य (मर्त्य) और अधः (पाताल) में विष्णुका विक्रमण—विशेष गति—व्याप्ति है।

४—उरुगायः=जिसकी महिमाका विपुल गान होता है।

५—गोपाः=(गाम् पाति इति) विश्वका पालन करनेवाला।

६—तद्विष्णोः[१८] परमं पदम्=विष्णुका पद परम अर्थात् उत्कृष्ट है।

---

१४. "The Ganges itself is already known, for its name is mentioned directly in one passage of the Rgveda and indirectly in another."

'A History of Sanskrit literature' by Macdonell.

१५. तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठः (शतपथ)

१६. स्कम्भसूक्त अथर्व० १०। ७ दिग्दर्शनार्थः—

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे
स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः
स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ वां मन्त्र
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्नवः
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
३३ वाँ मन्त्र

१७. (अ) विलासविक्रमाक्रान्तत्रैलोक्यचरणाम्बुज (जितंते-स्तोत्र)

(आ) विलासविक्रान्तपरावरालयं
नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षणम्।
धनं मदीयं तव पादपङ्कजं
कदा नु साक्षात्करवाणि चक्षुषा ॥ (यामुनाचार्य)

(इ) त्रैलोक्याक्रमण प्रवृत्तगम्भीरभावः (रामानुजाचार्य)

१८. (अ) सुदुर्लभं यत् परमं पदं हरेः।

(आ) आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद् विष्णोः परमं पदम् (भागवत)

७–तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते=उस परमपदको मेधावी, जागरूक स्तोतृगण प्राप्त करते हैं।

८–सदा पश्यन्ति सूरयः=विद्वान् विष्णुके परम पदका दर्शन करते हैं।

९–नरा यत्र देवयवो[19] मदन्ति=विष्णुके परमपदमें दैवी सम्पत्तिवाले व्यक्ति आनन्द लाभ करते हैं।

१०–इन्द्रस्य युज्यः सखा=विष्णु इन्द्रके योग्य सुहृत् हैं।

११–क्षयन्तमस्य रजसः पराके=विष्णुका वास इस रजसे–भौतिक विश्वसे—परे है।

१२–यत्र गावो[20] भूरिशृङ्गा अयासः=विष्णुके निवास-स्थानमें गायें हैं।

१३–विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः=विष्णुके परम-पदमें मधुका स्रोत है।

१४–त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम=इस पुरातन (विष्णु) का नाम प्रकाशरूप है अथवा प्रकाशक है।

१५–त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः=बहुत कीर्त्तिवाले विष्णु ! तुम प्रणाम करनेयोग्य हो।

विष्णुके उत्तम वैभवका इस प्रकार प्रतिपादन करके वेदमें विष्णुलोककी प्राप्तिकी कामना बतायी गयी है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्[21]=मैं विष्णुके प्रिय धामको प्राप्त करूँ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै=हम सब तुम दोनोंके लोकमें जानेकी अभिलाषा करते हैं।

विष्णुकी कृपाके लिये प्रार्थना इस प्रकार की गयी है—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे=हे विष्णो ! आप महान् हैं। आपकी सुमतिका—दयादृष्टिका—हम भजन करते हैं।

विष्णुका दूसरा नाम है पुरुष। ये सारे लोक पुरी हैं; [इमे वै लोकाः पूः]। जो इस पुरीमें शयन करता है, वह पुरुष है [सोऽस्यां पुरि शेते, तस्मात् पुरुषः]। पुरुषके माहात्म्यका प्रतिपादक सोलह ऋचाओं-वाला सूक्त[22] पुरुषसूक्तके नामसे अत्यन्त प्रसिद्ध है और उसके द्वारा विष्णुका पूजन किया जाता है। इस सूक्तका सार यह है कि—

१–पुरुष इस भूमिका सब ओरसे पालन करके इससे परे भी रहा[23]।

२–जो कुछ हुआ है और होगा, सब पुरुष ही है[24]।

३–समस्त प्राणी इसका एक चरण है और इसके तीन चरण अमृत हैं, जो कि द्युलोकमें हैं[25]।

४–पुरुषने सब ओर विक्रमण किया—जड़की ओर और चेतनकी ओर[26] [विष्णुकी त्रिविक्रमता ही पुरुषकी विष्वग्विक्रमता है]।

---

१९. यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (वेद)

२०. गोकुल और गोलोककी पवित्र भावना

२१. समानार्थक प्रयोग—(अ) सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।

(आ) सा या ब्रह्मणि चितिर्या व्युष्टिस्ता चितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद (उपनिषद्)

२२. ऋग्वेद, दशम मण्डल, सूक्त ९०।

२३. स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। (यजुर्वेद) स्पृत्वा=पालयित्वा। स्पृ प्रीतिपालनयोः स्वादिगणे। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। (ऋग्वेद)

२४. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

२५. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः॥

२६. ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।

५–इससे ही विराट्की उत्पत्ति हुई[२७]।

६–उसी यज्ञपुरुष (यजनीय विष्णु) से ऋगादि[२८] वेद, इन्द्र,[२९] अग्नि, वायु,[३०] अन्तरिक्ष,[३१] आकाश, सूर्य,[३२] चन्द्रमा, भूमि, दिशाएँ, अनेक लोक, ब्राह्मणादि[३३] वर्ण, ग्राम्य पशु[३४] एवं आरण्य पशु उत्पन्न हुए।

यजुर्वेदमें जो पुरुषसूक्त है, उसमें ६ मन्त्र और हैं, जिनमें कहा गया है कि उस महान् पुरुषका वर्ण आदित्यके[३५] समान है और वह तमस् (तमोगुण, अन्धकार, प्रकृति) से परे है। उस पुरुषको जानकर ही मनुष्य मृत्युका अतिक्रमण कर सकता है। इसके अतिरिक्त रक्षाका और कोई उपाय[३६] है ही नहीं। प्रजापति[३७] गर्भमें विचरण करता है किन्तु उत्पन्न न होता हुआ भी अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। उसके उत्पत्तिस्थानको[३८] धीरजन ही देखते हैं। उस प्रजापति पुरुषमें विश्व भुवन[३९]—सारे लोक—स्थित हैं। पुरुष देवोंका[४०] रक्षक है; उनका पुरोहित है। वह देवताओंसे पहले प्रकट हुआ था। ऐसे ब्राह्मनेजके[४१] लिये नमस्कार। जो ब्राह्मण[४२] इस तत्त्वको जान लेता है, देवता भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। अन्तमें प्रार्थना है कि 'हे पुरुष! श्री[४३] और लक्ष्मी आपकी पत्नियाँ हैं, दिन और रात पार्श्व हैं, नक्षत्र ही रूप हैं। मेरे लिये इस लोक और उस लोकमें मङ्गलकी भावना कीजिये।'

पुरुषसूक्तपर व्याख्यान करते हुए शतपथमें पुरुषका दूसरा नाम 'नारायण' दिया गया है, जैसा कि इस वचनसे विदित होता है—'पुरुषो ह नारायणोऽकामयत अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि।' पुरुषके लिये 'नारायण' पदका प्रयोग और भी जगह आया है। यथा—'नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन।'

'विष्णु' शब्दका और 'पुरुष' शब्दका जैसा अर्थ है, वैसा ही 'नारायण' शब्दका भी है। सब नरोंमें—जीवोंमें—जिसका अयन=धाम=निवास हो, वह नारायण[४४] है।

२७. ततो विराडजायत।
२८. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥
२९. मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत। (ऋग॰)
३०. श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। (यजु:॰)
३१. नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्।
३२. चक्षोः सूर्यो अजायत।
३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।
३४. पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।
३५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
३६. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
३७. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
३८. तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः।
३९. तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
४०. यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः पूर्वो यो देवेभ्यो जातः·········।
४१. नमो रुचाय ब्राह्मये।
४२. यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन् वशे।
४३. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ।
४४. अ–नराणां समूहो नारम्। 'तस्य समूहः' (पाणिनि ४। २। ३७) इत्यण्। तत् अयनम् अस्य इति नारायणः।
यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥
आ–आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥ (मनुः)
इ–क्वचिन्मन्वन्तरे नरस्यर्षेरपत्यत्वमुपगत इति नरस्यापत्यं पुमान् नारायणः। 'नडादिभ्यः फक्' (४। १। ९९ पाणिनिः)।

प्राचीन कालमें पुरुषसूक्तद्वारा पुरुषमेधयज्ञ होता था। इसमें हिंसा[45] नहीं होती थी प्रत्युत घृताहुति ही दी जाती थी। इस यज्ञके अनुष्ठानमें पाँच[46] दिन लग जाते थे, इसी कारणसे पुरुषमेधको पञ्चरात्र कहा जाता था (स वा एष पुरुषमेधः पञ्चरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति)। यह पञ्चरात्र विष्णूपासकोंका एक विशेष यज्ञ था, अतएव आगे चलकर उनका सम्प्रदाय 'पाञ्चरात्र' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

पञ्चरात्रमें हिंसा-व्यापार नहीं होता था। इस यज्ञके करनेवाले सत्त्वगुणभूयिष्ठ होनेके कारण सत्त्ववत् नामसे प्रसिद्ध हो गये। इसी 'सत्त्ववत्' शब्दके द्वितीय वकारके नाशसे सत्वत् शब्द प्रचलित हो गया। इस प्रकारका वर्णनाश भाषातत्त्व-वेत्ताओंसे तिरोहित नहीं है। पञ्चविध निरुक्तमें इसकी गणना की गयी है। एवं अंग्रेजीमें 'हैप्लोलॉजी' नामक नियमके उदाहरणमें ऐसे ही प्रयोग उपन्यस्त हुए हैं। 'सत्वत्' शब्दका प्रयोग शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणमें भी हुआ है। सत्त्वगुण-भूयिष्ठ होनेके कारण वैष्णवधर्मका नाम 'सात्वत धर्म' पड़ गया। 'सत्वताम् (=सत्त्ववताम्) इदम् इति सात्वतम्।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मान्तर्गत नारायणीय[47] पर्व है। जैसा कि नामसे ही विदित होता है, उसमें नारायणकी महिमाका वर्णन है और उस महिमाके प्रख्यापक शास्त्र और विधिका 'पाञ्चरात्र' और 'सात्वत' शब्दोंसे निर्देश है।

पाञ्चरात्रिक सत्त्वनिष्ठ महात्मा अपने आराध्यदेवको 'भगवत्' नामसे भी पुकारते थे। पूज्यार्थमें 'भगवत्[48]' शब्दका प्रयोग वैदिक सूक्तोंमें भी है। भगवान्के उपासक भागवत कहलाये और उनका मत भी 'भागवतधर्म' नामसे विदित हुआ।

नारायणके यों तो सहस्र नाम[49] प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनका 'वासुदेव[50]' नाम भक्तोंमें बहुत प्रचलित रहा है। जो देव विश्वमें वास करता है, वह वासुदेव है—

सर्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते॥

भागवतधर्ममें 'भगवान्' और 'वासुदेव' शब्दोंका प्रयोग प्रचुरतया होता रहा है। इन दोनों नामोंका समावेश द्वादशाक्षर मन्त्रमें है।

विष्णु, पुरुष, नारायण, भगवान् और वासुदेव पर्याय हैं। इसी प्रकार वैष्णवधर्म, सात्त्वतधर्म, पाञ्चरात्र और भागवतधर्म भी पर्याय हैं।

४५. पुरुष मा संतिष्ठिपो यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यति। (शतपथ)

४६. तस्याग्निष्टोमः प्रथममहर्भवति। अथोक्थ्योऽथातिरात्रो-ऽथोक्थ्योऽथाग्निष्टोमः। (शतपथ)

प्रथम दिन—अग्निष्टोम
द्वितीय दिन—उक्थ्य
तृतीय दिन—अतिरात्र
चतुर्थ दिन—उक्थ्य
पञ्चम दिन—अग्निष्टोम

४७. नारायणीय आख्यान शान्तिपर्वके ३३४ वें अध्यायसे ३५१ वें अध्यायतक सप्तदशाध्यायात्मक है।

४८. भगो वा भगवाँ अस्तु। वय भगवन्तः स्याम। ऋग्वेद भगवोऽध्येमि।

४९. महाभारतके अनुशासनपर्वमें।

५०. अ—विभजत्यात्मनाऽऽत्मानं वासुदेवः परः प्रभुः।
अनुज्झितस्वरूपस्तु प्राग्भागे षड्गुणात्मना॥
बलसंवलितेनैव ज्ञानेनास्तेऽथ दक्षिणे।
ऐश्वर्येण तु वीर्येण प्रत्यग्भागे प्रतिष्ठितः॥
तेजःशक्त्यात्मना सौम्ये संस्थितः परमेश्वरः।
(सात्वतसंहिता ३। ५-७)

वासुदेव = षाड्गुण्यमूर्त्ति
संकर्षण = ज्ञानबलमूर्त्ति
प्रद्युम्न = वीर्यैश्वर्यमूर्त्ति
अनिरुद्ध = शक्तितेजोमूर्त्ति

आ—प्राच्यां सितेन वपुषा सूर्यकान्त्यधिकेन तु।
व्यक्तिमभ्येति भगवान् वासुदेवात्मना स्वयम्॥
(सा० सं० ४। ८)

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[१]

आज जब हमारा जीवन अन्धकारसे भर गया है और जब हमारी सभ्यता और संस्कृति एक बहुत ही संकटापन्न अवस्थासे गुजर रही है; जब घर-घरमें कलह, प्रमाद, अशान्ति है; जब प्रत्येक वर्ग अपने धर्मसे, अपने कर्तव्य और जिम्मेदारीसे दूर हट गया है तब निराशाके इस अँधेरेमें डूब-से रहे दिलके सामने प्राचीन कालकी एक ज्योति-परम्परा रह-रहकर मानो चमक उठती है। मेरा तात्पर्य उन सतियोंसे है, जिन्होंने अपने त्यागसे नारीत्वको सभ्यताके उच्च आसनपर बैठाया है—वे सतियाँ जो हजारों वर्षके बाद भी मानो एक जीवित, अक्षय प्रकाश-पुञ्जकी तरह हमारे आत्म-विस्मृत, मूर्च्छित जीवनके चारों ओर घूम रही हैं। आजके इस युगमें जब श्रद्धाका स्थान कुतर्कने छीन लिया है, जब अन्तःसद्गुणोंकी जगह बाहरी टीमटाम और शेखियोंने ले ली है; जब अपनी वञ्चनाओंमें व्यक्ति और समाज भूले हुए हैं तब किसको लेकर हमारी प्राण-धारा बनी है? क्या उन नारियोंको लेकर नहीं, जिन्होंने अपने अक्षय दानसे अन्नपूर्णा और लक्ष्मीकी भाँति मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ परम्पराको जीवित रक्खा; जिन्होंने अपनी तपस्या और कष्ट-सहनद्वारा मानवताको मातृत्वके अमृतसे सींचा; जिन्होंने मनुष्यसे पशुत्वका परिष्कार करके उसमें देवत्वकी स्थापना की?

मैं मानता हूँ कि आज जब नारीके गौरवपर प्रश्न-चिह्न लगानेका समय आया है तब आजकी आधुनिक सभ्यताके शत-शत प्रलोभनोंके बीच चलनेवाली माताएँ, बहनें, बेटियाँ उन प्राचीन सतियोंके जीवनसे न केवल रास्ता पा सकती हैं बल्कि जीवनके कण्टकपूर्ण मार्गपर चलनेका बल भी प्राप्त कर सकती हैं।

और तब यह अच्छा होगा कि आज मैं अपनी बहनोंको पुराने ज़मानेकी एक कथा सुना दूँ। मुझे विश्वास है, इससे उनका कल्याण होगा।

[२]

एक बारकी बात है कि राजा वेणुने विष्णुभगवान्से पूछा—पुत्र, पत्नी, पिता, माता और गुरुको 'तीर्थ' कहा गया है। ये किस प्रकार तीर्थ हैं, यह मुझे ज़रा विस्तारसे समझाइये।

भगवान्ने कहा—तुमने बड़ा अच्छा सवाल पूछा है। मैं तुम्हें सब बातें समझाकर कहता हूँ। तुम (पहले, पत्नी 'तीर्थ' कैसे है इसे) मन लगाकर सुनो।

बहुत दिन हुए, पुण्यधाम काशीमें एक वैश्य रहते थे। उनका नाम कृकल था। वे धर्मज्ञ, ज्ञानी, गुणवान्, शास्त्र तथा धर्मग्रन्थोंमें श्रद्धा रखनेवाले थे। उन्हींकी भाँति उनकी पत्नी सुकला भी सर्वगुणसम्पन्न थी। वह साध्वी, पतिभक्त, सत्यवादिनी, धर्माचारपरायणा थी। एक बारकी बात है कि गुरुजनोंके मुँहसे तीर्थयात्राका माहात्म्य और उससे मिलनेवाले पुण्यफलोंकी कथा सुनकर कृकलने तीर्थयात्राका निश्चय किया। जब वह चलने लगे तो पतिव्रता सुकलाने कहा—'हे प्रिय! मैं आपकी सहधर्मिणी हूँ। जिस मार्गसे आप जायँ उसीका अनुगमन मुझे करना चाहिये। आपकी पूजा ही हमारा धर्म है। इसलिये मैं भी आपके साथ चलूँगी—आपकी सेवा करते हुए आपकी छायामें रहकर धर्माचरण करूँगी। पातिव्रत ही स्त्रीका धर्म है; इसीसे उसकी सद्गति होती है। स्त्रीके लिये पति ही सुख है, पति ही स्वर्ग है, पति ही मोक्ष है। उसके लिये पतिके सिवा दूसरा तीर्थ नहीं है; पति सर्वतीर्थमय और सर्वपुण्यमय है। हे प्रिय! मैं आपका आश्रय छोड़कर यहाँ न रहूँगी; आपके साथ चलूँगी।'

कृकल जानते थे कि तीर्थयात्रा कितनी कठिन

होती है; इसलिये पत्नीके रूप, रंग, वयस्, कोमलताका विचार बार-बार उनके मनमें आने लगा। वह सोचने लगे कि 'शीत, धूप, आँधी, पानी, कठिन पथरीले और कँटीले मार्गके कारण इसका बुरा हाल हो जायगा। सोने-सा चमकनेवाला इसका मुख फीका हो जायगा—रूप नष्ट हो जायगा; पाँवोंमें छाले पड़ जायँगे; भूख-प्याससे यह निर्जीव-सी हो जायगी। इसीसे मेरा जीवन और मेरा धर्म है; इसका नाश होनेसे मेरा सर्वनाश हो जायगा। यही मेरी जीविका है; यही मेरी प्राणेश्वरी है। तब कैसे इसे तीर्थयात्रामें साथ ले जा सकता हूँ। नहीं; मुझे अकेले ही जाना चाहिये—इसे नहीं ले जाना चाहिये।'

पतिको विचारमग्न देख सुकला समझ गयी कि इनके मनमें क्या भावनाएँ आ रही हैं और क्यों हिच-किचाहट हो रही है। तब उसने हाथ जोड़कर पतिसे कहा—'प्राणप्रिय! निर्दोष नारीका त्याग करना पति-का कर्तव्य नहीं है। पत्नी ही पुरुषका धर्ममूल है। इसलिये आप मुझे साथ ले चलिये।'

परन्तु कृकलने उसकी बात न मानी। ऊपरसे तो उसे आश्वासन देते और कहते रहे कि मैं तुमको ले चलूँगा, पर मनमें उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इसके कल्याणके लिये ही इसको साथ ले चलना ठीक न होगा।

जब सुकला पतिकी बातोंसे सन्तुष्ट होकर घरके दूसरे कामोंमें लग गयी तब उपयुक्त समय पाकर कृकल, अपने साथियोंके साथ, चुपकेसे रवाना हो गये। जब देवार्चनका समय हुआ और सुकलाने, खोजनेपर भी, घरमें कहीं पतिको न देखा तब वह व्याकुल होकर रोने लगी। उसने इधर-उधर लोगोंसे पता लगाया तो मालूम हुआ कि पतिदेव तीर्थयात्राको चले गये हैं। पतिके इस प्रकार चले जाने और अपनेको साथ न ले जानेसे उसे बड़ा दुःख हुआ। बहुत देरतक वह अपने कमरे-में बैठकर रोती रही। अन्तमें जब मनका बोझ कुछ हलका हुआ तब उसने निश्चय किया कि जबतक मेरे पति लौटकर घर नहीं आयेंगे तबतक मैं पृथ्वीपर सोऊँगी; घी, तेल, दही और दूध नहीं खाऊँगी; नमक, पान, गुड़ इत्यादि समस्त स्वाद उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंका त्याग करूँगी तथा कभी एक समय खाकर, कभी पूरी तरह निराहार रहकर ही समय बिताऊँगी।

उसने अपने निश्चयके अनुसार शृङ्गारकी भावना-तकका त्याग कर दिया। कभी खाती, कभी न खाती। जमीनपर पड़ रहती और सदैव पतिके ध्यानमें मग्न रहती। उसने दिव्य वस्त्र उतार दिये और बहुत साधारण, आकर्षणहीन वस्त्र धारण कर लिये। धीरे-धीरे पति-वियोगके दुःखसे और एकाहार, अनाहार तथा जीवनकी अनेक सुविधाओंके छोड़ देनेसे, उसका शरीर पीला पड़ गया। वह बिल्कुल दुबली हो गयी। कभी रोती, कभी हाहाकार करती। रोते रहनेसे उसे अनिद्राका रोग हो गया। खाने-पीनेकी उसे रुचि ही न होती थी।

उसकी यह हालत देखकर उसकी सहेलियाँ बड़ी चिन्तित हुईं। वे उसके पास आयीं और प्रेमसे पूछने लगीं कि 'तुमने अपना यह क्या हाल कर रक्खा है; क्यों तुम इतनी दुःखी हो?' सुकलाने कहा—'धर्मात्मा पति मुझे छोड़कर तीर्थयात्रापर चले गये हैं। मैं पापरहित हूँ; निर्दोष हूँ। स्वामीने मुझे छोड़ दिया है। हे सखियो! मैं इसी दुःखसे सदा दुखित रहती हूँ। पतिद्वारा छोड़े जानेसे तो प्राण-त्याग करना भी अच्छा है। मुझसे अब यह दारुण वियोग सहा नहीं जाता।'

सखियाँ उसे तरह-तरहसे समझाने लगीं। उन्होंने कहा—'सखी! तुम व्यर्थ दुःख कर रही हो। तीर्थ-यात्रा करके तुम्हारे पति फिर घर लौट आयेंगे। क्यों तुम अपना शरीर इस प्रकार सुखा रही हो। देखो,

तुम्हारा सोने-सा शरीर मिट्टी हो रहा है। तुमने अपना क्या हाल कर रक्खा है। उठो, खाओ, पियो और अपने लिये उचित समस्त भोगोंको अपनाओ। प्यारी सखी! इन बातोंमें क्या रक्खा है? कौन किसका पति है, कौन किसका पुत्र है, कौन किसका भाई है? इस संसारमें किसके साथ किसका क्या सम्बन्ध है? खाना-पीना, मौज उड़ाना, जो कुछ मिला है उसका उपभोग करना, यही सब तो संसारफल है। मनुष्यके मर जानेपर फिर फलका उपभोग कौन करता है, कौन फिर उसे देखने आता है?'

सुकला बोली—'सखियो! तुमने जो कुछ कहा है वह मेरी अवस्थासे दुखित होकर, मेरी भलाईके विचारसे ही कहा है। इस प्रेम और सहानुभूतिके लिये मैं तुम्हारा आभार मानती हूँ। पर तुमने जो कुछ कहा है, वह वेद-सम्मत नहीं है। धर्म और शास्त्र उसका अनुमोदन नहीं करते। जो नारी पतिसे दूर होकर अकेली रहती है, उसे पापिनी समझा और कहा जाता है। शास्त्रका नियम यही है कि स्त्रीको सदा पतिके साथ रहना चाहिये। शास्त्रोंमें पतिको ही नारीके लिये तीर्थ कहा गया है। इसलिये शरीरसे, मनसे, वचनसे उसे सदा पतिका ही आवाहन करना चाहिये और पतिकी ही पूजा करनी चाहिये। पतिका आश्रय लेकर, उसके साथ बायीं तरफ बैठकर स्त्रीको गार्हस्थ्य धर्मका आचरण करना चाहिये और दान तथा पूजा इत्यादि करनी चाहिये। इस प्रकारके दान-पुण्यकी बड़ी महिमा है। यहाँतक कहा गया है कि वैसा फल काशी, गङ्गा, पुष्कर, द्वारका, अवन्ती, केदार अथवा चन्द्रशेखर—कहींपर भी पूजा करनेवाली स्त्रीको नहीं मिल सकता। सखियो! पतिके प्रसादसे सुख, पुत्र, सौभाग्य, भूषण, वस्त्र, तेज, यश, गुण—सब कुछ प्राप्त होता है। पतिके रहते जो स्त्री दूसरे धर्मका आचरण करती है, उसका वह धर्म निष्फल हो जाता है। जो स्त्री इस संसारमें पतिहीना होती है उसे सुख, रूप, यश, पुत्र कहाँ मिलता है? वह संसारमें सदा दुर्भाग्य और दुःख भोगती है। पतिके प्रसन्न रहनेसे समस्त देवता स्त्रीसे प्रसन्न रहते हैं। देव, ऋषि, मनुष्य सभी पतिके सन्तुष्ट रहनेसे सन्तुष्ट रहते हैं। इसलिये पति ही स्त्रीका स्वामी, पति ही गुरु, पति ही देवता और पति ही स्त्रीका तीर्थ एवं पुण्य है। पतिके रहनेपर ही नारी शृङ्गार और भूषणसे सुशोभित होती है। पतिके विना ये चीजें साँपके मुँहके अंदरके दूधके समान हैं। नारी पतिके लिये ही महाभागा, सुव्रता और चारुमङ्गला है। पतिके मर जानेपर यदि नारी शृङ्गार करती है तो उसका रूप, वर्ण सब कुछ शवरूप होता है। लोग उसे पुंश्चली कहते हैं। मैंने सदा इसी विचार और प्रणालीका अनुसरण किया। तब मुझे पतिने क्यों छोड़ा? सखियो! इस समय मुझे सुदेवाकी एक पुरानी कथा याद आ रही है।'

सखियोंके मनमें यह जाननेकी बड़ी उत्सुकता हुई कि यह सुदेवा कौन थी। उनके आग्रहपर सुकलाने कहना आरम्भ किया—'उन दिनों सब धर्मोंको जाननेवाले मनुके पुत्र महाराज इक्ष्वाकु अयोध्याके राजा थे। महाराज इक्ष्वाकु बड़े ही ज्ञानवान् तथा धर्मात्मा पुरुष थे। उनकी तरह उनकी पत्नी सुदेवा भी परम पतिव्रता और पुण्यचरिता थी। यह सुदेवा काशीके राजा वेदराजकी पुत्री थी। गुणके साथ रूपका उसमें अद्भुत संयोग था। महाराज इक्ष्वाकु पत्नीको बहुत अधिक प्रेम करते थे। वह सदा उसे अपने साथ रखते थे और रानी सुदेवा भी छायाकी भाँति उनके साथ रहती थी। एक बार सुदेवाके साथ इक्ष्वाकु जंगलमें शिकारके लिये गये। बड़ी देरतक वह शिकार करते रहे। फिर एक स्थानपर बैठकर विश्राम करने लगे। इसी समय उनको एक सूअर दिखायी पड़ा। वह पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ था और उसकी पत्नी शूकरी भी उसके बगलमें थी। वह बूढ़ा

सूअर महाराज इक्ष्वाकुको देखकर पत्नी इत्यादिके साथ पहाड़के एक सुरक्षित हिस्सेमें बैठ गया और अपने पुत्र-पौत्रोंका विचार करके पत्नीसे बोला—'प्रिये ! मनुपुत्र महाबली महाराज इक्ष्वाकु शिकार करते हुए यहाँ घूम रहे हैं। वह मुझे देखकर इस ओर भी आयेंगे और मुझपर आघात करेंगे।' पतिको कातर होते देख शूकरी बोली—'प्रिय ! जब कभी तुम देखते थे कि मेरी ओर योद्धा, शिकारी, व्याध आ रहे हैं तभी तुम पुत्र-पौत्रोंके साथ बहुत दूर घने जंगलमें चले जाते थे। तब आज तुम प्राण देनेके लिये यहाँ क्यों आकर बैठे हो ? क्या तुम्हें महाराजका भय नहीं है ?' शूकरने उत्तर दिया—'प्रिये ! सुन, मैं बताता हूँ कि क्यों मैं व्याधोंसे डरा करता हूँ और क्यों महाराजके द्वारा प्राण-त्यागके भयसे भीत नहीं हूँ। व्याध यह सुनकर कि यहाँ बहुतसे शूकर हैं, आते हैं। वे पापी और दुष्ट हैं। वे इस दुर्गम स्थानमें आकर पापाचार करते हैं। इन पापियोंके हाथों अपनी मृत्यु न हो, इसी भयसे मैं भाग जाया करता हूँ; क्योंकि उनके हाथों मरनेपर मेरी सद्गति न होगी, पुनः पापका आश्रय लेना पड़ेगा। प्रिये ! अपमृत्युके भयसे ही मैं पहले दूर भाग जाया करता था। परन्तु आज महाराजके दर्शन हुए हैं। ये परम धर्मात्मा राजा हैं। मैं अपने समस्त बल और पौरुषके साथ इनसे युद्ध करूँगा। यदि अपने तेजसे राजाको जीत सका तो संसारमें मेरा यश फैल जायगा और यदि उनके हाथसे मारा गया तो विष्णुलोकमें जाऊँगा। दोनों प्रकारसे मेरे लिये उत्तम अवसर आया है। तब मैं क्यों भागूँ ? पूर्व जन्मोंमें न जाने क्या-क्या पाप किये थे कि शूकर-योनिमें जन्म हुआ। आज मेरे समस्त पाप राजाकी बाण-वर्षासे धुल जायँगे। इसलिये प्रिये ! मेरा स्नेह छोड़कर पुत्र, पौत्र, कुटुम्ब सबके साथ तुम दूरकी किसी सुरक्षित गुफामें चली जाओ। वह देखो साक्षात् विष्णुके समान राजा इधर आ रहे हैं; मैं इनके हाथों मरकर सद्गति प्राप्त करूँगा। आज मेरे भाग्यसे स्वर्गके द्वार मेरे लिये खुल गये हैं। इस अवसरपर चूकना बुद्धिमानी न होगी।'

सुकला बोली—सखियो ! शूकरकी बातोंसे शूकरीको स्वभावतः बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—'तुम यूथके स्वामी हो। तुम्हींसे इसकी शोभा है। तुम्हारे बल और तुम्हारे ही तेजसे तुम्हारे पुत्र-पौत्र तथा अन्य वराह गर्जन करते हैं। तुम्हारे तेजसे ही उनका तेज है; तुम्हारे बलसे ही उनका बल है। जब तुम उनका त्याग कर दोगे तो वे दीन, हीन, ज्ञानशून्य हो जायँगे। जिस प्रकार सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होनेपर तथा पिता, माता, भाई, सास, ससुर और दूसरे सब कुटुम्बियोंसे घिरी होनेपर भी पतिहीना नारी शोभा नहीं पाती; चन्द्रहीन रजनी, पुत्रहीन कुल और दीपहीन गृह जिस तरह कभी शोभा नहीं पाता उसी तरह तुम्हारे बिना यह यूथ शोभा नहीं पायेगा। आचारहीन मनुष्य, ज्ञानहीन यति और मन्त्रीहीन राजाकी जो दशा होती है वही दशा इस यूथकी तुम्हारे बिना होगी। पुत्रगण वेदविहीन द्विजकी तरह दीन हो जायँगे। मृत्युको सुलभ जानकर तुम मेरे ऊपर कुटुम्बका भार सौंपकर चले जाओगे, यह तुम्हारी कैसी प्रतिज्ञा है ? हे प्रिय ! तुम्हारे बिना मैं प्राणधारण न कर सकूँगी। मैं तुम्हारे साथ ही, स्वर्ग, मृत्युलोक या नरक जो मिले उसका भोग करूँगी। इसलिये चलो, जल्द यहांसे भाग चलें।'

शूकरीने बहुत तरहसे पतिको समझाया, पर शूकर अपने निश्चयसे न डिगा। उसने कहा—'प्रिये ! कातर होकर धर्मसे गिर जाना उचित नहीं है। तुम वीरधर्मको न जाननेके कारण ही ऐसी बातें कर रही हो। मैं ऐसे धर्मात्मा राजाको युद्ध करनेके लिये आते देख भाग नहीं सकता। उनके हाथ मारा गया तो भी मेरा उद्धार हो जायगा।' शूकरने वीरधर्मका विस्तारके साथ बखान किया और युद्धके लिये तैयार हो गया। तब शूकरीने कहा—'मैं भी तुम्हारे निकट रहकर तुम्हारा पराक्रम देखूँगी।'

इसके बाद शूकरीने पुत्र-पौत्रों तथा अन्य

कुटुम्बियोंको बुलाकर उन्हें तरह-तरहसे समझाया और दूर सुरक्षित स्थानमें चले जानेको कहा। पर पुत्र वहाँसे जानेको तैयार न हुए। उन्होंने कहा—'जो पुत्र माता-पिताको इस तरह (विपत्तिमें) छोड़कर चला जाता है, वह घृणाके योग्य है। उसने व्यर्थ ही माताका दूध कलङ्कित किया। वह निश्चय ही कीड़ोंसे भरे हुए भयङ्कर दुर्गन्धयुक्त (पूयमय) नरकमें जाता है। हे माता! हम आप दोनोंको छोड़कर नहीं जायँगे।' फिर सबने मिलकर व्यूहकी रचना की और राजाके आनेका रास्ता देखने लगे।

सुकला बोली—इस तरह सब शूकर युद्धके लिये तैयार हो गये। उधर राजाके साथ जो हाँका डालनेवाले थे, उन्होंने राजासे सब समाचार कहा। महाराज इक्ष्वाकुने आज्ञा दी कि उनको बींध डालो और पकड़ लो। राजाकी आज्ञा पा वे लोग युद्धके सामानसे सजकर शिकारी कुत्तोंके साथ लिये हुए आगे बढ़े। राजा भी अपनी सेनाके साथ गङ्गा-तटपर पधारे। उस स्थानकी शोभा अवर्णनीय थी। वन सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित और तरह-तरहके मधुर फलवाले वृक्षोंसे भरा था। वनकी शोभा देखते हुए राजा अपनी प्यारी पत्नी सुदेवाके साथ उस ओर बढ़ने लगे, जिधर शूकरयूथ था। राजाकी आज्ञासे सुशिक्षित और शिकार खेलनेकी कलामें दक्ष व्याधोंने शूकरोंपर भयङ्कर आक्रमण किया। जिस तरह मेघोंके समूह पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी तरह व्याधोंद्वारा छोड़े हुए बाण और भाले उस शूकरयूथके ऊपर गिरने लगे। क्रुद्ध होकर शूकर सामने निकल आये और भयानक वेगसे टूट-टूटकर शत्रुओंका नाश करने लगे। उनके पैने दाँतोंसे कट-कटकर व्याध समरभूमिपर गिरने लगे। तब राजाने हाथियों और घोड़ोंकी सेना उनके विनाशके लिये भेजी; पर क्रुद्ध शूकर साक्षात् कालके समान हाथियों, घोड़ों और सैनिकोंका विनाश करने लगे। शूकरराज क्षणमें यहाँ, क्षणमें वहाँ दिखायी पड़ता। कभी अदृश्य हो जाता। इस तरह सेनाको कुचलकर, नष्ट-भ्रष्ट कर वह गर्जने लगा। उसकी आँखें लाल हो रही थीं। दाँत बिजलीकी तरह चमक उठते थे। उसके चारों तरफ़ व्याधों, शूकरों, हाथी-घोड़ोंकी लाशें बिखरी हुई थीं। उसकी पत्नी तथा चार-पाँच पुत्र बच गये थे। इस समय पत्नीने फिर उससे भाग चलनेको कहा। तब वह बोला—'प्रिये! मैं भागकर कहाँ जाऊँगा? अब युद्ध-भूमिसे मैं भाग नहीं सकता। अपनी वीरताकी परम्पराका स्मरण करो। दो सिंहोंके बीचमें शूकर जल पी सकता है, किन्तु दो शूकरोंके बीचमें सिंह जल नहीं पी सकता। शूकरजातिका ऐसा बल होता है। यदि मैं भाग गया तो हमारी ख्याति नष्ट हो जायगी। योद्धा लोभसे या भयसे नहीं भागता। जो रणतीर्थ छोड़कर चला जाता है, वह निश्चय पापी है।' इसके बाद बहुत देरतक वह अपनी पत्नीको वीरधर्मका माहात्म्य बताता रहा। अन्तमें बोला—'मैं युद्धसे भागनेकी कल्पना नहीं कर सकता। मैं आज महाराजसे युद्ध करूँगा—चाहे परिणाम जो हो। तुम बच्चोंको लेकर यहाँसे चली जाओ और सुखपूर्वक जीवन धारण करो।' शूकरी बोली—'प्रिय! मैं तुम्हारे बन्धनमें बँधी हूँ। मैं बच्चोंके साथ तुम्हारे सामने प्राणत्याग करूँगी।' यह कहकर वह भी लड़नेके लिये तैयार हो गयी। वर्षा-कालमें जिस तरह आकाशमें बिजलीकी चमकके साथ बादल गर्जते हैं, उसी तरह कान्तासहित शूकर उस समय गर्जन करने लगा और महाराज इक्ष्वाकुको पैरोंके अगले भागसे चुनौती देने लगा। महाराज उसको चुनौती देते देखकर उसकी ओर दौड़ पड़े। शूकरसे अपनी दुर्जय सेनाको हारती देखकर राजाको उसपर बड़ा क्रोध आया और घोड़ेपर सवार होकर बड़े वेगसे उन्होंने उसकी तरफ़ प्रस्थान किया। बाणवर्षा करते हुए राजाको आते देख शूकर भी उनकी ओर दौड़ा। शूकर बाणसे घायल होनेके कारण क्रोधसे दाँत कटकटा रहा था। एक बार वह गिर पड़ा परन्तु क्षणभरमें राजाके घोड़ेको घायल करता हुआ उन्हें लाँघ गया। शूकर स्वयं बाणोंसे बिंध गया था पर वहाँसे न हटा। उधर उसके तीखे दाँतोंसे आहत होकर घोड़ा पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब राजाने शूकरपर गदाका भयङ्कर प्रहार

किया । इस बार वह चोट न सह सका और पृथ्वीपर गिरकर उसने देहलीला समाप्त की । देवताओंने पुष्प-वर्षा की । मरनेके बाद राजाके स्पर्श करते ही वह चतुर्भुज हो गया और दिव्य तथा तेजोमय रूपमें सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे युक्त होकर देवलोकको चला गया । वहाँ इन्द्रादि देवताओंने उसकी पूजा-अभ्यर्थना की । वह पूर्वशरीर छोड़कर पुनः गन्धर्वराजके रूपमें विराजमान हुआ ।

सुकलाने कहा—शूकरराजकी यह सद्गति देखकर शूकरीने भी पतिका अनुमरण करनेका विचार किया । उसके साथ उसके चार पुत्र अब भी बचे थे । उसने सोचा—ये बच जायँ तो इनके द्वारा पतिके वंशकी रक्षा होती रहेगी । यह सोचकर उसने उनमेंसे सबसे बड़े लड़केको अपने तीनों भाइयोंके साथ वहाँसे चले जानेको कहा । बड़े लड़केने वीरतापूर्वक उत्तर दिया—'माँ ! यदि मैं जीवनकी आशासे जननीको इस प्रकार छोड़कर भाग जाऊँ तो मुझे धिक्कार है । मैं पिताके शत्रुका संहार करूँगा ।' अन्तमें बड़े आग्रहके बाद छोटे तीनों लड़के वहाँसे दूसरे जङ्गलमें चले गये और माता-पुत्र युद्धभूमिमें आकर हुंकार करने लगे । राजाकी आज्ञासे बहुतसे व्याध, योद्धा उनसे लड़ने गये परन्तु उनके सामने ठहर न सके । पृथ्वीपर लाशें बिछ गयीं । अन्तमें महाराज स्वयं शूकर-पुत्रसे लड़नेके लिये आगे आये । घोर युद्ध हुआ । तब राजाने अर्द्धचन्द्राकार बाण चलाकर उसे मारा । वक्षःस्थलमें बाण लगते ही वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और मर गया । पुत्र-शोकसे शूकरी उसकी लाशपर गिर पड़ी । फिर सँभलकर उठी और उसने ऐसा भयङ्कर युद्ध किया कि सैनिक और व्याधगण त्राहि-त्राहि करने लगे । यह दशा देखकर रानी सुदेवाने पतिसे पूछा—'महाराज ! यह शूकरी क्रुद्ध होकर भयङ्कर वेगसे हमारी सेनाका नाश कर रही है । आप इसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? क्यों नहीं इसे मारते ?' महाराजने उत्तर दिया—'प्रिये ! यह स्त्री है । मैं इसे नहीं मारूँगा । स्त्री-वधको महापाप कहा गया है । इसीसे मैं इसे नहीं मार रहा हूँ, न इसे मारनेके लिये किसीको प्रेरणा ही करता हूँ । हे सुन्दरी ! इसके वधसे पाप होगा ।' राजा यह बात कहकर चुप ही हुए थे कि उधर झार्झर नामक एक व्याध शूकरीको महायुद्ध करते देख क्रुद्ध हो उठा । उसने देखा—बड़े-बड़े वीर योद्धा भी उसके सामने टिक नहीं पाते हैं । यह देख उसने एक बड़ा ही पैना बाण उसे मारा । शूकरी घायल होकर उसपर झपट पड़ी और उसने झार्झरको पछाड़ डाला । परन्तु गिरते-गिरते झार्झरने शूकरीको तलवारसे बुरी तरह आहत कर दिया । शूकरी भी पृथ्वीपर गिर पड़ी और बेहोश हो गयी ।

रानी सुदेवाने जब पुत्रवत्सला शूकरीको पृथ्वीपर गिरकर बेहोश होते देखा तो उसके पास गयी और उसके घावोंको धोया तथा उसके मुँहमें ठंडा पानी डाला । रानीका स्पर्श होने और मुँहमें जल पड़नेसे शूकरीको होश आया और वह मनुष्योंकी भाषामें बोली—'देवि ! तुमने मुझे अभिषिक्त किया अतएव तुम सदा सुखी रहो । आज तुम्हारे स्पर्शसे मेरे समस्त पाप नष्ट हो गये ।' पशुके मुँह शुद्ध देववाणी सुनकर रानी चकित हो गयी और पतिसे बोली—'महाराज ! ऐसी आश्चर्य-जनक बात तो मैंने कभी देखी न थी । पशुयोनिमें जन्म लेकर भी यह शूकरी मनुष्यकी तरह शुद्ध भाषामें बात करती है ।' राजाको भी बड़ा आश्चर्य हुआ । रानीने उस शूकरीसे पूछा—'तुम कौन हो ? तुम पशु होकर भी मनुष्योंकी वाणीमें बोलती हो । इससे मुझे बड़ा आश्चर्य होता है । अवश्य ही इसमें कुछ रहस्य है । यदि तुम्हें आपत्ति न हो तो तुम अपनी और अपने वीर स्वर्गीय पतिके पूर्वजन्मकी कथा मुझे सुनाओ ।'

(क्रमशः)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल)

सृष्टिका कारीगर

पिता—बेटा केशव ! मेजपर वह जो गुलदस्ता रक्खा है, उसे देखते हो ?

केशव—जी हाँ, पिताजी ।

पिता—उसे किसने बनाया ?

केशव—मालीने । उसीने बागसे फूलोंको चुन-चुनकर उसे तैयार किया है ।

पिता—शाबाश, ठीक है । अच्छा अब बताओ फूलोंको किसने बनाया ।

केशव—फूलोंको ? फूलोंको तो किसीने नहीं बनाया, पिताजी ! ये तो पेड़ोंपर खिले थे ।

पिता—हाँ, पेड़ोंपर ये अवश्य खिले थे; लेकिन वहाँ इन्हें खिलाया किसने ? और फिर उन पेड़ोंको ही किसने पैदा किया ?

केशव—किसीने नहीं । पेड़ तो जमीनमें बीजको बो देनेसे अपने-आप हो जाया करते हैं । उस दिन मैंने जो आम खाया था उसकी गुठली बो दी थी । बस, उसमेंसे अंकुर अपने-आप निकल आया और अब वह पौधा बन गया है ।

पिता—सबसे पहले बीज किसने बनाये ? अच्छा बताओ क्या वह गुलदस्ता कभी अपने-आप बन सकता था ?

केशव—नहीं ।

पिता—तब ये फूल और पेड़ भी अपने-आप कैसे हो सकते हैं । इनका भी बनानेवाला कोई-न-कोई अवश्य होगा ।

केशव—कौन है वह बनानेवाला ?

पिता—वह बनानेवाला एक ऐसा कारीगर है, जिसकी कारीगरीको तो हम देखते हैं, परन्तु कारीगरको नहीं देख पाते । लेकिन फिर भी वह हमारे पास हर समय और हर जगह मौजूद रहता है ।

केशव—उसका नाम क्या है ?

पिता—उसे हम भगवान्, ईश्वर या परमात्मा कहते हैं ।

केशव—क्या वही ईश्वर जिसका भजन ध्रुव और प्रह्लाद किया करते थे ?

पिता—हाँ, वही ईश्वर ! वह बड़ा भारी कारीगर है । उसने केवल पेड़ों और फूलोंको ही नहीं, उनके बीजोंको—यहाँतक कि दुनियाकी हर एक चीजको पैदा किया है । ये रंग-रंगके पक्षी और भाँति-भाँतिके पशु—सब उसीके बनाये हैं । रेंगनेवाले कीड़े और उड़नेवाले पतंगे भी उसीके बनाये हैं । उसीने नदीकी मछलियोंको बनाया और समुद्रके जीवोंको पैदा किया । तुमको, हमको और सब मनुष्योंको भी उसीने बनाया । उसीने सूर्यको बनाया, चन्द्रमाको बनाया और आकाशके तारोंको पैदा किया । उसीने आग, हवा और पानी बनाये । और उसीने पृथ्वी तथा आकाशको भी जन्म दिया । कहाँतक कहें—बस, थोड़ेमें इतना समझ लो कि सृष्टिमें जो कुछ तुम्हें दिखायी देता है और जो नहीं भी दिखायी देता वह सब उसीका बनाया हुआ है । वही इस सृष्टिका एकमात्र कारीगर है ।

केशव—तब तो सचमुच वह बड़ा भारी कारीगर है । परन्तु पिताजी, क्या हम उसे देख नहीं सकते ?

पिता—देख सकते हैं, पर इन मामूली आँखोंसे नहीं । उसे देखनेके लिये हमें अपने भीतर मनमें आँखें पैदा करनी होंगी ।

केशव—मनमें आँखें कैसे पैदा की जायँगी ?

पिता—ईश्वरकी कृपाको प्राप्त करके, मनको निर्मल बनाकर और अपने आचरणोंको शुद्ध रखकर ।

केशव—तो मुझे जैसा कहिये मैं करनेको तैयार हूँ । ईश्वरकी कृपा कैसे प्राप्त हो सकती है ?

पिता—इसके लिये मेरी सलाह यह है कि सबसे पहले तुम अपनी विचार-शक्तिको काममें लाना सीखो और सृष्टिकी हर एक वस्तुमें उस ईश्वरकी कारीगरीको देखने और समझनेका अभ्यास करो । इससे तुम्हारी बुद्धि तेज होगी, ज्ञान बढ़ेगा और ईश्वरके प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जायगा । बस, फिर वही प्रेम आगे बढ़कर

तुम्हारे मनको निर्मल कर देगा और आचरणों-को शुद्ध बना देगा। साथ ही प्रेममें वह शक्ति है जो दो व्यक्तियोंको आपसमें खींचकर मिला दिया करती है। गोखामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—'जेहिकर जेहिपर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥' अस्तु, जैसे-जैसे तुम्हारा प्रेम ईश्वरके प्रति बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे उसका भी प्रेम तुम्हारे ऊपर बढ़ता जायगा। इस प्रकार धीरे-धीरे तुम ईश्वरके निकट और ईश्वर तुम्हारे निकट आता जायगा। अन्तमें जब तुम्हारा प्रेम उस दर्जेतक पहुँच जायगा जहाँ ईश्वरके सिवा और किसी चीजका ध्यान ही नहीं रहता, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे मनमें ईश्वरका खरूप इस प्रकार झलकने लगता है जैसे एक साफ आईनेमें चन्द्रमाका स्वरूप। इस प्रकार तुम्हें ईश्वरका दर्शन हो जायगा। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और ईश्वरभक्तोंने भी उसके इसी प्रकार दर्शन किये हैं। एक बार ईश्वरका दर्शन कर लेनेपर फिर मनुष्यको किसी चीज-की चाहना नहीं रह जाती और वह जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह संसारके तमाम बन्धनोंसे छूट जाता है।

केशव—लेकिन पिताजी, हमारा प्रेम यदि उस दर्जेतक न पहुँचे तब क्या होगा?

पिता—तब भी तुम्हारा कल्याण ही होगा। इस प्रकारके काम कभी व्यर्थ नहीं जाते। जितना गहरा ईश्वरके प्रति तुम्हारा प्रेम होगा, उतना ही ऊँचा और सफल तुम्हारा जीवन भी बन जायगा।

केशव—ठीक है, अब मैं समझ गया।

पिता—अच्छा तो आज मैं तुम्हें एक छोटा-सा गीत ईश्वरकी प्रार्थनाके लिये सिखाता हूँ। इसे समझो और याद कर लो। और अभी कुछ दिनतक रोज सन्ध्या और सबेरे इसीको गाकर उसकी प्रार्थना किया करो। गीत यह है—

(१)

हे ईश्वर! यह अद्भुत सारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!
सूरज, चन्द्र और ये तारे।
हैं अकाशमें दीपक बारे॥
बादल भी ये सभी रँगीले।
सुर्ख सुनहरे नीले पीले॥
दिखलाते शोभा नित न्यारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(२)

माली बीज बागमें बोता।
उससे पेड़ बड़ा-सा होता॥
डालें फूल-फूल फल लातीं।
जिनमें लाखों बीज जमातीं॥
एक बीजका अचरज भारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(३)

जो-जो हम पदार्थ हैं खाते।
स्वाद जीभपर वे दिखलाते॥
फिर वे आँतोंमें हैं जाते।
लोहू बनते ताक़त लाते॥
अद्भुत है मशीन बलिहारी!
कैसी कारीगरी तुम्हारी!!

(४)

हे प्रभु! हमपर दया दिखाओ।
बुद्धि हमारी शुद्ध बनाओ॥
मुझमें अपना प्रेम जमाओ।
शरण तुम्हारी हूँ, अपनाओ॥
आँख खोलती रहे हमारी!
भगवन्! कारीगरी तुम्हारी!!

केशव—इसे तो मैं बड़ी आसानीसे याद कर लूँगा, और इसीको गाकर रोज प्रार्थना किया करूँगा।

पिता—और जिस तरह ईश्वरकी कारीगरीके कुछ नमूने इसमें दिखाये गये हैं, उसी तरह दूसरी चीजोंमें भी उसकी कारीगरीके नमूने देखना आरम्भ करो।

केशव—हाँ, हाँ अवश्य करूँगा।

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ५≶), बर्मामें ६) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ७।।=) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अगस्तसे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु अगस्तके अङ्कसे निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ता० १२ तक न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही अगस्तका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं।

(८) चार आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषांक कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले ही** यदि वे हमें रुपये भेज चुके हों, तो तुरंत हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलीवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो कार्यालयको व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते।

(१६) चालू वर्षके विशेषांकके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'**के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा भारतके कई प्रान्तोंके शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत् । स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने ॥
रामेति नाम यात्रायां ये स्मरन्ति मनीषिणः । सर्वसिद्धिर्भवेत्तेषां यात्रायां नात्र संशयः ॥
अरण्ये प्रान्तरे वापि श्मशाने यो भयानके । रामनाम स्मरेत्तस्य नाशुभं विद्यते क्वचित् ॥
राजद्वारे तथा युद्धे विदेशे दस्युसम्मुखे । दुःस्वप्नदर्शने चैव ग्रहपीडासु जैमिने ॥
औत्पातिके भये चैव वह्निरोगभये तथा । रामनाम स्मरन् मर्त्यो नाशुभं लभते क्वचित् ॥
रामनाम द्विजश्रेष्ठ सर्वाशुभनिवारणम् । कामदं मोक्षदं चैव स्मर्तव्यं सततं बुधैः ॥
रामेति नाम विप्रर्षे यस्मिन्न स्मर्यते क्षणे । क्षणः स व्यर्थ एव स्यात् सत्यमेतन्मयोच्यते ॥
रामनामामृतस्वादभेदज्ञा रसना च या । तन्नाम रसनेत्याहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेतन्मयोच्यते । स्मरन्तो रामनामानि नावसीदन्ति मानवाः ॥

(पद्मपुराण)

द्विजश्रेष्ठ जैमिनि ! जो मनुष्य मृत्युके समय राम-नामका स्मरण करता है, वह चाहे पापरूप ही क्यों न हो, मोक्षरूप परमपदको प्राप्त करता है । जो बुद्धिमान् पुरुष यात्राके समय राम-नामका स्मरण करते हैं, उन्हें उस यात्रामें सब प्रकारकी सिद्धि—सफलता प्राप्त होती है—इसमें कोई सन्देह नहीं। जो जंगलमें, बीहड़ मार्गमें अथवा भयावनी श्मशानभूमिमें राम-नामका स्मरण करता है, उसका कभी अनिष्ट नहीं होता। हे जैमिनि ! राजदरबारमें, युद्ध-स्थलमें, विदेशमें, चोर-डाकुओंसे मुकाबलेमें, दुःस्वप्न दीखनेपर, ग्रहबाधामें, किसी उत्पातके समय तथा अग्नि अथवा रोगका भय होनेपर जो मनुष्य राम-नामका स्मरण करता है उसका कभी किसी प्रकार अमङ्गल नहीं होता। हे द्विजश्रेष्ठ ! राम-नाम सारे अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है; उससे भोग और मोक्ष दोनों मिलते हैं, अतः विवेकी पुरुषोंको उसका निरन्तर स्मरण करना चाहिये ।

हे ब्रह्मर्षे ! जिस क्षणमें राम-नामका स्मरण नहीं होता, वह क्षण व्यर्थ ही गया समझना चाहिये—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। जो रसना (जीभ) राम-नामरूपी अमृतके स्वादकी विशेषताको जानती है, तत्त्वज्ञानी मुनि उसीको रसना कहते हैं। राम-नामका स्मरण करनेवाले मनुष्योंका कभी नाश नहीं होता—यह मैं तुमसे सच-सच बार-बार सत्यकी दुहाई देकर कहता हूँ।

कल्याण

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण दिसम्बर सन् १९४१ की

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–जानकीवर [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ··· १३१७
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ··· १३१८
३–कल्याण ('शिव') ··· १३१९
४–पूजाका परम आदर्श (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०) ··· १३२०
५–श्रीप्रसादी चन्दन-वन्दना [कविता] (श्रीशिवकुमारजी केडिया 'कुमार') ··· १३२४
६–प्रार्थना ('तुम्हारा ही एक अधम') ··· १३२५
७–श्रीमद्भागवतका सार-संग्रह (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· १३२६
८–देख चुका मैं ज्योति निराली[कविता]('यात्री') १३३१
९–आर्यलोग तेजस्वी और वर्चस्वी क्यों होते थे ? (पं० श्रीअम्बालालजी जानी, बी० ए०) ··· १३३२
१०–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ··· १३३५
११–भक्तोंका सन्देश (श्रीजीवनशङ्कर याज्ञिक एम्० ए०, एल-एल्० बी०) ··· १३४३
१२–कामके पत्र ··· १३४५
१३–भगवान् श्रीकृष्णका भूलोकमें अवतरण [कविता] (श्रीकृष्णकुमारजी शर्मा एम्०ए०, साहित्याचार्य) १३४८

विषय — पृष्ठ-संख्या

१४–जीवनकी शोभा (श्रीलॉवेल फिल्मोर) ··· १३४९
१५–तुलसीदासजीका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस (श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३५२
१६–जीवनकी सरलता (श्रीब्रजमोहनजी मिहिर) १३५५
१७–जप-प्राणायाम और मेरे अनुभव (श्री 'ॐ') १३५८
१८–चिन्तन [कविता] (रचयिता–श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३६०
१९–वर्णाश्रम-विवेक (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री१०८स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज) १३६१
२०–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ··· १३६६
२१–ब्रह्मचर्य [कहानी] (श्रीसुदर्शनजी) ··· १३७२
२२–सती सुकला (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· १३७५
२३–भूलना सीखो ('यूनिटी') ··· १३८५
२४–श्रीमद्भागवत-महिमा [कविता] (कविकिङ्कर रवीन्द्रप्रतापजी शर्मा आयुर्वेदशास्त्री राजवैद्य) १३८६
२५–सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ? (पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्० ए०; श्रीभगवतप्रसादजी शुक्ल) १३८७
२६–बाल-प्रश्नोत्तरी (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· १३९३

गीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ल ११ ता० २९ नवम्बर शनिवारको श्रीगीता-जयन्तीका पर्व है। अन्य मार्गोंमें इस पर्वपर उत्सव मनाये जाते हैं। 'गीताधर्ममण्डल' पूनाके श्रीयुत करन्दीकर महोदयने बहुत करके मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को गीता-जयन्तीका दिन निश्चय किया था। उसीके अनुसार इस दिन जयन्ती मनायी जाती है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत चिन्तामणि विनायकराव वैद्यने मार्गशीर्ष शुक्ल १३ बतलाया था। विद्वान् मार्गशीर्ष कृष्ण २ मानते हैं, किन्तु जब सारे देशमें मार्गशीर्ष शुक्ल ११ को उत्सव मनाये जाने लगा है और इसके पक्षमें भी पर्याप्त प्रमाण हैं तब दिन परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गीता-जयन्तीके पर्वपर ये कार्य होने चाहिये—

१–गीता-ग्रन्थकी पूजा

२–गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्णकी और गीताको महाभारतमें संयोजित करनेवाले भगवान् व्यासदेवकी पूजा।

३–गीताका यथासाध्य पारायण—

४–गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-तत्त्व तथा गीता-महत्त्वका प्रवचन और व्याख्यान।

५–पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६–प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्का विशेष पूजन।

७–(जहाँ कोई अड़चन न हो वहाँ) गीताजीकी सवारीका जुलूस।

८–लेखक और कविमहोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसको दुनियाभरके सभी विद्वान् परम आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। गीताका एक-एक वाक्य मनन करने योग्य है। इस वर्ष यदि हमलोग गीताके निम्नलिखित श्लोकके अर्थपर ध्यान देकर तदनुसार अपना जीवन बनावें तो भगवान्की कृपासे हमारा बड़ा कल्याण हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला पुरुष सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

सम्पादक—**कल्याण, गोरखपुर**

कल्याणके सोलहवें वर्षके विशेषाङ्क

श्रीमद्भागवताङ्क

—का प्रथम संस्करण समाप्त हो चुका है। यद्यपि माँग बहुत आनेसे द्वितीय संस्करण निकालनेका निश्चय किया है किन्तु इसके प्रकाशित होनेमें अभी करीब तीन महीनेकी देर है। अतः ग्राहकगण इसके लिये धैर्य रक्खें। पूरे वर्षके ग्राहक बननेवालोंको अगले अङ्क पहले भी भेजे जा सकते हैं और भागवताङ्क छपनेपर भेजा जा सकता है। पूरे वर्षका चन्दा ५≈) है।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर।**

सेट नं० ३

२।) में १७ पुस्तकें जिनका मूल्य २॥।≋)॥। है ।

१–गीता छोटी	=)॥	७–मानव-धर्म	≋)	१३–ब्रह्मचर्य	–)
२–तुलसीदल	॥)	८–साधन-पथ	=)॥	१४–समाज-सुधार	–)
३–नैवेद्य	॥)	९–स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी	–)॥	१५–वर्तमान शिक्षा	–)
४–उपनिषदोंके चौदह रत्न	।=)	१०–गोपी-प्रेम	–)॥	१६–दिव्य सन्देश	)।
५–प्रेम-दर्शन (भक्तिसूत्र)	।–)	११–मनको वश करनेके कुछ उपाय	–)।	१७–नारदभक्तिसूत्र	)।
६–कल्याण-कुञ्ज	।)	१२–आनन्दकी लहरें	–)		२।।।≋)।।।

सेट नं० ४

६॥।) में १० उपनिषद् जिनका मूल्य ८।।।≋) है ।

१–ईशावास्योपनिषद्	≋)	५–प्रश्नोपनिषद्	।≋)	९–छान्दोग्योपनिषद्	३।।।)
२–केनोपनिषद्	॥)	६–माण्डूक्योपनिषद्	१)	१०–श्वेताश्वतरोपनिषद्	।।।=)
३–कठोपनिषद्	॥–)	७–ऐतरेयोपनिषद्	।=)		
४–मुण्डकोपनिषद्	।≋)	८–तैत्तिरीयोपनिषद्	।।।–)		८।।।≋)

सेट नं० ५

३) में १२ पुस्तकें जिनका मूल्य ४–) है ।

१–भक्त बालक	।–)	५–भक्त-सप्तरत्न	।–)	१०–भक्त-सौरभ	।–)
२–भक्त नारी	।–)	६–भक्त-चन्द्रिका	।–)	११–भक्त-सुमन	।=)
३–भक्त-पञ्चरत्न	।–)	७–भक्त-कुसुम	।–)	१२–भक्त-सरोज	।=)
		८–प्रेमी भक्त	।–)		
४–आदर्श भक्त	।–)	९–प्राचीन भक्त	॥)		४–)

सेट नं० ६

२॥।) में ६ पुस्तकें जिनका मूल्य ३॥=)॥ है ।

१–विनयपत्रिका	१)	४–दोहावली	॥)	६–हनुमानबाहुक	–)॥
२–गीतावली	१)				
३–कवितावली	॥–)	५–रामचरितमानस गुटका	॥)		३॥=)॥

कल्याण और कल्याण-कल्पतरुके कुछ विशेषाङ्क और फाइलें करीब-करीब आधे मूल्यमें

अङ्क	मूल्य			कुम्भमेलेके लिये	मूल्य
वेदान्ताङ्क सपरिशिष्टाङ्क	३)	...	...	...	१॥)
वेदान्ताङ्क पूरी फाइलसहित	४≋)	...	...	...	२)
साधनाङ्क	३॥)	...	...	...	२)
साधनाङ्क पूरी फाइलसहित	४≋)	...	...	...	२॥)
God Number	२॥)	...	...	...	१॥)
God Number with Complete file	४॥)	...	...	...	२)

यह रियायत केवल कुम्भमेलेमें प्रयागकी दूकानपर ही है ।

पता—**गीताप्रेस बुकडिपो, गङ्गापट्टी, प्रयाग**

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ,
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ।

(अथर्व० १७ । १ । २७)

मुझे सिद्धोंकी सुगति मिले !

रहूँ सहस्र वर्षतक जीवित, एक न बाल हिले । ढक दूँ मैं अपने आत्माको, प्रभुका प्रज्ञाकवच मिले ।
कश्यप पश्यक रवि प्रकाशसे मेधा मनकी कली खिले ; प्राण प्रकाशित रहे तेजमें, दीर्घ आयुतक शक्ति रहे ;
सञ्चित सकल सफल बल मेरा निमला मनकी गैल गहे ; सुकृत पवित्र कर्मरत जीवन दिव्य गुणोंका धाम बने ;
विकसित आत्म-सुमन सौरभसे संसृतिका सर्वस्व सने ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

(यजु० ४० । ८)

वह तेजयुक्त, वह दीप्तिमान !
वह देह-रहित, वह स्नायु रहित, वह व्रण-विहीन शोभा निधान !
वह पाप-रहित, वह शुद्ध सतत, वह विश्व व्याप्त, वह आप्तकाम ।
वह कवि सबके मनका स्वामी, सबसे उसका है उच्च धाम ;
वह देव स्वयम्भू देता है, शाश्वती प्रजाहित फल समस्त ।
कर रहा विभाजन ठीक-ठीक, वह आदिकालसे न्याय-न्यस्त ।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ।

(ऋ० ४ । ३ । २१)

आओ प्राण ! आओ प्राण !

रोम-रोममें रम जाओ प्रिय ! कर मेरा कल्याण ! तुम आत्मिक ऐश्वर्य लिये हो राजरोगसे दूर ।
हितकर गति रमणीय साथ ले, सेवाव्रतमें शूर । प्यासे चातक-सी मम मति गति तुम्हें चाहती आज ;
दिव्य घटाओंके सम बरसो, सरसो प्रिय सुख साज ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ।

(अथर्व० १ । ३४ । २)

जिह्वाके आगे मिठास हो, जिह्वाकी जड़में मधु स्रोत । मेरे कर्म-विचार बुद्धिमें, चितमें मधु हो ओत-प्रोत ।

कल्याण

अंधेकी तरह इधर-उधर ठोकरें खाकर इस महामूल्य मानव-जीवनको व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो, क्यों रात-दिन दुःखोंसे छटपटाते हो ? आठों पहर सुखके लिये हाय ! हाय ! करते हो—सोते-जागते सब समय प्रमादमें पड़े तड़पते रहते हो, कहीं भी मिला सुख ? जिसको भी सुख समझकर छातीसे लगाने जाते हो, वही दुःखकी ज्वालासे तुम्हें झुलस देता है । जहाँ भी सुखकी कल्पना करते हो, वहीं दुःखकी चट्टानसे टकराकर चूर-चूर हो जाते हो । *मानमें-यशमें, धनमें-जनमें, स्त्रीमें-स्वामीमें, पुत्रमें-कन्यामें कहीं भी दर्शन हुए सुखके ? कहीं नहीं ! सभी जगह दुःख-ज्वाला है, सभी जगह भय-चिन्ता है !* तो क्या यहाँसे हट जानेपर सुख मिलेगा ?

हटकर कहाँ जाओगे ? जहाँ जाओगे, वहीं यही मिलेगा । हटनेकी जरूरत नहीं है । जरूरत है इस सत्यको समझ लेनेकी कि *एकमात्र भगवान्‌में ही परम सुख है और वे भगवान् सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण हैं ।* जब इस सत्यका साक्षात्कार हो जायगा, तब सभी देश, सभी काल और सभी अनुकूल-प्रतिकूल दीखनेवाली परिस्थितियोंमें तुम्हें भगवान्‌के दर्शन होंगे । तभी तुम इस प्रकार सब ओरसे सब समय उन्हें पाकर ही तुम यथार्थ सुखकी उपलब्धि कर सकोगे ।

जगत्‌में तुम जो इतने जल रहे हो; सर्वत्र ही जो अभाव, भय, दुःख और विनाश-का ताण्डव नृत्य दिखायी पड़ रहा है—इसका कारण यही है कि तुम भगवान्‌से शून्य जगत्‌को देखते हो । जहाँ भी भगवान्‌का अभाव माना जाता है, वहीं तमाम अभाव, तमाम भय, तमाम दुःख और तमाम विनाश अपनी सारी भयावनी सेनाको साथ लिये डेरा डाले पड़े रहते हैं । इन शत्रुओंके घेरेसे तुम तबतक नहीं निकल सकते, जबतक कि तुम भगवान्‌को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उनके दर्शन न पा लो ।

भगवान् सर्वत्र हैं, इसलिये नित्य तुम्हारे साथ हैं । उनको देखकर सदाके लिये सुखी हो जाओ ! तुम ऐसा कर सकते हो । सत्यस्वरूप तुमको सत्यकी प्राप्तिका पूर्ण अधिकार है । वह तो तुम्हारा ही स्वरूप है ।

'शिव'

—+—

पूजाका परम आदर्श

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

[तान्त्रिक दृष्टिसे]

(१)

अध्यात्मपथके प्रत्येक साधकको पूजा, जप और ध्यान आदि विषयोंका थोड़ा-बहुत व्यावहारिक ज्ञान होता है; क्योंकि साधारण ज्ञान हुए बिना किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होना सम्भव नहीं। अवश्य ही सम्प्रदायभेद और साधकके अधिकारगत तारतम्यके अनुसार इन सब विषयोंमें नाना प्रकारकी विचित्रताएँ होती हैं। विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें आलोचनाएँ मिलती हैं। यहाँ हम उन सब विस्तृत आलोचनाओंमें प्रवेश करना नहीं चाहते; केवल तान्त्रिक साधनाकी दृष्टिसे पूजा और जपके सम्बन्धमें दो-एक आवश्यक विषयोंपर विचार करते हैं। आशा है क्रियाशील पाठकगण इस संक्षिप्त आलोचनासे वक्तव्य विषयका मर्म ग्रहण कर सकेंगे।

अब पहले पूजाके रहस्यके सम्बन्धमें विचार करें। साधकमात्रके लिये पूजातत्त्वका आदर्श और सूक्ष्म विज्ञान जानना आवश्यक है। पूजातत्त्वका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर साधक अपने शिवत्वका अनुभव करके जीवन्मुक्तिके आनन्दका आस्वादन कर सकता है। आलोचनाकी सुगमताके लिये तन्त्रशास्त्रमें देवी-पूजाको साधारणतः उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। इन तीन प्रकारकी पूजाओंको कहीं-कहीं 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' कहा गया है। यहाँ प्रसङ्गवश यह कहा जा सकता है कि अपरा अथवा अधम पूजाकी अपेक्षा भी निम्नकोटिकी पूजा है। व्यवहारक्षेत्रमें साधारणतः जिस प्रकारकी पूजा प्रचलित है, वह उन-उन अधिकारियोंके आध्यात्मिक विज्ञानकी दृष्टिसे सर्वथा उपयोगी होनेपर भी निम्नतम अर्थात् चौथी श्रेणीकी या अधमाधम कोटिकी पूजाके अन्तर्गत ही है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इससे यह प्रतीत होगा कि वर्तमान कालमें जगत्में आध्यात्मिक अधिकार-सम्पत्तिका इतना ह्रास हो गया है कि साधारणतः हमारे अंदर अधिकांश लोग इस समय भगवत्पूजाकी अधम कोटिमें भी प्रवेश करने योग्य नहीं रह गये हैं। कारण कुण्डलिनीकी सुषुप्ति भङ्ग हुए बिना, अर्थात् जीवके अनादि मायाके आवरणसे ढके रहनेतक, उसे अधम पूजाका अधिकार भी नहीं प्राप्त होता। सोयी हुई महाशक्तिकी दृष्टि जबतक नहीं खुल जाती तबतक चिन्मय जगत्में प्रवेश और सञ्चार तो हो ही नहीं सकता, उसका द्वारतक नहीं खुलता। इस समयकी प्रचलित प्रायः सभी बाह्य साधनाएँ इस द्वारमुक्तिके लिये ही विभिन्न प्रकारकी चेष्टामात्र हैं। 'परा' पूजा ही यथार्थ पूजा है। निम्नकोटिकी पूजाएँ तो इस परम पूजाका अधिकार प्राप्त करनेके सोपानमात्र हैं। इसीलिये हम यहाँ प्रसङ्गतः अधम और मध्यम श्रेणीकी पूजापर संक्षेपमें विचार करके तन्त्रप्रतिपादित उत्तम पूजाका रहस्य समझनेकी ही यत्किञ्चित् चेष्टा करेंगे।

'पूजा' शब्दसे यहाँ किसी मनुष्य, देवता और ऋषि आदिकी पूजाका लक्ष्य नहीं है। जिनसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति हुई है, जिनमें समस्त जगत् स्थित है और प्रलयकालमें समग्र जगत् जिनके अंदर लौट जाता है—एकमात्र वे परमतत्त्व ही पूजाके योग्य हैं। हम यहाँपर उन्हींकी पूजाके श्रेष्ठ आदर्शपर विचार करना चाहते हैं। उस परम पदार्थको लोग भगवान्, भगवती, परब्रह्म और परामाया आदि विभिन्न नामोंसे निर्देश

करते हैं । तन्त्रशास्त्रमे उसको परमशिव और पराशक्तिके अभिन्नस्वरूप एक अखण्ड वस्तु बतलाया गया है । वे जडतत्त्वमय समग्र विश्वके साथ सब प्रकारसे अभिन्न होकर भी नित्य ही विश्वसे अतीत हैं । वे प्रकाशस्वरूप हैं; क्योंकि उन्हींके प्रकाशसे समग्र जगत् प्रकाशमय है । उनमें उनकी स्वरूपभूता 'विमर्श' नामक महाशक्ति नित्य अभिन्नभावसे निवास करती है । इस शक्तिके न रहनेसे वे प्रकाशस्वरूप होकर भी स्वयम्प्रकाश नहीं हो सकते । इसीको अद्वैतवादी आगमशास्त्र 'पराक्' कहते है—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥

परमेश्वरकी स्वरूपभूता इस विमर्शशक्तिकी ही पूजा हुआ करती है । व्यवहारमे इसीको परमेश्वरकी पूजा कहा जाता है, क्योंकि यह शक्ति परमेश्वरसे सब प्रकार और सर्वदा अभिन्न है । शक्तिनिरपेक्षरूपसे परमेश्वरकी पूजा, ध्यान और जप आदि कुछ भी नहीं हो सकता । कारण—

शक्त्या विना परे शिवे नाम धाम न विद्यते ।

अर्थात् शक्तिकी उपेक्षा करनेपर (यद्यपि उपेक्षा की जा सकती ही नहीं) परमशिवमें नाम आदि किसी भावका सम्बन्ध ही नहीं रह सकता ।

परमशिवके साथ अपने अभेद-अनुभवको ही परा पूजा कहते हैं । साधक जब अपनेको मायाके अधीन परिच्छिन्न प्रमाता न समझकर अपरिच्छिन्न प्रमाता परमेश्वररूपसे अनुभव करता है, तभी वह महाशक्तिका सर्वश्रेष्ठ उपासक माना जाता है ।

सद्वैतपद्धति नामक ग्रन्थमें कहा है—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या प्रथिता निशाम ।
स्वे महिम्न्यद्वये धाम्नि स्ना पूजा या परा स्थितिः॥

तात्पर्य यह कि बाह्य जगत्में पुष्प चन्दनादि विभिन्न उपचारोंसे जो पूजा की जाती है, वह मुख्य पूजा नहीं है । जगत्में सर्वत्र इसीका प्रचार है । वस्तुतः द्वैतभावरहित अपनी स्वरूपमहिमामें जो साधककी स्थिति है, वही यथार्थमें पूजा कहलाने योग्य है । इस पूजाका अधिकार प्राप्त हो जानेपर फिर इससे स्खलन नहीं होता । उपर्युक्त श्लोकमें 'परास्थिति' शब्दसे यही सूचित किया गया है । अतएव जिसको लोग अद्वैतस्थिति कहते हैं, वह परमशिवरूपी आत्माकी स्वमहिमामें ही स्थिति है और वही परमपूजाका स्वरूप है ।

यह पूजा अद्वैतभावमें स्थित होकर और सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापारोंका आश्रय करके की जाती है । इस अवस्थामें बाहर या भीतर किसी भी विषयमें मनकी प्रवृत्ति होनेपर भी उसमें संस्कारके लिये अवकाश नहीं रहता । कारण, सर्वव्यापक परावस्था या परमेश्वरकी स्वरूपभूतसत्ता विषयमात्रके अंदर सर्वदा वर्तमान रहती है । उसकी सत्तासे ही विषयकी सत्ता और उसके प्रकाशसे ही विषयका प्रकाश है । यह आगम और निगममें सर्वत्र प्रसिद्ध है । परमेश्वरकी चैतन्य-शक्ति ही इन्द्रियपथोंके द्वारा समस्त विषयोंमें अभिव्यक्त होती है । इस अवस्थाकी सम्यक् प्रकारसे प्राप्ति हो जानेपर विषयमात्रसे अचित्-भाव मिट जाता है, उनकी जडता कट जाती है—तब एकमात्र अखण्ड स्वयम्प्रकाश चैतन्यकी अद्वैत अनुभूति ही रहती है । कहना न होगा कि यह स्वप्रकाश चैतन्यके स्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । यह अन्तःकरणकी वृत्ति नहीं है ।

मध्यम श्रेणीकी पूजामें इस प्रकारकी अद्वैतानुभूति विशुद्धरूपमें नहीं रहती । कारण, 'बाह्य जड पदार्थ आभ्यन्तरिक चिन्मय स्वरूपमे या अद्वैतरूपमें विलीन हुए जा रहे हैं' बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी भावना ही मध्यम पूजाका लक्षण है । इस पूजाके फलस्वरूप चिद् वस्तुमें अचिद् वस्तुका लय हो जाता है । उत्तम पूजामें भावनाकी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जबतक इस चरमस्थितिका उदय न हो तबतक पूजामें भावनाकी प्रधानता न रहना सम्भव नहीं ।

बाह्य चक्र, आवरण आदिकी रचना करके अपरा पूजा की जाती है । अतएव इसमें सदा-सर्वदा भेदज्ञान रहता ही है—यह बतलाना व्यर्थ है । इसलिये पूजामार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकको पहले बाह्यपूजासे साधना आरम्भ करनी पड़ती है, फिर क्रमशः आन्तर पूजा-भावनामेंसे होते हुए अन्तिम भूमिकामें विशुद्ध आन्तर पूजाका अधिकार प्राप्त करना पड़ता है । इससे समझमें आ गया होगा कि प्रथम पूजाका आधार भेदज्ञान है, द्वितीय पूजामें भेदज्ञानका थोड़ा-सा उपशम होता है और भावनाके द्वारा अभेदज्ञानकी सूचना की जाती है एवं तृतीय अथवा श्रेष्ठ पूजामें भेदज्ञानका लेश भी नहीं रहता । उस समय केवल अभेद या अद्वैतबोध ही रह जाता है ।

हम जिस चक्रपूजाकी बात कह आये हैं, वह इष्टदेवताके तारतम्यके अनुसार नाना प्रकारकी होनेपर भी मूलतः एक ही है । सभी चक्रोंका प्रारम्भ चतुष्कोणसे होता है और समाप्ति बिन्दुमें होती है । वस्तुतः सभी देवताओंके चक्र मूलाधारसे लेकर सहस्रारतकके सात चक्रोंका वासनानुकूल विकास और विस्तारमात्र हैं; यहाँ 'चतुष्कोण' शब्दसे मूलाधार और 'बिन्दु' शब्दसे सहस्रार समझना चाहिये । इस चक्रपूजाके अंदर अपने इष्टदेवताके आवरणरूपमें सभी देवताओंकी पूजाका विधान है । यह अपरा पूजा तीसरी श्रेणीकी होनेपर भी उपेक्षाके योग्य नहीं है । क्योंकि तान्त्रिक सिद्धाचार्योंने कहा है कि परमेश्वर स्वयं सर्वज्ञ होनेपर भी नित्य-निरन्तर महाशक्तिकी यह अपरा पूजा किया करते हैं । इसीसे समयपर अभेदज्ञानका आविर्भाव होता है । इसलिये अभेदज्ञानसम्पत्तिकी प्राप्ति चाहनेवाले ज्ञानी साधकमात्रको सर्वदा अपरा पूजा करनी चाहिये । इस श्रेणीकी पूजाका विधिपूर्वक और नियमपूर्वक अनुष्ठान करनेपर इसीके द्वारा साधक मध्यम पूजाका अधिकार प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है । आवरणार्चनारूपी कर्मात्मक बाह्य तथा भेदमयी अवस्था क्रमशः भावनाके क्रमिक उत्कर्षके द्वारा ज्ञानमय अथवा अद्वैतबोधमय स्वरूपमें विलीन हो जाती है । जब दृढ़ भावनाके फलस्वरूप कर्म ज्ञानका रूप धारण करने लगता है, ठीक उसी समय मध्यमपूजाके अनुष्ठानकी सूचना मिलती है । प्रज्वलित अग्निमें जिस प्रकार घीकी आहुति दी जाती है, ठीक उसी प्रकार अर्चनाके द्वारा अपनी विकल्पात्मक प्रकृतिको अखण्ड प्रकाशस्वरूप चिदानन्दघन परमेश्वरकी परम ज्योतिमें निक्षेप करना पड़ता है । यही मध्यम पूजाका रहस्य है । भावनाके बलसे इसके सिद्ध होनेपर परम-पूजाकी महिमा अपने आप ही फूट पड़ती है । इसके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्ध्रनामक स्थानमें सहस्रदलोंवाला शुभ्र वर्णका अधोमुख अकुल पद्म है, उसके बीचमें निष्कला शक्ति विराजमान है, जिसके गर्भमें सूक्ष्म दृष्टिसे अनन्त शक्तियोंकी सत्ता अनुभव की जाती है । इन सब शक्तियोंके बीच 'अमा' नामकी एक शक्ति या कला है; इसके द्वारा ऊपरसे नीचेकी ओर अमृत झरता रहता है । इस महापद्मवनके ऊपर भासमान, [illegible] निरोधानशक्तिका आसन है; मनकी गति यहाँतक हो सकती है । इसके ऊपर मनोराज्यकी क्रिया [illegible] नहीं होती । इस पद्मकी भीतरी कर्णिकामें '[illegible]' नामक एक त्रिकोण है, जहाँसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी — ये चार प्रकारकी वाणियाँ निकलती हैं । जिसे भक्त साधक गुरुपादुकाके नामसे वर्णन करते हैं, वह इसी त्रिकोणके भीतर अवस्थित है । विश्वगुरु परम शिवकी पादुका ही गुरुपादुका है, यही शास्त्रका सिद्धान्त है ।

गुरुपादुका 'पर' और 'अपर' भेदसे दो प्रकारकी है । इनमें स्वप्रकाश परमशिव, उनकी स्वरूपभूता विमर्शशक्ति तथा इन दोनोंका सामरस्य—ये तीन पर पादुकाके भेद हैं ।

> **स्वप्रकाशशिवमूर्त्तिरेकिका**
> **तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः ।**
> **सामरस्यवपुरिष्यते परा**
> **पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥**

इस गुरुपादुकासे निरन्तर स्निग्ध चन्द्ररश्मिके समान घनीभूत चिद्-रस या परमानन्दकी धारा बरसती हुई चराचर जगत्को आप्यायित और अनुप्राणित करती है। यही साधककी अपनी आत्मा है।

इसके पश्चात् प्रसाद ग्रहण करनेकी व्यवस्था है—जिसके फलस्वरूप परमशिवके साथ साधककी सोऽहं-रूपमें अद्वैतभावना प्रतिष्ठित होती है। यही यथार्थ अमृत है, इसके अभिव्यक्त होनेपर साधक परमानन्द-मय अद्वैतभावमें स्थिति प्राप्त करता है। तन्त्रके मतसे गुरुप्रसाद तथा उसके ग्रहणका फल इस प्रकार है—

> **स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो**
> **यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।**
> **तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं**
> **प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः ॥**

शिवरूपी गुरु स्वप्रकाशरूपसे पदार्थमस्तकमें जब प्रसन्न होते हैं, तब सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं अर्थात् चिदात्मस्वरूपमें अनुभूत होते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परमानन्दकी प्राप्ति इसका स्वाभाविक फल है। अर्थात् परमेश्वरके साथ अद्वैतभाव ही गुरुप्रसाद है। इसे अङ्गीकार करनेपर स्वाभाविक ही परमानन्द समुल्लसित हो उठता है। यही परापूजा-का रहस्य है।

(२)

उत्तमपूजाके जो लक्षण ज्ञानीजनोंके समाजमें प्रचलित हैं, उनका तात्पर्य उपर्युक्त विवरणसे कुछ ज्ञात हो सकता है। 'समस्त ज्ञेय पदार्थोंकी चिद्भूमिमें विश्रान्ति ही पूजा कहलाती है।' ऋजुविमर्शिनीके इस लक्षणके साथ ही 'गुरुको अपने आत्मरूपमें भावना करना ही पूजा है', अथवा 'निर्विकल्पक महाकालमें आदरपूर्वक लय होना ही पूजा है' पादुकोदयप्रभृति ग्रन्थोंके इन पूजालक्षणोंमें कोई विशेष विलक्षणता नहीं है। श्रीमत् शंकराचार्यविरचित 'शिवमानसपूजास्तोत्र' के एक श्लोकमें इस भावका किञ्चित् आभास पाया जाता है—

> **आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं**
> **पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ।**
> **सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो**
> **यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥**

हे शम्भो! मेरी आत्मा तुम्हीं हो; मेरी बुद्धि तुम्हारी शक्तिरूपिणी पार्वती हैं; मेरे सारे प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इत्यादि तुम्हारे सहचरस्वरूप हैं; मेरा शरीर ही तुम्हारा गृह या मन्दिर है; विषय-भोगके लिये मेरे जो इन्द्रिय-व्यापार होते हैं वही तुम्हारी पूजा है; मेरी जो निद्रा है वही वस्तुतः तुम्हारी समाधिस्थिति है; मेरे पद-सञ्चार तुम्हारी प्रदक्षिणा हैं तथा मैं जो कुछ बोलता हूँ सब तुम्हारा ही स्तोत्र है। सारांश यह है कि मैं जब जो कर्म करता हूँ, सभी तुम्हारी आराधना है।

आत्माके सभी कर्म शिवकी अर्चना हैं; क्योंकि आत्मा ही शिवस्वरूप है। ये सब कर्म शिवरूपी आत्माकी तृप्तिके लिये ही होते हैं। भगवान् शंकराचार्यकी इस उक्तिका मूल श्रीपूर्व आगमशास्त्रमें इस प्रकार वर्णनमें आता है—

> **द्रवद्रव्यसमायोगात् स्नपनं तस्य जायते ।**
> **गन्धपुष्पादिगन्धस्य ग्रहणं यजनं स्मृतम् ॥**
> **षड्रसास्वादनं तस्य नैवेद्याय प्रजायते ।**
> **यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः ॥**

अर्थात् द्रव पदार्थका स्पर्श ही उनका स्नान है, गन्ध-पुष्पादिकी गन्धको ग्रहण करना ही उनकी अर्चना

है, षड्रसोंका आस्वादन ही उनका नैवेद्य है तथा वर्णोंका उच्चारण ही उनका जप है।

संविदुल्लास ग्रन्थमें है—

विश्वं मूर्त्तिर्वैखरी नाममाला
यस्यैश्वर्यं देशकालातिलङ्घि।
त्वद्भक्तानां स्वैरचारः सपर्या
स्वेच्छा शास्त्रं स्वस्वभावश्च मोक्षः॥

अर्थात् हे शम्भो! तुम्हारे भक्तोंके लिये विश्व ही तुम्हारी मूर्त्ति है, वैखरी वाणी तुम्हारी नाममाला है, स्वैरचार ही पूजा है। स्वेच्छा ही शास्त्र है तथा अपना स्वभाव ही मोक्ष है। तुम्हारा ऐश्वर्य देश और कालके द्वारा अपरिच्छिन्न है।

यह अवस्था अति दुर्लभ है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि जिस क्षणजन्मा पुरुषका संसार-परिभ्रमणका अन्तकाल समीप आ गया है, तथा जिसके ऊपर भगवती चित्शक्ति प्रसन्न हो गयी है, ऐसे विरले ही महापुरुषोंके अन्तःकरणमें इस प्रकारका पूजारहस्य प्रस्फुटित होता है। साधारण मनुष्यका इसमें कोई अधिकार नहीं है।

'चिद्गगनचन्द्रिका' में तथा अन्यान्य आगम-ग्रन्थोंमें 'चार', 'राव', 'चरु' और 'मुद्रा'—इन चार प्रकारके पूजाविधानकी बात देखनेमें आती है। इनमें 'राव'का ही सर्वथा प्राधान्य वर्णन किया गया है। विमर्श अथवा अपनी आत्मशक्तिके साक्षात्कारको ही 'राव' कहते हैं। 'चार', 'चरु' तथा 'मुद्रा' शब्दोंसे क्रमशः आचारविशेष, द्रव्यविशेष तथा मूर्त्ति वा वेषविशेष समझना चाहिये। ये तीनों क्रमशः 'राव' के ही प्रयोजकमात्र हैं। अतएव राव अर्थात् अपने स्वरूपकी अपरोक्ष अनुभूति ही परमपूजा है। इसमें कुछ सन्देह नहीं। इसीको कोई-कोई आचार्य 'निजचर्वणचालन'के नामसे वर्णन करते हैं। अर्थात् साधककी अपने हृदयकी स्फुरत्ता ही परमेश्वर या देवता है। उसमें जो अपने साथ अभिन्नभावमें वर्तमान विश्वविक्षोभकी सहिष्णुता है वही विमर्शशक्ति या बलस्वरूप है, उसकी आलोचना करना ही पूजाका रहस्य है। इस आत्मविमर्शका ही नामान्तर जीवन्मुक्ति है। 'भगवतीकी परापूजा' इसीका पर्यायमात्र है। इस अवस्थाके उदय होनेपर 'आज्ञाधरत्व' आदि बाहरी विभूतियाँ अपने-आप ही अवश्यम्भावीरूपसे प्रकट हो जाती हैं।

(शेष आगे)

श्रीप्रसादी चन्दन-चन्दना

सुन्दर सरीर स्याम सदन सुगन्धनके,
संग सनि सौरभको सौगुनो भयो अगार।
मंगलनिधान अंग-अंग परिरंभनको,
लाभ लेत, जाके हेत गोपिका करैं पुकार॥
श्रीवन-विहारनमैं गिरत कछूक ताको,
ताकमैं खरे विहंग देवअंगना अपार।
नन्दन-सुगन्ध-मन्दकारी महामोदकन्द,
चन्दन प्रसादी ताको वन्दना करै 'कुमार'॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

प्रार्थना

प्रभो ! भोगोंमें सुख नहीं है, यह अनुभव बार-बार होता है; फिर भी मेरा दुष्ट मन उन्हींमें सुख मानता है और बार-बार आपको भूलकर उन्हींकी ओर दौड़ता है। बहुत समझानेकी कोशिश करता हूँ परन्तु नहीं मानता। तुम्हारे स्वरूपचिन्तनमें लगाना चाहता हूँ, कभी-कभी कुछ लगता-सा दीखता भी है, परन्तु असलमें लगता नहीं। मैं तो जतन करके हार गया मेरे स्वामी ! अब तुम अपनी कृपा-शक्तिसे इसे खींच लो। मुझे ऐसा बना दो कि मैं सब प्रकारसे तुम्हारा ही हो जाऊँ। धन, ऐश्वर्य, मान, जो कोई भी तुम्हारी ओर लगनेमें बाधक हों, उन्हें बलात्कारसे मुझसे छीन लो। मुझे चाहे राहका भिखारी बना दो, चाहे सबके द्वारा तिरस्कृत करा दो, परन्तु अपनी पवित्र स्मृति मुझे दे दो ! मैं बस तुम्हारा स्मरण करता हुआ, तुम्हारे स्वरूप-गुणोंका चिन्तन करता हुआ निरन्तर सच्चे आनन्दमें निमग्न रहूँ ! मेरे सुख-दुःख, हानि-लाभ, सब कुछ तुम्हारी स्मृतिमें समा जायँ। वे चाहे जैसे आयें-जायें, मैं सदा तुम्हारे प्रेममें डूबा रहूँ। सबमें, सब अवस्थाओंमें, सब भावनाओंमें, सब क्रियाओंमें और सारे सृजन-संहारमें केवल तुम्हारा अनुभव करूँ। तुम्हारा ही प्यारा स्पर्श पाकर सदा उल्लसित होता रहूँ।

मेरे मनसे सब कुछ भुला दो, और उस सब कुछके बदलेमें एकमात्र अपनी मधुर स्मृतिको ही जगाये रक्खो। कोई ऐसा क्षण हो ही नहीं, जिसमें मन तुम्हें भूल सके। यदि हो तो बस, जैसे मछली जलके बिना छटपटाकर मर जाती है, वैसे ही यह मन भी मर जाय।

मेरे प्राण सदा तुम्हारे साथ ही रहें, तुम्हारा विछोह कभी हो ही नहीं। यदि कभी ऐसा हो तो बस, उसी क्षण तेलके अभावमें दीपकके बुझ जानेकी भाँति शान्त होकर तुममें समा जायँ।

मैं सदा अनुभव करूँ, तुम मेरे हो, मैं तुम्हारा हूँ। तुम मेरे साथ हो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। तुम मुझे देख रहे हो, मैं तुम्हें देख रहा हूँ। तुम मुझे पकड़े हो, मैं तुम्हें पकड़े हूँ। तुम मुझे आलिङ्गन कर रहे हो, मैं तुम्हें आलिङ्गन कर रहा हूँ। तुम मुझमें समा रहे हो, मैं तुममें समा रहा हूँ। और तुम मुझमें हो, मैं तुममें हूँ।

मेरे प्राणोंके प्राण ! अब देर न करो, बहुत समय बीत गया— मुझे भटकते। तुम्हारा अपना ही होकर मैं जो इतनी दुर्दशामें पड़ा हूँ, यह तुमसे कैसे देखा जाता है ? भगवन् ! अब तो तुरंत दया करके अपनी परम दयाका अनुभव करा दो, मेरे स्वामी !

—'तुम्हारा ही एक अधम'
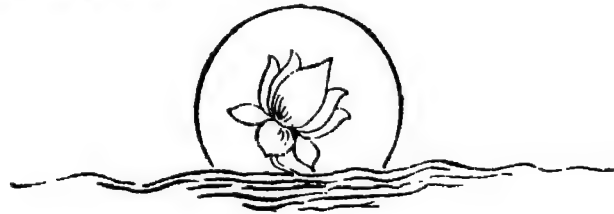
श्रीमद्भागवतका सार-संग्रह

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

यों तो श्रीमद्भागवत स्वयं ही सार-ग्रन्थ है। भगवत्स्वरूप होनेके कारण इसके किसी भी अंशमें कुछ भी त्याज्य नहीं है। यदि इसके किसी अंशमें किसीको कुछ त्याज्य प्रतीत होता है तो वह उसकी दृष्टिका दोष है, जैसे भगवान् श्यामसुन्दरके परम सुकुमार श्रीविग्रहमें कंसको केवल अपनी मृत्यु ही दीख रही थी। ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवतसे कुछ थोड़ा-सा संग्रह करके यह कह देना कि इतना ही भागवतका सार है, साहसमात्र है। फिर भी श्रीमद्भागवतमें कुछ बातोंका उल्लेख करके स्पष्ट कह दिया गया है कि इसका तात्पर्य बस, इतना ही है। इसके लिये मूलके अनेक स्थानोंमें 'एतावानेव' पदका प्रयोग हुआ है। उन्हें ही यहाँ नमूनेके तौरपर उद्धृत किया जाता है—

(१)

जीवका परम कल्याण क्या है ?

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः।
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः॥

(२ । ३ । ११)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥

(३ । २५ । ४४)

पहले श्लोकमें यह बात कही गयी है कि जो लोग अपने परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील हैं उनके परम कल्याणका उदय बस, इतना ही है कि भगवान्‌में उनकी भाव-भक्ति अविचल हो जाय। इसका साधन बतलाया गया है—भगवान्‌के प्यारे भक्तोंका सङ्ग अथवा श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त साधनाओंका लक्ष्य, चाहे वे क्रियाके रूपमें हों चाहे भावनाके रूपमें, स्वयं श्रीभगवान् ही हैं। उनमें अचल स्थिति या निष्ठा हो जाना ही प्रयत्नकी परिसमाप्ति है। इस युगमें जब कि समष्टिमें ही घोर रजोगुण और तमोगुणका प्रवाह प्रबल हो रहा है, सुगम-से-सुगम और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ साधन भी सत्सङ्ग ही है। यदि संतोंकी पहचान न हो, उनके सङ्गकी सुविधा न हो तो श्रीमद्भागवत शास्त्रका स्वाध्याय भी परम कल्याणके उदय और भक्तिभावकी स्थिरतामें सत्सङ्ग-जैसा ही सहायक है। यह सबके लिये सुगम और निरापद भी है। अपने अधिकारके अनुसार उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। दूसरे श्लोकमें केवल साधकोंके लिये ही नहीं, समस्त जीवोंके लिये ही, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, परम कल्याणका निर्देश है। परन्तु उनके लिये साधनाके लिये तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यह निश्चित है कि अपना सम्पूर्ण जीवन चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, भगवान्‌को समर्पित कर देना होगा। बिना आत्मसमर्पणके अभिमानी जीव कभी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। समर्पण भी ऐसा, जो स्थिर हो, जिसके बाद कभी अहङ्कारका उदय न हो। ऐसा आत्मसमर्पण भगवान्‌के आज्ञापालनरूप तीव्र भक्तियोगके अनुष्ठानसे ही सम्भव है। यही बात दूसरे श्लोकमें समस्त जीवोंके परमकल्याणके नामसे कही गयी है।

(२)

जीवका धर्म क्या है ?

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥

(६ । १० । ९)

एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते॥

(४ । २७ । २६)

एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥

(८ । ७ । ३८)

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्॥

(६ । ५ । ४४)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥

(६ । ३ । २२)

एक शरीर और उसके सम्बन्धियोंमें क्रमशः अहंता और ममता करके जीवने स्वयं ही अपने-आपको संसारबन्धनमें जकड़ लिया है। अब धर्मका काम यह है कि जीवकी अहंता और ममताको शिथिल करके उसे संसारके बन्धनसे सर्वदाके लिये छुड़ा दे । ऐसे धर्मको ही अविनाशी धर्म कहते हैं और जगत्‌के परमयशस्वी महात्मा उसीका अनुष्ठान करते रहे हैं । उसका स्वरूप बस, इतना ही है कि केवल अपने सुखसे फूल न उठे और अपने ही दुःखमें मुरझा न जाय । समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखके साथ अपना नाता जोड़ दे । सबके सुखमें सुखी हो और सबके दुःखमें दुःखी । इससे अहङ्कारका बन्धन कटता है और ममता भी शिथिल पड़ती है । यही बात पहले श्लोकमें बतलायी गयी है । परन्तु इतना ही धर्म नहीं है ; धर्मकी गति इससे आगे भी है । बहुत-से पशु भी दूसरोंके सुखसे सुखी और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं, परन्तु मनुष्य अपनेको सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ मानता है । इसलिये उसमें कुछ विशेषता होनी चाहिये । वह विशेषता क्या है ? बस, इतनी ही कि किसीको दुःखी देखकर उसका हृदय दयासे द्रवित हो जाय और वह उसके प्रति सहानुभूतिके भावसे भर जाय । यद्यपि सहानुभूति भी एक बहुत बड़ा बल है, इससे दुःखियोंको बड़ी शक्ति प्राप्त होती है, तथापि जो कुछ प्रत्यक्ष सहायता कर सकते हैं, उनकी ओरसे केवल मानसिक या वाचनिक सहायता प्राप्त होना ही पर्याप्त नहीं है । उनकी प्रभुता या ऐश्वर्यकी सफलता इसीमें है कि वे तन, मन, धनसे दीनोंकी रक्षा करें । जो सामर्थ्य होनेपर भी दीन-दुःखियोंकी रक्षाका कार्य नहीं करते, उनका सामर्थ्य व्यर्थ है; उन्होंने अपने धर्मका पालन न करके पाप कमाया ।

श्रीमद्भागवतमें यह बात स्थान-स्थानपर बहुत ही जोर देकर कही गयी है कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्वयं परमात्माका ही निवास है; इसीलिये यथाशक्ति दान और सम्मानके द्वारा सभीकी पूजा करनी चाहिये । इस सम्बन्धमें यहाँतक कहा गया है कि जो दुःखी प्राणियोंकी उपेक्षा करके अथवा किसी भी प्राणीसे द्वेषभाव रखकर केवल सूखे पूजा-पाठमें लगे रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और न तो उन्हें परमात्माकी प्रसन्नता ही प्राप्त हो सकती है । (देखिये तीसरे स्कन्धका उन्तीसवाँ अध्याय ।) चौथे स्कन्धमें तो इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया गया है । वहाँ कहा गया है कि चारों वेदोंका ज्ञाता और समदर्शी महात्मा भी यदि दीन-दुःखियोंकी उपेक्षा करता है तो उसका सारा वेदज्ञान नष्ट और निष्फल हो जाता है, ठीक वैसे ही जैसे फूटे घड़ेसे पानी बह जाता है । जो लोग सांसारिक सम्पत्ति और ऐश्वर्यको अपना मानकर अभिमानसे फूले हुए हैं और दीन-दुःखियोंकी सहायता नहीं करते, उन्हें श्रीमद्भागवतके इस वचनपर ध्यान देना चाहिये—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥
(७ । १४ । ८-९)

मनुष्योंका अपनी सम्पत्तिपर उतना ही हक है जितनेसे उनका पेट भर जाय । जो इससे अधिक अपना मानते हैं, वे चोर हैं और दण्डके पात्र हैं । हरिन, ऊँट, गदहा, बानर, चूहा, रेंगनेवाले कीड़े, पक्षी, मक्खी—और तो क्या, सभी प्राणियोंको अपने पुत्रके समान ही देखना चाहिये । भला ! अपने पुत्रोंमें और इनमें अन्तर ही कितना है ! यह उपदेश गृहस्थोंके लिये है । इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वे जैसे स्वयं भोजन करते हैं वैसे ही सबके भोजनका ध्यान रक्खें । जैसे अपने शरीर और पुत्रके शरीरके कष्टसे पीड़ित होते हैं और उसका उपचार करते हैं वैसे ही दूसरोंके लिये भी

करें । इतना ही नहीं, श्रीमद्भागवतके ऊपर उद्धृत चौथे श्लोककी अर्धालीमें तो यह बात कही गयी है कि प्रशंसनीय तो यह है कि अपने कष्टोंको मिटानेकी क्षमता होनेपर भी उन्हें सहन करे । अर्थात् स्वयं दुःख सहन करके दूसरोंका दुःख मिटाये, अपनी इच्छा अपूर्ण रखकर दूसरेकी इच्छा पूर्ण करे । यह सत्य है कि इससे अपनी साम्पत्तिक, पारिवारिक और शारीरिक हानि होनेकी सम्भावना है; परन्तु यह उस लाभके सामने, जो इससे स्वयं होता है, कुछ भी नहीं है । क्योंकि हानि तो होती है केवल सांसारिक पदार्थोंकी और लाभ होता है परमार्थका । जो मनुष्य अपना सर्वस्व त्यागकर और कष्ट उठाकर दूसरोंका भला करता है, उसे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, समता आदि आदर्श सद्गुण स्वयं ही प्राप्त होते हैं । इस प्रकार अन्तःकरणकी शुद्धि सम्पन्न होती है और मनुष्य अपने धर्मपालनके द्वारा परम-कल्याणका अधिकारी होता है ।

यह तो हुई सामान्य धर्मकी बात । एक परमधर्म भी है, जिसका सङ्केत ऊपर उद्धृत पाँचवें श्लोकमें किया गया है । एक तो कर्मभूमि भारतवर्षमें जन्म मिलना ही कठिन, दूसरे मनुष्यका जन्म । मनुष्यका जन्म प्राप्त करके अपने धर्मका पालन करना और भी दुर्लभ है । परमधर्मका तो ज्ञान भी बड़े सौभाग्यसे होता है, वह श्रीमद्भागवतमें सुनिश्चितरूपसे बतलाया गया है । ब्रह्माजी बार-बार शास्त्रोंका आलोडन करके इसी निश्चयपर पहुँचे कि समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य भगवान्‌के निरन्तर स्मरणमें ही है । स्मरणका स्वरूप क्या है ? जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्डरूपसे समुद्रमें गिरती है, जैसे तेलकी धारा अविच्छिन्नरूपसे एक पात्रसे दूसरे पात्रमें जाती है, वैसे ही बिना किसी फलका अनुसन्धान किये चित्तवृत्तियाँ नित्य-निरन्तर भगवान्‌को ही विषय करती रहें, उन्हींके चिन्तनमें तन्मय रहें । यही है भक्तियोगका स्वरूप ! इसे ही उपर्युक्त श्लोकमें परमधर्म-के नामसे कहा गया है । इसका साधन क्या है ? सभी शास्त्रोक्त साधन हैं । अभी-अभी जिस धर्मपालनकी चर्चा की गयी है, उसका पर्यवसान भी इसीमें है । परन्तु उन समस्त साधनोंमें सबसे श्रेष्ठ है—भगवान्‌के नामोंका जप, कीर्तन, अर्थचिन्तन । वृत्तियोंको निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखनेके लिये इससे सरल कोई साधन नहीं । इस प्रकार इस प्रसङ्गमें मनुष्यके धर्म, परमधर्म और उसके साधनका संक्षेपमें निर्देश किया गया है ।

(३)

योग क्या और किसलिये ?

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥
(११ । १३ । १४)

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥
(३ । ३२ । २७)

भगवान् श्रीकृष्ण योगका बस, इतना ही स्वरूप बतलाते हैं कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् भगवान्‌में प्रविष्ट कर दिया जाय । मनको लगानेका उपाय चाहे कोई भी हो । जीवोंका मन स्वभावसे ही जड विषयोंकी ओर ही दौड़ता है और उन्हींमें लगता भी है । यदि योगसाधनाके द्वारा भी मनको जड विषयोंमें ही लगाया गया तो सारा प्रयास व्यर्थ ही समझना चाहिये । सविकल्प समाधिपर्यन्त जितनी भी स्थितियाँ हैं, सब-की-सब कुछ-न-कुछ जडता लिये हुए हैं । अज्ञाननाशपूर्वक निर्विकल्प स्वरूपसे अवस्थान ही अखण्ड निर्विकल्प समाधि है और वास्तवमें वही विशुद्ध चेतनकी स्थिति भी है । कर्मयोगसे, अष्टाङ्ग-योगसे, भक्तियोगसे अथवा ज्ञानयोगसे वही स्थिति प्राप्त करनी है । भगवान्‌के निर्गुण-निराकार अथवा सगुण साकार स्वरूपकी अनुभूति किसी भी जड स्थितिमें

नहीं होती, उसके लिये विशुद्ध चेतनकी स्थिति अनिवार्य है। जीव और भगवान्‌का उसी स्थितिमें वास्तविक मिलन होता है, इसलिये उसे योगके नामसे कहते हैं।

दूसरे श्लोकमें समग्र योगका उद्देश्य बतलाया गया है। योगके द्वारा होता क्या है? समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से असङ्गता। सङ्ग ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यह प्रकृति और प्राकृत पदार्थ मैं हूँ अथवा ये मेरे हैं, यही सङ्गका स्वरूप है। इस बातको तनिक स्पष्ट समझ लेना चाहिये। व्यवहारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं। एक तो प्राकृतिक और दूसरे प्रातीतिक। उदाहरणके लिये पृथ्वीको लीजिये। पृथ्वी एक प्राकृतिक पदार्थ है। यह केवल प्रकृतिकी है अथवा भगवान्‌की है। यह न किसीके साथ गयी और न जायगी। फिर भी लोग इसे अपनी मान बैठते हैं और बड़े अभिमानके साथ कहते हैं कि इतनी पृथ्वी मेरी है। यह मेरेपनकी भावना नितान्त प्रातीतिक है और यही समस्त दुःखोंका मूल भी है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मन आदिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। इनके प्रति अहंता-ममता जोड़ लेना ही सङ्ग है। जब योगके द्वारा बहिर्मुखता घटती है और अन्तर्मुखताकी वृद्धि होती है, तब स्वयं ही बाह्य पदार्थोंसे आसक्ति छूटने लगती है और अन्ततः विशुद्ध चित्-स्वरूप एवं असङ्ग आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जबतक असङ्गता प्राप्त नहीं होती, तबतक योगका लक्षण अपूर्ण ही समझना चाहिये। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें अन्तर्मुखताकी सीमा तो भगवान्‌में मनका लग जाना बतलाया है और योगका स्वरूप बतलाया है—समस्त प्रकृति और प्राकृत सम्बन्धोंसे अलग हो जाना।

(४)

जीवका परम स्वार्थ और परमार्थ क्या है?

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥
(६ । १६ । ६३)

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥
(७ । ७ । ५५)

जिन मनुष्योंकी बुद्धि योगमें निपुणता प्राप्त कर चुकी है, उनके लिये सब प्रकारसे बस इतना ही अपना स्वार्थ और परमार्थ है कि वे अपनी आत्मा और परमात्माके एकत्वका साक्षात्कार करें। पहले यह बात कही जा चुकी है कि योग अन्तर्मुखताकी सीमा है। अन्तर्मुख हो जानेपर बाह्य विषयोंमें किसी प्रकारकी दिलचस्पी नहीं रह जाती और न तो उनका चिन्तन ही होता है। उस समय जितनी भी वृत्तियाँ उठती हैं, सब अन्तःस्थित वस्तुके सम्बन्धमें ही। अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें जो वस्तु है, वह क्या है? उसे आत्मा कहें या परमात्मा? यह प्रश्न ही उस समय उठता है जिस समय अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख और शुद्ध हो जाता है। जब उपर्युक्त प्रश्न उठता है तो मैं कौन हूँ और परमात्मा क्या है, दोनोंमें क्या अन्तर है—इन प्रश्नोंका ऐसा विशुद्ध समाधान प्राप्त होता है कि जो अबतक अपनेको जीव समझकर अपनेको नाना सङ्कटोंका घर समझे रहता है, वह अनिर्वचनीय एवं आश्चर्यमय स्थितिमें पहुँच जाता है। अनादि कालका अज्ञान मिट जाता है और फिर कुछ बोलने और सोचनेका कोई अवसर ही नहीं रहता। यह परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और यही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है।

दूसरे श्लोकमें वही बात दूसरे ढंगसे कही गयी

है। जीवका परम स्वार्थ क्या है? भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेममयी भक्ति। भक्तिका अर्थ विभक्ति नहीं है, समस्त विभक्तियोंका मिट जाना ही सच्ची भक्ति है। एक कवि कहता है—'प्रेमी और प्रियतमके मिलनमें वक्षःस्थलपर स्थित माला भी पर्वतसे भी बड़ा व्यवधान है।' भक्त और भगवान्‌के बीचमें किसी भी प्रकारका आवरण—चाहे वह कितना भी झीना क्यों न हो—अभीष्ट नहीं है। आखिर वह कौन-सा ऐसा रहस्य है, जिसे प्रियतम प्रभु अपने प्रेमीसे छिपाये रख सकते हैं। प्रेमके सामने सारे पर्दे फट जाते हैं, सारी दूरी समीपतामें परिणत हो जाती है। इसीसे अनन्य भक्तिका स्वरूप निर्देश करते समय यह बात कही जाती है—'यत् सर्वत्र तदीक्षणम्।' भगवान्‌की अनन्य भक्ति है सर्वत्र उन्हें देखना। 'सर्वत्र' शब्द बड़ा व्यापक है। अपनेमें, परायेमें, निद्रामें, जागरणमें, ब्रह्ममें और प्रवृत्तिमें—जहाँ दृष्टि जाय, जो दीखे, वहीं, उसीमें, अधिक तो क्या, उसीके रूपमें भगवान्‌का दर्शन! यही जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ अथवा परमार्थ है।

(५)

अज्ञान और ज्ञानका स्वरूप

एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥
(११। २८। ३६)

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(२। ९। ३५)

पहले श्लोकमें अज्ञानका स्वरूप बतलाया गया है। कहते हैं कि अद्वितीय आत्मस्वरूपमें जो विविधताका सङ्कल्प है, यह मनका मोह है। क्योंकि आत्माको छोड़कर उस विविधताके सङ्कल्पके लिये भी कोई दूसरा अवलम्ब नहीं है, यही विविधताकी भावना अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानसे है। अज्ञान किसे है, किसमें है—यह प्रश्न इस बातको मानकर उठता है कि अज्ञानकी सत्ता है। परन्तु अज्ञानकी सत्ता भी तभीतक मानी जाती है, जबतक अज्ञानके स्वरूपका बोध नहीं होता। अज्ञान ज्ञान होनेपर तो अज्ञान रहता ही नहीं, ज्ञान हो जाता है और जहाँतक वह स्वयं अज्ञान है वहाँतक यह प्रश्न बनता ही नहीं कि वह किसमें है, किसे है? ऐसी अवस्थामें अज्ञानका स्वरूप क्या है? तत्त्वदृष्टि करानेके लिये एक अध्यारोपमात्र! इसीलिये वह किसीको नहीं है, किसीमें नहीं है; क्योंकि अध्यारोपित वस्तुसे किसीका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु यह यथार्थ उक्ति तो अज्ञानपर लगायी हुई सारी व्यवस्थापर ही पानी फेर देती है। यह भी अभीष्ट ही है। फिर भी उसे अनिर्वचनीय स्वीकार कर लिया जाता है। 'अनिर्वचनीय' शब्दका अर्थ अज्ञेय नहीं है। जिसका मन और वाणीके द्वारा 'इदन्तया' निर्वचन नहीं किया जा सकता, वही अनिर्वचनीय है। तब वह 'अनिदं' है अर्थात् 'अहं' है—स्वरूपसे अभिन्न है। ज्ञान और अज्ञान सब कुछ स्वरूप ही है—यही बात जाननेकी है। दूसरे श्लोकमें यही कहा गया है।

जो आत्मतत्त्वके जिज्ञासु हैं, उन्हें बहुत-से विषयोंका ज्ञान नहीं प्राप्त करना है। उन्हें तो केवल एक ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहती है। यह जाननेका साधन क्या है? अन्वय और व्यतिरेक। आकाशके रहनेपर ही पृथ्वीका अस्तित्व है—यह अन्वय है। आकाशके न रहनेपर पृथ्वी भी नहीं रह सकती—यह व्यतिरेक है। परन्तु पृथ्वीके न रहनेपर भी आकाश तो रहता ही है। आत्मसत्ताके रहनेपर ही अनात्मपदार्थोंकी सत्ता रह सकती है, आत्मसत्ताके न रहनेपर अनात्मपदार्थोंकी सत्ता नहीं रह सकती। परन्तु अनात्मपदार्थोंकी सत्ता न रहनेपर भी आत्मपदार्थकी सत्ता तो रहती है। तब

सत्ता केवल आत्माकी—परमात्माकी है। अनात्मपदार्थ केवल प्रतीतिमात्र, सर्वथा मिथ्या हैं। अब यही सर्वत्र और सदा तथा उनकी सीमासे परे भी रहनेवाली आत्मसत्ताका स्वरूप ही तत्त्वजिज्ञासुके ज्ञानका स्वरूप है। न इसमें ज्ञातृज्ञेय सापेक्ष ज्ञान ही है और न तो आश्रय-आश्रयीभाव रखनेवाला अज्ञान ही। इस सत्तामात्र निर्विशेष चैतन्यमें मन और वाणीसे निर्वचन करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। वही आत्मा है, वही मैं हूँ। मैं उससे भिन्न हूँ—यही अज्ञान है। और इस अज्ञानका मिट जाना ही ज्ञान है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'अज्ञान' शब्दोंके द्वारा विधेय कोई वस्तु नहीं है।

(६)

समस्त वेदोंका तात्पर्य

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति॥
(११ । २१ । ४३)

वेदोंमें कहीं किसी कर्मका विधान है तो कहीं देवता आदिके विभिन्न नामोंका उल्लेख है, कहीं आकाशादि विविध सृष्टिका वर्णन है तो कहीं उनका निषेध भी है—यह सब क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि कर्मके रूपमें मेरा ही विधान है। देवताओंके नामोंके रूपमें मेरे ही नामोंका गायन है। आकाशादि विविध सृष्टिके रूपमें मेरा ही वर्णन है और उनके निषेध तथा निषेधकी अवधिके रूपमें भी मेरा ही वर्णन है। तब समस्त वेदोंका तात्पर्य क्या है? इस प्रश्नका सीधा उत्तर होता है—स्वयं परमात्मा। ऊपर उद्धृत श्लोकमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। सारे वेदोंके तात्पर्य हैं—भगवान्। वेद उन्हीं परमार्थस्वरूप परमात्माका आश्रय लेकर कहता हैं—दीखनेवाला भेद सर्वथा मायामात्र है। नानात्व कुछ नहीं है, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है। इस प्रकार अशेष विशेषोंका निषेध करके वेद अपना काम बंद कर देता है, स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वेद-स्तुतिके अन्तमें भी यही बात कही गयी है—'अतन्निरसनेन भवन्निधनाः।' 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूपसे परमात्मामें ही पर्यवसित होती हैं।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि श्रीमद्भागवत भगवत्स्वरूप है। यह श्रुतियोंका सार-सार अंश है। जैसे समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य एकमात्र परमात्मामें ही है, वैसे ही श्रीमद्भागवतका भी। इसका वास्तविक रस तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसके मूलका स्वाध्याय करनेसे प्राप्त होता है। भगवान् हमलोगोंको इसके मूलके स्वाध्यायमें लगायें, उसका रस लेनेकी योग्यता दें।

देख चुका मैं ज्योति निराली

देख चुका मैं ज्योति निराली
अंधकारमें ठोकर खाकर
गिरते पड़ते ऊपर जाकर
बैठ हिमालयकी गोदीमें
मैंने तेरी झाँकी पा ली
देख चुका मैं ज्योति निराली
मृगतृष्णाके पीछे पड़कर
रहा भटकता प्रभु जीवनभर
रात गई अब हुआ सबेरा
दीख रही पूरबमें लाली
देख चुका मैं ज्योति निराली
साध्य एक पर साधन बहुविध
इष्ट एक आराधन बहुविध
समझ गया मैं तेरी माया
है कितनी उलझानेवाली
देख चुका मैं ज्योति निराली

—'यात्री'

आर्यलोग तेजस्वी और वर्चस्वी क्यों होते थे ?

—गुरुगृहमें विद्यार्थियोंको दी जानेवाली प्रेरणा—

(लेखक—पं० श्रीअम्बालालजी जानी, बी० ए०)

वर्तमान समयमें बाल्यावस्थासे ही विद्यार्थियोंको विद्याध्ययनके साथ-साथ धर्म-नीति, संयम-नियम तथा सच्चरित्रका निरन्तर उपदेश न देनेवाली तथा इस प्रकारके उपदेशसे विहीन अपनी शिक्षापद्धति होनेके कारण अनेक प्रकारके अनिष्ट तथा अनर्थोत्पादक परिणाम दिन-प्रतिदिन दिखलायी दे रहे हैं, तथा वे जिस प्रकार नीति-विमुख और चरित्रहीन होते जा रहे हैं, इसका कटु अनुभव विचारवान् पुरुषोंको हो ही रहा है।

परन्तु प्राचीन कालमें शिक्षाके आधारस्वरूप धर्म, नीति, संयम-नियम तथा सच्चरित्रताका उपदेश गुरु-गृहमें विद्यार्थियोंको दिया जाता था, और वे उसको व्यवहारमें भी लाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि आर्यलोगोंका गृहस्थाश्रम और संसार सुन्दर तथा आनन्दमय होता था; एवं वे तेजस्वी, वर्चस्वी और परोपकारी होते थे—साथ ही दूसरे लोगोंके लिये आदर्शस्वरूप होते थे।

कारण यह था कि प्राचीन कालमें बाल्यावस्थामें ही द्विज विद्यार्थी विद्योपार्जनके लिये गुरुगृहमें रहने जाते थे, तथा वहाँके निर्मल वातावरणमें बढ़ते थे। इसी प्रकार गुरु भी ऐसे निःस्पृही और समदर्शी होते थे कि सभी विद्यार्थियोंके प्रति, चाहे वे राजवंशके हों अथवा दीन-कुलके, एक-समान निर्मल स्नेहभाव तथा पितृवत् वात्सल्यभाव रखते हुए उनको धर्म तथा नीतिके अनुसार विद्यादान देते थे, तथा उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे, और वे सच्चरित्र हों—इसपर विशेष ध्यान रखते थे।

उस समय केवल विद्याका ही महत्त्व न था। विद्या-प्राप्तिके साथ-साथ जिस मनुष्यने संयम-नियम, विनय-विवेक, स्वार्थत्याग आदि गुणों और लक्षणोंको ग्रहण नहीं किया, वह मनुष्यत्वके योग्य नहीं समझा जाता था। 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे'—इस प्रकारका लक्षण ब्राह्मणका था। ऐसा ही श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है। विद्या विनयसे ही सुशोभित होती है। ब्रह्म-राक्षस उच्च कोटिका विद्वान् होनेपर भी समाजमें पूजित नहीं होता, बल्कि तिरस्कृत ही होता है; परन्तु जो विनय-विवेक-सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता हैं, वे परम वन्दनीय और पूज्य मानकर सम्मानित होते हैं। गुरुगृहमें विद्यार्थी इस सारे शिक्षण-आचरणको सादर अङ्गीकार करते थे।

द्विज विद्यार्थी दस-बारह वर्ष गुरुगृहमें रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका दृढ़तापूर्वक पालन करते, गुरुजीकी छोटी-बड़ी सेवाओंको एकनिष्ठासे अभिमान छोड़कर करते, परस्पर भेद-भाव छोड़कर स्नेह और सेवावृत्ति सीखते, तथा उद्यमी, परिश्रमी और परोपकारी बनते थे। इतना ही नहीं, बल्कि मानव-जीवनको उच्च रीतिसे लोक-कल्याणार्थ व्यतीत करनेकी भावना और शक्तिसे सम्पन्न होते थे। सारांश यह है कि वे वेदविद्या, अध्यात्म-विद्या, तत्त्वज्ञान आदि सद्विद्याओं तथा सदाचारसे सम्पन्न होकर तथा समस्त गुणों और शुभ लक्षणोंसे युक्त होकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये गुरुगृहसे अपने घर लौटते थे। परिणाम यह होता था कि उनका समाज और सांसारिक व्यवहार सुखमय तथा सत्कार्योंसे युक्त होता था। उनका गृहस्थाश्रम जैसा लोकहितकर होता था, वैसा ही श्रेयस्कर भी सिद्ध होता था।

उनके इस प्रकार सच्चरित्र हो सकनेका कारण

ऊपर बतलाया गया है। यही बात थी कि गुरुगृहमें तैत्तिरीय उपनिषद्में कहे गये उत्तम शिक्षा-वचन उनके हृदयमें निरन्तर गूँजते रहते, उनके जीवनमें मनः-कामनाओंका निर्माण करते, उन्हें जीवन देते तथा उनको व्यवहारमें लानेकी शक्ति प्रदान करते थे। वर्तमान समयमें इस प्रकारकी शिक्षा और प्रेरणाका अभाव हमारे आर्यजीवनको नष्ट कर रहा है।

ये अमूल्य शिक्षा-वचन प्रत्येक आर्य बालकके लिये मनन करने तथा आचरणमें लाने योग्य होनेके कारण यहाँ दिये जा रहे हैं :-

अनुशासनम्

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ २ ॥

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ॥ ३ ॥

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ॥ ४ ॥

अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः ॥ ५ ॥

एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ६ ॥

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । तानि त्वयोपास्यानि । विचिकित्सा वा स्यात्तेषु वर्तेरन् ॥ ७ ॥

(श्रीकृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद्—शीक्षाध्यायरूपा प्रथमा वल्ली, एकादशोऽनुवाकः)

गुरुदेव वेदोंका अध्ययन शिष्योंको करानेके पश्चात् और ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति करानेके पूर्व, श्रुति तथा स्मृतिकी आज्ञाके अनुसार कौन-कौन-से कर्तव्य करने चाहिये, इसका उपदेश—उनको अनुशासन—शिक्षा-ज्ञान, इस प्रकार करते हैं :-

हे शिष्य ! सत्य (प्रामाणिक बात) बोल। उसी प्रकार धर्मका (अवश्य करने योग्य कर्तव्योंका) आचरण कर। (किये हुए) वेदके अध्ययनमें (स्वाध्यायमें) प्रमाद न कर (अर्थात् तुझे निरन्तर वेदादिका पाठ करना ही चाहिये)। (विद्या ग्रहण करनेके बाद) गुरुको प्रिय—अभीष्ट धन गुरुदक्षिणामें दे। (ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण होनेपर अपने योग्य कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थाश्रमका निर्वाह कर तथा) सन्तानपरम्पराका उच्छेद करनेकी बात मत सोच (और न कर) अर्थात् योग्य सन्तान उत्पन्न कर।

सत्यमें प्रमाद न करना (सत्यका कभी त्याग न कर)। धर्म—कर्तव्य कर्मके प्रति कभी प्रमादका आश्रय न ले। कुशल—अपनी रक्षा तथा जीविकोपार्जनके कर्मोंमें प्रमाद न कर। समृद्धि (जो ऐश्वर्य प्राप्त हुआ

हो उसकी वृद्धि करनेवाले कर्मों) की ओर कभी प्रमाद न कर । अपने अध्ययनको बनाये रखने तथा दूसरोंको उपदेश देनेमें- -वेदादि शास्त्रोंके अध्यापनमें कभी प्रमाद न करना ॥ १ ॥

देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्तव्य कर्मोंका कभी त्याग न करना । माताकी तू देवताके रूपसे उपासना करना । पिताकी देवरूपमें उपासना करना । आचार्यकी देवरूपमें उपासना करना । अतिथिकी देवरूपसे उपासना करना । जो-जो कार्य अनिन्दित हैं, उन-उन कार्योंको करते रहना । परन्तु इससे भिन्न जो कर्म हों (जो निन्दित हों और शिष्टजन कदाचित् उन्हें करते भी हों तो भी) उनका अनुष्ठान न करना, ऐसे कर्म तू कभी न करना । हमारे अर्थात् गुरुके जो श्रेष्ठ आचरण हों, उन्हींका तुझे अनुसरण-आचरण करना चाहिये । परन्तु जो उसमें अतिरिक्त विपरीत आचरणके कर्म हों, उन्हें कभी न करना ॥ २ ॥

जो ब्राह्मण अपनेसे कहीं श्रेष्ठ हों, उनको अपना आसन देने (सत्कार करने) में विलम्ब न करना । जो कुछ भी दानरूपमें तू दे, उसे तू श्रद्धायुक्त होकर दे । अश्रद्धासे किसी भी प्रकारका दान करना उचित नहीं । यथाशक्ति अपनी धन-दौलतके अनुसार ही तू दान करना । लोकलज्जासे भी तुझे अवश्य दान करना चाहिये । शास्त्रके भयसे भी तुझे दान करना चाहिये । विवेकपूर्वक (मित्रादिके कार्योंमें) दान करना चाहिये ॥३॥

यदि तुझे अपने किसी भी प्रकारके कर्म अथवा लौकिक आचारके सम्बन्धमें शङ्का उठे तो अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मण जो विचारशील, वेदविहित कर्ममें कुशल, सब प्रकारसे स्वतन्त्र, क्रोधरहित अर्थात् शान्त स्वभाववाले तथा धर्मकी कामनावाले हों, वे इन कर्मोंके सम्बन्धमें जिस प्रकारका व्यवहार करते हों तुझे भी संशयरहित होकर उसी प्रकारका आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

(अब निन्दित पुरुषोंके प्रति कैसा वर्ताव करना चाहिये, वह भी सुन ।) जो ब्राह्मण पूर्ण विचारशील हों, वेदविहित कर्मोंमें कुशल हों, सब प्रकारसे स्वतन्त्र हों, क्रोधरहित अर्थात् शान्त स्वभाववाले हों तथा धर्मकी कामनावाले हों, वे जिस प्रकार निन्दित पुरुषोंके प्रति वर्ताव करते हों, तुझे भी उन निन्दित पुरुषोंके प्रति वैसा ही बर्ताव करना चाहिये ॥ ५ ॥

यह एक विधान है । यह सब वेदोंका एक रहस्य है, यह एक अनुशासन है, ईश्वरका वचन है । यह एक उपदेशके रूपमें कहा गया है । यह एक आज्ञारूपी वचन है । इस उपर्युक्त रीतिसे तुझे वर्तना चाहिये । ठीक तुझे इस उपर्युक्त रीतिसे आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

तू स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद न करना । इनको तुझे करना ही चाहिये । इनमें कदाचित् संशय भी उठे तो तुझे करना ही चाहिये ॥ ७ ॥

(श्रीकृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय उपनिषद्, शीक्षावल्ली, ११ वाँ अनुवाक)

हे प्रभो ! हमारे आर्यावर्त देशकी प्रजा पूर्ववत् धार्मिक, बलवान् और तेजस्वी बने ।
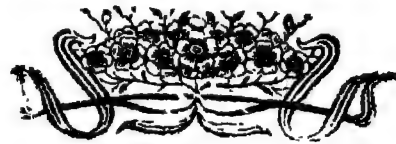
परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। समाचार जाने। आपसे प्रार्थना है कि मुझे अपने छोटे भाईके समान समझकर समान व्यवहारके ही शब्दोंका प्रयोग किया कीजिये। 'पूज्यपाद' और 'चरणवन्दन' आदि शब्दोंके प्रयोगमे मुझे बड़ा संकोच होता है। आपके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर दिया जाता है--

प्रश्न १-श्रीभगवान्‌के स्वरूपका ध्यान हृदयमें करना चाहिये अथवा बाहर सवा हाथ दूर तथा सवा हाथकी ऊँचाईपर? दोनोंमें उत्तम कौन है?

उत्तर-श्रीभगवान्‌के स्वरूपका ध्यान दोनों प्रकारसे ही उत्तम है। दोनों ही प्रकारके ध्यान मनसे होते हैं, इसलिये इनमें उत्कृष्टता और निकृष्टताका भेद नहीं है। अपनी रुचिके अनुसार करना चाहिये।

प्र० २-ध्यान भगवान्‌के नख-शिख समस्त रूपका करना चाहिये अथवा केवल मुखारविन्द अथवा चरणारविन्दका? यदि चरणारविन्दका किया जाय तो सरकार जिस प्रकार खड़े हैं, वैसे ही पंजोंका अथवा तलवोंका? उत्तम कौन-सा है?

उ०-ध्यानके आरम्भमें चरणारविन्दोंसे प्रारम्भ करके मस्तकतक पूरे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। एक बार पूरा-पूरा ध्यान हो जानेपर केवल मुखारविन्द या चरणारविन्दपर ही अपने मनको टिका देना चाहिये। दासभावके भक्तोंको प्रधानतः चरणारविन्दका और सखाभावके भक्तोंको प्रधानतः मुखारविन्दका ध्यान करना चाहिये। चरणोंका ध्यान जैसे भगवान् खड़े हैं, वैसे हो अथवा नीचेसे उनके तलवोंको ही देखा जाय। दोनों ही अपनी रुचि और प्रीतिपर निर्भर करते हैं। इनमें कोई श्रेष्ठ-कनिष्ठका भेद नहीं है।

प्र० ३-प्रातःकाल और सायंकाल कैसा ध्यान करना चाहिये? इसके अतिरिक्त काम करते समय ध्यानका क्या स्वरूप होना चाहिये?

उ०-जो ध्यान प्रातःकालका है, वही सायंकालका भी। अपने इष्टदेवके गुण, प्रभाव, रहस्य, रूप, लीला, सेवा आदिका दोनों समय ही चिन्तन करते हुए ध्यान करना चाहिये। समयके अनुसार सेवा-पूजाकी प्रणालीमें भेद हो सकता है। विभिन्न लीलाओंका भी चिन्तन कर सकते हैं, परन्तु इष्टदेव एक ही होने चाहिये। काम करते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि भगवान् सर्वदा मेरे साथ हैं—मैं चलता हूँ तब चलते हैं, बैठता हूँ तब बैठते हैं, खाता हूँ तब खाते हैं। मेरी आँखोंसे एक क्षणके लिये भी ओझल नहीं होते। उनका वरद हस्त मेरे सिरपर सदा बना ही रहता है। वे नित्य, निरन्तर अपने प्रेम और कृपाकी सुधा-धारासे मुझे सराबोर किये रहते हैं। उनकी मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, पीताम्बरकी झलक और नख-छटाका प्रकाश क्षण-क्षणपर अनुभव करते रहना चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेपर थोड़े ही दिनोंमें बड़े रसका अनुभव होने लगता है।

प्र० ४-ध्यान युगल-सरकारका करना चाहिये अथवा केवल सरकारका ही। कारणसहित बतलाइये।

उ०-श्रीभगवान्‌में युगल और एकका भेद नहीं है। एकमें भी युगल हैं और युगल भी एक ही हैं। इसलिये ध्यान चाहे युगल छविका किया जाय—चाहे केवल भगवान्‌के श्रीविग्रहका। एक ही बात है। साधकोंकी अपनी रुचि-प्रवृत्ति, प्रीति, श्रद्धा और अधिकारके अनुसार ही उनके ध्यानकी व्यवस्था है। आपके पत्रको देखते जान पड़ता है कि आपको युगल-सरकारका ही ध्यान करना चाहिये।

प्र० ५—प्रारम्भमें ध्यान कितनी देरतक करना चाहिये और कितनी बार ?

उ०—प्रारम्भमें कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल नियमसे आध-आध घंटे तो ध्यान अवश्य ही करना चाहिये । कितनी बारका कोई नियम नहीं है । उत्तम तो यही है कि मनुष्य प्रतिक्षण ध्यानमग्न रहे । इसलिये अधिक-से-अधिक ध्यानकी चेष्टा ही कर्तव्य है ।

प्र० ६—ध्यानके साथ नाम-जप करना चाहिये, अथवा नहीं ? मन-ही-मन स्वरूपका वर्णन और मनके नेत्रोंसे भगवान्‌की झाँकीका दर्शन करना भी तो ठीक है न ?

उ०—जप ध्यानमें बड़ा ही सहायक है । इससे साधक निरन्तर जाग्रत् रहता है और इष्टदेवका मन्त्र अथवा नाम उसे प्रतिक्षण ध्यानमें लगनेकी प्रेरणा करता रहता है । मन-ही-मन रूपका वर्णन और मनके नेत्रोंसे उनकी झाँकीका दर्शन भी श्रेष्ठ है । दोनोंमेंसे जो आपके अनुकूल पड़े वही करना चाहिये ।

प्र० ७—ध्यानके समय कौन-कौन-से विघ्न आते हैं, और उनका निराकरण किस प्रकार करना चाहिये ?

उ० ध्यानके मुख्य विघ्न दो हैं—आलस्य और विक्षेप । आलस्यका अर्थ है मनके तन्द्रित हो जानेके कारण भगवान्‌का चिन्तन न होना । विक्षेपका अर्थ है भगवान्‌के अतिरिक्त मनमें अन्य विषयोंका आना—मनका विषयोंमें भटक जाना । इन विघ्नोंके निवारणके चार उपाय हैं—(१) ध्यानके समय पीठकी रीढ़को सीधा रक्खा जाय, (२) नेत्र खुले रहें, (३) सावधानीके साथ नाम-जप होता रहे और (४) शास्त्रानुकूल भगवान्‌के गुण, प्रभाव और लीलाओंका विवेचन हो ।

प्र० ८—ध्यानके सहायक क्या क्या हैं ?

उ०—मुख्यतः चार बातें हैं । श्रद्धा और प्रेमसे सत्सङ्ग करना, अपने इष्टदेवके प्रभाव, गुण, रहस्य आदिसे परिपूर्ण ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, प्रेमके साथ रसका अनुभव करते हुए नाम-जप करना, और विषयोंमें उपरति और वैराग्य होना ।

प्र० ९—ध्यानके अभ्यासीकी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये ?

उ०—ध्यानके अभ्यासीको कभी ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिससे उसके मनमें उद्वेग, चिन्ता, भय और शोककी वृद्धि हो । मनको केवल सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्त ही नहीं—इष्टदेवके चिन्तन-स्मरणमें संलग्न रखना चाहिये । व्यवहारमें स्मरणकी जितनी वृद्धि होगी, उतना ही ध्यान भी अधिक लगेगा । इसलिये ध्यानके अभ्यासीकी वैसी ही दिनचर्या होनी चाहिये जिससे अधिक-से-अधिक भगवत्स्मरण हो । अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन दीनजनोंकी सेवा, महापुरुषोंका सङ्ग, स्वाध्याय, जप, पूजा आदि भगवत्प्राप्तिके साधनरूप कर्मोंमें ही उसे लगे रहना चाहिये ।

प्र० १०—विषयोंका यथार्थ स्वरूप कैसे समझें, जिससे उनकी ओरसे मन फिर जाय ?

उ०—किसी भी वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारसे ही समझमें आता है । विवेकी पुरुष विषयोंमें दुःख-ही-दुःख देखता है । विषयोंका आसक्तिपूर्वक भोग प्रत्यक्ष ही पुनर्जन्म और नरकका हेतु है । उनके भोगके समयमें भी कुछ-न-कुछ तापका अनुभव होता ही है । वे क्षणभङ्गुर और नाशवान् भी हैं ही । विषयोंमें फँस जानेसे उनके पंजेसे छुटकारा कठिन हो जाता है । इन सब बातोंपर विचार करनेसे इस बातका निश्चय हो जाता है कि विषय वास्तवमें दुःख-रूप हैं । अबतक जगत्‌के इतिहासमें किसी भी मनुष्यको अधिक-से-अधिक विषयोंका भोग करनेपर भी उनसे सन्तोष और शान्ति नहीं मिली है । इसलिये उनकी ओरसे उपराम हो जाना ही श्रेष्ठ है ।

प्र० ११—प्रातःकाल नींद टूटते ही और रात्रिमें

सोनेके समय क्या प्रार्थना करनी चाहिये ? मुख्यरूपसे क्या करना चाहिये ?

उ०--सोने और जागनेके समय मुख्यत: भगवान्‌के नाम, गुण, रूप और लीलाका स्मरण करना चाहिये। अपने मनमें श्रीभगवान्‌के प्रति जो भाव हों, उन्हें ईमानदारीके साथ उनके चरणोंमें निवेदन करना चाहिये। अपने मनके भावसे मिलने-जुलते अर्थवाले जो श्लोक और पद हों, उनका उच्चारण करना चाहिये। उनके चुनावमें अपने-अपने स्वभाव और रुचिकी ही प्रधानता होती है। श्लोक अथवा पद याद न हो तो जो जिस भाषामें बातचीत करता है, वह उसी भाषामें भगवान्‌से प्रार्थना करे; क्योंकि वे तो सबकी भाषा समझते हैं।

प्र० १२—रातको सोते समय भी नाम-जप होता रहे—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये ?

उ०—यदि नींदके पहले खूब प्रेम और लगनके साथ नाम-जप करता रहे और जब-जब नींद टूटे तब-तब उसको सँभालता रहे तो नाम-जप निरन्तर होने लगता है। यदि नींद टूटनेपर नाम-जप होता न मिले तो हृदयमें बड़ा पश्चात्ताप और वेदना होनी चाहिये, और सच्चे हृदयसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि एक क्षणके लिये भी कभी तुम्हारे नामका ताँता न टूटे। सच्ची प्रार्थना हो, और हृदयमें उत्साह हो तो सोते समय भी नाम-जप होने लगना क्या कठिन बात है।

प्र० १३—मैं सन्ध्या करना नहीं जानता, क्या इसके बदलेमें ध्यान अथवा नाम-जप किया जा सकता है ?

उ०- प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजातिके लिये सन्ध्या करना अनिवार्य है। सन्ध्या न करनेसे पाप होता है। अत: सन्ध्याको किसी-न-किसी प्रकार शीघ्र ही सीख लेना चाहिये। जबतक पूरी सन्ध्या याद नहीं हो जाती तबतक केवल गायत्री-मन्त्रसे प्राणायाम, आचमन, मार्जन, सूर्योपस्थान, जप आदि मुख्य-मुख्य कर्म कर लेने चाहिये। यद्यपि ध्यान और जपकी महिमा अनन्त है, फिर भी उनके आश्रयसे नित्यकर्मका लोप नहीं होना चाहिये।

प्र० १४—उपवास अथवा फलाहारके दिन भी बलिवैश्वदेव करना चाहिये क्या ? कौन-सा फलाहार उत्तम है ? फलाहारके दिन कुत्ते, कौवे आदिके लिये क्या करना चाहिये ?

उ०—उपवासके दिन बलिवैश्वदेवरूप यज्ञ मानसिक करना चाहिये। फलाहारके दिन फलसे। मनुष्य जो भोजन करता है, उसीके द्वारा यह यज्ञ करना चाहिये। सबसे उत्तम तो निराहार रहना ही है। दूसरा नंबर स्वल्प परिमाणमें दुग्ध लेनेका है। तीसरे नंबरमें सूर्यकी किरणोंसे पके हुए फलोंका है। फलाहारकी वर्तमान प्रणाली तो चौथी श्रेणीकी है। न करनेसे यह भी अच्छी ही है। कौवों और कुत्तोंको भी वही वस्तु देनी चाहिये जो स्वयं खाये। पहले दिनका बचा हुआ भोजन खिलानेमें भी कोई हानि नहीं है।

प्र० १५—दूसरोंके यहाँ निमन्त्रणमें जानेपर बलिवैश्वदेव नहीं कर सकते। ऐसे अवसरोंपर क्या करना चाहिये ?

उ०—ऐसे अवसरोंपर मानसिक बलिवैश्वदेव कर लेना चाहिये।

प्र० १६—'होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावैं साखा ॥' यह बात सिर्फ प्रारब्ध-भोगमें ही लागू है, अथवा परमार्थ-पथकी उन्नति और अवनतिमें भी ? इसका असली भाव क्या है ?

उ०—यह बात मुख्यरूपसे प्रारब्ध-भोगमें ही लागू है। परमार्थ-पथकी उन्नति होती है साधकके उत्साह, लगन और साधन-सम्बन्धी तत्परतासे। उसके अहंकार, आसक्ति, आलस्य, प्रमाद आदिसे अवनति होती है।

इसका असली भाव यह समझना चाहिये कि जो कुछ सुख-दुःख मिला, अथवा आगे मिलेगा, उसके सम्बन्धमें सोच-विचार न करके उसे भगवान्‌के विधान और प्रारब्धपर छोड़ दे तथा वर्तमान कालमें भगवान्‌के शरण होकर अपनेको अवनतिसे बचाने और उन्नतिके पथपर ले जानेके लिये भरपूर चेष्टा करे।

प्र० १७—सद्‌गुरुकी प्राप्तिके लिये साधकको क्या करना या करते रहना चाहिये ?

उ०—साधकको चाहिये कि सदाचारका पालन करते हुए नित्य आर्तभावसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रार्थना करे कि आप मुझे शीघ्र संत सद्‌गुरुसे मिलाइये। स्मरण रहे कि सच्ची और उचित प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती। प्रार्थीके अधिकारानुसार कुछ विलम्ब अवश्य हो सकता है।

प्र० १८—वास्तवमें जप और ध्यान किसे कहना चाहिये ?

उ०—वास्तवमें सच्चा जप और ध्यान वही है, जो श्रद्धा और प्रेमसे हो। श्रद्धा और प्रेमके बिना जप और ध्यान साधारण फलदायक हैं।

प्र० १९—साधक दूसरोंकी उन्नतिके लिये चेष्टा करे या नहीं ? होम करते हाथ जलनेकी नौबत तो नहीं आती ?

उ०—साधक जिस साधनासे अपना परम कल्याण समझता है वह साधना दूसरे भी करें और उसके द्वारा लाभ उठावें, ऐसी इच्छा और चेष्टा उसकी होनी चाहिये। उसके मनमें ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि यदि दूसरोंका कल्याण साधन करनेमें मेरी हानि भी हो जाय तो कोई परवा नहीं। वास्तवमें तो दूसरेका भला चाहनेवालेका पतन हो ही नहीं सकता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥' प्यारे अर्जुन ! कल्याणके किसी भी साधककी कभी किंचिन्मात्र भी दुर्गति नहीं हो सकती। इसलिये अपने कल्याणके साथ-साथ दूसरोंके कल्याणकी भी चेष्टा करनी चाहिये।

प्र० २०—साधकको अपने ही सुधारमें लगे रहना चाहिये, क्या यह ठीक है ?

उ०—यह ठीक है कि साधकको अपनी उन्नतिमें तो निरन्तर तत्पर रहना ही चाहिये, दूसरोंके हितका भी ध्यान रखना चाहिये। दूसरोंके कल्याणकी चेष्टा करनेपर कहीं उसके चित्तमें इस बातका अहंकार न हो जाय कि मैंने अमुकका हित कर दिया। इसलिये साधक दूसरोंका हित तो करे अवश्य, परन्तु दूसरोंके सुधारके साथ-साथ अपने सुधारपर निरन्तर दृष्टि रक्खे। जो अपना सुधार नहीं करता भला, वह दूसरोंका सुधार कब कर सकता है।

प्र० २१—कभी-कभी मेरे इष्टदेवके चित्रसे अधिक सुन्दर चित्र जब मिलते हैं, तब चित्त उनके लिये ललच जाता है। ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये ? नये चित्रके अनुसार ध्यान करना चाहिये अथवा पुराने-का ही ? ऐसी अवस्थाका यथार्थ मर्म क्या है ?

उ०—जिस समय आपके पासवाले चित्रसे अधिक सुन्दर चित्र आपके पास आता है, उस समय आपको भगवान्‌की विशेष कृपाका अनुभव करना चाहिये। भगवान्‌ने आपपर कृपा करके एक और भी नयन-मनोहारी झाँकी आपके सामने प्रकट कर दी। आप उसी रूपमें अपने इष्टदेवका ध्यान कीजिये और उनकी विभिन्न लीलाओंको देखिये। केवल इतना ही नहीं, यदि श्रीकृष्णका ध्यान करते समय श्रीरामका, अथवा श्रीरामका ध्यान करते समय श्रीविष्णुका श्रीविग्रह आपके ध्यानमें प्रकट हो जाय तो भी उसे अपने भगवान्‌की विशेष कृपा और रूप समझकर प्रेमसे पूजा कीजिये और आनन्दसे गद्‌गद हो जाइये। सब अपने इष्टदेवके ही तो रूप हैं। उनमें भेद-भाव करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्र० २२—परब्रह्म परमात्मामें द्वैत और अद्वैतके भेदसे निर्गुण-निराकार-साकार और सगुण-निराकार-साकारके चार-चार प्रकार हो जाते हैं। उनका यथार्थ मर्म स्पष्ट कीजिये।

उ०—आपने अपने प्रश्नमें जो चार-चार प्रकारके भेदोंका उल्लेख किया है, वह किस प्रसंगसे लिया है? वहाँ वह जिस भावसे लिखा गया हो, उसको वहींसे समझना चाहिये। वास्तवमें निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार—सब-के-सब भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। एक ही लीलामय भगवान् लीलाके लिये विभिन्न साधकोंके सामने भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकट होते हैं, उनके सम्बन्धमें इतना जानना ही पर्याप्त है कि वे सब भगवान्‌के ही रूप हैं।

प्र० २३—एक बार नखसे शिखतक ध्यान कर लेनेके बाद बार-बार वही दोहराना चाहिये या और कुछ करना चाहिये?

उ० नियत समयतक ध्यानके लिये बैठनेपर एक बार तो पूरे नख-शिखका चिन्तन कर लेना चाहिये। रुचि और प्रेम हो तो बार-बार उसे दोहराना चाहिये। ध्यान ठीक-ठीक न लगे तो अपने इष्टदेवके प्रभाव, गुण, रहस्य, चरित्र आदिका स्मरण और उनकी कृपा, प्रेमका अनुभव करना चाहिये। उनकी विभिन्न लीलाओंका दर्शन भी कर सकते हैं और समय, रुचि तथा प्रेरणाके अनुसार उनकी मानसिक सेवा भी कर सकते हैं। प्रार्थना और मानस-पूजाके लिये भी यहीं उपयुक्त अवसर है।

प्र० २४ मेरा मन स्वाध्यायमें विशेष लगता है और जपमें कम। मुझे नामजप करना चाहिये अथवा स्वाध्याय? उत्तम कौन है?

उ०—जप और स्वाध्याय दोनों ही उत्तम हैं। जैसे शरीर-पोषणके लिये अन्न और जल दोनोंकी आवश्यकता है, वैसे ही पारमार्थिक उन्नतिके लिये जप और स्वाध्याय-की है। स्वाध्यायसे जपमें मन लगता है और जपसे स्वाध्यायकी धारणा होती है। दोनों एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं, सहायक हैं। इसलिये दोनों ही करने चाहिये। जिसमें मन न लगे, उसमें लगाया जाय।

प्र० २५—माया और प्रकृति क्या हैं? उनमें कितना अन्तर है? भक्त और ज्ञानीकी दृष्टिसे इनके स्वरूप क्या है?

उ०—वेदान्ती लोग माया और प्रकृतिको एक ही मानते हैं और उसीके द्वारा जिज्ञासुको सृष्टिकी व्यवस्था समझाते हैं। वे मायाका स्वरूप काल्पनिक मानते हैं। भक्तकी दृष्टिमें प्रकृति सत्य है। वही सृष्टिका उपादान कारण है। उसमें फँसा देनेवाले अंशको वे माया मानते हैं। असलमें भक्तकी दृष्टि तो भगवान्‌पर ही रहती है, वह माया और प्रकृतिको क्यों देखने लगा?

प्र० २६—शुद्ध साक्षी किसे कहते हैं?

उ०—सम्पूर्ण दृश्यमान जगत्‌के भाव और अभावको, सृष्टि और प्रलयको, प्रतीति और बाधको जो जानता है, और किसी भी कर्म अथवा अकर्मका कभी भी कर्ता, भोक्ता नहीं बनता, वह 'तत्' और 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ कूटस्थ आत्मा ही साक्षी है।

प्र० २७—प्रपञ्च क्या है? उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो?

उ०—जो कुछ भाव अथवा अभावके रूपमें दृश्यमान जगत् है, उसको प्रपञ्च कहते हैं। उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है ज्ञानमार्गद्वारा ब्रह्मका तत्त्व जाननेसे अथवा भक्तिके द्वारा भगवान्‌की कृपा प्राप्त करके भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार हो जानेपर। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्तिसे ही प्रपञ्चकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।

प्र० २८—क्या भक्तोंपर भी प्रारब्धका प्रभाव रहता है?

उ०—भक्तोंके शरीरमें भी रोग, धननाश आदि प्रारब्धके अनुसार होते हैं। परन्तु वे प्रारब्धके अनुसार होनेवाली घटनाओंसे प्रभावित नहीं होते। उनकी दृष्टि

सर्वदा भगवान्पर लगी रहती है, उनकी लीला ही देखती रहती हैं; इसलिये वे प्रारब्धको हटानेकी इच्छा और चेष्टा भी नहीं करते। साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा यही उनकी विलक्षणता है।

प्र० २९—यदि नाम-जपके स्थानमें ध्यान ही किया जाय तो कैसा? नामजप तो छूट जायगा न?

उ०—नाम-जप ध्यानका विरोधी नहीं है। इसलिये ध्यानके समय भी नाम-जप करना चाहिये। उस समय न हो सके तो ध्यान टूटनेपर करना चाहिये। यदि ध्यान कभी टूटे ही नहीं तो फिर यह प्रश्न ही कैसे रहेगा? तात्पर्य यह है कि जबतक व्यवहार है, तबतक नाम-जप नहीं छोड़ना चाहिये।

प्र० ३०—मैं शामके समय अपने मनको वृन्दावनमें ले जाकर सखियोंके साथ भगवान्के नौका-विहारका, फिर मखमली फर्शपर आनेका, सेवा-कुंजमें विराजनेका, युगल सरकारकी एकताका और फिर युगल सरकारका ध्यान-सेवन करता हूँ। तदनन्तर इष्टमन्त्रका जप करता हूँ। इसमें कोई त्रुटि हो तो बतलायें।

उ०—आपकी ध्यान-प्रणालीमें कोई त्रुटि नहीं मालूम होती। आप खूब प्रेमसे अपने इष्टदेवके ध्यान और जपको और भी बढ़ायें।

आपके प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें ही देनेका प्रयास किया गया है। सुविधाके लिये आपके भावोंकी रक्षा करते हुए प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है। आप उत्तरोंको ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर सकें, इसलिये प्रश्न भी साथ-साथ दे दिये गये हैं। आपके चौथे प्रश्नको द्वितीय प्रश्नमें ही अन्तर्भूत कर दिया गया है।

शेष भगवत्कृपा।

(२)

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। समाचार जाने। आपकी शंकाओंका समाधान प्रश्नोंकी संख्याके अनुसार किया जाता है।

(१) जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बलिवैश्वदेव करते हैं, और देवता, ऋषि, पितर आदिके लिये पाँच ग्रास निकालते और अग्निमें आहुति देते हैं, वैसे शूद्र भी कर सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि यज्ञोपवीतधारी द्विजातियोंको तो सब कर्म मन्त्रोच्चारणपूर्वक करने चाहिये, परन्तु शूद्र मन्त्रोंका उच्चारण नहीं कर सकता। ऋषि-मुनियों और शास्त्रोंने उनके लिये यह विशेष सुविधा कर दी है कि द्विजातियोंको जो फल मन्त्रोच्चारणपूर्वक कर्म करनेसे मिलता है, वही उन्हें बिना मन्त्रके भी मिल जाता है। मेरे पहलेके लेखोंमें भी संक्षेपसे इस बातका शायद संकेत होगा। यदि लेखोंमें यह बात न भी आयी हो तो समझ लेनी चाहिये।

(२) पितरोंके लिये श्राद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। यह आश्विनके कृष्णपक्षमें तो होना ही है, प्रत्येक महीनेकी मृत्युतिथिपर भी होता है। अपने पिता, पितामहकी मृत्यु जिस पक्षकी जिस तिथिको अथवा जिस मासकी जिस तिथिको हुई हो उस दिन श्राद्ध कर सकते हैं। श्राद्धमें ब्राह्मणोंको ही भोजन करानेका नियम है। यदि श्राद्धके दिन ब्राह्मण भोजन न करा सकें तो ब्राह्मण-भोजनका फल तो कैसे मिलेगा। पितरोंके उद्धारके लिये जप-पूजन आदि जो कुछ भी किया जाय, विधिपूर्वक होना चाहिये। सकाम कर्म विधिहीन होनेपर फलप्रद नहीं होते। जप तो यदि विधिपूर्वक न हो सके तो चलते-फिरते, उठते-बैठते कर लेनेमें भी कोई हानि नहीं है। यदि पितरोंके लिये किसी ब्राह्मणसे महामन्त्र आदिका जप करायें तो पहलेसे दक्षिणाकी संख्या नियत न करके अन्तमें श्रद्धानुसार दे दें। यदि ऐसा सम्भव न हो तो दक्षिणा नियत करके भी करा सकते हैं। इसका भी फल अवश्य मिलता है।

(३) इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारब्धका

फल अवश्य भोगना ही पड़ता है। ग्रहोंकी स्थितिसे उसकी कुछ सूचना मिल जाती है। उनका प्रभाव भी भगवान्‌के विधानके अनुसार ही पड़ता है। ग्रहोंकी शान्ति और जपसे यदि तीव्र प्रारब्ध न हुआ तो अरिष्टकी निवृत्ति भी हो सकती है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कब कौनसे ग्रह जप, शान्तिकर्म आदिसे शान्त हो जायँगे और कब नहीं होंगे। ज्ञानीको प्रारब्ध क्यों भोगना पड़ता है, यह एक दूसरा प्रश्न है। ज्ञानीके शरीरपर प्रारब्धका प्रभाव पड़ता है, परन्तु उससे ज्ञानीको सुख अथवा दुःखरूप विकार नहीं होता। जैसे साधारण पुरुष शरीरमें रोग होनेपर व्याकुल हो जाते हैं, वैसी व्याकुलता ज्ञानीमें नहीं होती। वह तो शरीर और समस्त दृश्यमान जगत्‌को प्रतीतिमात्र देखता है। उसके लिये प्रारब्ध और उसका फल प्रतीतिमात्र है। इसलिये वह न उन्हें चाहता है, और न हटानेकी ही चेष्टा करता है। इसीसे उसके शरीरपर प्रारब्धका प्रभाव पड़ता है। अज्ञानी पुरुष प्रारब्धके फल सुखसे राग करता है और दुःखमें द्वेष। इसीसे वह दुःखको हटानेकी चेष्टा करता है। यदि प्रारब्ध शिथिल हुआ तब तो उसकी चेष्टा सफल हो जाती है, अन्यथा चेष्टा करनेपर भी प्रारब्धका फल भोगना ही पड़ता है। आशा है, इतनेसे आपकी शंकाका समाधान हो जायगा।

(४) हम वर्णव्यवस्थाको जन्म और कर्म दोनोंसे मानते हैं। जो दोनों प्रकारसे ब्राह्मण है, वह सच्चा ब्राह्मण है। जो जन्मसे ब्राह्मण है, परन्तु कर्मसे क्षत्रिय—उसको क्षत्रिय-ब्राह्मण समझना चाहिये। जो कर्मसे वैश्य है, उसे वैश्य-ब्राह्मण। उसी प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय, ब्राह्मण-वैश्य आदिका भी भेद है। धर्मशास्त्रमें देव-ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल-ब्राह्मण और राक्षस-ब्राह्मणतकका वर्णन है। अन्य वर्णमें उत्पन्न होकर अन्य वर्णका कर्म करनेसे कर्मसंकर हो जाता है। शुद्ध वर्ण तो वही है, जो जन्म और कर्म दोनोंसे ही शुद्ध है। आचरण ब्राह्मणके सदृश होनेपर भी जो जन्मसे ब्राह्मण नहीं है तो वह ब्राह्मण नहीं हो सकता।

यदि पहले कोई दबावके कारण क्षत्रियसे मुसलमान हो गया हो और अब वह अपनेको क्षत्रिय मानकर क्षत्रियोचित कर्म करता है, तो किसीको कोई अधिकार नहीं कि वह उसे वैसा करनेमें रोके। उसकी मान्यतापर किसीका क्या अधिकार हो सकता है? इतनी बात अवश्य है कि जो लोग उसे अपनी जातिमें सम्मिलित नहीं करते, उनका वैसा करना भी अनुचित नहीं है। क्या पता कि वह पुरुष अपनी मान्यतापर दृढ रहेगा या नहीं। ऐसी कई घटनाएँ हुई हैं। जब लोग अपनेको हिंदू मानकर शुद्ध हुए—विवाह-शादी की, बच्चे पैदा किये और अन्तमें सबको लेकर फिर विधर्मी बन गये। इसलिये ऐसे लोगोंको जो जातिमें सम्मिलित नहीं करते, वे भी दोषी नहीं हैं। उनका वह काम भी एक प्रकारसे ठीक ही है।

(५) ऋतुकालमें चौथे दिन स्त्री-सहवासकी जो बात कही गयी है, वह स्त्रीकी अत्यन्त तीव्र इच्छा होनेपर है। वैसे छठे दिनका ही उत्तम समझना चाहिये। शास्त्रमें ऋतुकालके सोलह दिन गर्भाधानके योग्य बतलाये हैं। उनमें विषम रात्रियोंमें गर्भस्थिति होनेसे कन्या होती है और सम रात्रियोंमें होनेसे पुत्र। इस प्रसङ्गमें यह भी कहा गया है कि सोलह रात्रियोंमेंसे अन्तिम रात्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं। एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्यग्रहण आदिका भी निषेध है। इन सबका तात्पर्य यह है कि स्त्री-सहवास कम-से-कम और नियमितरूपमें ही होना चाहिये।

(६) इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान्‌से किसी भी बातकी कामना नहीं करनी चाहिये। बच्चा अपने माता-पितासे अपने अभावकी पूर्ति चाहता है अवश्य;

परन्तु जो नहीं चाहता, उसके अभावपर माता-पिता अधिक ध्यान देते हैं। इसलिये सबसे श्रेष्ठ यही है कि भगवान्‌से कुछ भी माँगा न जाय। भजनके लिये भी रोग-निवृत्तिकी प्रार्थना पहले नंबरकी बात नहीं है। उचित तो यह है कि भगवान्‌के विधानमें सन्तुष्ट रहकर रोग-शोककी अवस्थाओंमें भी उनकी कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये। उन्होंने जब रोग दिया है, तब कुछ-न-कुछ सोच-समझकर ही तो दिया होगा। फिर उनके ज्ञान, कृपा और न्यायशीलताको स्वीकार न करके उनकी देनको लौटाया क्यों जाय? परन्तु यदि ऐसी ऊँची मानसिक स्थिति न हो तो भजनके लिये आरोग्यकी प्रार्थना करना बुरा नहीं है।

(७) मुख्य बात तो यह है कि यदि राजा कोई अनुचित और अन्यायपूर्ण काम करनेको कहता है, तो उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहिये। अपने स्वार्थके लिये किसी भी अन्यायपूर्ण कार्यको कर्तव्यके अंदर स्थान नहीं देना चाहिये। कोई नौकरी प्रारब्धाधीन नहीं होती। सुख-दुःखकी प्राप्ति प्रारब्धके अनुसार होती है, और वह किसी-न-किसी निमित्तसे होती है। इसके लिये प्रारब्धको दोष न देकर उसपर और विश्वास करना चाहिये और जो कुछ सुख-दुःख प्रारब्धमें बदा होगा वह तो मिलेगा ही, ऐसा निश्चय करके अनुचित कर्मसे अलग हो जाना चाहिये। 'यथा राजा तथा प्रजा:' बननेकी नीति तो आत्मबलके अभावकी—कमजोरीकी बात है। इसको औचित्यका रूप कभी नहीं देना चाहिये।

(८) पति-पत्नीका एक शय्यापर शयन करना शास्त्रविरुद्ध नहीं है। यदि ऐसा करना शास्त्रविरुद्ध हो तो स्त्री-सहवास ही कैसे बन सकता है। संयमकी दृष्टिसे प्रतिदिन ऐसा नहीं करना चाहिये। कभी-कभी कुछ समयके लिये ऐसा करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। स्त्रीको अप्रसन्न नहीं करना चाहिये, परन्तु जहाँतक हो दृढ़ताके साथ अधिक-से-अधिक संयमका पालन भी करना चाहिये।

(९) जो कर्मचारी राजाका काम ईमानदारीके साथ करता है, और प्रजाको भी खुश रखता है, वह अपना कर्तव्य-पालन तो करता है; परन्तु यदि वह प्रजासे किसी प्रकारका इनाम लेता है, तो उसे खुले-चौड़में सबके सामने लेना चाहिये। किसीसे भी छिपाकर लेना घूसखोरी ही है। इसे नेक कमाई नहीं कहा जा सकता।

(१०) चित्त-निरोधके लिये जिस सुषुम्ना नाड़ीका वर्णन किया गया है, वह वैद्योंकी जानकारीमें आनेवाली सुषुम्ना नाड़ीसे सम्बन्ध तो अवश्य रखती है परन्तु है उससे भिन्न। वह हृदयसे लेकर मस्तकपर्यन्त एक ज्योतिर्मय सूत्रके रूपमें है और उसमें परमात्माका ध्यान करनेसे बड़े आनन्दका अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त एक सुषुम्नास्वर भी है। जब इड़ा और पिंगला—बायें और दायें दोनों नासिका-छिद्रोंसे समानरूपसे श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, तब उसे सुषुम्नास्वर कहते हैं। ब्राह्म-मुहूर्त और सन्ध्याके समय भी ऐसा स्वाभाविक ही हो जाता है। यह स्वर चलनेपर ध्यानमें चित्त बहुत जल्दी लगता है।

आपके प्रश्न स्वाभाविक और कामके हैं। इसमें कोई अपराधकी बात नहीं है। उत्तर आपके प्रश्नोंकी संख्याके अनुसार अलग-अलग दिया गया है। उत्तरके लिये टिकट भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शेष भगवत्कृपा।

भक्तोंका सन्देश

(लेखक-पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

इस संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सन्मार्ग दिखाने तथा अज्ञानसे निकलकर संसिद्धि पानेका यत्न करनेवाले साधकोंको बढ़ावा देनेके लिये सब देशों और समयोंके भक्तोंने जो उपदेश किये हैं उनमें एक विलक्षण एकता देख पड़ती है। मनुष्योंके लिये संतोंके ये उपदेश और उनके आदर्श-जीवन ही सबसे बड़ी पैतृक सम्पत्ति हैं। ये ही वे प्रज्वलित दीप हैं, जिनके बिना मनुष्यका सारा पुरुषार्थ कुछ नहींके बराबर रह जाता है।

एक बात जो सब भक्त सबके दिलोंपर जमाना चाहते हैं, वह है मानव-जन्मकी दुर्लभता। असंख्य नीच-योनियोंमें भटकनेके पश्चात् यह मानव-जन्म विकसित हुआ है। मनुष्यकी जो निम्नगा प्रकृति है उसीके हवाले यह मनुष्य हो जाय तो वह अधोगतिकी निम्नतम सीमाको पहुँच जाय और यदि वह अपनी आध्यात्मिक प्रकृतिका सहारा लेकर ऊपर उठे तो वह उस परमानन्दधाममें पहुँच जाय जहाँ देवता भी नहीं पहुँच पाते। मानव-जन्म ही एक ऐसा अवसर है, जिसमें आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है और यदि यह अवसर खो दिया जाय तो जीवको फिरसे उन्हीं असंख्य नीच योनियोंमें भटकना पड़े। इस बातका जब किसीको वास्तविक बोध हो जाता है तब उसका जीवन बदल जाता है, संसार उसके लिये कुछ दूसरा ही हो जाता है। जो बातें हमें इस समय बड़ी प्यारी लगती हैं और हमारे मन और शक्तिको अपनी ओर खींच लेती है, वे तब निःसार प्रतीत होने लगती हैं। सांसारिक भोग प्राप्त करनेके लिये किये जानेवाले प्रयास तब अपने असली रूपमें देख पड़ते हैं, पता लग जाता है कि अपने-आपको ही फँसानेके लिये आप ही बिछाये हुए ये जाल थे। यही बात संतलोग पुकार-पुकारकर कहते हैं जिसमें हमलोगोंके अंदर विवेक जागे और हमलोग संसारकी इन चीजोंको इनके असली रूपमें देखें।

जब मनुष्यकी ऊर्ध्वगा और निम्नगा प्रकृतियोंके बीच जोरका संघर्ष होने लगता है, तब अनुसन्धानका आरम्भ होता है। अनुसन्धान करनेवाली बुद्धि मुक्तिका मार्ग जाननेके लिये तरसने लगती है। यह मार्ग दिखानेका काम वही मनुष्य कर सकता है, जिसके ज्ञान और अनुभवने रास्तेकी सब विघ्न-बाधाओंको जीत लिया हो, जिसने वह चीज पा ली हो जिसे और लोग ढूँढ़ रहे हैं। संसिद्धिके साधकका यह सौभाग्य है जो उसे सद्गुरु मिल जायँ, क्योंकि सद्गुरुके सहायक और मार्गदर्शक हुए बिना केवल शुभेच्छा या मुमुक्षासे कुछ भी नहीं बन सकता। वह पुरुष वास्तवमें भाग्यशाली है, जिसे सद्गुरु मिल गये। उसके लिये मोक्षके द्वार खुल गये, उनके अंदर प्रवेश करनेके लिये अब केवल कालकी अपेक्षा रहेगी। मोक्षका होना तो उसका निश्चित हो गया।

साधनामें भी हम यह देखते हैं कि प्रायः सब भक्त साधकोंको एक ही राजमार्गसे ले जाते हैं। यह राजमार्ग है, सबके लिये खुला है; यदि बंद है तो केवल उसके लिये जो विधिका उल्लङ्घन करता, उसका तिरस्कार करता है। जो मार्ग सबके लिये है वह अवश्य ही सीधा और सबके लिये सुगम होना चाहिये। है भी ऐसा ही और यही कि, 'भगवन्नाम जपो।'

यही एकमात्र उपदेश है, जिसे सब गुरु किया करते हैं। नाममें एक शक्ति है, जिसका अनुभव उस नामको विधिपूर्वक लेनेसे चाहे किसीको भी प्राप्त हो सकता है। उस नामको चाहे आप जोर-जोरसे चिल्ला-

कर गायें, या केवल होठोंसे लेते रहें अथवा केवल मनसे ही जपें। पर यह होना चाहिये निरन्तर। अभ्याससे ही यह सुगम होता है। कहते हैं कि फिर स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नाम-जप होता रहता है। साँस-साँसके साथ नाम चलता रहता है। इससे परम आत्मानन्द प्राप्त होता है। नामको अमृतसे उपमा दी गयी है। जिस किसीने एक बार भी इस नामामृत-का पान किया है उसने यह जाना है कि जीवनमें इतनी मधुर वस्तु और कोई नहीं है।

परन्तु यह अवस्था तब आती है, जब नाम ध्यानके साथ लिया जाता है। मनको एकाग्र करना, निश्चय ही, सांसारिक भोगोंमें आसक्त और सुख-दुःखादिकोंसे विचलित मनके लिये बड़ा कठिन है। हवाके जरासे झोंकेसे सूखा पत्ता उड़ जाता है। मनको स्थिर करना बड़े अभ्यास और धैर्यका काम है। पर मजा यह है कि नाम ध्यानमें सहायक होता है और ध्यान नामको शक्तिमान् बनाता है। ये दोनों ही एक दूसरेके सहायक हैं।

फिर दूसरी बात यह है कि भगवान्‌की सत्ताका सतत ध्यान रहे। जिस प्रकारके संसारमें हमलोग रहते और उसके नानाविध पदार्थोंके राग-द्वेषोंमें उलझते रहते हैं उसमें किसी एक पदार्थपर अपने मनको स्थिर और एकाग्र करना असम्भव-सा हो जाता है। तब सतत भगवान्‌का चिन्तन करना कितना कठिन होगा! ऊपर जो दो अभ्यास बताये हैं, उन्हींसे वैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है। इस अवस्थाको पानेका इससे भी सुगम और व्यवहार्य उपाय बताया गया है। वह भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'जो कुछ तुम करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो, जो कुछ तप, अनुष्ठान करो, वह मुझे अर्पण करो।'

इस प्रकार जीवनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक कर्म, मन-बुद्धिकी प्रत्येक क्रिया भगवदर्पित होगी। हमारा जीवन तब उनके लिये होगा और केवल उन्हींके लिये। हमारे सब विचार उन्हींकी ओर प्रवाहित होंगे। और हमारे सांसारिक कर्तव्य जो किसी समय हमारे मनको भगवान्‌से हटा लेते थे, वे ही अब अपने क्रियाकालमें भगवान्‌की याद दिलाया करेंगे। यही वास्तविक संन्यास है। कर्ममें अकर्मको देखना, कर्म करते हुए उससे सर्वथा अलिप्त रहना ही वह अवस्था है जो सिद्ध करनी होगी, जिसमें भगवान्‌का पावन नाम निरन्तर चलता रहे।

परन्तु मनुष्य अपने पुरुषार्थसे कितना कर सकता है! मार्ग बड़ा दुर्गम है, मनुष्यमें न उतना बल है न धैर्य। और प्रतिक्षण नाना प्रकारके मोहोंका सामना है। परन्तु सब विघ्न-बाधाएँ हवा हो सकती हैं यदि उसे एक चीज मिल जाय। वह चीज है, भगवत्कृपा। हृदयके अन्तस्तलसे उन्हें पुकारो, वे तुम्हारी पुकार सुनेंगे। उस कृपाकी सच्ची चाह ही उसे पानेकी एकमात्र राह है। उसे जो कोई पा लेता है, वह फिर और कुछ नहीं चाहता।

यही उन भक्तोंका सन्देश है, जो अपनी भक्तिके द्वारा ज्ञान और आनन्दकी परा स्थितिको पहुँचे हुए हैं और संसारमें केवल इसलिये रहते हैं कि भूले-भटके हुए जीवोंको रास्ता दिखा दें और उन्हें बचा लें। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें श्रीकृष्णने कहा है कि मैं उन लोगोंके पीछे-पीछे चलता हूँ जिसमें उनके पैरोंकी धूल मुझपर आ गिरे और मुझे पवित्र करे।

कामके पत्र

काम-क्रोधादि शत्रुओंका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मेरा मन श्रीकृष्णके भजनके लिये छटपटाता रहता है, परन्तु भजन होता नहीं, तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंका चेष्टा करनेपर भी नाश नहीं होता। सो ठीक है। श्रीकृष्ण-भजनके लिये मनका छटपटाना श्रीकृष्णका भजन ही है। वह मनुष्य वास्तवमें भाग्यवान् है, जिसका मन भजनके लिये व्याकुल है। संसारमें सभी लोग छटपटाते है—कोई धनके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई मान-यशके लिये, तो कोई शरीरके आरामके लिये। आप यदि श्रीकृष्ण-भजनके लिये छटपटाते रहते हैं तो निश्चय मानिये, आपपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। आपकी यह छटपटाहट श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाली है।

रही काम-क्रोधादि छः शत्रुओंकी बात, सो असलमें ये बड़े शत्रु हैं। मनुष्य बाहरके शत्रुओंका तो नाश करना चाहता है परन्तु इन भीतरी शत्रुओंको अंदर बसाये रखता है। वरं बाहरी शत्रुओंका नाश करने जाकर इन भीतरी शत्रुओंके बलको और भी बढ़ा देता है। भगवत्-कृपासे ही इनका नाश होता है। परन्तु भक्तलोग इनके नाशकी बात नहीं सोचते। वे तो इन्हें भक्तिसुधासे सींचकर मधुर, हितकर और अनुकूल अनुचर बना लेते हैं। आप भी भक्तोंके पवित्र भावोंका अनुसरण करके इन काम-क्रोधादिको भगवत्सेवामें लगानेकी चेष्टा कीजिये।

काम—आत्मतृप्तिमूलक कामनाका नाम ही 'काम' है। मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना करे, उसका लक्ष्य होता है सुख ही। विभिन्न जीवोंके कामनाके पदार्थ चाहे भिन्न-भिन्न हों, परन्तु सभी चाहते हैं आनन्द—और आनन्द भी ऐसा कि जो सदा एक-सा बना रहे। परन्तु अज्ञानवश उसे खोजते हैं विनाशी असत् वस्तुओंमें। इसीसे उन्हें सुख—आनन्दके बदले बार-बार दुःख मिलता है। परमानन्दस्वरूप तो श्रीभगवान् ही हैं। उन्हींकी प्राप्तिसे नित्य अविनाशी परमानन्दकी प्राप्ति है। अतएव कामको परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही आत्मतृप्तिकी अवधि है। स्थूलरूपसे कामका प्रधान आधार है नारीके प्रति पुरुषका और पुरुषके प्रति नारीका विकारयुक्त आकर्षण। यह आकर्षण होता है स्मरण, चिन्तन, दर्शन, भाषण और सङ्ग आदिसे। काम-रिपुपर जय पानेकी इच्छा करनेवाले नर-नारियोंको परस्त्री और परपुरुषके चिन्तन-दर्शनादिसे यथासाध्य बचकर रहना चाहिये। और दर्शनादिके समय परस्पर मातृभाव तथा पितृभावकी भावना दृढ़ करनी चाहिये। कामजयी कृष्णानुरागी संतोंके द्वारा श्रीकृष्णके रूप, गुण, माहात्म्यकी रहस्यमयी चर्चा सुननेपर श्रीकृष्णके प्रति आकर्षण होता है और श्रीकृष्ण ही कामके लक्ष्य बन जाते हैं। इससे कामका शत्रुपन सहज ही नष्ट हो जाता है।

क्रोध—किसीके मनमें किसी वस्तुकी कामना है। वह कामना पूरी नहीं हो पाती, इससे वह दुखी रहता है। इसी बीचमें जब किसीसे कोई बात सुनकर या जानकर उसे यह पता लगता है कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो रहा है, अथवा कोई उसे जब गाली देता है अथवा मनके प्रतिकूल कुछ करता-कहता है, तब एक प्रकारका कम्पन पैदा होता है; वह कम्पन चित्तपर आघात करता है, चित्तके द्वारा तत्काल वह बुद्धिके सामने जाता है, बुद्धि निर्णय करती है कि यह हमारे अनुकूल नहीं है। बस, उसी क्षण उसके विपरीत दूसरा कम्पन उत्पन्न होता है। इन दोनों कम्पनोंमें परस्पर संघर्ष होनेसे ताप पैदा होता है।

यही ताप जब बढ़ जाता है, तब स्नायुसमुदाय उत्तेजित हो उठते हैं और चित्तमें एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसी वृत्तिका नाम क्रोध है। क्रोधके समय मनुष्य अत्यन्त मूढ़ हो जाता है। उसके चित्तकी स्वाभाविक पवित्रता, स्थिरता, सुखानुभूति, शान्ति और विचारशीलता नष्ट हो जाती है। पित्त कुपित हो जाता है, जिससे सारा शरीर जलने लगता है। नसें तन जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, वायुका वेग बढ़ जानेसे चेहरा विकृत हो जाता है, लंबी साँस चलने लगती है, हाथ और पैर अस्वाभाविकरूपसे उछलने लगते हैं। इस प्रकार जब शरीरकी अग्नि विकृत होकर बढ़ जाती है तब वाणीपर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वाक्-इन्द्रियका कार्य अग्निसे ही होता है। अतएव मुखसे अस्वाभाविक और बेमेल वाक्योंके साथ ही निर्लज्जभावसे गाली-गलौजकी वर्षा होने लगती है। उस समय मनुष्य परिणाम-ज्ञानसे शून्य हो जाता है, उसकी हिताहित सोचनेवाली विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। शरीर और मन दोनों ही अपनी स्वाभाविकताको खोकर अपने ही हाथों वर्षोंके कमाये हुए साधन-धनको नष्ट कर डालते हैं। प्यारे मित्रोंमें द्वेष, बन्धुओंमें वैर और स्वजनोंमें शत्रुता हो जाती है। पिता-पुत्र और पति-पत्नीके दिल फट जाते हैं। कहीं-कहीं तो आत्म-हत्यातककी नौबत आ जाती है। इस प्रकार क्रोधरूपी शत्रु मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है। क्रोधी आदमी असलमें भगवान्का भक्त नहीं हो सकता। ज्ञानके लिये तो उसके अन्तःकरणमें जगह ही नहीं होती। इस भीषण शत्रु क्रोधका दमन किये बिना मनुष्यका कल्याण नहीं है। इसका दमन होता है इन चार उपायोंसे—१. प्रत्येक प्रतिकूल घटनाको भगवान्का मङ्गल-विधान समझकर उसे परिणाममें कल्याणकारी मानना और उसमें अनुकूल बुद्धि करना, २. भोगोंमें वैराग्यकी भावना करना, ३. सहनशीलताको बढ़ाना और ४. क्रोधके समय चुप रहना।

क्रोधको अनुकूल और हितकर बनानेके लिये उसको भगवान्की सेवामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोधका प्रयोग जब केवल भगवद्द्वेषी भावोंपर किया जाता है, तब उसके द्वारा भगवान्की सेवा ही होती है। भगवान्के प्रति द्वेषके भाव जहाँ मिलें वहीं क्रोध हो। उन्हें हम सह न सकें। यदि वे हमारे अपने ही मनके अंदर हों तो हम वैसे ही अपने मनका नाश करनेको भी तैयार हो जायं, जैसे जहरीला घाव होनेपर मनुष्य अपने प्यारे अंगोंको भी कटवा डालनेके लिये तैयार हो जाता है। गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × × ×

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

× × × ×

जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिये जग में तुम्हरो बिनु ह्वै।

× × × ×

हिय फाटउ, फूटउ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवइ, स्रवइ, पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भगवान्की सेवामें भगवत्-प्रतिकूलताको स्थान नहीं है। यह समझकर जहाँ-जहाँपर भगवत्-प्रतिकूलता हो, फिर चाहे वह अपने ही मनमें क्यों न हो, वहीं क्रोध-का प्रयोग करके उसे तुरंत हटाना और उसका नाश करना चाहिये। यही क्रोधका सदुपयोग है।

लोभ—लोभ भी बहुत बड़ा शत्रु है। संतोंने लोभ-को 'पापका बाप' बतलाया है। अर्थात् लोभसे ही पाप पैदा होते हैं। कामनामें बाधा आनेपर जैसे क्रोध पैदा होता है, वैसे ही कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मनचाही वस्तु मिलती है त्यों-ही-त्यों और भी अधिक पानेकी जो अबाध—अमर्याद-लालसा होती है, उसे 'लोभ' कहते हैं। लोभसे मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, उससे विवेककी आँखें मुँद जाती हैं और वह विषयलोलुपताके वश

होकर न्याय-अन्याय तथा धर्माधर्मका विवेक भूलकर मनमाना आचरण करने लगता है। इस लोभको मधुर, हितकर और अनुकूल बनानेका उपाय यह है कि इसका प्रयोग भजन, ध्यान, नाम-जप, सत्सङ्ग, भगवत्कथा आदिमें ही किया जाय। अर्थात् धन, मान, कीर्ति, भोग, आराम आदिसे लोलुपता हटाकर भगवान्‌के ध्यान, उनकी सेवा, उनके नामका जप, उनके तत्त्वज्ञ भक्तोंके सङ्ग, उनकी लीला, कथा आदिके सुनने-पढ़ने आदिका लोभ हो। ऐसा करनेसे लोभ शत्रु न होकर मित्र बन जाता है।

मोह—किसी भी विषयका जब अत्यधिक लोभ जाग्रत् हो जाता है तब बुद्धि उसमें इतनी फँस जाती है कि दूसरे किसी भी विषयका मनुष्यको ध्यान नहीं रहता, चाहे वह कितना ही आवश्यक और उपयोगी क्यों न हो। जैसे किसी व्यभिचारी मनुष्यका मन किसी स्त्रीमें तथा किसी स्त्रीका किसी पुरुषमें लग जाता है तो फिर उसे नींद, भूख-तकका पता नहीं लगता। धन-दौलत, विलास-वैभव, भोग-आराम सबसे वह बेसुध हो जाता है। वह निरन्तर अपने उस मनोरथके चिन्तनमें ही डूबा रहता है। यही मोह है। यह मोह जब सांसारिक पदार्थोंमें न रहकर भगवान्‌की रूप-माधुरीमें हो जाता है, भगवान्‌की रूप-माधुरीपर मुग्ध होकर जब वह पागलकी तरह सब कुछ भूलकर उसीमें फँसा रहता है, तब मोहका सदुपयोग होता है।

मद—मद कहते हैं नशेको। धन, मान, पद, बड़प्पन, विद्या, बल, रूप और चातुरी आदिके कारण मनुष्यके मनमें एक ऐसी उल्लासमयी अन्धवृत्ति उत्पन्न होती है, जो विवेकका हरण करके उसे उन्मत्त-सा बना देती है। इसीका नाम 'मद' है। मदोन्मत्त मनुष्य किसीकी परवा नहीं करता। यही मद जब भगवच्चरणके प्रेम, भगवन्नाम-गुण-कीर्तन और भगवान्‌के ध्यानमें प्रयुक्त हो जाता है, तब मनुष्य दिन-रात उसी पवित्र नशेमें चूर रहता है। जहाँ सांसारिक पदार्थोंका नशा नरकोंमें ले जाता है, वहाँ भगवत्प्रेम तथा भगवद्‌ध्यानका नशा साधकको नित्य परमानन्दमय भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे उन्मत्त भक्तोंको तीनों लोकोंके पवित्र करनेवाला बतलाया है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' अतएव सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, नाम आदिके चिन्तन और कीर्तनके आवेशमें डूबे रहना ही मदको अनुकूल और हितकारी बनाना है।

मत्सर—दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकना मत्सर कहलाता है; इसीको डाह कहते हैं। संसारमें लोगोंकी उन्नति होती ही है और मत्सरताकी वृत्ति रखनेवाला मनुष्य उन्हें देख-सुनकर नित्य जलता रहता है, तथा अपनी नीच भावनासे निरन्तर उनका पतन चाहता है। परिणामस्वरूप वह नाना प्रकारके अनर्थ करके अन्तमें नरकगामी हो जाता है। इस मत्सरताका सदुपयोग होता है इसे सात्त्विक बनाकर भजनमें ईर्ष्या करनेसे। किसी साधककी साधनाको देखकर मनमें यह दृढ़ निश्चय करना कि 'मैं इनसे भी ऊँची साधना करके शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करूँगा' और तदनुसार तत्पर होकर दृढ़ताके साथ साधनामें लग जाना—यह सात्त्विक मत्सरताका स्वरूप है। इसमें किसीके पतनकी कामना नहीं होती। इससे केवल भजन-साधनमें उत्साह होता है। इससे मत्सरता भी हितकारिणी बन जाती है।

आप अपने इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर शत्रुओंको भगवान्‌में लगाकर इन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजिये। भगवान्‌में और उनकी कृपा-शक्तिमें विश्वास करके प्रयोग शुरू कीजिये। आपका विश्वास सच्चा होगा तो भगवत्कृपासे शीघ्र ही आप उत्तम फल प्रत्यक्ष देखेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णका भूलोकमें अवतरण

मानवते ! तेरा मुख-मण्डल,
नवकान्तियुक्त जैसे शतदल।
उल्लास-भरा आनन्द-भरा,
उज्ज्वलशोभाविकसित निखरा ॥ १ ॥

अपमानित और तिरस्कृत हो-
जीवन जिसका उत्पीडित हो।
वह मोद और अनुभाव-भरी,
मानवते ! क्यों तू चाव-भरी ? ॥ २ ॥

तू झूम रही अभिमान-भरी,
मस्तान-भरी अरमान-भरी।
तू क्यों हँसती, हुलसाती है,
अनुराग-भरी इतराती है ? ॥ ३ ॥

हाँ—क्या बोली ?—"मेरा प्रियतम,
मेरा वल्लभ सुन्दर अनुपम।
दर्शनको जिसके नैन विकल,
छोड़ें आँसू-धारा अविरल ॥ ४ ॥

प्यारा वह मेरा जीवन-धन,
जो व्याप रहा प्रतिपल तन-तन।
रक्षक पालक गौरव मेरा,
निस्सीम सिन्धु सुखका मेरा ॥ ५ ॥

प्राणोंकी चेतनता-स्वरूप,
माधुरी प्रकृतिका व्यक्त रूप।
शशि-सूर्य-तेजका अधिष्ठान,
सौन्दर्य-राशि शोभानिधान ॥ ६ ॥

पक्षी-गणके कल गायनसे,
तरुगुल्मलता-लहराननसे।
सरिता-सरके शुभ कलकलसे,
शीतल समीरकी हलचलसे ॥ ७ ॥

ऋतुओंके नव परिवर्तनसे,
नव-रस-छःरस-रसतापनसे।
झिल्ली-गणकी झनकारोंसे,
मञ्जुल वीणाके तारोंसे ॥ ८ ॥

जिसकी महिमा अवगत होती,
गुण-गण-गरिमा प्रकटित होती।
जिसके प्रति स्नेह-सना अभिनव,
कृतकृत्यभाव व्यञ्जित नीरव ॥ ९ ॥

वह वन्दनीय प्रभु त्रिभुवनके,
सञ्जीवन जर्जर-जीवनके।
मेरे गौरव मेरे गुमान,
अरमान हृदयके सुख-निधान ॥१०॥

जगमें लख तिरस्कार मेरा,
उत्पीडन इस प्रकार मेरा।
चुपचाप न बैठ सके स्वामी,
प्रभुवर कृपालु अन्तर्यामी ॥११॥

अपना विधान समझानेको,
भय-त्रास सुदूर भगानेको।
मेरा सम्मान बचानेको,
सुखमय नवयुग फिर लानेको ॥१२॥

प्राणोपम वह अद्भुत विभूति,
मेरे प्रभुकी शुभ सगुण-मूर्ति।
श्रीकृष्णरूपमें भ्राजमान,
होगी वसुधातलपर महान ॥१३॥

बस—इसीलिए यह शान-बान,
अभिमान और मेरा गुमान।
मुसकान-भरी मैं गाती हूँ,
मैं फूली नहीं समाती हूँ" ॥१४॥

मानवते ! भाग्य जगा तेरा,
निर्मल सुख-चन्द्र उगा तेरा।
गाओ प्रभु-गान मधुर गा लो,
भगवान कृष्णकी जय बोलो ॥१५॥

—श्रीकृष्णकुमार शर्मा एम्० ए०, साहित्याचार्य

जीवनकी शोभा

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य महान् है। इसकी शोभा अपार है। शरीरकी रचनापर ही विचार किया जाय तो इसके रचनेवालेकी कलापर मुग्ध होना पड़ता है। मनुष्यकी कोई भी कारीगरी इसके सामने तुच्छ है। शरीरमें जितने अवयव है, उन सबका अपना-अपना अलग-अलग कार्य है और वह परस्पर इतना सन्तुलित है कि विरोध या विषमताका कहीं नाम नहीं। हाथका कार्य हाथ करता है, पैरका कार्य पैर। आँखें अपना काम करती है, पैर अपना काम। आँखें सुनतीं नहीं, कान देखते नहीं। इसी प्रकार सभी अङ्ग अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य करते हैं और इन सबके केन्द्रमें बैठी हुई बुद्धि इनका सञ्चालन और अनुशासन किया करती है। और कुछ आगे बढ़ें तो यह कुतूहल और जिज्ञासा होती है कि बुद्धिमें जो प्रकाश है, वह कहाँसे आता है ?

जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है—पिण्ड ब्रह्माण्डका लघु रूप है और ब्रह्माण्ड है पिण्डका विराट् रूप। इसलिये जो ब्रह्माण्डका सञ्चालन और संरक्षण करता है, वही पिण्डका भी सञ्चालन और संरक्षण करता है। एक ही प्रकाशसे सब कुछ प्रकाशित है। रेणुके छोटे-से-छोटे कणमें भी वही प्रकाश है, जो विराट् ब्रह्माण्डमें है। कोई भी वस्तु, कोई भी स्थान, कोई भी समय 'उस'से रिक्त नहीं है। 'The cup is full and runneth over on all sides !'

परन्तु क्या कारण है कि हम अपनेको मूर्च्छित और विस्मृत-सा—खोया हुआ-सा अनुभव कर रहे हैं ? क्यों नहीं हमें 'उस' का स्पर्श मिलता और हममेंसे अधिकांशका जीवन क्यों 'भार' हो रहा है ? आनन्दकी धारा—जिसमें सब कुछ सराबोर है, हमारे मन-प्राणको स्पर्श क्यों नहीं कर पाती ? हम इस प्रकार चेतनाशून्य और जड क्यों हो गये ?

रात-दिन दु:ख, चिन्ता, अवसाद, विपत्ति, क्लेश, गरीबी, जरा, व्याधि, मृत्यु आदिकी बातें सोचते-सोचते इन्हींमें हम इतने लीन हो गये हैं कि इनके अतिरिक्त और भी कुछ है—यह हम सोच ही नहीं सकते। जीवनमें कोई सौन्दर्य है, इस जगत्‌में कोई शोभा है—इसकी ओर देखनेकी हमारी दृष्टि ही लुप्त हो गयी है और सच पूछिये तो हमें इसीपर आश्चर्य होता है कि आखिर हम जीवित किसलिये हैं। क्या दु:खोंमें घुलते रहना ही जीवनकी शोभा है ? क्या यहाँ सब कुछ दु:ख-ही-दु:ख है ?

जीवनकी शोभाको भर आँख देखनेके लिये यह आवश्यक है, बहुत आवश्यक है कि हम यह समझें कि हम शरीर-ही-शरीर नहीं हैं, मन-ही-मन नहीं हैं। शरीर तो है ही और मन भी है; परन्तु मन और बुद्धिसे भी जो परे है, वही 'हम' है और वह है आत्मा। आत्मा न होती तो शरीर और मन हो ही नहीं पाते। आत्माको ही लेकर तो शरीर और मन ठहरे हुए हैं और जिस क्षण यह आत्मा इस कायाको छोड़कर चल देती है तो पिंजरा पड़ा रह जाता है, उसमें चहकनेवाला पंछी उड़ जाता है। प्राण निकल जानेपर इस शरीरको स्पर्श करनेमें भी लोग सकुचाते-घबड़ाते हैं। प्राण निकल जानेपर शरीर पड़ा रहता है, इसके सारे अवयव ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं; परन्तु कुछ भी क्रिया नहीं हो

पाती— हम हिल-डुल भी नहीं सकते। यह तो हमारा प्राय: नित्यका ही अनुभव है। फिर भी हममेंसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं, जो आत्माके सम्बन्धमें ज्ञान रखते हों या उसे जाननेकी इच्छा ही रखते हों। इसीलिये तो हम जीवनकी वास्तविक शोभासे वञ्चित हैं और इसीलिये, आत्माका ज्ञान न होनेके कारण ही हम चारों ओरसे दु:खोंसे घिरे हुए हैं, अभावग्रस्त हैं, विपदामें डूब-उतरा रहे हैं।

शरीर मर जाता है और आत्मा उस शरीरको छोड़कर दूसरेमें और दूसरेको छोड़कर तीसरेमें—इस प्रकार वह अपने परम प्रियतम प्रभुके पथमें चली जा रही है। क्यों? इसलिये कि आत्माकी भूख-प्यास जगत्के किसी पदार्थ, किसी भोग, किसी प्राप्तिसे मिट नहीं सकती। यहाँकी कोई चीज उसे लुभा नहीं सकती, उसकी अनन्त यात्रासे उसे विरत नहीं कर सकती। वह तो अपने परम प्रियतम परमात्माको ही पाकर सुखी और शान्त हो सकती है। संसारमें मनुष्य भगवान्को पानेके लिये और भगवत्सुखका आनन्दोपभोग करनेके लिये ही आया है। वह अमृतपुत्र है और अमृत ही उसका आहार है। भूलसे, मोहसे, अज्ञानसे वह अमृत छोड़कर विषका भक्षण किया करता है और इसीलिये तो बार-बार जन्मता है और बार-बार मरता है। इस जन्म-मृत्युके चक्करमें उसे दु:ख, अभाव, गरीबी, विपत्ति, जरा, व्याधि, मृत्युके काँटे चुभते रहते हैं; परन्तु वह फिर भी दु:खोंके केन्द्रमें ही घुमा रहता है।

जीवन केवल खाने-पीने और मौज करनेके लिये नहीं है, बच्चे पैदा करने और धन जमा करनेके लिये नहीं है। यहाँ तो हम भगवत्पथमें चलकर भगवान्से मिलनेके लिये आये हैं। जीवनकी वास्तविक और अक्षय्य शोभा इस 'यात्रा' और इस 'मिलन' में ही है। इस यात्रा और इस मिलनकी विस्मृति ही सारे दु:खोंकी जड़ है। जीवनका अर्थ ही है भगवत्-मिलन। जीवनका यही एकमात्र और वास्तविक अर्थ है। इस अर्थको न जाननेके कारण ही हम दु:ख-दारिद्र्य और जन्म-मृत्युके शिकार हो रहे हैं। यहाँ हमारे जो भी स्वजन-परिजन हैं, जो भी साधन-सामान हैं, सभीका उपयोग एकमात्र भगवान्के पथमें चलकर भगवान्के मिलनका आनन्द प्राप्त करनेमें होना चाहिये; क्योंकि उनका सच्चा उपयोग है भी यही। स्वच्छन्द विषयोपभोगके लिये हमें इन्द्रियाँ नहीं दी गयीं, प्रत्युत इनका संयम करके आत्माके आनन्दका उपभोग करना ही हमारे जीवनका मूल लक्ष्य है।

"He that findeth his life shall lose it; he that loseth his life for my sake shall find it."

संसारकी निखिल विभूतिसे बढ़कर है चित्तकी 'समता'। संसारके प्रलोभन एवं आकर्षण इसलिये हमारे सामने आते हैं कि हम इन्हें जीतकर आत्माको दृढ़ और बलशाली बनावें। जैसे शारीरिक व्यायामके लिये व्यायामशालामें अनेक साधन होते हैं, उसी प्रकार इस जगत्के समस्त वैभव, प्रलोभन और आकर्षण हमारे आध्यात्मिक व्यायामके लिये ही तो हैं। आत्मामें स्थित होकर उन्हें परास्त करना होगा, उनपर अच्छी तरह काबू करना होगा। यदि सांसारिक भोग और वैभव हमारे जीवनके उद्देश्य बन जायँ तो हम आत्मासे च्युत होकर पदार्थोंमें भटकने लगते हैं और जीवनके पथसे अलग हट जाते हैं। इसी प्रकार, स्वार्थकी साधना सर्वनाशका सरल मार्ग है, प्रेमकी साधना आत्मोन्नतिका सबसे सुन्दर मार्ग है। हमारा जीवनोद्देश्य होना चाहिये भगवत्प्राप्ति, न कि इस या उस पदार्थकी प्राप्ति। बाहर-

का वातावरण और परिस्थितियाँ हमें अपनी आत्माको दृढ़ करनेमें सहायता पहुँचाती रहती हैं। उनमें हम अपनी जाँच भी करते चलते हैं, अपनेको कसौटीपर कसते भी चलते हैं, अपने-आपको परखते भी चलते हैं। बाहर-बाहरसे, लोगोंकी निगाहमें हम भले ही सफल या 'चलते पुर्जे' हो जायँ; परन्तु यदि हम अपने आपके नहीं वफादार और सच्चे नहीं हैं तो जीवनकी बाजीमें हमारी हार-ही-हार है। हम भगवान्में अपनेको जितना ही मिलाकर एकाकार, तल्लीन करते रहेंगे हम उतने ही अंशमें, वास्तविक अर्थमें, जीवनमें सफल होंगे। सात्त्विक गुणोंका, भगवदीय गुणोंका अर्जन करते हुए भगवान्के पथमें हम चलते चलें, चलते चलें—फिर जहाँ जब जिस वस्तुकी आवश्यकता उपस्थित होगी वहीं, उसी समय वह वस्तु हमें अनायास अपने आप मिलती जायगी। इस प्रकार हम जैसे-जैसे अपने-आपपर काबू करते जायँगे, वैसे-वैसे ही परिस्थितियोंपर हमारा काबू होता जायगा; क्योंकि आत्मविजयका अर्थ है लोकविजय।

इस संसारपर हम तबतक विजय नहीं पा सकते, जबतक हम अपने विचारों और भावोंपर विजय न पा लें। अब भी हम विजयका सही अर्थ नहीं समझते। बर्बरता अभीतक हममें बनी हुई है। विनाश और संहारकी खबरें मोटे-मोटे शीर्षकोंमें पढ़नेमें हमें मजा आता है। शान्ति, समता, प्रेमके स्थानपर अशान्ति, विषमता, विरोध हमें अधिक भाता है। जीवनका यही अर्थ है? जीवनकी यही शोभा है? जीवनका अर्थ संग्रह-परिग्रह-सञ्चय नहीं है—जीवनका अर्थ है प्रेम और सेवा। भौतिक वैभवके होते हुए भी हमारी आध्यात्मिक दरिद्रता मिटी नहीं। सच तो यह है कि भगवान्के राज्यमें किसी भी वस्तुका अभाव है ही नहीं। अभाव तो हमारे मनोंमें बसा हुआ है और इसी कारण भगवान्के विपुल वैभवका हम उपभोग नहीं कर पाते। हमारी आध्यात्मिक दरिद्रता जीवनके हर पहलूमें हमें दरिद्र बनाये हुए है।

जीवनकी शोभा प्रेम है, सेवा है। प्रेममें बस, देना-ही-देना है, लुटाना-ही-लुटाना है। और सेवाका अर्थ है आत्माहुति। हमारे हृदयका द्वार प्रेमकी मञ्जुल रश्मियोंके स्वागतके लिये बराबर खुला रहे। हम अपना सब कुछ लुटाते चलें—देते चलें—बाँटते चलें और अपने सामने जो कर्त्तव्य हो उसे प्रभुका उपहार समझते हुए आनन्दके साथ, प्रीतिके साथ, आत्मार्पणके भावके साथ करते चलें और फलकी कोई आकांक्षा न रखकर भगवान्के चरणोंमें निवेदित करते चलें। जीवनके प्रत्येक पलमें और यात्राके प्रत्येक पगपर प्रभुके सुभग-शीतल-मधुर-कोमल संस्पर्शकी मीठी-मीठी, प्यारी-प्यारी अनुभूतिमें अपने अहंको खोये हुए चलते चलें और सामने सेवाका जो पवित्र एवं मङ्गलमय अवसर उपस्थित हो उसमें प्रभुका सुमधुर आह्वान सुनकर अपनेको पूरी तरह खपा दें। जीवनकी सच्ची शोभा यही है।

तुलसीदासजीका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

हमारा तो यह विश्वास है और ठीक भी है कि तुलसीजीका रामचरितमानस—

'चारिउ बेद पुरान अष्टदस, छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस'

—है। पर हमारे कितने ही भाई ऐसे भी हैं, जिनके मस्तिष्क अनेकानेक शंकाओंसे भरे हैं। कारण, यह युग विज्ञानका है और जबतक कोई वस्तु विज्ञानानुकूल ही होकर सामने न आवे, उसे मस्तिष्क स्वीकृत करनेको तैयार नहीं होता। वैसे ही भाइयोंकी सेवाके हेतु यह लेख-माला प्रारम्भ की गयी है। भक्तजनोंको भी समझ लेना चाहिये कि—

समुझइ खग खग ही कै भाषा।

—के सिद्धान्तानुसार ही मैं अपने इन लेखोंको खास करके अँगरेजी पढ़े लिखे लोगोंकी प्रकट तथा अप्रकट शंकाओंके उन्मूलनार्थ लिख रहा हूँ। इतना ही नहीं, प्रत्युत उन्हें भी यह देखकर बड़ा सन्तोष होगा कि जिस भक्ति और ज्ञानवाले सूर्यके प्रकाशमें वे शताब्दियों क्या, सहस्राब्दियोंसे रह रहे हैं, उधर ही अन्ध-विज्ञान भी अब टटोलता हुआ आ रहा है।

विज्ञानका एक अंश मानसिक जीव-विज्ञान (Science of Metabiology) कहा जाता है, जिसमें यह बतानेका प्रयत्न होता है कि शरीरसम्बन्धी प्रकृतिकी तहमें जो चेतनता या जीवात्मा-सम्बन्धी सत्ता काम करती हुई दीखती है, उसके सिद्धान्त क्या हैं। खोज बाहरी है, इसलिये ऊपर-ही-ऊपर होकर रह जाती है। पर वह जैसी भी है, उससे हमारे ऋषियोंके सिद्धान्तोंकी ही पुष्टि होती है।

यहाँ हम तनिक व्याख्याके साथ प्रकृति और जीवात्माके उस सम्बन्धपर प्रकाश डालना चाहते हैं, जिसे बर्नार्ड शा महोदयने अपने Back to Methuselas नामी नाटकमें रक्खा है और जिसकी विस्तृत व्याख्या उसी नाटककी भूमिकामें हुई है और जिसका आधार वही मानसिक जीव-विज्ञान कहा गया है। व्याख्या तथा विवादके पूर्व नाटककारके ही सिद्धान्तानुसार एक मौलिक बातका लिख देना आवश्यक है। उसका कथन है कि विज्ञान भी यही घोषित करता है कि इतिहास सदा अपने आपको दुहराता रहता है, पर थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ; और महान् आत्माएँ बार-बार जन्म लेती रहती हैं। नाटककारने तो यहाँतक लिखा है कि सातवीं पीढ़ीमें हमारे सभी गुणों-अवगुणोंकी पुनरावृत्ति हो जाती है। यह भी कहता है कि किसी एक परिवारमें आकस्मिक घटनाएँ भी नियमबद्ध रीतिपर ही हुआ करती हैं। हमारे महाकवि तुलसीके सिद्धान्त भी कुछ वैसे ही हैं—

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलपभेद हरि चरित सुहाए। नाना भाँति मुनीसन्ह गाए॥

—हाँ, तुलसीदासजीकी घोषणामें आध्यात्मिकता है और भक्तिका पुट भी, जिसका पता अभी भौतिक विज्ञानको नहीं है।

(क) जीव और प्रकृति

शा महोदयकी उपर्युक्त पुस्तक और उसकी भूमिकासे साफ पता लगता है कि हमारे ऋषियोंकी भाँति उस विज्ञानका भी यही सिद्धान्त है कि बुद्धितक प्रकृतिका ही विकास है, अतः उसे हम वैज्ञानिक प्रयोगशालामें तैयार कर सकते हैं। इसी आधारपर शा महोदयने स्त्री और पुरुषका एक जोड़ा तैयारकर रंगमञ्चपर पेश किया; पर उनके पारस्परिक और परिस्थितियोंके साथवाले सम्बन्धको हम केवल प्रतिक्रिया कह सकते हैं, जिसमें चेतना होते हुए भी केवल यन्त्रका-सा ही क्रम है। हमारे प्राचीन ऋषियोंने भी यह सिद्ध किया है कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ और पञ्च महाभूत ही क्या, मन और बुद्धि भी प्रकृतिके ही विकास हैं, जिन्हें आत्मा यन्त्रोंके भाँति प्रयुक्त करता है और परमतत्त्व परमात्मा सबमें व्याप्त है।

यह तो हुआ प्रकृतिका प्रवाह; पर विज्ञान भी इसके साथ-साथ एक और प्रवाह मानता है, जिसे चेतना और आत्माका प्रवाह कह सकते हैं। व्यक्तित्वकी उत्पत्ति इन उभय प्रवाहोंके बीच भँवर (Vortex) पड़नेका ही परिणाम है। यह विचार तुलसीजीकी माया-ग्रन्थिवाले विचारसे कितना मिलता है—

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी॥
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता)

सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

इस मायाके भी फिर दो रूप हैं—एक भगवान्‌की विद्यारूपी लीलाशक्ति, जो संसारकी उत्पत्ति आदि करती है और दूसरी जीवकी अविद्या।

लक्ष्मणजीने जब स्पष्ट प्रश्न किया कि—

ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।

तब रामजीने उसका उत्तर यों दिया—

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्मसमान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

(यदि हमें यह याद रहे कि वेद भी त्रिगुणविषयक ही हैं, जैसा भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, तो ज्ञात होगा कि यह परम वैराग्य कितना कठिन है। यह विचार शा के उस विचारसे मिलता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि जब हम इस शरीररूपी अन्तिम प्रतिमाका त्याग कर देंगे तो केवल चेतना रह जायगी।)

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

योगवासिष्ठका सिद्धान्त तो हम देख ही चुके हैं कि सृष्टि जमा हुआ विचार ही है। तब तो यह बात साफ हो जाती है कि हमारी आत्माका व्यक्तित्व पहले-पहल परमात्माकी विद्यारूपी इच्छाशक्ति (मैं एक हूँ और अनेक हो जाऊँ) से ही होता है। इस व्यक्तित्वमें असीम चेतना-प्रवाहका सीमित रूप ही है, फिर हम चाहे उसे ग्रन्थि कहें या भँवर। ज्यों-ज्यों यह व्यक्तित्व प्रगाढ़ होता है त्यों-त्यों 'मैं-तुम' और 'मोर-तोर' की भावनाएँ भी बढ़ती जाती हैं, यहाँतक कि वे अविद्याका रूप ले लेती—अर्थात् जीव अपने 'सीव' रूपको भूल जाता है।

अब फिर मानसिक जीव-विज्ञानपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। शा महोदयका वैज्ञानिक प्रयोगशालामें बनाया हुआ जोड़ा विचारणीय है। वहाँ चेतना है पर आत्मा नहीं, और इसीलिये वह साधारण यन्त्रोंसे कुछ ही ऊपर है। देखिये, उस जोड़ेने मालिकका कुछ काम बिगाड़ा और मालिकने दण्ड देनेकी धमकी दी तो केवल प्रतिक्रिया होनेके कारण स्त्री और पुरुष उस लाञ्छनको एक दूसरेपर डालने लगे, क्योंकि आत्माके विकास बिना त्याग और प्रेम हो नहीं सकता था। क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि जैसे-को-तैसावाला सिद्धान्त और उसपर निर्धारित सभ्यता कुछ वैसी ही है। विवाहको केवल स्त्री और पुरुषके बीचका इकरारनामा (Contract) समझना और तिलाक-प्रथाका जारी होना भी कुछ ऐसे ही सिद्धान्तोंका परिणाम है, जहाँ आत्मविकासका लेश नहीं। अस्तु, जो कुछ हो। अब देखिये कि ज्यों ही एक 'प्राचीन'[1]ने अपना हाथ उस जोड़ेके सिरोंपर रक्खा और आत्माका प्रवाह उनमें प्रविष्ट हुआ कि विद्युत्-वेगकी भाँति प्रेम और त्यागकी भावनाएँ दौड़ गयीं। अब तो उनमेंसे हरेक उस लाञ्छनको स्वयं लेकर दूसरेको बचाने लगा। क्या अब भी विज्ञान-जगत् इस बातपर विचार न करेगा कि पतिव्रत-धर्म तथा विवाहको आत्मिक संस्कार मानना सभ्यताके उच्चतम शिखर हैं! इसीलिये हमारी सभ्यताको कर्तव्यपर अवलम्बित किया गया है, स्वत्व (हक) पर नहीं। किसी फारसी कविने हिन्दू-पत्नीकी प्रशंसामें खूब लिखा है—

हम चू हिंदूजन कसे दर आशिकी मरदाना नेस्त।
बर च रांग कुश्ता मुरदन कार हर परवाना नेस्त॥

'हिंदू स्त्रीकी भाँति प्रेम-क्षेत्रमें कोई भी मरदाना नहीं। कारण कि बुझे हुए दीपकपर मरनेवाला परवाना (शलभ) विरला ही होता है।'

(ख) तर्कवादी मित्रोंसे अपील

हमने विज्ञान और तुलसीकी बहुत-सी समानताएँ दे दीं और यद्यपि अन्य अनेक समानताएँ भी हैं, पर इस समय विषयको बहुत बढ़ाया नहीं जा रहा है। विद्वान् पाठक स्वयं ही खोज लेंगे। हमें तो यह प्रतीत होने लगा है कि सम्भव है तुलसीदासजी अक्षरशः सत्य प्रमाणित हो सकें और हमारी श्रद्धा भी यही कहती है; परन्तु हम अपने तर्कप्रिय मित्रोंसे इस प्रकार अक्षरशः सत्य मान लेनेका आग्रह नहीं करते। हाँ, यह अवश्य कहेंगे कि जल्दीमें किसी बातको असत्य भी न मान लिया करें। फिर कलाके नाते तो असत्य मानते हुए भी सुन्दर कल्पनाओंको, जो महाकाव्य-कलाका प्राण होती हैं, छोड़ न देना चाहिये। हम कितने ही सचित्र पत्रोंमें

१—हमारे यहाँके ऋषियोंसे कुछ मिलते व्यक्ति।

'विश्वास करो या न करो' (Believe it or not) वाले शीर्षकमें ऐसी बहुत-सी असम्भव कल्पनाएँ पढ़ते और मुग्ध होते हैं तो फिर अपने महाकवियोंसे ही क्यों अप्रसन्न हों ? मिल्टनने लिखा है कि प्याज़के छिलकोंकी तरह हमारी पृथ्वीके चारों ओर घूमनेवाले चक्र हैं। क्या आज कोई इसे सत्य मानता है ? परन्तु हमने इस बातके कारण मिल्टनपर कटाक्ष होते भी नहीं देखा। शेक्सपियरने चुड़ैलोंका वर्णन किया है और हैमलेटके प्रेतको भी मूर्तिमान् दिखाया है, परन्तु इस कारण उसकी कलाका त्याग नहीं किया जाता। किसी भी शेक्सपियरकृत नाटककी आलोचनात्मक प्रस्तावनाको आप पढ़ें तो उसमें ऐतिहासिक भूलोंकी सूची मिलेगी; परन्तु इसी कारण उसकी कलाको हेय नहीं ठहराया जाता। बात यह है कि कोई कवि भी सारी विद्याओंका जानकार नहीं हो सकता। काव्यकला उसकी अपनी अवश्य है, पर अन्य बातोंको तो वह उधार ही लेगा।

हमें अधिकार है कि यदि हम अपनेको इस योग्य समझें तो हम किसी भी मनुष्यके विचारसे विरोध कर सकते हैं। पर याद रहे कि इस सम्बन्धमें रस्किनकी ये दो बातें भूल न जाना चाहिये। प्रथम यह कि महापुरुषोंके विचारोंका अध्ययन इसलिये नहीं किया जाता कि उनमें हम अपने ही विचारोंका प्रतिबिम्ब ढूँढ़ें। द्वितीय यह कि विरोध करनेके पूर्व जितना भी हो सके मनन कर लें, क्योंकि महापुरुषोंके विचारोंमें हमारे विचारोंकी अपेक्षा सत्यकी अधिक सम्भावना है।

अतः हम तुलसीजीके सम्बन्धमें कुछ महापुरुषोंके विचार यहाँ दिये देते हैं, जिसमें विरोध करनेवाले महानुभाव सतर्क रहकर शीघ्रतासे विरोध न करें। महात्मा गांधीजीका कथन है कि उन्हें किसी और वस्तुसे इतना आनन्द नहीं होता जितना गीता-गान और तुलसीकृत रामायणमें। मिस मेयोके इस आक्षेपका उत्तर देते हुए कि भारतीय जनता नाटकीय कला और साहित्यसे अनभिज्ञ है, एक अंगरेज़ विद्वान्ने An Englishman defends Mother India नामकी पुस्तकमें लिखा है कि तुलसीकी रामायण तुलनामें लातीनी और यूनानी भाषाओंके सर्वमान्य ग्रन्थोंसे भी बढ़कर उतरती है। एक अन्य अंगरेज़ प्रोफेसरने, जिसका अवतरण लाला लाजपतरायकृत Unhappy India (दुःखी भारत) नामक पुस्तकमें दिया गया है, लिखा है कि तुलसीकृत रामायण एक विचित्र नैतिक पुस्तक (singularly moral book) है, जिसके दृश्य उत्तरीय भारतके ग्राम-ग्राममें जाड़ेके शुरूमें खेले जाते हैं और तब उत्साहके प्रवाहका ठिकाना नहीं रहता। विनसेंट स्मिथने लिखा है कि, तुलसीदास अपने समयके सबसे बड़े आदमी थे अर्थात् सम्राट् अकबर महान्से भी महान्तर। फ्रेज़रने भारतके साहित्यिक इतिहासमें लिखा है कि तुलसीदास स्पेन्सर और शेक्सपियरसे पीछे न थे। सर जार्ज ग्रियर्सनका कहना है कि वे एशियाके छः बड़े लेखकोंमेंसे एक थे। मुसलिम विद्वानोंमेंसे रहीमका यह दोहा तो प्रसिद्ध है ही—

> सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।
> तुलसी सो हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥

विसाली ('मामुकीमाँ' के रचयिता) तो तुलसीकृत रामायणको सुनकर इतने मुग्ध हुए कि 'शाहज़ादये-अवध' (राम) के प्रेमिक बन गये और अयोध्यामें घूमते हुए गाते फिरते थे कि—

> 'मा मुकीमाने-कूच-दिलदारेम,
> रुख़ ब दुनिया व दीं न मे आरेम।'

'मैं अपने प्रेमपात्रकी गलीमें ठहरा हुआ हूँ। मुझे दुनिया और दीनसे कुछ वास्ता नहीं।'

—खुसरोकी राम एवं तुलसी-भक्ति भी प्रसिद्ध ही है।

इन अवतरणोंके देनेका अभिप्राय यह है कि हम उसी आदरभावसे तुलसीके निकट जायँ जिस भावसे हम किसी सम्राट्के समीप जाते हैं। साहित्य-सम्राटोंके इस आदर-भाव-सम्बन्धी सिद्धान्तपर रस्किन (Ruskin) ने बहुत ही ज़ोर दिया है और उचित ही किया है।

(ग) महाकाव्यकलाकी आवश्यकता और उसकी युक्तियाँ

कविताके गुणोंमें एक गुणका नाम ओज-गुण है। मनुष्यकी सदा भावना रहती है कि उसका जीवन और आत्मा ओजस्वी बने। इसीलिये कोई भी देश और जाति ऐसी नहीं, जिसमें महाकाव्यकला किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान न हो। अब इस 'ओज' गुणका विकास अद्भुत, भयानक, वीर और रौद्र-रसोंसे ही होता है। हाँ, महाकाव्य-कला इन सभी रसोंको क्या, शेष अन्य रसोंको भी शान्ति-शिखरपर पहुँचा देती है। साधारण जनताके प्रभावित करनेके हेतु तो अद्भुत और भयानक रसोंकी इतनी अधिक आवश्यकता है कि बर्नार्ड शा-जैसे वैज्ञानिक नाटककारने भी फ़िल्म-कलाके परदेका सहारा लिया है, जैसे भविष्यवाणीको उसने

किसी मनुष्यद्वारा नहीं कराया, बल्कि फ़िल्मके परदेपर उस मनुष्यके बढ़े हुए रूपके मुखद्वारा ही वह काम हुआ है। फिर हमारी कल्पना-शक्तिका विकास विज्ञानके लिये भी तो आवश्यक है। यदि शताब्दियों पूर्व हम साहित्यमें उड़न-खटोलनोंपर न उड़े होते तो आज हवाई-जहाज़का युद्ध कैसे होता, जिसे भविष्यवाणीरूपमें भी तो गत शताब्दियोंमें ५.विवर टेनीसनने ही घोषित कर दिया था।

जब विज्ञान अद्भुत, अमानुषिक व्यक्तियोंका होना असम्भव नहीं मानता तो अपने आत्माके ओजस्वी विकासके हेतु हम महाकाव्यकलाका आश्रय क्यों न लें? पर उस कलाके अध्ययनके लिये यह आवश्यक है कि हमारी कल्पना-शक्ति रबड़की तरह घट-बढ़ सके और इसीलिये महाकाव्यकलाके कवि किसी-न-किसी युक्तिसे हममें यह सामर्थ्य उत्पन्न करनेकी चेष्टा करते हैं। मिल्टनने जहाँ शैतानोंकी राज्यसभाका चित्रण किया है, वहाँ पहले लिखा है कि सारे शैतान बड़े-बड़े आकारोंमें उपस्थित थे। और इसीलिये बहुत-सी 'शैतान'-जनता बाहर खड़ी थी। यह देख शैतान-सम्राट्ने घोषित किया कि प्रमुख शैतानोंके सिवा और सब लघुरूप ले लें जिसमें बाहर खड़ी जनता भी भीतर आ सके; और पलक मारते ही ऐसा हो गया कि सब-के-सब भीतर आ गये। तुलसीजीने भी—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥

—वाले दृश्यमें कुछ ऐसी ही युक्तिका प्रयोग किया है।

अब हम आगामी अंशमें अवतारके सम्बन्धमें कुछ अधिक लिखेंगे, परन्तु इस तुलनात्मक व्याख्याकी समाप्तिसे पहले इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि शा महोदय डा० बीसैंटके मित्र होते हुए हमारे प्राचीन साहित्यके ऋणी जान पड़ते हैं, परन्तु खेद है कि उन्होंने उस ऋणको कहीं स्वीकार नहीं किया।
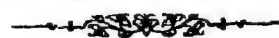
जीवनकी सरलता

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)

दुनियाकी रफ्तारके साथ चलते हुए अधिक दुखी और परेशान हो जानेपर कभी-कभी लोगोंके मनमें यह प्रश्न उठता है कि 'जीवन क्या यही है?' इसी दुःख-सुखके आवागमनके सिलसिलेको क्या जीवन कहते हैं, या इसके अतिरिक्त जीवन कुछ और ही सत्ता है? इस प्रश्नके पूर्व अनेकों प्रकारके दुःखोंके होते हुए भी संसार मनुष्यको अच्छा लगता है। वर्तमान अवस्थासे असन्तुष्ट होनेपर उपर्युक्त प्रश्न स्वभावतः मनमें उदय होते हैं। वर्तमान अवस्थामें असन्तोष प्रकट करता है कि जिस जीवनक्रमको मनुष्य अबतक सही समझे हुए था और उसको जिससे अबतक सुख मिलता था, वही अपनी प्रतिक्रियामें दुःखकी उत्पत्ति करके मनमें सन्देह उत्पन्न करने लगा है। मनमें सन्देह किसी वस्तुके समझनेका प्रथम चिह्न है। सन्देह उत्पन्न हो जानेपर कभी वह पुराने सुखोंमें सुखकी खोज करता है और कभी उन्हें ही दुःखका महान् कारण समझता है। इस समयतक केवल इतना ही हो सका है कि दुःखके कारण मनमें सन्देह उत्पन्न हो जानेसे जीवनमें पूर्वका सुख-चैन नहीं रह गया। मनमें इस जागृतिके होनेपर भी मनुष्य दुःखके रहस्यको भलीभाँति समझ लेनेमें समर्थ नहीं होता। थोड़ा-बहुत जो कुछ समझता है, उसकी सहायतासे वह उन्हें छोड़ नहीं पाता। इस प्रकार सुख-दुःखके जीवन-मरणमें प्राणीका अधिक समय बीत जाता है, पर जीवन-सत्ता किसीको उस समयतक चैन नहीं लेने देती जबतक कि जीवनके रहस्यकी प्रतीति नहीं हो जाती। दृश्यमान समस्त संसार और प्राणीका सब कार्य केवल एक इसी ध्येयकी पूर्तिके लिये है। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके हेतु समय अपेक्षित है। अनेक प्रकारके अनुभवोंको अतिक्रमण करके सतत प्रयासद्वारा मनुष्यको जीवनका यह बोध प्राप्त होता है।

हरेक दुःख-सुख मनुष्यके चित्तपर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। आने-जानेवाले सब दुःख-सुख हमें कुछ

बतलाते हैं, पर हम अपनी इच्छा और अभिलाषामें इतने मत्त रहते हैं कि उसके रहस्यको समझनेकी कभी कोशिश नहीं करते। दुःख किसीको चैन नहीं लेने देता। दुःखका वेग जब अधिक बढ़ जाता है तो प्रायः मनुष्यको उससे बचकर भागनेकी कोई युक्ति नहीं सूझती; इस बेचैनीके बीच जब मनुष्यके पास उसे हटा देनेकी कोई युक्ति नहीं रह जाती तो मनमें एक नूतन चैतन्यताका प्रादुर्भाव होता है और वह प्राणी यह सोचना आरम्भ करता है कि सुख-दुःखमें जीवन व्यतीत करना ही क्या वास्तविक जीवन है जब कि इनका कोई चिरस्थायी अस्तित्व नहीं है। इस सजगतासे ठेस खाकर आशा और इच्छाकी पुरानी दीवार गिरने लगती है, पर वह एकदम ही नहीं गिर जाती। अधिक दुःखी होनेपर भी कभी-कभी वह अपनेको संसारके वैभवमें पुनः लगानेकी चेष्टा करता है और कभी वह उसके विरुद्ध भी विचार करना आरम्भ करता है।

जीवनकी गति अब दूसरी ओर मुड़ती है और वह धर्म, ईश्वर, परोपकार, सेवा, राजनीति आदि बातोंकी ओर प्रवृत्त होता है और इनके विशेषज्ञोंसे मिलनेकी चेष्टा करता है। इन सब बातोंमें भी उसके सुखकी खोज अबतक पूर्ववत् ही है। परिस्थितिने कुछ नयी बातें उत्पन्न करके जीवनके प्रश्नको कठिन बना दिया है। अबतक वह बिल्कुल सोया हुआ था। किन्तु जीवनकी चैतन्यताने उसे जडवत् पड़े रहकर अधिक समयतक सोने नहीं दिया। विचारके प्रादुर्भावसे अब उसके सामने जो बातें आती हैं उनपर उसे मनन करना पड़ता है। क्षणिक सुख-दुःख अब उसे पूर्वकी भाँति सन्तोष नहीं प्रदान कर रहे हैं। छायाचित्रकी भाँति उनका आना-जाना चित्तको आलोडित करता है। इस संघर्षके बीच भी कभी-कभी मन विजयी हो जाता है। अर्थात् अपने नये विचारोंमें भी वह उसी सुखकी खोज करता है। पूर्वके कार्योंमें जैसे उसे सुख-चैनकी चाह थी, वैसी ही उसकी चाह जीवनकी नयी खोजमें भी है। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि मनुष्यने जीवनकी चाहके सम्बन्धमें अपना दृष्टिकोण बदल दिया है। जब उसे कर्म-इन्द्रियोंके सुख-दुःखमें वञ्चना मालूम हुई तो उसने सोचा कि इन्हें कम कर देनेसे या सर्वथा त्याग देनेसे कदाचित् कुछ ऐसा सुख मिल जाय, जिसमें वास्तविकता हो। इस प्रकारकी इच्छाको रखते हुए सुखकी लालसासे अन्तर्मुख होकर उसने नवीन खोज आरम्भ की। पुराने सुखोंको छोड़कर किसी नवीन सुखकी कल्पनामें मनुष्यको पहले कुछ समयतक सुखका भान होता है, किन्तु वास्तविक सुखकी प्राप्ति उसे फिर भी नहीं होती। उसके सम्मुख समस्याओंका अन्त नहीं हो गया है, इसीलिये तो वह सुखकी खोजमें है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सुख सापेक्षिक सत्य और जीवन-की सच्ची वास्तविकता है, किन्तु इसका दर्शन उस समयतक नहीं होता जबतक मनुष्य अपने सुखके लिये कुछ तलाश कर रहा है। हमारी खोज इस बातको प्रकट कर रही है कि हम कुछ चाह रहे हैं।

जबतक किसी वस्तु या किसीके लिये कुछ चाह है तबतक उसकी प्रतिक्रिया है, संघर्ष है, सन्ताप और कष्ट है। जब हम किसी वस्तुको चाह रहे हैं तो उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि उस वस्तुसे हमारी पृथक्ता है। पृथक्ता द्वैतको सूचित करती है। अतः चाहके क्रममें सुख नहीं है। चाह तो किसी वस्तुके लिये विकलताको बतलाती है। वस्तु चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, उसकी चाह मनके अंदर दुःखकी ही सृष्टि कराती है। अतः वास्तविक सुखके लिये खोज उसका क्रम नहीं है। वास्तविक अर्थात् नित्य जीवित सत्य और सुखका बोध करनेके लिये विचारकी गम्भीरता और सरलता आवश्यक है। यह सरलता अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्त है, साथ-ही-साथ अत्यन्त कोमल भी है। जीवनकी इस सरलताका शब्दोंद्वारा बोध नहीं हो सकता। शब्द सेतुकी भाँति उस पार जानेके लिये कुछ सहायता भले ही कर देते हैं। शब्दोंका केवल श्रवण या सेतुका दर्शन कार्यकी सिद्धि नहीं करा सकता।

अतः जबतक हमारे अंदर किसी प्रकारकी खोज है, तबतक हम सत्यका दर्शन कभी नहीं कर सकते। यदि हमारी खोज कुछ इस ढंगकी हो, जिसमें न किसी वस्तुके लिये चाह हो और न किसी स्थितिके प्रति सन्तोष ही, तो इस प्रकारकी सुन्दर पवित्र खोजमें सरलताका निवास है; किन्तु इस सरलतामें किसी उद्देश्य या भावकी पूर्ति नहीं है। 'जीवनकी सरलता'—प्रायः लोग इन शब्दोंका प्रयोग करते हैं, किन्तु उन्होंने गम्भीरताके साथ कभी इसपर विचार नहीं किया। कम-से-कम वस्तुओंपर आधिपत्य रखना, कुछ बहुत ही विनम्र शब्दोंमें विचारोंको प्रकट करना, कम बोलना आदि भी सरलता है। परन्तु यह सरलताका बहुत ही स्थूल रूप है। मेरा अभिप्राय इस प्रकारकी सरलतासे नहीं है। मैं उस सरलताकी बात करता हूँ जिसमें विचारकी सूक्ष्मता, पवित्रता, सौम्यता और सौन्दर्य हैं; जिसमें न किसी स्थितिकी खास खोज है और न सन्तोषमय जीवनकी चाह है। सरलता स्वयं ही एक जीवित स्वरूप है।

इस सरलताके साथ जब मनुष्य अपनी जीवनयात्रा आरम्भ करता है तो उसके अंदरसे चाहके लिये खोजके क्रमका अन्त हो जाता है। किसी वस्तुकी खोज इस बातको भी प्रकट करती है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनके प्रति उसका विरोध-भाव है। अतः वह किसी नवीन स्थितिकी खोज करके उसमें सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। इससे द्वैतकी उत्पत्ति होती है और विवश होकर कुछ करनेकी दशा प्रकट होती है।

जब हम किसी नवीन स्थितिकी कल्पना करते हैं या कोई नयी बात आरम्भ करते हैं तो इससे यही सूचित होता है कि हम पुरानी बातोंसे बहुत असन्तुष्ट थे, वे बातें हमें रुचिकर नहीं थीं। किसी वस्तुके प्रति आकृष्ट होकर हम उसमें अपनी रुचि प्रकट करते हैं, या दूसरोंके प्रति भयके कारण भी हम ऐसा करते हैं। किसी वस्तुके प्रति राग होनेसे उसमें आकृष्ट हो जाना, या घृणा होनेसे उससे विमुख हो जाना—दोनों ही दशाओंमें स्पष्ट है कि विवश होकर ही हम कुछ करते हैं। दोनों ही दशाओंमें मस्तिष्क उनके भावोंसे आच्छन्न रहता है। विवशता ज्ञानके तिरोभावकी अवस्था है और यह उसी स्थानपर स्थित रहती है जहाँपर विभाग है। इस विभागके द्वारा नाना प्रकारके अज्ञान प्रकट होते हैं। और मनुष्य उनके प्रति अपनी तत्परता दिखलाता है। उसमें बद्ध हो जानेसे जब उसे दुःख होता है तो वह उसपर विजय प्राप्त करना चाहता है। इस प्रयासद्वारा वह जीवनको और भी अनेकों हिस्सोंमें बाँट देता है। अतः अपनी भावुकतासे भावित होकर मनुष्य न तो परिस्थितिके रहस्यको भली भाँति समझ पाता है और न अपने संघर्षको ही। मनका प्रभाव परिस्थितिकी प्रतिक्रिया है, जिसका केन्द्रस्थान 'मैंपन' की भावना है। ऐसी विरुद्धात्मक स्थितिमें बोध नहीं रहता। और मनुष्य विवश होकर अच्छे और बुरेका भेदभाव सामने लाता है। मनकी जबतक यह विरुद्ध स्थिति कायम रहती है, तबतक वह समाज, धर्म, राजनीति प्रेम आदिमें अच्छे और बुरेका भेद उत्पन्न करके उनके प्रभावसे भावित होता रहता है; उसकी यह विवशता ज्ञानके लिये बहुत ही बड़ा प्रतिबन्ध है।

इस विवशतासे सजग होनेपर मनुष्यको उसका कारण मालूम हो सकता है। इस विवशताको गम्भीरताके साथ समझनेसे पता चलता है कि मनुष्यका जीवन कितना अधिक दूसरोंके हाथमें रहता है जिसे कि उसने स्वयं ही अपनी परिस्थितिको भलीभाँति न समझनेके कारण उत्पन्न कर लिया है। परिस्थितिकी अबोध दशा अपनी अनेक प्रकारकी आशाओंके साथ विवशता उत्पन्न करती है, जो कि दुःखका मुख्य कारण है। जीवनकी सरलता इसे अतिक्रमण करनेके पश्चात् आती है।

जप-प्राणायाम और मेरे अनुभव

(लेखक—श्री 'ॐ')

मेरा अनुभव किया हुआ यह जप-प्राणायाम एक बहुत ही उपयोगी सरल साधन है। इसके द्वारा शारीरिक स्वास्थ्यकी अतिशीघ्र प्राप्तिके साथ-साथ आध्यात्मिक लाभ भी होता है। फिर भी विशेषता इसमें एक यह है कि कहीं भी इस साधनामें अनिष्टकी आशङ्का नहीं होती। साधकको प्रातः और सायंकाल नियमपूर्वक इसकी साधना करनी पड़ती है। इसकी विधि इस प्रकार है—

प्रातःकाल पूर्वकी ओर तथा सायंकाल पश्चिमकी ओर मुँह करके मेरुदण्डको सीधा करके खड़े हो जाइये। शरीर बिल्कुल ताड़के समान सीधा होना चाहिये। दृष्टि सामने हो। मुँह और नेत्र बंद हों। दोनों पैरोंकी एड़ियाँ और अँगूठे जुड़े हुए हों; दोनों हाथ पीठकी ओर बँधे हुए हों। बायेंमें दाहिना हाथ हो। श्वास-प्रश्वासकी क्रियापर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं, उसे स्वभावतः चलने दीजिये। केवल एकाग्रचित्तसे अपने इष्टदेवका नाम-जप कीजिये। इष्टदेवके नामका अर्थात् भगवान्‌के जिस नाममें आपकी रुचि हो—जैसे ॐ, राम, कृष्ण, शिव, गणेश, दुर्गा आदि किसी भी नामका जप कीजिये। मैं तो—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस मन्त्रका जप करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य भी किसी मन्त्रका जप किया जा सकता है। जप मन-ही-मन होना चाहिये। जप करते समय जीभ या ओठ न हिलें। हाँ, यह बात ध्यानमें रहे कि नाम या मन्त्रका उच्चारण मनमें शुद्ध-शुद्ध और निरन्तर होता रहे। यह जपकी साधना प्रातः और सायंकाल दोनों समय बारह-बारह मिनटसे कम नहीं होनी चाहिये। दिन-रातके चौबीस घंटोंमें केवल २४ मिनट समय इस साधनाके लिये देने पड़ेंगे। भोजन करनेसे एक-दो घंटे पहले ही स्नान करके इस साधनामें लगना चाहिये। यदि दोनों समय स्नान न कर सकें, तो प्रातःस्नान तो अवश्य करना चाहिये। और सायंकाल बिना स्नान किये हुए भी हाथ-पैर धोकर साधना कर सकते हैं। परन्तु स्नान करके करना ही अधिक लाभदायक है।

इस प्रकारके मानसिक जपसे शरीरके भीतर व्यापक विद्युत्—(बिजली) की गतिमें तीव्रता आती है। हाथों और पैरोंका परस्पर जुटा रहना भी इसमें सहायक होता है। शरीरमें जो वीर्य होता है, उससे इस विद्युत्-शक्तिका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि वीर्यके क्षीण होनेसे मनुष्यमें दुर्बलता आती है और उसकी क्रियाशक्ति घट जाती है, तथा वीर्यके दृढ़ होनेपर मनुष्य शक्तिसम्पन्न होता है, और उसकी कार्य करनेकी शक्ति बढ़ जाती है। वीर्यके हीन होनेसे ही दुर्बलताके कारण अनेकों प्रकारके रोग शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक जपके साधनके द्वारा उत्पन्न विद्युत्-गतिकी तीव्रताके कारण शरीरके भीतरके रोगोंके जीवाणुओंको भारी धक्का लगता है और वे काल-कवलित हो जाते हैं। इससे वीर्यकी शुद्धता होती है, और जीवनमें नवशक्तिका सञ्चार होता है। जितनी तेजीसे नाम-जप होता है, विद्युत्-प्रवाह भी उतना ही तीव्र होता है। स्नानसे इस साधन-में यह सहायता मिलती है कि एक तो उससे रोमकूप खुल जाते हैं, जिसके कारण शरीरके भीतरका मल पसीनेके द्वारा आसानीसे बाहर निकल जाता है, दूसरे रक्त-प्रवाहमें तीव्रता आती है, तीसरे चित्तमें शान्ति

और शीतलताके आ जानेसे मनकी वृत्तियाँ दबी रहती हैं, और एकाग्रता प्राप्त होती है। इससे नामजपके लिये अत्यन्त आवश्यक गुण 'शुद्धता', 'शीघ्रता' और 'अखण्डता' की एक साथ प्राप्ति हो जाती है। नाम-जपके शुद्धतापूर्वक, शीघ्र-शीघ्र तथा अखण्ड—निरन्तर होनेसे बिजलीके तेज प्रवाहके कारण शरीरकी अन्यान्य नाडियोंके साथ-साथ सुषुम्ना नाडी भी शुद्ध हो जाती है, जिससे बड़े-से-बड़े रोगोंकी जड़ ही कट जाती है।

इस साधनके प्रारम्भ करनेपर पहले या दूसरे दिन गलेमें कुछ शुष्कता (खुश्की) का अनुभव होने लगता है। पश्चात् नियमपूर्वक साधन करते रहनेपर शरीरकी बिगड़ी हुई अवस्था सुधरने लगती है—शरीरके दोष धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। शरीरमें पसीना आना तथा जँभाई उठना, इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। इस प्रकार शरीरके मलोंके निकलनेपर अवस्थानुसार रोग भी दूर होने लगते हैं, अर्थात् जिसके शरीरमें अधिक दोष होते हैं, उसे देरसे तथा जिसके शरीरमें कम दोष होते हैं उसे शीघ्र ही इस साधनकी सफलताका अनुभव होने लगता है। सामान्यतः १५ दिनके साधनके पश्चात् ही जँभाइयाँ आने लगती हैं और साधारण रोगी १५–२० दिनोंमें पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। जब जँभाई आने लगे, तब समझना चाहिये कि जँभाईके द्वारा शरीरके भीतरका रोग बाहर निकल रहा है। कुछ दिनोंतक जँभाइयाँ—आज एक, कल दो, परसों तीन इसी प्रकार बढ़ती रहती हैं; पश्चात् एकदम बंद हो जाती हैं। सारांश यह है कि विद्युत्-गतिमें तीव्रताके कारण शरीरका मल शीघ्रतापूर्वक जँभाइयोंके द्वारा बाहर निकलता है, और शरीरके निर्मल हो जानेपर जँभाइयाँ बंद हो जाती हैं। जब जँभाई आना बंद हो जाय तब समझना चाहिये कि शरीरके सब रोग बाहर निकल गये। परन्तु ये सब कार्य स्वाभाविक होने चाहिये। जान-बूझकर जँभाई लेनेकी चेष्टा करना ठीक नहीं। साधकको तो केवल शुद्धतापूर्वक शीघ्रतासे निरन्तर मानसिक नाम-जप करते रहना होगा, परिणाम स्वभावतः दिखलायी देगा।

बस, यही है जप-प्राणायाम। इसमें जपके द्वारा व्यायाम और प्राणायाम स्वयं हो जाता है। अन्य प्राणायामके साधनोंके समान इसमें अनिष्टकी आशङ्का नहीं रहती, बल्कि साथ ही शरीरके रोग भी दूर होते जाते हैं। समय भी इसमें विशेष नहीं लगता, दिन-रातके चौबीस घंटोंमें भोजनके दो घंटे पूर्व या पश्चात् बारह-बारह मिनट साधनके लिये निकाल लेना कोई कठिन बात नहीं है। ध्यान या चित्तको एकाग्र करनेके लिये भी इसमें विशेष चेष्टा नहीं करनी पड़ती, चित्तकी एकाग्रता अपने-आप आती है। लौकिक लाभ—शारीरिक स्वास्थ्यके साथ-साथ अपूर्व आध्यात्मिक लाभ जिस साधनसे प्राप्त हो, उसकी प्रशंसा कहाँतक की जा सकती है?

किसी भी साधनाकी सफलता या असफलताका अनुमान तभी किया जा सकता है, जब कम-से-कम छः महीने उसका अभ्यास किया जाय। परन्तु मुझे तो इस साधनकी सचाईका अनुभव २-३ महीनेमें ही मिलने लगा। परन्तु नियममें बँधे होनेके कारण अत्यन्त उत्सुकता होनेपर भी मैं इस साधनको सर्वसाधारणके सामने उपस्थित न कर सका। अब तो मुझे इसके प्रारम्भ किये हुए छः महीने हो गये और इसी अवसरमें मेरे जीवनमें अद्भुत परिवर्तन हो गया है। मैं इसकी असाधारण महिमाका अनुभव जीवनके क्षण-क्षणमें कर रहा हूँ।

नाम-जपमें अद्भुत शक्ति है। इसकी महिमासे हमारे सारे शास्त्र भरे पड़े हैं। जब नाम-जपसे भवरोग दूर हो जाता है तो साधारण शारीरिक रोगकी तो बात ही क्या है! हाँ, पहले-पहले इस साधनमें कुछ

कठिनाई जान पड़ती है। बारह मिनटका समय कुछ अधिक नहीं होता, फिर भी जान पड़ता है मानो आधा घंटा बीत गया। रह-रहकर मनमें आता है कि अभी बारह मिनट बीते या नहीं। इस झंझटसे बचनेका एक उपाय है जप-माला। 'हरे राम०' मन्त्रकी बड़ी शुद्धताके साथ एक माला जपनेमें आठ मिनट लगते हैं। अतएव बारह मिनटमें डेढ़ माला हो जायगी। समयानुसार इस साधनको बढ़ाया भी जा सकता है। अर्थात् १२ मिनटसे २० मिनट—आधा घंटा। जितना ही अधिक साधक इस अभ्यासमें आगे बढ़ेगा उतना ही अधिक लाभ होगा। हाँ, जप करते समय बीचमें तार न टूटने पाये, निरन्तर बारह मिनटतक जप होते रहना चाहिये, और यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि नित्य नियमितरूपसे शुद्धता और शीघ्रतापूर्वक जप किया जाय। नियमपूर्वक साधन करके कोई भी सज्जन इस साधनके अद्भुत लाभको प्राप्त कर जीवनको सार्थक बना सकते हैं। यह साधन मुझे एक महात्मासे प्राप्त हुआ था। मैं उनका बड़ा ही कृतज्ञ हूँ।

चिन्तन

(रचयिता—श्रीबालकृष्णजी बलदुवा बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सोचना—"मैं कर रहा हूँ",
सोचना—"मेरे बिना कुछ भी न होगा",
—व्यर्थ है।
तू यहाँ कुछ वर्षसे है,
तू यहाँ कुछ वर्ष और;
तू नहीं था, काम तब कोई रुका था!
तू न होगा, काम तब कोई रुकेगा!
विश्व-जलनिधि अगम, सीमाहीन; तू लघुबिन्दु!

किये जा, जो तुझे करना;
बढ़े जा, जिस ओर बढ़ना;
वेगसे, अविराम गतिसे राह अपनी पार करना।
पर न अपनेको सभी कुछ समझनेकी भूल करना।
भूलकर मत गर्व करना।

नहीं तू यों सोचना—
"काम यह मेरे बिना रुक रहेगा;
काम यह मुझ-सा न कोई करेगा";
आत्म-निर्भरता जरूरी चीज़ है
किन्तु "मैं ही सब सम्हालूँ"—अहमता,
दर्प, सत्य न, पूर्ण आत्म-प्रवञ्चना।

बिन्दुसे है सिन्धु; पर यदि बिन्दु एक
सोच ले वह सिन्धु है, तो सिन्धु की
हानि कुछ भी नहीं; वह लघु बिन्दु ही
रुक रहेगा—अकड़कर अतिगर्वसे
जकड़ जायेगा, न आगे बढ़ सके।
मैं न कहता—लघु बनो; मैं लघु नहीं;
बिन्दु हूँ, जो सिन्धुमें हलचल करे
और कर क्रियमाण जड़ता सिन्धुतक की भी हरे।
बिन्दुमें यह शक्ति आये, इसलिये
यह जरूरी है—न गति-अवरोध हो।
दर्प जड़तासे जकड़ना, इसलिये
त्याज्य है; प्रति बिन्दु अपनेमें भरे
भावना—वह सिन्धुकी उन्नति करे
और इसके लिये नित क्रियमाण हो,
किन्तु भूले भी नहीं निज शक्तिपर
गर्व कर अपनी प्रगतिको रोक दे।
वह बहुत कुछ, किन्तु वह सब कुछ नहीं।
(बिन्दु भी है, सिन्धु भी है किन्तु है
इन सभीसे कहीं आगे—एक, जो
इन सभीका सृजन-संचालन करे;
नित्य परिवर्तन-विवर्धन भी करे।
और वह संहार सबका एक पलमें कर सके।
(भूमि-कम्पन, महामारी, ज्वालमुख,
रणोन्मादन एक भ्रकुटि-विलास भर।
सिन्धु मरु, गिरि सिन्धु, चेतन जड़ बनें,
नगर खँडहर, शस्य बंजर निमिषमें भ्रूभंगपर।))

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गतांकसे आगे]

भृगुवंशीय महर्षि ऋचीक वेदब्रह्म और परब्रह्म दोनोंमें पारदर्शी, परम तपस्वी थे। उन्होंने धर्मिष्ठ राजा गाधिकी सुलक्षणवती धर्मप्राणा कन्या सत्यवतीका पाणिग्रहण किया। विवाहके पश्चात् बहुत समय व्यतीत हो जानेपर महर्षिके अलौकिक तपःप्रभावको देखकर गाधिराजकी पुत्रीने अपने पूज्यतम पतिसे सविनय प्रार्थना की—हे भगवन्! तपोनिधि आर्यपुत्र! हम माता और कन्या दोनों पुत्रहीन हैं, आप कृपा करके अपने अलौकिक तपःशक्तिके प्रभावसे हम दोनोंको एक-एक पुत्ररत्न दान कर हमारे नारी-जीवनको सफल करें। शुभ मुहूर्त्त था, दयानिधि महर्षि बोले—'अच्छा, अपनी माताको बुलाओ।' माताके आनेपर, महर्षि ऋचीकने एक वैदिक यज्ञका अनुष्ठान प्रारम्भ किया। यज्ञके अन्तमें पृथक्-पृथक् दो पात्रोंमें चरु रखकर महर्षिने अपनी पत्नीसे कहा—'तुम यह चरु खाना और दूसरा वह अपनी माताको खानेके लिये देना।' ऐसा उपदेश देकर वह स्नानके लिये चले गये। ऋषिपत्नीने अपना चरु माताको दे दिया और माताका चरु स्वयं खा लिया। स्नान करके लौटनेपर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि एकके चरुको दूसरेने ग्रहण किया है, तो वे दुःखी होकर क्षणभरके लिये निःस्तब्ध हो गये। अन्तमें अपनी सहधर्मिणीसे उन्होंने कहा—'तुम्हारे लिये जो चरु था, उसमें मैंने ब्रह्मतेजकी स्थापना की थी, और तुम्हारी माताके चरुमें क्षात्रतेज स्थापित हुआ था। तुमने चरु बदलकर खाया है, अतएव उसके अनुसार ही फल मिलेगा।'

> तस्मात् सा ब्राह्मणश्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति।
> क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे जनयिष्यसि॥

अर्थात् चरु-परिवर्तनके कारण तुम्हारी माता ब्रह्मर्षि पुत्र उत्पन्न करेगी, और तुम्हें उग्रकर्मा क्षत्रिय पुत्र उत्पन्न होगा।

यह सुनते ही ऋषिपत्नी सत्यवती अत्यन्त दुःखी हुई, परन्तु उस समय कुछ भी न कहकर वह पतिसेवामें लग गयी। एक दिन ऋषिराज प्रसन्न मनसे अपनी धर्मपत्नीको धर्मकथा सुना रहे थे। समय और सुयोग देखकर बुद्धिमती ऋषिपत्नीने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—'भगवन्! कृपासागर! मेरी माताके गर्भसे ब्रह्मवेत्ता पुत्र उत्पन्न होगा, यह अत्यन्त सुखद शुभ संवाद है। परन्तु प्रभो! मेरे गर्भसे उग्रकर्मा क्षत्रियधर्मा सन्तान न हो; आप कृपापूर्वक ऐसा ही उपाय करें, जिससे मैं भी ब्रह्मज्ञ पुत्र प्राप्त कर धन्य हो सकूँ।' महर्षिने कहा—'भद्रे! अच्छा, मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे तुम्हें ऋषिपुत्र प्राप्त हो। परन्तु तुम्हारा पौत्र ऋषि होते हुए भी उग्रकर्मा, वीर, युद्धप्रिय, शत्रुदमनकारी, क्षत्रियके समान होगा। क्योंकि वेदमन्त्रोंके द्वारा सृष्ट वीर्य किसी प्रकार भी पूर्णरूपसे नहीं बदला जा सकता।' ऋषिपत्नीके गर्भसे महर्षि जमदग्निने जन्म-ग्रहण किया, और जमदग्निके ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें उग्रकर्मा ऋषि परशुराम आविर्भूत हुए तथा गाधिराजकी पत्नी ब्रह्मवेत्ता विश्वामित्रको सुपुत्ररूपमें प्राप्त कर धन्य-धन्य हो गयी। पितामह भीष्मजीने राजा युधिष्ठिरसे कहा है—

> विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी।
> ऋषेः प्रसादाद् राजेन्द्र ब्रह्मर्षिं ब्रह्मवादिनम्॥
>
> (अनुशासनपर्व)

अर्थात् हे राजेन्द्र! ऋषिके प्रसादसे गाधिराजकी पत्नीने ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मर्षि विश्वामित्रको उत्पन्न किया था।

पुरुषसमागमके बिना केवल चरुके द्वारा गर्भोत्पत्तिके विषयमें सब वेदोंके भाष्यकार सायणाचार्य वेदभूमिकामें कहते हैं—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एतद् विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् यदि वेदसे केवल धर्मका ही ज्ञान हो तो वेदमें विशेषता ही क्या है? धर्मका ज्ञान तो वेदके सिवा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंसे भी हो सकता है। परन्तु जिस विषयको मनुष्य कभी, प्रत्यक्षरूपसे चर्मचक्षुओंद्वारा नहीं देख सकता, अथवा कभी अनुमानके द्वारा भी नहीं जान सकता, इस प्रकारके अलभ्य विषय—पुत्रेष्टि आदि यज्ञोंका फल वेदके द्वारा ही ज्ञात होता है। यही वेदोंकी वेदता है।*

* 'प्रशस्तपाद' ने देवता और ऋषियोंकी उत्पत्ति अयोनिज बतलायी है। न्यायकन्दलीमें अयोनिज सृष्टि किस प्रकार होती है, यह समझानेकी चेष्टा की गयी है।

कुरुक्षेत्रके युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व दुर्योधनको समझानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उसकी सभामें गये थे। बातचीतके प्रसङ्गमें दुर्योधन पाण्डवोंको निन्दनीय क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ बतलाकर उन्हें गालियाँ देने लगा। तब भगवान् श्रीकृष्णने क्रोधभरे शब्दोंमें कहा—'नहि मैथुनेन संभूता निष्पापाः पाण्डवा भवन्।' पाण्डव मैथुनसे उत्पन्न नहीं हुए, अतएव वे निष्पाप हैं।

महाभारतमें आदिपर्वके द्वितीय अध्यायमें लिखा है—

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा॥१००॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः॥१०१॥

इससे प्रमाणित होता है कि मैथुनके बिना भी सामर्थ्यवान् पुरुषके आशीर्वादसे अथवा वरप्रभावसे गर्भोत्पत्ति हो सकती है। कृष्णद्वैपायनके वरके प्रभावसे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा पाण्डवोंने जन्म-ग्रहण किया था।

२—चाण्डाल-जातिके मतङ्गने ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करके ब्राह्मण कहलानेके लिये अत्यन्त तीव्ररूपमें इन्द्रकी तपस्या की थी। तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र आविर्भूत हुए और मतङ्गसे वर माँगनेके लिये कहा। मतङ्ग बोला—'प्रभो! इसी शरीरसे मैं ब्राह्मण बन सकूँ, ऐसा वर मुझे दीजिये।'

इन्द्रने उत्तर दिया—

ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः।
विनशिष्यसि दुर्बुद्धे तदुपारम मा चिरम्॥

अर्थात् जिस ब्राह्मण्यको अकृतार्थ पुरुष नहीं प्राप्त कर सकते, तू अकृतार्थ (नीच योनिमें उत्पन्न) होकर उस ब्राह्मण्यके लिये प्रार्थना करता है, तुझे दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई है, तेरा नाश हो जायगा, ऐसा वर मत माँग।

इतना कहकर इन्द्र चले गये। मतङ्ग फिर भी इन्द्रकी तपस्या करने लगा। तपस्यासे प्रसन्न होकर देवराज फिर उपस्थित हुए और मतङ्गसे बोले—'वर माँगो।' उसने पहलेके समान ही ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की। तब देवराज बोले—

देवतासुरमर्त्येषु यत् पवित्रं परं स्मृतम्।
चाण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथञ्चन॥

अर्थात् देवता, असुर और मनुष्यलोकमें जो सबसे अधिक पवित्र समझा जाता है, तू उसे ही माँग रहा है। तेरा चाण्डाल-योनिमें जन्म हुआ है, अतः तू उसे किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता।

इतना कहकर इन्द्र अदृश्य हो गये। फिर भी मतङ्ग इन्द्रकी तपस्या करने लगा। यथासमय इन्द्रने उपस्थित होकर मतङ्गको फिर वर माँगनेके लिये कहा। मतङ्गने पूर्ववत् ब्राह्मण्यकी प्रार्थना की। देवराजने इस बार भी उत्तर दिया—

तदुष्प्राप्यमिह दुष्प्राप्यं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः।
अन्यं वरं वृणीष्व त्वं दुर्लभोऽयं हि ते वरः॥

अर्थात् अकृतार्थोंके लिये जो अलभ्य है, तू उस ब्राह्मण्यको चाहता है; इस प्रकारका हठ छोड़ दे। अन्य किसी वरकी इच्छा हो तो माँग। ब्राह्मण्य तुझे नहीं मिलेगा।

इतना कहकर देवराज इन्द्रने प्रस्थान किया। मतङ्ग चाण्डाल ही रह गया।

३—एक बार उपरिचर राजाकी धर्मपत्नीने यमज (पुत्र और कन्या) सन्तान प्रसव की। राजाने उसमेंसे पुत्रको अपने पास रखकर कन्याका पालन करनेके लिये दासीके पास भेज दिया।

महाभारतके आदिपर्वमें ६३ वें अध्यायमें कहा गया है—

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा।
स मत्स्यो नाम राजाऽऽसीद् धार्मिकः सत्यपुङ्गवः॥

अर्थात् उपर्युक्त यमज सन्तानोंमेंसे पुत्रको राजा उपरिचरने ग्रहण किया। वही समय आनेपर मत्स्य नामके धार्मिक वीर प्रतिज्ञापालक राजा हुए।

उपरिचर राजाकी कन्या दासीके द्वारा पाली-पोसी गयी। उसका नाम सत्यवती था। दासीके द्वारा पोसी हुई इसी राजकन्या सत्यवतीके गर्भसे महर्षि पराशरके औरस पुत्र वेदव्यासका जन्म हुआ।

४—देवर्षि नारद ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं। एक बार देवर्षि नारदने व्यासजीसे कहा कि पूर्वकालमें किसी प्राचीन कल्पमें मैं दासीपुत्र था। उस जन्ममें जीवनपर्यन्त साधु-महात्माओंकी सेवा करके, उसके फलस्वरूप दूसरे जन्ममें ब्रह्माके मानस पुत्रके रूपमें दिव्य जन्म लेकर मैं धन्य-धन्य हो गया। नारदने व्यासदेवसे कहा—

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम्।

निरूपितो बालक एव योगिनां
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । २३)

अर्थात् हे मुने वेदव्यास ! प्राचीनकालमें किसी जन्ममें मैंने कुछ वेदज्ञ ब्राह्मणोंके यहाँ (चौका-बरतन करनेवाली) एक दासीके गर्भसे जन्म लिया था । जहाँ मेरी माता रहती थी, उस स्थानमें वर्षाके आनेपर चातुर्मास्यमें बहुत-से योगी-ऋषि महात्मा आकर वास करते थे । मेरी माताने मुझे शैशवसे ही उन महापुरुषोंकी सेवामें नियुक्त किया था । मेरी योग्यताका विचार करके योगियोंने मेरे प्रति कृपा दिखलायी । वे दीनवत्सल ऋषि उस स्थानका त्याग करके जाते समय कृपा करके साक्षात् भगवान्‌के द्वारा कहे गये अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका उपदेश मुझे देते गये । उसी ज्ञानके बलसे मैंने मायाप्रवर्तक भगवान् वासुदेवकी मायाके प्रभावको जाना है । इसे जाननेपर जीव उस विष्णुके परम पदको प्राप्त होता है ।

समय पूरा होनेपर नारदजीने शरीर त्याग किया । तत्पश्चात् श्रीहरि उनके कर्मफलके स्वरूप उन्हें "शुद्धां भागवतीं तनुम्" प्रदान करते हैं अर्थात् अपना मानस पुत्र बनाते हैं ।

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । २९)

कल्पके अन्तमें अथवा प्रलयकी रात्रिके अवसानमें नारद श्रीहरिके शरीरसे अपने समान कर्मनिष्ठ और भक्त मरीचि प्रभृति ऋषियोंके साथ पुनः जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं ।

सहस्रयुगपर्यन्ते उत्थायेदं सिसृक्षतः ।
मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३१)

शास्त्रमें स्पष्टरूपसे वर्णित है कि "उत्सङ्गा नारदो जज्ञे ।"

५-ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ब्रह्माके दस मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं ।

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥

अर्थात् मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद—ये दस ब्रह्माके मानस पुत्र हैं ।

ऋग्वेदमें आया है—

'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः ।'

उर्वशी नाम द्युस्थानी देवता । सूर्यकी ज्योति (उर्वशी) के अवलम्बनसे ब्रह्माके सङ्कल्पद्वारा वसिष्ठ उत्पन्न हुए ।

६-भगवान् श्रीरामचन्द्रको अपना परिचय देते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन ।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥
(वा० रा० उ० ९६ । १९)

अर्थात् हे राघवनन्दन रामचन्द्र ! मैं ब्रह्मर्षि प्रचेताका दसवाँ पुत्र हूँ । मैं कभी मिथ्या स्मरण भी नहीं करता, मिथ्या भाषण करनेकी बात तो दूर रहे । ये दोनों तुम्हारे ही पुत्र हैं ।

महर्षि प्रचेता ब्रह्माके मानस पुत्र थे । जैसे मनुस्मृतिमें लिखा है ।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥

वाल्मीकि रामायणके उत्तरकाण्डके १११ वें सर्गके अन्तिम श्लोकमें लिखा है—

एतदाख्यानमायुष्यं सभविष्यं सहोत्तरम् ।
कृतवान् प्रचेतसः पुत्रस्तद् ब्रह्माप्यन्वमोदत ॥

अर्थात् यह आख्यान (रामायण) आयुवृद्धि करनेवाला, भविष्य और उत्तरके साथ महर्षि प्रचेताके पुत्र वाल्मीकिके द्वारा लिखा गया है, और ब्रह्माने इसका अनुमोदन किया है ।

अध्यात्मरामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है—

प्रययौ चित्रकूटाद्रिं वाल्मीकेर्यत्र चाश्रमः ।
गत्वा रामोऽथ वाल्मीकेराश्रमं ऋषिसंकुलम् ॥
.... ।
तत्र दृष्ट्वा समासीनं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम् ॥
ननाम शिरसा रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
(६ । ४३-४५)

अर्थात् वनवासमें एक समय भगवान् श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मणके साथ चित्रकूट पर्वतपर स्थित महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें उपस्थित हुए । अनेकों ऋषियोंके द्वारा सेवित उस आश्रममें उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि

मुनिश्रेष्ठ अपने आसनपर विराजमान हैं। श्रीरामचन्द्रजीने सीता और लक्ष्मणके साथ महर्षि वाल्मीकिको प्रणाम किया।

महर्षिने भी नयनाभिराम श्रीरामचन्द्रको देखकर अत्यन्त आनन्दित होकर उनका सत्कार किया तथा उनकी इच्छाके अनुसार उनके निवासके योग्य स्थाननिर्देश कर दिया। पश्चात् आत्मकथाके प्रसंगमें महर्षिने कहा—

अहं पुरा किरातेषु किरातैः सह वर्द्धितः।
जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा॥

हे राम! मैं एक अधम और पापकर्मरत मनुष्य था। नीचजाति और नीचस्वभाववाले भीलोंमें रहकर उनके साथ ही लालित-पालित हुआ था। मैं जन्ममात्रसे द्विज था, परन्तु मेरा आचरण शूद्रोंके तुल्य था।

अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डमें ७ वें सर्गमें लिखा है।

सुतौ तु तव दुर्धर्षौ तथ्यमेतद् ब्रवीमि ते।
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो रघुकुलोद्वह॥

यहाँ भी महर्षि वाल्मीकि अपना परिचय देते हुए अपनेको प्रचेताका दसवाँ पुत्र बतलाते हैं।

रामायणपाठके प्रारम्भ और अन्तमें निम्नश्लोक पाठ करके रामायणरचयिताको प्रणाम करनेकी रीति प्राचीन परम्परासे चली आ रही है—

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥

प्रचेतानन्दन निष्पाप मुनि महर्षि वाल्मीकि रामचरित (रामायण) रूपी अमृतके सागरको सदा-सर्वदा पान करते हुए भी पूर्ण तृप्त नहीं होते, (धन्य है उनकी श्रीरामभक्ति!) उस ऋषिश्रेष्ठ वाल्मीकिको मैं प्रणाम करता हूँ।

पराशरस्मृतिमें भी महर्षि वाल्मीकिको प्रचेताका पुत्र बतलाया गया है—

कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः।
श्रुता ह्येते भवत्प्रोक्ताः श्रोतार्था मे न विस्मृताः॥

स्कन्दपुराणमें (१।२४।७ तथा २।७।२१ श्लोकमें) मत्स्यपुराणमें (१२-५१ श्लोकमें), महाभारत-शान्तिपर्वके ५७ वें अध्यायमें, श्रीमद्भागवतमें (६।१८।५ श्लोकमें) सर्वत्र महर्षि वाल्मीकिको शुद्ध ब्राह्मणपुत्र कहा गया है।

पाप करते-करते दुर्बलचित्त जब हताश हो जाता है, तब महालम्पट दस्यु रत्नाकरके जीवनसे मनुष्यके हृदयमें एक अभिनव आशाका सञ्चार होता है। जीवनमें हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं, पापी-तापी भी भगवन्नाम-का जप करके प्रातःस्मरणीय—जगत्पूज्य हो सकते हैं। सनातन शास्त्र कितनी आशाभरी वाणीका उच्चारण कर रहे हैं—

राम रामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम्।
स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः॥

जिसकी वाणी क्षणमात्र भी राम-राम (भगवन्नाम) कहकर मधुर गान करती है वह व्यक्ति ब्रह्मघाती, सुरापान करनेवाला हो तो भी पापराशिसे मुक्त हो जाता है।

धन्य है नामकी महिमा! केवल नाम-साधनासे, नामके गुणसे डाकू रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि होकर जगत्पूज्य हो गया है। रत्नाकरका यह मधुर-पवित्र परिणाम मानस चक्षुमें उतरनेपर पापमय तिमिराच्छन्न जीवनमें भी सहज और सरल मार्ग मिल सकता है। 'मरेति जप सर्वदा' बड़ा ही सुखद और बड़ा ही सहज सुखद साधन है।

देवर्षि नारद कहते हैं—

भ्रान्तिज्ञानात् तथा राम त्वयि सर्वं प्रकल्प्यते।
मनसो विषयो देव रूपं ते निर्गुणं परम्॥
कथं दृश्यं भवेद् देव दृश्याभावे जपेत् कथम्॥
अतस्त्वावतारेषु रूपाणि निपुणा भुवि।
भजन्ति बुद्धिसम्पन्नास्तरन्त्येव भवार्णवम्॥

हे राम! भ्रान्तिज्ञानसे जिस प्रकार सीपको ही रजतरूपमें देखते हैं, उसी प्रकार भ्रमज्ञानसे तुम्हींको इस दृष्ट प्रपञ्चरूपमें कल्पना करते हैं। हे देव! प्रकृतिके भी परे जो तुम्हारा निर्गुणरूप है, वह मनके भी अगोचर है—मन इस निर्गुण भावको प्राप्त नहीं हो सकता—'मनो यत्रापि कुण्ठितम्।' तुम्हारा वह निर्गुण स्वरूप चक्षुगोचर किस प्रकार हो सकता है! और दर्शन किये बिना भक्ति किस प्रकार हो सकती है! इसी कारण अवतारका जो नराकार स्वरूप है—अत्यन्त चतुर भक्तलोग इस नराकार रूपका ही भजन करते हैं। और इस भजनके द्वारा वे अनायास ही संसार-सागरसे पार हो जाते हैं।

महात्मा तुलसीदासजी महाराजने भी यही बात कही है—
'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥'

यह महर्षि नारदके ही वाक्यकी प्रतिध्वनि है। नामो-च्चारणसे क्या नहीं होता! भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

नामैव जगतां बीजं नामैव पावनं परम् ।
नामैव शरणं जन्तोर्नामैव जगतां गुरुः ॥
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशो जपः ।
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशी गतिः ॥
नामैव परमं पुण्यं नामैव परमं तपः ।
नामैव परमो धर्मो नामैव परमो गुरुः ॥
नामैव जीवनं जन्तोर्नामैव विपुलं धनम् ।
नामैव जगतां सत्यं नामैव जगतां प्रियम् ॥
श्रद्धया हेलया वापि गायन्ति नाम मङ्गलम् ।
तेषां मध्ये परं नाम वसेन्नित्यं न संशयः ॥
येन केन प्रकारेण नाममात्रैकजल्पकाः ।
श्रमं विनैव गच्छन्ति परे धाम्नि समादरात् ॥

नाम ही जगत्‌का बीज है (शब्दसे ही जगत्‌की सृष्टि है), नाम ही अति पवित्र (पावनकारी), नाम ही जीवका अन्तिम आश्रय है, नाम ही जगत्‌का गुरु है (नामकृपासे जीवका उद्धार होता है), नामके सदृश दूसरा ध्यान नहीं है, नामके सदृश दूसरा जप नहीं है, नामके आश्रयसे जो त्याग होता है उसके तुल्य कोई दूसरा त्याग नहीं है, नामके समान अन्य कोई गति नहीं है । नाम ही परम पुण्य है, नाम ही परम तपस्या है, नाम ही श्रेष्ठ धर्म है, नाम ही परम गुरु है । नाम ही जीवोंका जीवन है, नाम ही विपुल धन है, नाम ही जगत्‌में सत्य है, नाम ही जगत्‌में प्रिय है । विश्वाससे हो या अनादरसे हो, जो लोग मंगलधाम नामका गायन करते हैं, उन नामगान करनेवालोंमें श्रेष्ठ नाम सदा ही वास करता है, इसमें संशय नहीं । जैसे हो वैसे, जो निरन्तर नामजप करते जाते हैं वे बिना ही श्रमके अत्यन्त आदरपूर्वक परमधामको प्राप्त होते हैं ।

आओ, हम भी इन जगत्पूज्य प्रातःस्मरणीय भगवान् वाल्मीकिके पवित्र चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करके अर्जुनके समान कहें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमोऽस्तु नामजल्पिने ।
नमोऽस्तु नामशुद्धाय नमो नाममयाय च ॥

नामरूप भगवान्‌को नमस्कार, नामजापकको नमस्कार, नाम जपकर जो शुद्ध हो गये हैं उनको नमस्कार, जो नाम जपकर नाममय हो गये हैं, उनको नमस्कार ।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥

जिसे कामको करनेका विचार हो रहा हो, उसे सुबह ही कर डालो । जिसे कल करना चाहते हो उसे आज ही कर डालो । तुम्हारा काम पूरा हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखती ।

अस्तु, उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणोंके होते हुए भी यदि कोई कहता है कि वर्णाश्रमव्यवस्था जन्मगत नहीं हो सकती, गुणोंके विकास और कर्मानुष्ठानके अनुसार जातिका परिवर्तन हो सकता है, जिस प्रकार (१) विश्वामित्र क्षत्रियसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण हो गये, (२) मतङ्गने चाण्डालसे एक ही शरीरसे ब्राह्मण्य प्राप्त किया, (३) दासकन्या सत्यवतीके पुत्र मुनिश्रेष्ठ वेदव्यास हो गये, (४) वेश्यापुत्र वसिष्ठ एक ही जन्ममें ब्रह्मर्षि हो गये, (५) किरात-पुत्र नारद एक ही जन्ममें देवर्षि हो गये, (६) शूद्रसन्तान दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन गया । तो ऐसे मनुष्यको शास्त्रसे अनभिज्ञ और स्वार्थीके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ! उपर्युक्त छः बातें कपोल-कल्पित और मिथ्या हैं ।

बंबईके निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित अष्टोत्तरशतोपनिषद् ग्रन्थमें वज्रसूचिक नामक एक उपनिषद् है । इस ग्रन्थमें ब्राह्मणादि वर्णभेदका रहस्य समझानेकी चेष्टा की गयी है । ब्राह्मणादि वर्णभेदकी प्रतिष्ठाके लिये श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, तन्त्र प्रभृति सनातन वैदिक शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित प्रचलित युक्तियोंके खण्डनके लिये यह ग्रन्थ (वज्रसूचिक उपनिषद्) अश्वघोष नामक एक बौद्धके द्वारा लिखा गया है । इस ग्रन्थकी भूमिकामें भूपालराज्यके पॉलिटिकल एजेंट विल्किन्सन (Wilkinson) साहब लिखते हैं—"The Waujra Soochi or Refutation of the arguments upon which the Brahmanical Institution of Caste is founded by a learned Buddhist Aswaghosa." 'अर्थात् वज्रसूची अथवा ब्राह्मणधर्मके वर्णभेदकी युक्तियोंका खण्डन' नामक ग्रन्थ बौद्ध पण्डित अश्वघोषके द्वारा प्रणीत है ।' विल्किन्सन साहब उपर्युक्त भूमिकामें एक स्थानपर लिखते हैं—"There is no evil in Indian society, which has been so much deplored by those anxious to promote the enlightenment of the people, as the Institution of Caste."

अर्थात् भारतवर्षीय समाजके संस्कार और उत्कर्ष-विधानके लिये जो उत्सुक हैं, उन लोगोंने वर्णव्यवस्थाको सबसे अधिक हानिकर बतलाकर खेद प्रकट किया है। इस ग्रन्थमें निम्नलिखित शास्त्रविरुद्ध विषयोंको जान-बूझकर स्थान दिया गया है—'वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्त्तकन्यायाम्, वसिष्ठ उर्वश्याम्' 'इति श्रुतत्वात् ।' अर्थात् वाल्मीकि मुनि वल्मीक अर्थात् मृत्तिकास्तूपसे, व्यासदेव कैवर्त्त-कन्या मत्स्य-गन्धासे, वसिष्ठदेव उर्वशी नामक स्वर्गवेश्यासे उत्पन्न हुए थे, ऐसा सुना जाता है।' ऊपर महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास तथा वसिष्ठदेवकी जन्मकथा यथाशास्त्र वर्णित हुई है। उससे ज्ञात होता है कि 'वज्रसूचिक'में वर्णित उनका जन्मवृत्तान्त सत्यके अपलापके सिवा और कुछ नहीं है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[गतांकसे आगे]

(९)

(मार्गशीर्षके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **धन्यव्रत** (वाराहपुराण)— यह व्रत मार्गशीर्षमें शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंकी प्रतिपदासे प्रारम्भ होकर प्रत्येक शुक्ल या कृष्ण प्रतिपदाको वर्षभर करनेसे पूर्ण होता है। इसमें नक्तव्रत किया जाता है। उस दिन रात्रिके समय विष्णुका पूजन करते समय—'वैश्वानराय पादौ' 'अग्नये उदरम्' 'हविर्भुजे उरः' 'द्रविणोदाय भुजे' 'संवर्ताय शिरः' और 'ज्वलनायेति सर्वाङ्गम्' (पूजयामि) से अंगपूजा करके गन्ध-पुष्पादि अर्पण करे। वर्षके अन्तमें व्रतके पूर्ण होनेपर सुवर्णकी अग्निकी मूर्ति बनवाकर उसे लाल वस्त्रसे भूषित करके लाल रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और प्रतिदिन विष्णुकी भक्ति रक्खे तो निर्धन भी धनवान् हो सकता है।

(२) **सङ्कष्टचतुर्थीव्रत** (भविष्यपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष कृष्णकी चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा चतुर्थीको करना चाहिये। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात व्रत करनेका संकल्प करके सायंकालके समय अनेक प्रकारके गन्ध-पुष्पादि-से गणेशजीका पूजन करे। चन्द्रोदय होनेपर उसका पूजन करे और अर्घ्य देनेके पश्चात् वायन-दान करके भोजन करे। इस व्रतमें स्त्रियोंके सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(३) **अनघाव्रत** (हेमाद्रि)—मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको डाभके अनघ और अनघा निर्माण करके गोबरसे पोती हुई वेदीपर विराजमान कर गन्धादिसे उनका पूजन करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्णाष्टमीको एक वर्षतक करे तो सम्पूर्ण प्रकारके पाप दूर हो जाते हैं।

(४) **भैरवजयन्ती** (शिवरहस्य)—मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको व्रत रक्खे और प्रत्येक प्रहरमें भैरवका यथाविधि पूजन करके 'भैरवार्घ्यं गृहाणेश भीमरूपाव्ययानघ। अनेनार्घ्य-प्रदानेन तुष्टो भव शिवप्रिय ॥' 'सहस्राक्षिशिरोबाहो सहस्र-चरणाजर। गृहाणार्घ्यं भैरवेदं सपुष्पं परमेश्वर ॥' 'पुष्पाञ्जलिं गृहाणेश वरदो भव भैरव। पुनरर्घ्यं गृहाणेदं सपुष्पं यातनापह ॥' इन तीन मन्त्रोंसे तीन बार अर्घ्य दे। रात्रिमें जागरण करे और शिवजीकी कथा सुने तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भैरवका मध्याह्नमें जन्म हुआ था, अतः मध्याह्नव्यापिनी अष्टमी लेनी चाहिये।

(५) **कालाष्टमी** (शिवरहस्य)—मार्गकृष्णाष्टमीको कालाष्टमीका कृत्य किया जाता है। इस दिन 'जागरं चोप-वासं च कृत्वा कालाष्टमीदिने। प्रयतः पापनिर्मुक्तः शैवो भवति शोभनः ॥' के अनुसार उपवास करके रात्रिमें जागरण करे तो सब पाप दूर हो जाते हैं और व्रती शैव बन जाता है।

(६) **कृष्णैकादशीव्रत** (भविष्योत्तर)—मार्गकृष्ण एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात 'ममाखिलपापक्षयपूर्वक-श्रीपरमेश्वरप्रीतिकामनया मार्गकृष्णैकादशीव्रतं करिष्ये।' यह संकल्प करके उपवास करे। तिथि-निर्णय और व्रत-नियम यथापूर्व देख लेवे। 'कथाका सार' यह है कि 'सत्ययुगमें तालजङ्घाका पुत्र 'मुर' नामका दानव था। वह महाबली और विलक्षण बुद्धिमान् था। उसने समय पाकर स्वर्गके देवताओंको मार भगाया और उनके स्थानमें नये देवता बनाकर भर दिये। इससे स्वर्गके देवताओंको बड़ा कष्ट हुआ, वे शिवजीके समीप गये और शिवजीने उनको गरुड्ध्वज

(भगवान्) के पास भेज दिया । तब भगवान्‌ने उनकी रक्षाका विधान किया । उसमें भगवान्‌के शरीरसे एक परम रूपवती स्त्री उत्पन्न हुई । उसको देखकर मुर मोहित हो गया और उस सुन्दरीपर आक्रमण करने लगा, तब उसने मुरको मार डाला । यह देखकर भगवान्‌ने उस स्त्रीको वर दिया कि 'तू मेरे शरीरसे उत्पन्न हुई है, अतः तेरा नाम 'उत्पन्ना' होगा । और तू देवताओंका संकट निवारण करनेमें समर्थ है; अतएव जो तेरा व्रत करेंगे, उनकी अभीष्टसिद्धि होगी ।' इस वरको प्राप्त करके वह कन्या अलक्षित हो गयी । कैटभ देश (काठियावाड़)के महादरिद्र सुदामाने पत्नीके सहित उत्पन्ना एकादशीका व्रत किया था, इससे वह सब दुःखोंसे मुक्त होकर पुत्रवान्, सुखी और सम्पत्तिशाली बन गया ।

(७) **प्रदोषव्रत** (व्रतोत्सव)—यह प्रत्येक महीनेके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है । इस दिन प्रातःस्नानादि करके दिनभर शिवका स्मरण रक्खे और सूर्यास्तसे पहले पुनः स्नान करके प्रदोषके समय शिव-पूजन करे तो इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है ।

(८) **गौरीतपव्रत** (अङ्गिरा) -यह व्रत मार्गशीर्षकी अमावास्यामें आरम्भ किया जाता है । उस दिन प्रातःस्नान करके हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा और जल लेकर 'ईशार्द्धाङ्गहरे देवि करिष्येऽहं व्रतं तव । पतिपुत्रसुखावाप्तिं देहि देवि नमोऽस्तु ते ॥' से संकल्प करके मध्याह्नमें सूर्यनारायणको अर्घ्य देकर 'अहं देवि व्रतमिदं कर्तुमिच्छामि शाश्वतम् । तवाज्ञया महादेवि निर्विघ्नं कुरु तत्र वै ॥' से प्रार्थना करे । पीछे अपने निवासस्थानमें जाकर गौरीका पूजन और उपवास करे । पूजनमें आवाहनादि छः उपचारोंके पीछे—१ पार्वत्यै नमः (पादौ), २ हैमवत्यै (जानुनी), ३ अम्बिकायै (जङ्घे), ४ गिरिशवल्लभायै (गुह्यम्), ५ गम्भीरनाभ्यै (नाभिम्), ६ अपर्णायै (उदरम्), ७ महादेव्यै (हृदयम्), ८ कण्ठकामिन्यै (कण्ठम्), ९ षण्मुखायै (मुखम्), १० लोकमोहिन्यै (ललाटम्), ११ मेनकाकुक्षिरत्नायै (शिरः पूजयामि)—इस प्रकार अङ्गपूजा करनेके अनन्तर गन्ध-पुष्पादि शेष दस उपचारोंसे पूजन करे और गौरीके दक्षिण भागमें गणेशजीका और वाम-भागमें स्कन्द (स्वामिकार्तिकेय)का पूजन करे । तत्पश्चात् ताँबे अथवा मिट्टीके दीपकको गौके घीसे पूर्ण करके उसमें आठ बत्ती जलाये और (सूर्योदय होनेतक) रात्रिभर प्रज्वलित रक्खे । फिर ब्राह्ममुहूर्त (प्रतिपदाके प्रभात)में स्नानादि करनेके अनन्तर द्विज-दम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी)का पूजन करके तीन धातुओं (ताँबे, पीतल और सीसे) के बने हुए पात्रमें गुड़, पक्वान्न (हलुआ-पूरी-पूआ), तिल-तण्डुल और सौभाग्यद्रव्य रखकर उनपर उपर्युक्त दीपक रक्खे और जबतक बक-काकादि पक्षीगण अपना कलरव करते हुए उसको ग्रहण न करें तबतक वहीं बैठी रहे । यदि उठ खड़ी हो तो उससे सौभाग्य हीन होता है । इस प्रकार पहले वर्षमें अमावससे, दूसरेमें प्रतिपदासे और तीसरेमें द्वितीयासे—इस क्रमसे चौथे-पाँचवें आदि वर्षोंमें तृतीया-चतुर्थी आदि तिथियोंको व्रत करके सोलहवें वर्षके मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको आठ द्विज-दम्पती बुलवाकर मध्याह्नके समय अक्षतोंके अष्टदलपर (सुपूजित गौरीके समीप) सोम और शिवका पूजन करे और नैवेद्यमें सुहाली, कसार, पूआ, पूरी, खीर, घी, शर्करा और मोदक—इन आठ पदार्थोंका भोग लगाये । और इन्हीं आठ पदार्थोंसे आठ कटोरदान (ढकनदार भोजनपात्र) भरकर उपर्युक्त आठ दम्पती (जोड़ा-जोड़ी)को भोजन करवाकर वस्त्रालंकारादिसे भूषित कर एक-एक करके आठों कटोरदान दान करे । यह व्रत स्त्रियोंके करनेका है—इससे सभी स्त्रियोंको सुतादिकी प्राप्ति हो सकती है और उनके सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं ।

शुक्लपक्ष

(१) **धन्यव्रत** (वाराहपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्षके दोनों पक्षोंमें किया जाता है, इस कारण कृष्णपक्षके व्रतोंमें आरम्भहीमें इसका उल्लेख हो गया है । पूरा विधान वहाँ देख लेना चाहिये ।

(२) **पितृपूजन** (लिङ्गपुराण)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीयाको पितरोंका पूजन करके व्रत करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं । और न करनेसे उन्हें दुःख होता है ।

(३) **कृच्छ्रचतुर्थी** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीसे आरम्भ होकर प्रत्येक चतुर्थीको वर्ष-पर्यन्त करके फिर दूसरे, तीसरे और चौथे वर्षमें करनेसे ४ वर्षमें पूर्ण होता है । विधि यह है कि पहले वर्षमें (मार्ग शुक्ल ४ को) प्रातःस्नानके पश्चात् व्रतका नियम ग्रहण करके गणेशजीका यथाविधि पूजन करे । नैवेद्यमें लड्डू-तिलकुटा, जौका मँडका और सुहाली अर्पण करके 'त्वत्प्रसादेन देवेश व्रतं वर्षचतुष्टयम् । निर्विघ्नेन तु मे यातु प्रमाणं मूषकध्वज ॥' 'संसारार्णवदुस्तारं सर्वविघ्नसमाकुलम् । तस्माद्दीनं जगन्नाथ त्राहि मां गणनायक ॥' से प्रार्थना करके एक बार प्रमाणका

भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको करता रहकर दूसरे वर्ष उसी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको यथापूर्व नियम-ग्रहण, व्रत और पूजा करके नक्त (रात्रिमें एक बार) भोजन करे। इसी प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको वर्षपर्यन्त करके तीसरे वर्ष फिर मार्गशुक्ल चतुर्थीको व्रत नियम और पूजा करके अयाचित (बिना माँगे जो कुछ जितना मिले उसीका एक बार) भोजन करे। इस प्रकार एक वर्षतक प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथे वर्षमें उसी मार्गशुक्ल चतुर्थीको नियम-ग्रहण, व्रत-संकल्प और पूजनादि करके निराहार उपवास करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथा वर्ष समाप्त होनेपर सफेद कमलपर ताँबेका कलश स्थापन करके सुवर्णके गणेशजीका पूजन करे। सवत्सा गौका दान करे, हवन करे और चौबीस सपत्नीक ब्राह्मणोंको भोजन करवाकर वस्त्राभूषणादि देकर स्वयं भोजन करे तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारके विघ्न दूर हो जाते हैं और सब प्रकारकी सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(४) वरचतुर्थी (स्कन्दपुराण)-पूर्वोक्त कृच्छ्र चतुर्थीके समान यह व्रत भी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीमें आरम्भ होकर ४ वर्षमें पूर्ण होता है। प्रथम वर्षमें प्रत्येक चतुर्थीको दिनार्द्धके समय एक बार अलोन (बिना नमकका) भोजन, दूसरे वर्षमें नक्त (रात्रिभोजन), तीसरेमें अयाचित भोजन और चौथेमें उपवास करके यथापूर्व समाप्त करे। यह व्रत सब प्रकारकी अर्थसिद्धि करनेवाला है। परिमित भोजनके विषयमें किसीने ३२ ग्रास और किसीने २०, ग्रास बतलाये हैं। 'स्मृत्यन्तर'में 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः। द्वात्रिंशत गृहस्थस्यापरिमितं ब्रह्मचारिणः ॥' मुनिको आठ, वनवासियोंको सोलह, गृहस्थोंको बत्तीस और ब्रह्मचारियोंको अपरिमित (यथारुचि) ग्रास भोजन करनेकी आज्ञा है। ग्रासका प्रमाण है एक आँवलेके बराबर। अथवा जितना सुगमतासे मुँहमें जा सके, उतना एक ग्रास होता है। न्यून भोजनके लिये (याज्ञवल्क्यने) तीन ग्रास नियत किये हैं।

(५) नागपञ्चमी (हेमाद्रि)-यद्यपि यह व्रत श्रावणमें ही प्रसिद्ध है, परन्तु (स्कन्दपुराणके) 'शुक्ला मार्गशिरे पुण्या श्रावणे या च पञ्चमी। स्नानदानैर्बहुफला नागलोकप्रदायिनी ॥' के अनुसार मार्गशुक्ल पञ्चमीको भी नागोंका पूजन और एकभुक्त व्रत करना फलदायक होता है।

(६) श्रीपञ्चमी (भविष्योत्तर)-यह व्रत मार्गशुक्ल पञ्चमीसे आरम्भ किया जाता है। एतन्निमित्त कमलपुष्प हाथमें लिये हुए कमलासनपर विराजमान और दो गजेन्द्रोंके छोड़े हुए दुग्ध या जलसे स्नान करती हुई लक्ष्मीका हृदयमें ध्यान कर सुवर्णादिकी मूर्तिके समक्ष व्रत करनेका नियम करे और तीन प्रहर दिन बीतनेके बाद गङ्गा या कूएँ आदिपर स्नान करके उक्त मूर्तिको सुवर्णादिके कलशपर स्थापित करके सर्वप्रथम देव और पितरोंको तृप्त करे (अर्थात् गणपति-पूजन, मातृका-पूजन और नान्दीश्राद्ध करे) फिर उस ऋतुके फल-पुष्पादि लेकर यथाप्राप्त उपचारोंसे लक्ष्मीका पूजन करे। उसमें गन्ध-लेपनके पहले १ चञ्चला, २ चपला, ३ ख्याति, ४ मन्मथा, ५ ललिता, ६ उत्कण्ठिता, ७ माधवी और ८ श्री—इन आठ नामोंसे १ पाद, २ जंघा, ३ नाभि, ४ स्तन, ५ भुजा, ६ कण्ठ, ७ मुख और ८ मस्तककी अङ्गपूजा करके नैवेद्य अर्पण करे और सौभाग्यवती स्त्रीके तिलक करके उसे मधुरान्नका भोजन करावे और उसके पतिको 'श्रीर्मे प्रीयताम्' का उच्चारण करके प्रस्थ (लगभग एक सेर) चावल और घी देकर भोजन करे। इस प्रकार १ मार्गमें श्री, २ पौषमें लक्ष्मी, ३ माघमें कमला, ४ फाल्गुनमें सम्पत्, ५ चैत्रमें पद्मा, ६ वैशाखमें नारायणी, ७ ज्येष्ठमें धृति, ८ आषाढ़में स्मृति, ९ श्रावणमें पुष्टि, १० भाद्रपदमें तुष्टि, ११ आश्विनमें सिद्धि और १२ कार्तिकमें क्षमा—इन बारह देवियोंका यथापूर्व और यथाक्रम पूजन करके मण्डपादि बनवाकर उसमें वस्त्राभूषण और बर्तन आदिसे समन्वित शय्यापर लक्ष्मीका पुनः पूजन करके सवत्सा गौसहित विद्वान् ब्राह्मणको दे और फिर भोजन करे तो इस व्रतसे सुत-सुख सौभाग्य और अचल लक्ष्मी प्राप्त होती है।

(७) स्कन्दषष्ठी (भविष्योत्तर)-मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठीको स्वामिकार्तिकेयजी तारकको मारकर अभिषिक्त हुए थे, अतः यह षष्ठी पुण्यप्रद, पापहर और यशस्करी है। इसमें स्नान, दान और व्रत करनेसे पुण्य होता है।

(८) त्रितयसप्तमी (हेमाद्रि)-मार्गशुक्ल सप्तमी-

को हस्त हो तो जगत्प्रसूति (सूर्यनारायण) का उत्तम प्रकार-के गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके उपवास करे और फिर इसी प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको वर्षभर करता रहे तो अच्छे कुलमें जन्म, स्थायी आरोग्य और यथेच्छ धन—ये तीनों मिलते हैं ।

(९) **मित्रसप्तमी** (निर्णयामृत)—मार्गशुक्ल सप्तमीके पहले दिन वपन (मुण्डन) करवाके स्नान कर उपवास करे । सप्तमीको सूर्यका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन करवाकर शहदमें भीगे हुए मधुरान्नका स्वयं भोजन करे । इस विषयमें (ब्रह्मपुराणका) यह मत है कि सूर्यनारायण किसीके बनाये हुए नहीं हैं । यह विष्णुके दक्षिण नेत्र और अदिति एवं कश्यपके पुत्र हैं । मित्र इनका नाम है । इस कारण इनकी मित्रसप्तमीका उपवास करके फलाहार करे और अष्टमीको ब्राह्मणों और नट-नर्तकादिको भोजन करवाकर मधुप्लावित अन्नका स्वयं भोजन करे ।

(१०) **विष्णुसप्तमी** (हेमाद्रि)—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमीको लाल रंगके चन्दन और पुष्पोंसे भगवान् विष्णुका पूजन करके वटक (भाटी) का नैवेद्य अर्पणकर व्रत करे । इन तीनों व्रतोंसे अभीष्टकी सिद्धि होती है ।

(११) **नन्दासप्तमी** (भविष्य)—मार्गशुक्ल सप्तमी-को सूर्यका पूजन करके दध्योदन (दही-भात) अर्पण कर उपवास करे तो सर्वानन्दकी प्राप्ति होती है ।

(१२) **भद्रासप्तमी** (भविष्योत्तर)—इसी (मार्ग-शुक्ल ७) को घी दूध और इक्षु (गन्ने) के रससे सूर्यको स्नान करवाकर उपवास करे और अष्टमीको पारण करके भोजन करे ।

(१३) **निक्षुभार्कचतुष्टय** (भविष्योत्तर)—१ मार्गशुक्ल षष्ठी और सप्तमीको उपवाससहित सूर्यका पूजन कर अष्टमीको भोजन करे, २ केवल कृष्ण सप्तमीको उपवास करके सूर्यका पूजन करे, ३ सप्तमीको निराहार उपवास करके चूनका हाथी बनाकर निवेदन करे, और ४ मार्ग या माघकी कृष्ण सप्तमीको दृढव्रत होकर उपवास करे, यथा-नियम पूजन करे और १ वर्ष समाप्त होनेपर गन्धादिसे सूर्यका पुनः पूजन करके ब्राह्मणोंको मणि-मुक्ता और भोजनादि देकर स्वयं भोजन करे । इस प्रकार सूर्यपत्नी (निक्षुभा) और सूर्यका उपर्युक्त चार प्रकारसे व्रत और पूजन करे तो भ्रूण-हत्यादि सब पाप दूर होते हैं ।

(१४) **नन्दिनी** (मदनरत्न)—मार्गशीर्ष शुक्ल नवमी 'नन्दिनी' है । इस दिनसे तीन रात्रितक देवीका यथाविधि पूजन करके उपवास करे तो अश्वमेधके समान फल होता है ।

(१५) **पदार्थदशमी** (विष्णुधर्मोत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीसे आरम्भ करके एक वर्षपर्यन्त प्रत्येक शुक्ल दशमी-को दसों दिगीशों (१ इन्द्र, २ अग्नि, ३ यम, ४ निर्ऋति, ५ वरुण, ६ वायु, ७ कुबेर, ८ ईशान, ९ ब्रह्मा और १० अनन्त) का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके वर्षके बाद दूध देती हुई गौका दान करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो व्यापार, व्यवसाय और व्यवहारमें यथेच्छ सफलता प्राप्त होनेके सिवा विद्या और धनादिकी वृद्धि होती है और शत्रुओंका नाश होता है ।

(१६) **धर्मत्रयव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—१ मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीको उपवास करके धर्मका पूजन करे, घीकी आहुति दे और ब्राह्मणोंको भोजन कराये । २ कृष्णपक्षकी दशमीको धर्मका पूजन करके व्रत करे । ३ और कृष्ण, शुक्ल दोनोंकी दशमीको धर्मका यथाविधि पूजन करके व्रत करे तो इस व्रतत्रयसे पापोंका नाश और आयु, आरोग्य एवं ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है ।

(१७) **दशादित्यव्रत** (स्कन्दपुराण)—यद्यपि यह व्रत किसी भी शुक्ल दशमीको रविवार हो उसी दिन किया जाता है तथापि मार्ग, माघ और वैशाखके व्रतारम्भका अधिक फल होता है । मार्ग शुक्ल दशमी रविवारको नदी, तालाब या झरने आदिपर जाकर प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके मध्याह्नमें स्नान करे और घर आकर देव तथा पितरों-को तृप्त करके वेदी बनाये । (१) उसपर १२ आर (नोक या कोण) का कमल लिखे और उसपर स्वर्णनिर्मित सूर्यमूर्ति स्थापन करके सूर्यके मन्त्रोंसे आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, फल, ताम्बूल, दक्षिणा और विसर्जन—इन उपचारोंसे पूजन करे । (२) गोबरसे पोती हुई

वेदीपर काले रंगकी—१ दुर्मुखी, २ दीनवदना, ३ मलिना, ४ सत्यनाशिनी, ५ बुद्धिनाशिनी, ६ हिंसा, ७ दुष्टा, ८ मित्र-विरोधिनी, ९ उच्चाटनकारिणी और १० दुश्चिन्तप्रदा—ये दस पुत्रिका (पुतली) लिखकर इनकी नाम-मन्त्रोंसे पूजा और प्रतिष्ठा करे। और 'नित्यं पापकरे पापे देवद्विज-विरोधिनि। गच्छ त्वं दुर्दशे देवि नित्यं शास्त्रविरोधिनि॥' से प्रार्थना करके विसर्जन करे। (३) सूत या रेशमके १० तारका डोरा बनाकर उसमें दस ग्रन्थि (गाँठ) लगाये। आवाहनादि षोडश उपचारोंसे पूजन करे। और 'ततः क्षमापयेद् देवं भास्करं च दशाकरम्। दुर्दशानाशनं देवं चिन्तयेद् विश्वरूपिणम्॥' से सूर्यकी प्रार्थना करे। और दक्षिणासहित १० फल लेकर 'भास्करो बुद्धिदाता च द्रव्यस्थो भास्करः स्वयम्। भास्करस्तारकोभाभ्यां भास्कराय नमोऽस्तु ते॥' से वायन दान करके भोजन करे। और (४) वेदीके स्थानमें चन्दनकी १ सुबुद्धिदा, २ सुखकारिणी, ३ सर्व-सम्पत्तिदा, ४ इष्टभोगदा, ५ लक्ष्मी, ६ कान्तिदा, ७ दुःख-नाशिनी, ८ पुत्रप्रदा, ९ विजया और १० धर्मदायिनी—ये दस पुतली लिखकर नाममन्त्रोंसे इनका षोडशोपचार पूजन करे। और 'विशुद्धवसना देवीं सर्वाभरणभूषिताम्। ध्याये-द्दशदशां देवीं वरदाभयदायिनीम्॥' से प्रार्थना करके भोजन करे तो दुर्दशा दूर हो जाती है। 'दुर्दशा क्यों होती है?' इस विषयमें नारदजीने कश्यपजीसे पूछा, तब उन्होंने बतलाया था कि—'तुष, भस्म और मूसलका उल्लङ्घन करनेसे—कुमारी, रजकी (धोबिन) और वृद्धाके साथ संयोग होनेसे, अयोनि- (मुख, हाथ, गुदा) या ब्राह्मणी आदिसे ब्रह्मचर्य नष्ट होनेसे, शाम, सुबह या पर्वमें रजस्वलाके समीप जानेसे—सङ्कटके समय माँ, बाप और मालिकको छोड़ देनेसे और अपने परम्परागत धर्म-कर्म और सदाचारका त्याग कर देनेसे दुर्दशा होती है। अतः न्यायमार्ग और सत्कर्ममें प्रवृत्त रहे और आपत्तिमें दशादित्यका व्रत करे। आपद्ग्रस्त होनेपर नल राजाने और पाण्डवोंने यही व्रत किया था।

(१८) शुक्लैकादशी (ब्रह्माण्डपुराण)—इसके शुद्धा, विद्धा और नियमादिका निर्णय यथापूर्व करनेके अनन्तर मार्ग शुक्ल दशमीको मध्याह्नमें जौ और मूँगकी रोटी-दालका एक बार भोजन करके एकादशीको प्रातःस्नानादि करके उपवास रक्खे। भगवान्‌का पूजन करे। और रात्रिमें जागरण करके द्वादशीको एकभुक्त पारण करे। यह एकादशी मोहका क्षय करनेवाली है। इस कारण इसका नाम 'मोक्षदा' रक्खा गया है। इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया था; अतः उस दिन गीता, श्रीकृष्ण, व्यास आदिकी पूजा करके गीता-जयन्तीका उत्सव मनाना चाहिये। गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान आदि हो। सम्भव हो तो गीताका जुलूस भी निकालना चाहिये।

(१९) व्यञ्जनद्वादशी (व्रतोत्सव)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीको भगवान्‌का षोडशोपचार पूजन करके अन्नकूटके समान अनेक प्रकारके भोजन-पदार्थ बनाकर विष्णुके अर्पण करे और प्रसादके अभिलाषी भगवद्भक्तोंको आदर और प्रेमके साथ प्रसाद दे। बादमें १ बार भोजन करे।

(२०) द्वादशादित्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीसे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल द्वादशीको १ मार्ग-शीर्षमें धाता, २ पौषमें मित्र, ३ माघमें अर्यमा, ४ फाल्गुनमें पूषा, ५ चैत्रमें शक्र, ६ वैशाखमें अंशुमान्, ७ ज्येष्ठमें वरुण, ८ आषाढ़में भग, ९ श्रावणमें त्वष्टा, १० भाद्रपदमें विवस्वान्, ११ आश्विनमें सविता और १२ कार्तिकमें विष्णु—इन नामोंसे सूर्यभगवान्‌का यथाविधि पूजन करे और जितेन्द्रिय होकर व्रत करे तो सब प्रकारकी आपत्तियोंका नाश और सब प्रकारके सुखोंकी वृद्धि होती है।

(२१) जनार्दनपूजा (कृत्यरत्नावली)—मार्ग शुक्ल द्वादशीको प्रातःस्नानसे पवित्र होकर उपवास करके देवदेवेश भगवान्‌का पूजन करे। पञ्चगव्यसे स्नान कराये। उसीका स्वयं पान करे। और जौ तथा चावलोंका पात्र ब्राह्मणको दे। साथ ही 'मम जन्मसु यत् किञ्चिन्मया खण्डव्रतं कृतम्। भगवंस्त्वत्प्रसादेन तदखण्डमिहास्तु मे॥' 'यथाखिलं जगत् सर्वं त्वमेव पुरुषोत्तम। तथाखिलान्यखण्डानि व्रतानि मम सन्तु वै॥' से प्रार्थना करे।

(२२) अनङ्गत्रयोदशी (भविष्योत्तर)—मार्गशुक्ल त्रयोदशीको नदी, तालाब, कुआँ या घरपर स्नान करके

अनङ्ग नर्मदेश्वर महादेवका गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि उपचारोंसे पूजन करके व्रत करे। विशेषता यह है कि मार्गादि महीनोंमें–१ मधु, २ चन्दन, ३ न्यग्रोध, ४ बदरीफल, ५ करञ्ज, ६ अर्कपुष्प, ७ जामुन, ८ अपामार्ग, ९ कमलपुष्प, १० पलास, ११ कुब्ज अपामार्ग और १२ कदम्ब—इनका पूजन और प्राशनमें यथाक्रम उपयोग करे। विशेष विधान मूल ग्रन्थमें देखें। इस व्रतसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(२३) यमादर्शन (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्ग शुक्लकी जिस त्रयोदशीको क्रूर (सूर्य, भौम और शनि) वार न हो और सौम्य (सोम, बुध, बृहस्पति एवं शुक्र) वार हो उसी त्रयोदशीसे आरम्भ करके वर्षपर्यन्त करे। इसका विधान स्वयं यमने ही यह प्रकाशित किया है कि उस दिन यम नामके 'काल, दण्डधर, अन्तक, शीर्णपाद, कङ्क, हरि और वैवस्वत–जैसे नामोंवाले आठ-पाँच (तेरह) ब्राह्मणोंको पवित्र स्थानमें अलग-अलग पूर्वाभिमुख बैठाकर मस्तक आदि अंगोंमें तैलमर्दन करके सहते हुए गर्म जलसे स्नान कराये और सुगन्धयुक्त गन्धादिसे चर्चित करके दूसरे स्थानमें उसी प्रकार पूर्वाभिमुख बैठाकर गुड़के सुस्निग्ध और सुस्वादु मालपुओंका यथारुचि भोजन कराये। उसके पीछे आचमन करवाकर ताँबेके १३ पात्रोंमें १६-१६ सेर तिल और चावल भरकर 'लोकाराधोऽधिनां क्रूरो रौद्रो घोराननः शिवः। मम प्रसादात् सुमुखो ददात्वभयदक्षिणाम् ॥' से प्रणाम और प्रार्थना करके दक्षिणासहित उक्त १३ पात्र उनके अर्पण करे तो इस व्रतके प्रभावसे यमका भयङ्कर रूप नहीं दीखता।

(२४) पिशाचमोचनयात्रा (काशीखण्ड)—यह सांवत्सरिक यात्रा मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशीको होती है। उस दिन कपर्दीश्वर (शिव) के समीपमें स्नान करके यात्रा करे। इस यात्राके करनेवाले मनुष्यकी अन्यत्र मृत्यु होनेपर भी वह पिशाच नहीं होता और तीर्थपर लिये हुए दानादिका पाप नहीं रहता।

(२५) शिवचतुर्दशीव्रत (मत्स्यपुराण)—'शास्त्रोंमें इस व्रतका विधान विशेष प्रकारसे वर्णन किया है, यहाँ उसका सम्पूर्ण समावेश नहीं हो सकता। इसलिये संक्षेपसे प्रकाशित करते हैं।' इसके निमित्त मार्ग शुक्ल त्रयोदशीको एकभुक्त व्रत करके चतुर्दशीको निराहार उपवास करे। और शिवजीका पूजन करे। उसमें स्नान करानेके पीछे 'शिवाय नमः पादौ। सर्वात्मने शिरः। त्रिनेत्राय ललाटम्। हराय नेत्रयुग्मम्। इन्दुमुखाय मुखम्। श्रीकण्ठाय स्कन्धौ। सद्योजाताय कर्णौ। वामदेवाय भुजौ। अघोरहृदयाय हृदयम्। तत्पुरुषाय स्तनौ। ईशानाय उदरम्। अनन्तधर्माय पार्श्वम्। ज्ञानभूताय कटिम्। अनन्तवैराग्यसिंहाय ऊरू। प्रधानाय जङ्घे। व्योमात्मने गुल्फौ। और व्युप्तकेशात्मरूपाय पृष्ठम् अर्चयामि।' से अंगपूजा करके 'नमः पुष्ट्यै, नमस्तुष्ट्यै' से पार्वतीका पूजन करे। उसके बाद वृषभ, सुवर्ण, जलपूर्ण कलश, गन्ध, पञ्चरत्न और अनेक प्रकारकी भोजनसामग्री—ये सब 'प्रीयतां देवदेवोऽत्र सद्योजातः पिनाकधृक्।' से प्रार्थना करके ब्राह्मणके अर्पण करे और थोड़ा घी खाकर भूमिमें उदङ्मुख शयन करे। फिर पूर्णिमाको ब्राह्मणोंका पूजन करके उनको भोजन कराये और इसी प्रकार कृष्ण चतुर्दशीको भी करे। आगे हर महीनेमें दोनों पक्षकी चतुर्दशीको शिव-पूजनादिके पश्चात् मार्गशीर्षमें गोमूत्र, पौषमें गोबर, माघमें गोदुग्ध, फाल्गुनमें गोदधि, चैत्रमें गोघृत, वैशाखमें कुशोदक, ज्येष्ठमें पञ्चगव्य, आषाढ़में बिल्व, श्रावणमें जौ, भाद्रपदमें गोशृङ्गजल, आश्विनमें जल और कार्तिकमें काले तिल—इनको यथाविधि भक्षण करे। शिवके पूजनमें मासभेदसे भी पुष्पादि अर्पण किये जाते हैं। यथा मार्गशीर्षमें सफेद कमल, पौषमें मन्दार, माघमें मालती, फाल्गुनमें धतूर, चैत्रमें सिन्दुवार, वैशाखमें अशोक, ज्येष्ठमें मल्लिका, आषाढ़में पाटल, श्रावणमें अर्कपुष्प, भाद्रपदमें कदम्ब, आश्विनमें शतपत्री और कार्तिकमें उत्पल—इनसे देवदेवेश महादेवका पूजन करे तो महाफल प्राप्त होता है। शास्त्रोंमें इसका अनन्त फल लिखा है।

ब्रह्मचर्य

[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

पयस्विनीके पावन तटपर एक शिलापर बैठा मैं बार-बार अपनी पुस्तकको खोलता और उपर्युक्त सूत्रको पढ़कर फिर बंद कर देता। मेरे सिरपर एक पारिजात-का वृक्ष झूम रहा था। वायुके कोमल शीतल स्पर्शसे प्रसन्न होकर वह अपनी सुरभित निधि बार-बार मेरे ऊपर उँड़ेलता जाता था और मैं उसकी इस सुमन-वृष्टिको आदरसे स्वीकार करके कभी-कभी एकत्र भी कर लेता था—चरणोंके नीचे कलकल करती भागती जाती पयस्विनीकी लोल लहररूपी बालिकाओंको खेलनेके लिये अञ्जलि भरकर पुनः-पुनः प्रदान करने एवं उस क्रीड़ासे नेत्रोंको तृप्त करनेके लिये।

उस पार थी सघन वनावली और उसके दक्षिण कक्षमें भवनोंके शिखर दृष्टि पड़ते थे। अपने पीछेकी छोटी झाड़ीके पार खेतोंकी श्रेणीको मैं भूल गया था। इस समय तो यात्रामें साथ लाये योगदर्शनसे उलझा बैठा था और बीच-बीचमें स्वभावतः हाथ सुमनोंको एकत्र करके जलमें डालने भी जा रहे थे। यह क्रीड़ा थी, अर्चन नहीं।

मैं सोच रहा था—एक बच्चा भी जानता है कि यदि पैसा खर्च न किया जाय तो बचेगा। यदि भोजन न करें तो अन्न बच रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यपालनसे वीर्यलाभ तो स्वाभाविक है। इसे कोई मूर्ख भी सरलतासे जान सकता है या जानता ही है। फिर महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र क्यों बनाया? स्वभावका विधान तो कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे दूसरे यम-नियमोंका उन्होंने महत्त्व बतलाया है, वैसे ही इसका भी क्यों नहीं बताया? वीर्यलाभ तो कोई विशेष बात हुई नहीं। ब्रह्मचर्य कोई उपेक्षणीय विषय है भी नहीं। तब ऐसा क्यों हुआ?

मैं ठहरा ज्ञानलवदुर्विदग्ध, अतः संसारमें अपनेको सबसे बड़ा समझदार माननेवाला मेरा मस्तिष्क गतिशील हुआ—महर्षि भी तो मनुष्य ही थे, मनुष्यसे भूल होती ही है। यहाँ उन्होंने भूल की है। तब यहाँ ठीक क्या होगा? ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठासे बल मिलता है।

नहीं—मेरे पासके ग्राममें सुखरामसिंह कितने प्रसिद्ध पहलवान हैं; किन्तु वे ब्रह्मचारी तो हैं नहीं। उनके स्त्री है, कई बच्चे हैं। उनके अखाड़ेमें जानेवाले कई एकको तो मैं जानता ही हूँ। उनमें जैसी गंदी बातें होती रहती हैं, उससे कोई सभ्य पुरुष उनके पास बैठना भी पसंद नहीं करेगा। अतः ब्रह्मचर्यसे बल होता है, यह तो ठीक नहीं। तब? ब्रह्मचर्यसे शरीर मोटा होता है? यह तो उपहासास्पद है। थुलथुल मोटे क्या ब्रह्मचारी हैं सभी? ब्रह्मचर्यसे तेज होता है बात कुछ ठीक लगी।

ऐं! तेज या चमक तो अग्निका गुण है। पित्त-प्रकृतिवालोंके मुखपर चमक हो सकती है। मेरे ग्रामके जमींदारका ललाट कितना चमकता है, लेकिन आचरणके सम्बन्धमें तो उनका पर्याप्त अयश है। स्मरण आया—प्राकृतिक चिकित्साके आचार्योंका मत है कि ललाटपर मेदकी मुटाई या चमक रोगका चिह्न है। वह सूचित करता है कि उदरका विजातीय द्रव्य मस्तकतक पहुँच चुका है।

बल, शरीरकी गठन एवं दृढ़ता, मोटापन, तेज,

स्फूर्ति—ये सब ब्रह्मचर्यके प्रधान लक्षण नहीं हैं। ये ब्रह्मचर्यसे प्राप्त नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनकी पूर्णता अवश्य ब्रह्मचर्यसे ही होती है। फिर भी इनकी उपलब्धि ब्रह्मचर्यके बिना सम्भव है। बल एवं शरीरगठन मांसपेशियोंसे होता है। पुष्टिकर भोजन और व्यायामसे ये प्राप्य हैं। मोटापन स्निग्ध पदार्थोंकी भोजनमें अधिकता या किसी भी कारणसे शरीरमें मेदकी वृद्धिसे होता है। पित्तकी भालपर पहुँच तेजका कारण है और वह रोगका पूर्वरूप भी हो सकता है। स्फूर्ति आती है अभ्याससे। सैनिकोंमें और चोर-डाकुओंमें वह पर्याप्त होती है।

तब क्या पाश्चात्त्य लोगोंकी सम्मति ही ठीक है? ब्रह्मचर्य व्यर्थकी कल्पना है; उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; 'ब्रह्मचर्यसे वीर्यलाभ'—यह तो कोई लाभ नहीं हुआ। वीर्यलाभ न भी हो तो क्या हानि? उसके अतिरिक्त भी तो उपाय हैं जो सबल, सशक्त, सतेज रखते हैं। क्यों उसीपर बल दिया जाय?

ब्रह्मचर्य जिसका शास्त्रोंमें इतना महत्त्व है, जो भारतीय संस्कृतिके धार्मिक एवं सामाजिक जीवनकी रीढ़ है, वही व्यर्थ? हृदय इसे स्वीकार करनेको तनिक भी प्रस्तुत नहीं हो रहा था। मैं चला था समस्याको सुलझाने, वह दुगुनी उलझ गयी। अनेक प्रकारके तर्क उठने लगे। साँड़ ब्रह्मचारी नहीं होता—पर वह बैलोंसे सुदृढ़ होता है। बैल यदि बधिया न हों और संयत रहें! साँड़ अल्पायु भी तो होता है! मैं इन तर्कोंके जालमें उलझकर श्रान्त हो गया और पता नहीं कि कब मुझे उस शीतल मन्द समीरकी कोमल थपकियोंने उसी शिलापर पारिजातकी सुरभित गोदमें सुला दिया।

× × ×

[२]

'दुबला-पतला शरीर, कमरमें कौपीन और सिरपर जटा, ये ब्रह्मचारी हैं! सो भी आजन्म ब्रह्मचारी!' मुझे तो विश्वास नहीं होता था। 'चर्म अस्थियोंसे चिमटा और मुखपर भी कोई विशेषता नहीं। इन्हें कौन ब्रह्मचारी कहेगा!' उन्होंने संकेत किया और मैं उनके पीछे चलने लगा।

पता नहीं क्या हुआ, वे उपवास करने लगे और उनके साथ मैं भी। एक दिन गया, दो दिन गये और तीसरा दिन भी बीत गया। हमलोग कहीं जङ्गलमें थे, जहाँ यमुनाजी भी थीं। एक मिट्टीका घड़ा था। उसे कोई भरता नहीं था। फिर भी जब मैं उसमेंसे पानी उँड़ेलता तो वह भरा ही मिलता। वही यमुनाजल-मात्र हम दोनों पीते थे।

पेटमें चूहोंने डंड लगाना छोड़कर चौकड़ियाँ भरना प्रारम्भ कर दिया। भूखके मारे मेरी दुर्दशा होती जा रही थी। प्यास न लगनेपर भी भूख मिटानेके लिये बार-बार जल पीता था। दिनभर पड़ा रहता था चटाईपर! पानी लेनेको भी उठना भारी प्रतीत होता था। सिरमें चक्कर आने लगता था।

मेरी तो यह दशा थी और वे ब्रह्मचारी! उनकी कुछ मत पूछिये। पता नहीं वे पत्थरके बने थे या लोहेके। स्नान करने यमुनाजी जाते तो दौड़कर, फिर जलमें भली प्रकार तैराई करते। जाने कहाँ-कहाँसे पुष्प एकत्र करके अपने नन्हे ठाकुरको सजाते। पूजा-पाठसे छुट्टी पाकर इधर-उधर फुदकते फिरते। भागवतका पाठ करते। कुछ न होता तो मेरी दुर्बलता पर खिलखिलाकर हँसते और मेरी हँसी उड़ाते। जैसे उन्हें कभी भूख लगती ही नहीं।

'आपको भूख नहीं लगती क्या ?'

'लगती क्यों नहीं ?'

'भूख लगती तो ऐसे फुदकते फिरते !'

वे हँस पड़े 'ब्रह्मचारीके वीर्यमें भी तो कुछ शक्ति होती है। जो तनिकसे कष्टसे व्याकुल हो जाय, वह कैसा ब्रह्मचारी !'

'ओह !·········' मैं कुछ और कहनेवाला था, इतनेमें हमारे झोंपड़ेके द्वारमें एक नृसिंहदेवके लघु-भ्राता व्याघ्रदेवने अपना श्रीमुख दिखलाया।

कुछ न पूछिये—मेरा हृदय उछलने लगा। रक्त शीतल होने लगा। उस अशक्तिमें भी मैं उठा और उछलकर कोनेमें जा रहा।

'आइये भगवन् !' ब्रह्मचारीजी हँसकर बोले 'आप भी यमुना-जल पीकर हमारे संग उपवास कीजिये !'

उन्हें भय भी नहीं लगता था। बाघने मुख फाड़ा और मैं चीख पड़ा। ब्रह्मचारीने एक बार मेरी ओर देखा। मुझे हाथ-पैर पेटमें किये दीवारमें प्रविष्ट होनेका व्यर्थ प्रयत्न करते देख वे फिर जोरसे हँसे।

'हमारे मित्र आपसे डर रहे हैं, उन्हें कष्ट है: अतः आपका लौट जाना अच्छा है।' गम्भीर होकर उन्होंने व्याघ्रपर दृष्टि डाली। उसके दोनों पैर भीतर आ गये थे और वह मुझे घूरने लगा था।

'उधर नहीं, पीछे !' और तब एक क्षण रुककर ब्रह्मचारीने उस वनराजके मस्तकपर एक चपत जड़ दी।' 'लौटता है या नहीं ?' उन्होंने अपनी खड़ाऊँ उठायी। जैसे वह कोई चूहा हो, जो खड़ाऊँसे ठीक किया जा सके।

आप हँसेंगे, मुझे भी अब हँसी आती है, लेकिन उस समय मेरी दूसरी ही दशा थी। उस खड़ाऊँसे भी आशा जा अटकती थी। 'डूबतेको तिनकेका सहारा' बाघने एक बार एकटक ब्रह्मचारीको एक क्षण देखा और फिर पीछे मुड़ा। उसने मुड़ते ही छलाँग भरी, साथ ही कठोर गर्जना की।

मैं चौंक पड़ा। उस गर्जनाका भय अब भी हृदयको धड़का रहा था। श्वासका वेग बढ़ गया था। कुशल यही थी कि मैं पयस्विनीके तीरपर उसी शिला-पर था। मेरे ऊपर हरश्रृङ्गारके पुष्प पड़े थे।

झटपट उठकर बैठ गया। पुस्तक अब भी शिलापर एक ओर खुली पड़ी थी। मैंने उसे उठाया। सर्व-प्रथम उसी सूत्रपर दृष्टि पड़ी, जिसपर विचार करते-करते मैं सो गया था।

[illegible] वीर्यके अन्तर्गत आ जाते हैं। मुझे यह समझनेकी आवश्यकता रह नहीं गयी थी। ब्रह्मचारी तितिक्षु, धीर, निर्भय, स्वभावप्रसन्न एवं अन्तर्मुख होता है; क्योंकि वह वीर्यशाली होता है। उसे वीर्यकी प्राप्ति होती है।

मेरा हृदय उत्फुल्ल था और श्रद्धासे मेरा मस्तक उसी ग्रन्थपर झुका हुआ।

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गतांकसे आगे]

[३]

रानीके आग्रहपर शूकरीने कहना आरम्भ किया—'मेरे पति बड़े ज्ञानी और संगीतकुशल गन्धर्व थे। इनका नाम रंगविद्याधर था; ये सब शास्त्रोंके जाननेवाले थे।

एक बारकी बात है कि मनोहर मेरुकी एक गुफामें पुलस्त्य मुनि एकाग्र मनसे तपस्या कर रहे थे। उसी समय मेरे पति विद्याधर घूमते हुए वहाँ पहुँच गये और बैठकर संगीतका अभ्यास करने लगे। उनके कण्ठसे निकली संगीतकी स्वर-लहरीमें आस-पासका प्रदेश डूबने लगा। मुनि भी इस ओर आकृष्ट हुए। उनका मन विचलित होने लगा। तब उन्होंने गायकसे कहा—'तुम्हारे दिव्य गीतपर देवता भी मुग्ध हो जाते हैं, किन्तु तुम्हारे गीतके सुस्वर, ताल और लयसे तथा मूर्च्छा उत्पन्न करनेवाले भावसे मेरा मन विचलित होता है; इसलिये मेरा अनुरोध है कि तुम यह स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह चले जाओ।' विद्याधरने उत्तर दिया—'ब्राह्मणदेवता! संगीत आत्मज्ञानके समान है। मैं दूसरे स्थानमें क्यों जाऊँ? अपने गायनसे मैं किसीको कभी दुखी नहीं करता बल्कि सदा लोगोंको सुखी ही करता हूँ। मेरे गीतसे देवता सन्तुष्ट होते हैं; यहाँतक कि भगवान् शिवको भी मैने इससे मुग्ध होते देखा है। गीत सर्व-स्वरमय है और आनन्ददायक। शृंगारादि समस्त रस गीत-में ही प्रतिष्ठित हैं। अधिक क्या, इस गीतसे चारों वेदोंकी शोभा है। फिर भी आप गीतकी निन्दा करते हैं और मुझे भगा रहे हैं; यह तो स्पष्टतः आपका अन्याय है।'

पुलस्त्यने कहा—'भाई! तुम्हारी यह बात तो ठीक है कि गीत बड़ा ही आनन्दप्रद है। तुम मेरा मतलब न समझकर उत्तेजित हो गये। मैं गीतकी निन्दा नहीं करता; मैं भी तुम्हारी तरह उसका प्रशंसक हूँ। किन्तु तुम जानते होगे कि विद्याएँ १४ प्रकारकी हैं। वे चौदहों प्रकारकी विद्याएँ एकनिष्ठ हुए बिना फल-दायिनी नहीं होतीं। जब मन निश्चल हो जाता है, तभी ये प्राणियोंको सिद्धि प्रदान करती हैं। एकनिष्ठासे ही तप और मन्त्र सिद्ध होते हैं। तुम जानते हो, इन्द्रियाँ चञ्चल हैं। ये मनको ध्यानसे हटाकर जबर्दस्ती विषय-भोगोंमें आसक्त कर देती हैं। इसीलिये जहाँ शब्द, रूप या कामिनीका अभाव होता है वहाँ एकान्तमें बैठकर मुनिलोग ध्यान-तप करते हैं। तुम्हारा गाना मनोहर है, सुख देनेवाला है। पर इस समय इसके कारण मेरे मनको एकनिष्ठ और केन्द्रित होनेमें बाधा पड़ती है, इसलिये मैं इसे सुनना नहीं चाहता। इसीलिये अनुरोध करता हूँ कि तुम इस स्थानको छोड़कर दूसरी जगह चले जाओ। अगर तुम न जाओगे तो मुझे यह स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाना पड़ेगा।' विद्याधरने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! जिसने इन्द्रियोंको तथा उनके बल-को जीत लिया है उन्हींको विजयी, योगी, धीर और साधक कहते हैं। जो शब्द सुनकर अथवा रूपका दर्शन कर विचलित नहीं होते वे ही धीर और तपस्वी पद प्राप्त करने योग्य हैं। आप इन्द्रियोंके वशमें हैं, इसीलिये निस्तेज हैं। मेरे गायनका तिरस्कार करनेकी शक्ति स्वर्गमें भी किसीको नहीं है। और देखिये, हीनवीर्य व्यक्ति ही वनका त्याग करते हैं। वनप्रदेश सबके लिये है; वह सबकी चीज है—इसमें क्या देवता, क्या दूसरे जीव, क्या मैं और क्या आप, सबका समान

अधिकार है। इसलिये मैं इस उत्तम वनको छोड़कर क्यों जाऊँ ? आप जायँ या रहें, इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

इस प्रकारके दुराग्रहीसे तर्क करनेमें कोई लाभ न देखकर मुनि विचार करने लगे कि क्या करना चाहिये। अन्तमें वे विद्याधरको क्षमा कर दूसरी जगह चले गये और वहाँ सब इन्द्रियोंको संयत करते हुए काम-क्रोध, लोभ-मोहका त्याग करके योगारूढ़ हो तपस्या करने लगे।

मुनिके चले जानेके पश्चात् एक दिन विद्याधरको उनकी याद आयी। वे सोचने लगे कि मेरे भयसे ही मुनिने यह स्थान छोड़ दिया। अब यहाँ दिखायी नहीं पड़ते। वे कहाँ चले गये, कहाँ रहते हैं और किस जगह क्या करते हैं? अभिमानके कारण विद्याधरका मन प्रमादसे भर गया था और कालकी प्रेरणासे वे अधर्म-पथपर चल रहे थे। उन्होंने उस स्थानका पता लगाना आरम्भ किया जहाँ मुनि निवास करते थे। जब स्थानका ठीक पता चल गया, तब एक दिन वे शूकररूप धारणकर महात्माके आश्रममें गये। उन्होंने देखा कि महातेजस्वी मुनि शान्त और स्थिर मुद्रासे ध्यानमें लीन हैं। कालवश होकर वे मुनिका ध्यान भंग करने लगे; अपना मुँह उनके शरीरसे रगड़ने लगे। फिर भी मुनिने पशु जानकर उनका अपराध क्षमा कर दिया। परन्तु इसका कुछ भी परिणाम न निकला। मुनिकी करुणाका शूकररूपधारी मेरे पतिपर उलटा असर हुआ। वे मुनिके सामने ही मल-मूत्र त्यागकर नाचने-दौड़ने लगे। कभी उछलते, कभी भयानक शब्द करते। फिर भी मुनिने उन्हें पशु जान, अपनी स्वाभाविक करुणासे, इन सब दुष्कृत्योंको क्षमा कर दिया। मेरे पतिपर उनकी दया-क्षमाका फिर भी कोई प्रभाव न पड़ा और उनका प्रमाद बढ़ता ही गया। उस दिन तो वे लौट आये पर थोड़े समय पश्चात् फिर एक दिन मुनिके आश्रममें जाकर उत्पात मचाने लगे! कभी अट्टहास करते, कभी रोते, कभी सुन्दर और मधुर स्वरमें गायन गाते। उनके इन कृत्योंसे मुनिके मनमें शंकाका उदय हुआ और ध्यान करके उन्होंने जान लिया कि यह वराह नहीं है; यह तो वही नीच गन्धर्व है और यहाँसे भी मुझे भगानेके लिये आया है। तब मुनिको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने यह कहकर शाप दिया कि 'अरे पापी! तुमने शूकररूप धारण करके मुझे विचलित किया है, अतः तुम पापमय शूकर योनिको प्राप्त हो।' मेरे पति मुनिके शापसे भीत होकर इन्द्रके पास गये और काँपते तथा डरते हुए उनसे बोले—'मैंने तो आपका ही काम किया है। वे मुनि अपनी तपस्याके कारण आप लोगोंके लिये भयप्रद हो रहे थे। मैंने उन्हें तपके प्रभावसे विचलित और क्षुब्ध किया है। मुनिके शापसे मेरा देव-रूप नष्ट हो गया है; मैंने पशुयोनि प्राप्त की है। अब आप मेरी रक्षा कीजिये।' विद्याधरकी इस बातसे इन्द्र दुःखी हुए। उन्होंने उनके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की और उन्हें लेकर वे मुनिके पास गये। इन्द्रने मुनिसे विनीत होकर प्रार्थना की कि 'आप इस अज्ञान गन्धर्वका अपराध क्षमा कर दीजिये। आप सिद्ध हैं; तप और शान्ति ही आपकी शोभा है। कालवश भ्रमित होकर इसने जो पापाचरण किया है, उसके लिये वह आपकी करुणा और दयाका पात्र है, क्योंकि उसने अज्ञानके नशेमें यह सब किया है; इसलिये जिस प्रकार आपके शापसे इसे मुक्ति मिले, वह उपाय कीजिये।'

इन्द्रकी प्रार्थनापर मुनि सदय हो गये और बोले 'इन्द्र! आगे इक्ष्वाकु नामके एक परम धर्मात्मा राजा जन्म लेंगे। जब उनके हाथसे शिकारमें, इस विद्याधरकी मृत्यु होगी तब यह फिर अपना वास्तविक शरीर प्राप्त करेगा।'

शूकरीके मुँहसे यह कथा सुनकर रानी सुदेवाने उससे फिर पूछा—'कल्याणि ! तुम पशुयोनिमें हो, फिर भी अच्छी संस्कृत भाषा बोल रही हो। तुम्हें इतना ज्ञान कैसे हुआ और तुम्हें अपना तथा पतिका चरित कैसे माळूम हुआ ?' यह सब मुझे बताओ।'

शूकरी बोली—'महादेवी ! मैं तलवारकी धारसे चोट खाकर यहाँ पड़ी हुई हूँ। मूर्च्छाके कारण मेरे ज्ञानका लोप हो गया था। ऐसे समय तुमने अपने पवित्र हाथोंसे पवित्र और शीतल जल मुखमें डाला तथा उसके छींटे दिये। इससे मेरा मोह दूर हो गया है। हे शुभे ! जिस प्रकार सूर्यसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे स्पर्श और अभिषेकसे मेरे पाप नष्ट हो गये हैं। सुन्दरी ! मैंने तुम्हारी कृपासे पूर्वज्ञान प्राप्त किया है। अब मैं दिव्य गति प्राप्त करूँगी, इसका मुझे विश्वास हो गया है। भद्रे ! मैंने पूर्वजन्ममें अनेक पाप किये थे। वह सारी कथा मैं तुम्हें सुनाती हूँ।

कलिङ्ग देशमें श्रीपुर नामका एक नगर था। यह नगर सब प्रकारके वैभवसे पूर्ण था। वहाँ वसुदत्त नामका एक ब्राह्मण रहता था। वसुदत्त धर्मपरायण, वेदका ज्ञाता, ज्ञानवान्, गुणवान् तथा धन-धान्यसम्पन्न था। पुत्र-पौत्रोंसे उसका घर अलङ्कृत था। मैं इसी वसुदत्तकी कन्या थी। मेरे कई भाई थे। मेरे बुद्धिमान् पिताने मेरा नाम 'सुदेवा' रखा था। वह मुझपर बड़ा स्नेह रखते थे। घरमें किसी प्रकारका अभाव न था। भगवान्‌ने मुझे परम रूपवती बनाया था। जो देखता वही कहता कि संसारमें ऐसी रूपवती दूसरी कन्या नहीं देखी गयी। मैं हँसती, खेलती, शृङ्गार करती और अपनेमें मस्त रहा करती। घर-बारके लोग मेरा ब्याह शीघ्र कर देनेका आग्रह पितासे करने लगे, पर उनकी मुझपर ऐसी ममता थी कि मेरे बिछुड़नेकी बातसे उन्हें दुःख होता था। इसलिये वे टालते जा रहे थे। धीरे-धीरे मेरा लड़कपन बीता, जवानी आयी। मेरा भरा-पूरा, नदीकी बाढ़-सा प्रखर यौवन देखकर माता दुखी हुईं। उन्होंने पिताजीसे मेरे रूप-यौवनकी चर्चा करते हुए आग्रह किया कि वह शीघ्र किसी उत्तम, गुणवान् और स्वस्थ ब्राह्मण वरकी खोज कर मेरा विवाह कर दें। पिताजीने उत्तर दिया—'महाभागे ! मैं भी सुदेवाके विवाहके लिये चिन्तित हूँ, पर मेरी स्नेह-कातरता इसमें बाधक हो रही है। मैं अपनी प्यारी कन्याका बिछोह नहीं सहन कर सकता। इसलिये ऐसे वरकी खोजमें हूँ, जो मेरे घर रहे।'

इसके बाद कुछ दिन बीत गये। एक दिनकी बात है कि एक ब्राह्मण युवक भिक्षा माँगने हमारे घर आये। वे अत्यन्त तेजस्वी, वेदस्वाध्यायी, गुणवान्, शीलवान् थे। बातचीतसे माळूम हुआ कि उनके माता-पिताका देहान्त हो चुका है। मेरे पिताने उनसे पूछा—'आप कौन हैं ? कृपा करके अपने नाम, कुल, गोत्र, आचार आदिका परिचय मुझे दीजिये।' उन्होंने उत्तर दिया—'मैंने कौशिक कुलमें जन्म ग्रहण किया है। मैं मातृ-पितृहीन हूँ। मैंने वेद-वेदाङ्गोंका विधिवत् अध्ययन किया है। मेरा नाम शिवशर्मा है। मेरे चार भाई भी हैं, जो वेदका ज्ञान रखते हैं।'

पिता उन युवक ब्राह्मणसे बहुत प्रसन्न हुए। वे तो ऐसे ही वरकी खोजमें थे। शुभ तिथि और लग्नमें पिताने उन्हीं शिवशर्मासे मेरा ब्याह कर दिया। तबसे मैं उनके साथ पिताके घर ही रहने लगी। परन्तु वैभव तथा पिताके लाड़-प्यारके बीच पली होनेके कारण मेरी विचारशक्तिका लोप हो गया था। मुझमें घमंड आ गया था। मैं सदा माता-पिताके ऐश्वर्यके गर्वमें मतवाली रहती। पतिकी परवा न करती; कभी पतिके अनुगमनका, उनकी सेवा-सहायताका भाव मेरे मनमें नहीं आता था। मैं उनसे हार्दिक स्नेहपूर्वक कभी प्रेमालापतक न

करती थी। धीरे-धीरे मैं नीच भावोंके गड्ढेमें डूबती गयी। मैं जहाँ जाती, मनमाना आचरण करती—माता-पिता, भाई, पति किसीका कोई हित मैं न कर सकती थी। मेरे पति बड़े ही शान्तस्वभावके और बुद्धिमान् पुरुष थे। वे सब देख रहे थे पर सास-ससुरके स्नेह-वश मुझे कुछ न कहते, सदा क्षमा कर दिया करते। मैं दिन-दिन उद्दण्ड होती गयी; अधर्माचरण करने लगी। मेरे पतिके साधुस्वभाव और मेरी चञ्चलताको देख-देखकर मेरे माता-पिता भी दुःखी रहने लगे। मेरे पति बहुत दिनोंतक आशा करते रहे कि मुझे सुबुद्धि आयेगी। पर मैं दिन-दिन गिरती ही गयी। पति मुझसे कुछ न कहते पर मन ही-मन बड़े दुखी थे। जबतक उनसे चुप रहकर सहते बना वह सहते रहे। अन्तमें घर, यहाँतक कि वह देश भी छोड़कर चले गये।

इन सब बातोंके कारण पिता बहुत दुखी हुए। मेरे यौवन और रूपकी चिन्तासे उनका शरीर गलने लगा। उनका स्वस्थ शरीर खोखला हो गया। देखनेपर वे वर्षोंके रोगी जान पड़ते थे। मेरी माताने उनकी यह अवस्था देखकर उनसे कहा—'नाथ! आप क्यों इतने चिन्तित हैं। हमारी ही कन्याके दोषसे यह सब हुआ है। वह निष्ठुर और पापाचारिणी है। इसीने देवता-समान पतिको छोड़ दिया था। हमारे दामाद बड़े ही सज्जन थे। वे सम्पूर्ण कुटुम्बियोंके प्रति सद्भाव रखते थे। सुदेवाने कभी उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। सर्वदा ऐसा आचरण करती रही जिसमें पतिके प्रति घोर अपमान और तिरस्कारका भाव था। इतनेपर भी शिवशर्माने कभी उसे कुछ न कहा। वह कभी इसकी बुराई न करते थे। मैं क्या जानती थी कि यह कन्या ही कुलनाशिनी होगी। पर एक बात कहूँगी। आपने ही इसे मोह और लाड़-प्यारमें बिगाड़ा। नीतिशास्त्रके नियमोंपर आपने ध्यान नहीं दिया। आप जानते हैं, पाँच वर्षकी आयुतक ही सन्तानका लालन-पालन और दुलार किया जाता है। उसके बाद उत्तम आचार-विचार, भोजन, वस्त्र, स्नान-ध्यान और शिक्षा-द्वारा उसको विकसित करना चाहिये। गुण तथा सद्विद्यासे सन्तानको सुशोभित करना चाहिये। सन्तानकी गुण-शिक्षा और विद्याके विषयमें माता-पिताको मोह न करना चाहिये। प्रतिदिन उसे आवश्यक शिक्षा देनी चाहिये और जरूरत पड़नेपर डाँट-डपटसे भी काम लेना चाहिये। यह सब इसीलिये किया जाता है कि भूलसे या छलसे भी सन्तान पापके समीप न जाय, नित्य सुविद्या तथा सद्गुणोंका अभ्यास करे। इसी प्रकार माताको कन्याकी, ससुरको पुत्रवधूकी और गुरुको शिष्यकी सम्हाल करनी चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो उनकी उत्तम शिक्षा नहीं हो सकती। इसी तरह पतिको पत्नीकी, राजाको मन्त्रीकी और परिचालकको हाथी-घोड़ेकी प्रतिदिन सम्हाल करनी चाहिये। आपने इन बातोंका विचार नहीं किया—जरूरतसे ज्यादा लाड़-प्यार और दुलारसे लड़कीको बिगाड़ दिया—वह चरित्रहीना हो गयी। दामादको अपने आश्रयमें रखकर आपने कन्याको अभिमानिनी और निरंकुश कर दिया। यौवनकालमें कन्याको पितृगृह (मायके) में अधिक दिन नहीं रखना चाहिये। कन्या जिसको सौंप दी जाती है, उसीके घर शोभा पाती है। पतिके घर रहनेपर कन्या उसे अपना घर समझती है और पतिके प्रति अनुरक्त होती है। उसकी सेवा करती है। इससे कुलकी कीर्ति बढ़ती है और पिता सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। कन्याको कभी दामाद (जामाता) के साथ दीर्घकालतक घरमें नहीं रखना चाहिये।

[४]

शूकरी आगे कहती गयी—'मेरी माताने पिताजीको

तरह-तरहसे समझाया। इस सम्बन्धमें उसने द्वापर-युगके यदुवंशी राजा उग्रसेनकी कथा भी सुनायी, जिसमें स्त्रीके मायकेमें रहनेका बुरा परिणाम बताया गया था।'

रानी सुदेवा बोलीं—'उग्रसेनकी वह कथा क्या है और तुम्हारी माताने तुम्हारे पिताको क्या कहा था? तुमको कष्ट न हो तो मैं सुनना चाहती हूँ।'

शूकरी बोली—'महादेवी! तुमने मेरा कल्याण किया है। तुम्हारे ही कारण मेरे सब पाप धुल गये हैं। इसलिये मैं अवश्य तुम्हें सारी कथा सुनाऊँगी। सुनो।'

मथुरा नगरीमें यदुवंशी उग्रसेन नामक एक श्रेष्ठ राजा राज्य करते थे। वे बड़े प्रतापी, शूर, धर्मके ज्ञाता, दाता और गुणवान् नरेश थे। वह धर्मानुसार राज्य करने और प्रजाका पालन करते थे। उपयुक्त समयपर राजा उग्रसेनने राजकुमारी पद्मावतीका पाणि-ग्रहण किया। पद्मावती विदर्भनरेश सत्यकेतुकी कन्या थी। वह परम सुन्दरी थी। उसके रूपकी कोई तुलना न थी। रूपके समान गुणमें भी वह एक ही थी। उसमें स्त्रियोचित सब गुण थे। वह साक्षात् लक्ष्मीके समान थी। महाराज उग्रसेन उसे प्राणोंसे अधिक प्यार करते थे। सदा उसे अपने साथ रखते थे। दोनोंमें अत्यधिक प्रेम था।

इस तरह ससुरालमें पद्मावतीके दिन सुखपूर्वक बीत रहे थे। पर माता-पिता अपनी लाड़ली बेटीकी सदा याद करते और उसे देखनेको तरसते रहते थे। जब उनकी उत्कण्ठा बहुत बढ़ गयी तो राजा सत्यकेतुने बेटीको बुलानेके लिये उग्रसेनके पास मथुरा अपना एक विश्वस्त दूत पत्रके साथ रवाना किया। समयपर दूत मथुरा पहुँचा। उसने बड़ी चतुराईसे अपना सन्देश सुनाया और आनेका कारण बताया। महाराज उग्रसेनने सास-ससुरके सन्तोषके लिये पद्मावतीको दूतके साथ, उसके मायके भेज दिया।

जैसा कि स्वाभाविक है, पद्मावतीको मायके जानेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने माता-पिताके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया तथा सब कुटुम्बियों और सखी-सहेलियोंसे बड़े प्रेमके साथ मिली। पद्मावतीके आनेसे सब लोग आनन्दसे भर गये।

पद्मावती सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक वहाँ रहने लगी। लड़कपनमें जिस प्रकार वह खेलती, कूदती, वन-विहार करती उसी तरह अब भी आनन्दमें मग्न रहने लगी। सखियोंके साथ नित्य कहीं-न-कहींका कार्यक्रम बनता। धीरे-धीरे उसे ससुरालकी याद भूलने लगी और उसे अनुभव होने लगा कि यहाँ जो आराम और स्वतन्त्रता है, वहाँ नहीं है। यहाँ जीवन निर्द्वन्द्व है; कोई जिम्मेदारी नहीं है; कहीं कोई रुकावट या प्रतिबन्ध नहीं। सरिताकी तरह निरन्तर बहनेवाला यह जीवन है। कैसा आनन्द है यहाँ।

अब उसके मनमें यह भाव आने लगा कि क्यों न मैं सदा इसी तरह यहीं रहूँ। पतिका ध्यान शिथिल होने लगा और संसारकी अन्य वस्तुओंमें अनुरक्ति बढ़ने लगी।

एक दिन सहेलियोंके साथ पद्मावती एक सुन्दर पहाड़पर सैरके लिये गयी। पहाड़से लगा हुआ, उसकी तराईमें एक परम मनोहर, रमणीय वन था। इसमें तरह-तरहके फल लगे हुए थे; सुदर्शन तथा सुगन्धित पुष्पोंसे समस्त अरण्य सुशोभित और सुरभित था। वनके बीच अनेक मनोरम तालाब थे, जिनमें स्वच्छ जल लहरा रहा था; नाना वर्णके कमल खिले हुए थे। हंस आदि पक्षी क्रीड़ा कर रहे थे। पक्षियोंकी चहचहाटसे वन जीवित-सा लगता था। ऐसे मनोहर स्थानको देखकर पद्मावती सब कुछ भूल गयी। उसका

हृदय आनन्दसे भर गया। उसके मनमें जलविहारकी कामना उत्पन्न हुई। वह सहेलियोंके साथ तालाबमें उतरकर जल-क्रीडा करने लगी। कभी सब तैरतीं, कभी डुबकी लगातीं, कभी एक दूसरेपर छींटे उछालतीं—कभी हँसतीं। यौवन-सुलभ चपलता और अल्हड़ता मुक्त होकर नाच रही थी।

संयोगसे उस समय कुबेरका अनुचर दैत्य गोभिल अपने विमानपर सुखपूर्वक बैठा आकाशमार्गसे कहीं जा रहा था। उसका विमान उसी तालाबके पाससे निकला। गोभिलकी दृष्टि पद्मावतीपर पड़ी। पद्मावती सचमुच अद्वितीय रूपवती थी। फिर चञ्चलता और मनोहर जल-क्रीडाके कारण उसका रूप और भी लुभावना हो रहा था। गोभिलके मनमें उस परम सुन्दरी पद्मावतीको देखते ही विकार उत्पन्न हो गया। अपने तपके बलपर उसे यह जानते देर न लगी कि वह कौन है। यह जानकर कि वह विदर्भकी राजकुमारी और मथुराके महाराज उग्रसेनकी पत्नी है, पहले उसने सोचा कि यह मेरे लिये दुष्प्राप्य है। पर उसकी आँखें पद्मावतीपरसे हटती ही न थीं। उसके मनमें नाना प्रकारके भाव-कुभाव आने लगे। वह सोचने लगा कि इसका पति उग्रसेन कैसा मूर्ख है जो ऐसी रूपवती यौवनाको अपने पाससे दूर मायकेमें भेज दिया है और स्वयं इसके वियोगमें बुरी तरह दिन बिता रहा है।

ज्यों-ज्यों वह सोचता, उसकी कुवासनाएँ प्रबल होती जातीं। अन्तमें वह कामातुर हो गया। मनमें कहने लगा कि यदि आज यह मुझे न मिली तो मेरे प्राण निकल जायँगे। इसलिये किसी-न-किसी प्रकार इसको अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

उसने अपना विमान धीरेसे पहाड़के नीचे एक झुरमुटके पीछे उतारा। और अपनी मायासे उग्रसेनका रूप धारण किया। महाराज उग्रसेन जैसे थे, ठीक वैसा ही बन गया; एक-एक अंग, एक-एक बात मिलती थी। वही स्वर, वही भाषा, वही वस्त्र, वही वेष, वही रूप-रंग, वही ढाँचा और वही उम्र। महाराज उग्रसेन-की तरह ही वह सुन्दर आभूषणों और दिव्य गन्धोंसे सुशोभित हो गया। पूरी तैयारी करके पर्वतके निचले भागमें, एक अशोक वृक्षकी छायामें शिलाखण्डपर बैठ गया और वीणा हाथमें लेकर बजाने लगा। फिर उसने सुन्दर स्वर-लयसे युक्त गीत गाना शुरू कर दिया। उसके गाने-बजानेमें इतना आकर्षण था कि मानो समस्त वनस्थली उसीके स्वरमें तन्मय हो रही थी। पद्मावती भी मुग्ध होकर उस गीतको सुनने लगी। उसे ऐसा मालूम होने लगा मानो कोई उसे अपनी तरफ खींच रहा है। उसका मन अवश होने लगा। तब वह अपनी सखियोंके साथ उधर गयी। थोड़ी दूर-से देखा कि अशोककी छायामें विमल शिलापर कोई बैठा है। उसका शरीर दिव्य गन्धोंसे पूर्ण है, वह सुन्दर पुष्पोंकी माला धारण किये हुए है। जब साफ-साफ उसका मुँह दिखायी दिया तो पद्मावती आश्चर्यसे ठक रह गयी। 'अरे! मेरे प्राणनाथ महाराज मथुराधि-पति अपने राज्यसे कब यहाँपर आ गये?' वह सोच ही रही थी कि दुरात्मा गोभिलने पुकारा—'प्रिये! इधर आओ।' पद्मावती इससे और भी चकित और शङ्कित होकर विचारने लगी—'मेरे पति यहाँ कैसे आये?' ज्यों-ज्यों सोचती, त्यों-त्यों उसकी लज्जा और ग्लानि बढ़ती जाती। वह सोचने लगी—मैं दुराचारिणी हूँ; मैं निर्लज्ज और निःशङ्क होकर फिर रही हूँ, इससे अवश्य ही मेरे पति क्रोधित होंगे। इसी समय दैत्यने व्याकुल वाणीमें फिर पुकारा—'प्रिये! जल्द आओ। तुम्हारे बिना मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। तुम्हारे प्रेममें मैं पागल हो रहा हूँ। तुम्हारा वियोग अधिक दिनोंतक मुझसे सहा नहीं गया, इसीसे

मैं यहाँ आ गया।' पद्मावतीने उसे पति समझकर सङ्कोच और लज्जाभरी आँखोंसे उसे देखा। तब वह उग्रसेनरूपधारी दैत्य पद्मावतीको पकड़कर एकान्तकी ओर ले गया और इच्छानुसार उसका उपभोग किया। पद्मावती भी मोहाविष्ट हो गयी थी क्योंकि मायकेमें जाकर इतने दिनोंसे अल्हड़ जीवन बिता रही थी। पर इस घटनाके बाद और पतिरूपधारी उस दैत्यका मर्यादाहीन व्यवहार देखकर उसे कुछ शङ्का हो गयी। शङ्का मनमें आते ही उसे बड़ा दुःख और क्रोध हुआ। वह क्रुद्ध होकर बोली 'रे पापी! तू कौन है?' तूने मेरे पतिका नकली वेष बनाकर मेरे पवित्र पातिव्रत-धर्मको नष्ट कर दिया, मेरा जन्म कलुषित कर दिया।' फिर पद्मावती रोती हुई बोली—'मैं तुझे शाप दूँगी। अब तू मेरा प्रभाव देख।'

गोभिल बोला—'तुम मुझे शाप क्यों देना चाहती हो? मैंने क्या अपराध किया है, जो तुम शाप देनेको तैयार हो? हे शुभे! मैं कुबेरका अनुचर हूँ; मेरा नाम गोभिल है; मैं दैत्य हूँ, अतः स्वभावतः दैत्योंका आचार ही मेरा आचार है। उत्तम विद्याओंका ज्ञान मुझे है। मैं वेद-शास्त्रका जानकार और सब कलाओंमें निपुण हूँ। दैत्योंका आचार होनेके कारण परायी स्त्री और पराये धनका बलपूर्वक उपभोग करना ही मेरा स्वभाव है। हम दैत्य हैं; हमलोग प्रतिदिन ब्राह्मणोंका छिद्रान्वेषण करते हैं। विघ्न डालकर उनकी तपस्या भंग करना हमारा काम है। हे देवि! छिद्र मिल जानेपर हम ब्राह्मणोंका भी नाश कर डालते हैं। हम यज्ञका नाश करते हैं। हाँ सुब्राह्मण, विष्णु और पतिपरायणा पतिव्रता नारीके पास हमलोग नहीं जाते। हे देवि! सुब्राह्मण, भगवान् विष्णु और पतिव्रता नारीका तेज सहन करनेमें दैत्य असमर्थ हैं। इन तीनोंके भयसे दानव और राक्षस दूर भाग जाते हैं। मैं पृथ्वीतलपर अपने दानवधर्मका आचरण करते हुए विचरण करता हूँ। तुम क्यों मुझे शाप देनेके लिये तैयार हुई हो? मेरा दोष क्या है, इसका विचार करो।'

पद्मावती दैत्यकी बातोंसे और भी क्रुद्ध हुई और बोली—'अरे दुष्ट! मेरी पवित्र देह और धर्मको तूने नष्ट कर दिया। मैं पतिव्रता, साध्वी, पतिकामा तपस्विनी हूँ; अपने धर्मपर आरूढ़ रहती हूँ। पाप-मायासे धोखा देकर तूने मुझे नष्ट किया है। इसलिये मैं तुझे अवश्य ही शापकी अग्निमें जलाऊँगी।'

गोभिल बोला—'राजकुमारी! मेरी बात सुनो। जो प्रातः-सायं होम करता है, अग्निगृहका परित्याग नहीं करता, वह अग्निहोत्री है। हे वरानने! अब भृत्य अथवा सेवकधर्म कहता हूँ। तन-मन-वचनसे विशुद्ध होकर नित्य जो व्यक्ति आज्ञापालन करता है तथा स्वामीके आगे-पीछे रहता है, वह पुण्यवान् भृत्य है। जो गुणवान् पुत्र तन-मन-कर्मसे विशेषरूपसे माता-पिताका पालन करता है, उसे प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। अब उत्तम पातिव्रत-धर्म कहता हूँ। वचन, मन और कर्मसे जो नारी प्रतिदिन पतिकी सेवा करती है, पतिके प्रसन्न होनेपर जो नारी प्रसन्न और पतिके दुखी होनेपर जो नारी दुखी होती है, पतिके क्रोध करनेपर भी जो उसे छोड़कर नहीं जाती, जो नारी सब कामोंमें पतिके आगे रहती है, वही स्त्री पतिव्रता कही जाती है। पिता पतित हो, उनमें अनेक दोष हों, कोढ़ी या क्रोधी हों; पर पुत्रका कर्त्तव्य है कि उन्हें कभी न छोड़े। इस प्रकार पिता-माताकी सेवा करनेवाला पुत्र विष्णु-धामको प्राप्त होता है। उपर्युक्त रूपसे सेवा करनेवाले सेवककी भी वैसी ही गति होती है, तथा पतिसेवा करनेवाली नारी भी पतिलोकमें जाती है। अग्निको न छोड़नेवाला ब्राह्मण ब्रह्मलोकमें जाता है। नारी अगर संसारमें कल्याणकी इच्छा रखती हो तो किसी भी अवस्थामें उसे पतिका परित्याग नहीं करना चाहिये। पतिकी अनुपस्थितिमें जो नारी लोलुपतावश शरीरको

गहने-कपड़ोंसे सजाती है—भोग और शृंगारका सेवन करती है, लोग उसे बुरा कहते हैं।

हे शुभे ! मैं सब धर्मोंको जानता हूँ। जो मनुष्य अपने धर्ममार्गको छोड़कर चलते हैं, उनका शासन करनेके लिये ही दानवोंकी सृष्टि हुई है। जितने नराधम अवैध धर्मका आचरण करते हैं यानी अपने निश्चित-धर्मके विपरीत चलते हैं, हमलोग कठोर दण्डके द्वारा उनका शासन करते हैं। तुमने भी गलत मार्गपर पाँव रक्खा। गृहस्थ-धर्मका परित्याग कर यहाँ तुम किसलिये आयी ? तुम मुँहसे तो अपनेको पतिव्रता कहती हो किन्तु कर्ममें, आचरणमें तुम्हारा पातिव्रत कहीं दिखायी नहीं देता। तुम पतिको छोड़कर किसलिये यहाँ आयी थी ? तुम शृंगार करके इस एकान्त स्थानमें क्यों आयी ? किस मतलबसे, किसको दिखानेके लिये तुमने ऐसा किया था ? तुम प्रमत्त और निःशंक होकर पहाड़ और वनमें घूमती हो। मैंने दण्डके द्वारा तुम्हारे पापका फल प्रदान किया है। तुम दुष्ट और असत्चारिणी हो—पतिको छोड़कर यहाँपर आयी हो। और बन-ठन-कर मनमाने आमोद-प्रमोद कर रही हो। मुझे दिखाओ, कहाँ तुम्हारा पातिव्रत है ? तुम मेरे सामने क्या बोलती हो ? तुम्हारे अंदर तपका प्रभाव कहाँ है ? तुम्हारे अंदर तेज कहाँ है ? यदि है तो आज मुझे अपना बल-वीर्य-पराक्रम दिखाओ।

पद्मावती बोली—'अरे अधम असुर ! सुन। पतिके घरसे मेरे पिता स्नेहवश मुझे यहाँ ले आये हैं। मैं पतिकी आज्ञासे यहाँ आयी हूँ। इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं काम, लोभ, मोह, मात्सर्यके वशीभूत हो पतिको छोड़कर तो आयी नहीं हूँ। यहाँ भी मैं पतिभावको धारण करती हुई रह रही हूँ। तूने छलसे मेरे पतिका रूप धारणकर मुझे ठगा है। मैं मथुरा-नरेश जानकर ही तेरे सामने आयी थी। यदि मैं जानती कि तू मायावी है तो एक ही हुंकारमें तुझे जलाकर राख कर देती।'

गोभिल बोला—'अंधोंको दिखायी नहीं पड़ता। तुम धर्मनेत्रहीन हो, फिर कैसे मुझे पहचानती ? पिताके घर तुम पतिका ध्यान छोड़कर ध्यानमुक्त हो गयी थी। इसके कारण तुम्हारे ज्ञानकी आँखें बंद हो गयी थीं। तब तुम मुझे कैसे पहचानती ? कन्या माता, पिता, भाई या स्वजन, बान्धव किसकी है ?' यह कहकर दानवाधम गोभिल अट्टहास करता हुआ बोला—'अरी पुंश्चली ! तुमसे मुझे कोई भय नहीं है। तुम्हारे शापसे मेरा क्या होगा ? तुम व्यर्थ ही काँप रही हो। व्यर्थ बातें कर रही हो, मेरे घर रहकर सब प्रकारके मनमाने भोगोंका उपभोग करो।'

पद्मावतीने कहा—'दूर हो पापी ! तू घृणितोंकी तरह क्या बक रहा है ? मैं सतीभावसे रहनेवाली पतिव्रता हूँ, यदि मुझसे ऐसी बात करेगा तो मैं तुझे भस्म कर डालूँगी।' यह कहकर पद्मावती बड़ी दुःखी होकर जमीनपर बैठ गयी। आत्मग्लानि और पश्चात्तापसे उसका हृदय भर गया और वह फूट-फूटकर रोने लगी। गोभिलने उससे कहा—'तुम्हारे उदरमें मेरा जो वीर्य है, उससे तुम्हें संसारको त्रास देनेवाला एक पुत्र उत्पन्न होगा।' यह कहकर वह चला गया।

पद्मावतीके रोनेसे जंगल काँपने लगा। तब सब सखियाँ, जो उसे मायावी पतिके निकट समझकर दूर चली गयी थीं, दौड़कर आ पहुँचीं। उन्होंने रोने और दुःख करनेका कारण पूछा। पद्मावतीने अपने छले जानेकी सम्पूर्ण घटना उनको बतला दी। सखियाँ बड़ी चिन्तित हुईं। वे बड़ी कठिनाईसे उसे उसके पिताके घर ले गयीं। बड़े संकोच और ग्लानिके साथ वह घरके अंदर गयी। सखियोंने सारी घटना पद्मावतीकी माताको बतायी। माता घबड़ायी हुई अपने

पतिके पास गयी और उनसे सारी घटना बतायी। राजा सत्यकेतु उसे सुनकर बड़े दुखी हुए। अब उन्होंने सोचा कि कन्याको बिना बात बढ़ाये चुपचाप मथुरा भेज देना चाहिये। उन्होंने सब प्रबन्ध कर कन्याको मथुरा भेज दिया। उसका दोष छिपा लिया।

धर्मात्मा उग्रसेन प्यारी पत्नी पद्मावतीको पुनः घर लौटे देख बड़े प्रसन्न हुए। फिर दिन उसी तरह बीतने लगे। क्रमशः सब लोकोंको भय देनेवाला दारुण गर्भ बढ़ने लगा। पद्मावतीको तो उस गर्भका रहस्य मालूम ही था, इसलिये वह खिन्न रहने लगी। रात-दिन उसीके विषयमें चिन्ता करती रहती। उसने सोचा—ऐसे लोकनाशक दुष्ट पुत्रको जननेसे क्या लाभ ? उससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? इसलिये इसे नष्ट कर देना चाहिये। उसने इधर-उधरसे पूछकर गर्भपात करनेवाली ओषधियोंका संग्रह किया। गर्भपातके अनेक उपाय किये, किन्तु कुछ फल न निकला। सब लोकोंको भय देनेवाला दारुण गर्भ बढ़ता ही गया। एक दिन उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो गर्भस्थ शिशु उसे सम्बोधन कर कह रहा है—'माता! प्रतिदिन ओषधिका सेवन कर क्यों कष्ट उठाती हो ? जीवकी आयु पुण्यसे बढ़ती और पापसे नष्ट होती है। जीव अपने कर्मविपाकसे जीता और मरता है। कोई गर्भधारण करते, कोई कच्चे गर्भमें, कोई पैदा होते और कोई युवा होकर मृत्युको प्राप्त होता है। बाल, वृद्ध, युवक सब कर्मविपाकके अनुसार जीते-मरते हैं। ओषधि, देवता, मन्त्र—ये सब निमित्तमात्र हैं। मैं कौन हूँ, यह तुम्हें मालूम नहीं। तुमने महाबलवान् कालनेमिका नाम सुना होगा। मैं वही कालनेमि हूँ। दानवोंमें महाबलवान् और त्रैलोक्यको भयभीत करनेवाला हूँ। घोर देवासुरसंग्राममें, प्राचीन कालमें, विष्णुने मुझे मारा था। मैं उसी वैरका बदला लेनेके लिये तुम्हारे उदरमें आया हूँ।'

गर्भ बराबर बढ़ता रहा। समयपर पद्मावतीके पेटसे महाबलवान् कंस पैदा हुआ, जिससे संसार भयभीत हो गया था और जिसे भगवान् श्रीकृष्णने मारकर पुनः शान्तिकी स्थापना की थी। हे कान्त! मैंने सुना है कि इस प्रकारकी घटनाएँ भविष्यमें भी घटेंगी। कन्याको पिताके घर स्वतन्त्रतापूर्वक रहनेके लिये नहीं छोड़ना चाहिये। तुम भी इस दुष्टा कन्याका त्याग कर दो अन्यथा महादुःख, महापाप होगा।

शूकरी कहती गयी—मेरी माताकी बात मानकर पिताने मेरा त्याग करनेका निश्चय कर लिया और मुझे बुलाकर कहा कि 'बेटी! तुम्हें सब प्रकारके कपड़े, लत्ते, गहने मैंने दिये हैं। तुम्हारी ही अनीतिसे तुम्हारे पति शिवशर्मा चले गये हैं। अब तुम भी जाओ और जहाँ तुम्हारे पति हों, उनको खोजकर उनके साथ रहो। अथवा तुम्हारी जहाँ इच्छा हो तहाँ जाओ।' मैं इस प्रकार अपमानित होकर चल पड़ी। पर मैं कहीं भी रह न सकी, न सुख प्राप्त कर सकी। 'यही पुंश्चली आयी है' कहकर सब लोग मेरा तिरस्कार करने लगे। मैं कुलमानसे रहित होकर देश-विदेश घूमने लगी। घूमते-घूमते एक समय गुर्जर देशके सौराष्ट्र प्रान्तके वनस्थल नामक नगरमें एक विशाल शिवमन्दिरके समीप पहुँची। मैं भूखसे छटपटा रही थी। भिक्षा-पात्र लेकर द्वार-द्वार घूमने लगी, पर जहाँ जाती वहाँ लोग मुझे दुत्कार देते। आन्तरिक दुःख और भूखकी पीड़ासे व्यथित, माँगते-माँगते मैं एक बड़े घरके सामने पहुँची। वह घर बड़ा सुन्दर था। उसमें एक ओर वेदशाला थी और वेदध्वनि हो रही थी। नौकर-चाकर भी इधर-उधर आ-जा रहे थे। मैंने उस घरके द्वारपर जाकर भिक्षा माँगी। गृहस्वामीने अपनी सद्गुणी पत्नी मंगलासे कहा—'मंगले! एक

दुर्बल बाला भिक्षाके लिये द्वारपर खड़ी है। उसे बुलाकर भोजन करा दो।' गृहिणी आकर मुझे अंदर लिवा ले गयी और बड़े आदरसे मुझे भोजन कराया। जब मैं भोजन कर चुकी तब गृहस्वामीने मुझसे पूछा—'तुम कौन हो, किसकी स्त्री हो, यहाँ कैसे आयी हो? किस कारण तुम सर्वत्र घूमती-फिरती हो? मुझे बताओ।' मैंने देखकर और कण्ठस्वरसे उन्हें पहचान लिया। वह मेरे पति धर्मात्मा शिवशर्मा थे। मैंने लज्जासे सिर झुका लिया और कनखियोंसे पतिकी ओर देखा। वे भी मुझे पहचान गये। मंगलाने स्वामीसे पूछा—'स्वामिन्! यह बाला कौन है, जो आपको देखकर लज्जा कर रही है। कृपया बताइये।'

शिवशर्माने कहा—'मंगले! यदि जानना चाहती हो तो सुनो। यह भिखारिणी ब्राह्मण वसुदत्तकी कन्या है। इसका नाम सुदेवा है। यही सुदेवा मेरी प्रिय पत्नी थी। शुभे! मेरे वियोगसे दुखी होकर मेरी खोजमें यह यहाँ आयी है। अब तुम इसका परिचय पा गयी, इसलिये उत्तम रूपसे इसका सत्कार करो।'

पतिव्रता मंगला पतिकी बातसे बड़ी प्रसन्न हुई। उसने ले जाकर मुझे स्नान कराया, उत्तम वस्त्र पहनाये तथा नाना प्रकारके आभूषणोंसे अलंकृत किया। देवि! पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होनेपर मुझे अपने पूर्वकृत्योंपर भयंकर पश्चात्ताप होने लगा। पतिव्रता मंगलाका सम्मान देखकर मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मेरे प्राणोंको ऐसी चोट लगी कि इसी दुःख और चिन्तामें मैं घुलने लगी। सोचती—'हाय! ऐसे धर्मात्मा पतिको पाकर भी मैं सुखी न हुई। मैंने उनका निरन्तर तिरस्कार किया। कभी उनसे सीधे मुँह नहीं बोली, कभी उनकी सेवा नहीं की। अब मैं किस तरह इनसे सम्भाषण करूँगी?' मेरा हृदय दारुण व्यथासे जलने लगा और इसी दुःखमें एक दिन मेरे प्राण निकल गये।

इसके बाद मेरी जीवात्मा अनेक नारकीय यन्त्रणाओंके बीचसे गुजरती रही तथा अनेक नीची योनियोंमें मुझे जन्म लेना पड़ा। अब शूकरीरूपमें पृथ्वीपर जन्मी हूँ। देवि! तुम्हारे हाथमें सब तीर्थ हैं। तुम्हारे प्रसादसे मेरे पाप नष्ट हो गये हैं और तुम्हारे ही पुण्यके तेजसे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं नारकीय यन्त्रणामें पड़ी हुई हूँ। मेरा उद्धार करो।

रानीने कहा—'भद्रे! मैंने क्या पुण्य सञ्चय किया है कि मैं तुम्हारा उद्धार करूँगी!' शूकरी बोली—'ये महाराज इक्ष्वाकु साक्षात् विष्णुस्वरूप हैं और तुम साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा हो। तुम पतिव्रता, पतिपरायणा, भाग्यशालिनी सती नारी हो, अतः तुम सदा सर्वतीर्थमयी हो। तुम मेरे कल्याणके लिये अपना एक दिनका पुण्य मुझे प्रदान करो। मेरे लिये इस समय तुम्हीं माता हो, तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं गुरु हो। मैं पापिनी, ज्ञानहीना नारी हूँ। हे शुभे! तुम मेरा उद्धार करो।'

यह सुनकर रानीने अपने पति महाराज इक्ष्वाकुकी ओर देखा। महाराजने कहा—'इस दुःखिनीको पापयोनि प्राप्त हुई है। हे शुभे! तुम अपने गुण और आशीर्वादसे इसका उद्धार करो। तुम्हारा मंगल होगा।'

पतिकी आज्ञा पाकर रानीने शूकरीसे कहा—'अच्छा! मैं तुम्हें अपना एक वर्षका पुण्य प्रदान करती हूँ।'

रानीके यह कहते ही शूकरीने पुनः सुन्दर मानवी देह प्राप्त की और दिव्य विमानपर सवार होकर स्वर्गलोकको चली गयी। (क्रमशः)

भूलना सीखो

अमेरिकाके एक प्रमुख डाक्टर 'मेडिकल टॉक' (Medical Talk) नामक पत्रमें लिखते हैं कि वर्षोंके अनुभवके बाद मैं इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि दुःख दूर करनेके लिये 'भूल जाओ' से बढ़कर कोई दवा है ही नहीं। अपने लेखमें वे लिखते हैं—

यदि तुम शरीरसे, मनसे और आचरणसे स्वस्थ होना चाहते हो तो अस्वस्थताकी सारी बातें भूल जाओ।

रोज-रोज जिंदगीमें छोटी-मोटी चिन्ताओंको लेकर झींकते मत रहो, उन्हें भूल जाओ। उन्हें पोसो मत, अपने दिलके अंदर उन्हें पाल मत रक्खो—उन्हें अंदरसे निकाल फेंको और भूल जाओ। उन्हें भुला दो।

माना कि किसी 'अपने' ने तुम्हें चोट पहुँचायी है, तुम्हारा दिल दुखाया है। सम्भव है जान-बूझकर उसने ऐसा नहीं किया है, और मान लो कि जान-बूझकर ही उसने ऐसा कर डाला है तो क्या तुम उसे लेकर सूत कातते रहोगे? इससे तुम्हारे दिलका दर्द कुछ हल्का होगा क्या? अरे भाई, भुला दो, भूल जाओ; उसे लेकर चिन्ताओंका जाल मत बुनने लगो। भूल जाओ, उधरसे चित्त हटा लो, आँखें फेर लो, मन मोड़ लो।

दूसरोंके प्रति तुम्हारे मनमें घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, दुर्भाव आदिके जो भाव हैं उनमें भीतर-ही-भीतर मवाद भर रहा है और यह तुम्हारे ही शरीर-मन-प्राणमें जहर फैला रहा है। क्यों न तुम इन तमाम बातोंको अपने दिलसे निकाल फेंको, मनसे बुहार फेंको, हृदयसे बहा डालो और तुम देखोगे कि तुम्हारे भीतर ऐसी पवित्रता, ऐसी सफाई आयगी कि तुम्हारा शरीर और मन पूर्णतः स्वस्थ और निर्मल हो जायगा····तुम उन्हें पोसकर अपने ही हाथों अपनी हत्या कर रहे हो—क्या तुम यह नहीं जानते? इसीलिये तो कहता हूँ—भूल जाओ, भुला दो।

और बड़े-बड़े संकट, विपत्ति, दुःखके समय क्या करें? यदि हमारे ऊपर दुःखोंका पहाड़ टूट पड़ा हो, विपत्तिकी बिजली गिर पड़ी हो, किसीने हमारे सत्यानाशकी तदवीरें सोच ली हों और कोई हमारा परम प्रिय व्यक्ति हमें तड़पता हुआ छोड़कर मृत्युके मुखमें समा गया हो—ऐसे अवसरोंपर जब हमारा घाव गहरा और मर्मान्तक है, हम क्या करें? क्या उन्हें भी भूल जायँ, भुला डालें? हाँ, हाँ उन्हें भी, उन्हें भी भूल जाओ--धीरे-धीरे ही सही, लेकिन भूल जाओ उन्हें भी। इसीमें तुम्हारी भलाई है। भविष्यमें इससे तुम अधिकाधिक सुख पाओगे, शान्ति पाओगे।

दुःखकी, चिन्ताकी, बीमारीकी बातें न करो, न सुनो। स्वास्थ्यकी, आनन्दकी, प्रेमकी, शान्तिकी ही बातें करो और इन्हें ही सुनो। देखोगे कि तुम स्वास्थ्य लाभ करोगे, आनन्द लाभ करोगे, प्रेम पाओगे, शान्ति पाओगे।

और मैं अपने अनुभवसे कह रहा हूँ, सच मानो कि दुःखोंका भार उतार डालना कतई मुश्किल नहीं है, बड़ा ही आसान है। शुरू-शुरूमें आदत डालनेमें कुछ समय लगेगा, कुछ कठिनाई भी होगी; लेकिन आदत पड़ जानेपर बात-की-बातमें तुम बड़ी-से-बड़ी चिन्ताको चुटकियोंपर उड़ा दोगे और इस प्रकार भूल जाने या भुला देनेमें तुम इतने अभ्यस्त हो जाओगे कि जीवनको दुःखमय और विषाक्त कर देनेवाली तमाम बातें तुम्हारे सामने आते ही काफूर हो जायँगी। यह संसार तुम्हारे लिये आनन्दमयका आनन्द-विलास प्रतीत होगा; क्योंकि इसमें दुःख, अभाव, पीड़ा, कष्ट आदि-जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी।

भूलना सीखो। यदि शरीरका स्वास्थ्य और मनकी शान्ति अभीष्ट है तो भूलना सीखो, भूलना सीखो। 'यूनिटी'

श्रीमद्भागवत-महिमा

(लेखक—कविकिङ्कर रवीन्द्रप्रतापजी शर्मा आयुर्वेद-शास्त्री राजवैद्य)

(१)

वर्णित है वह प्रेम जहाँ पावनतम, अनुपम—
अतुल, अनन्त, अगाध, अनिर्वचनीय, उच्चतम—
जिसकी झाँकी सौम्य मुग्ध मन कर देती है,
भाव विमल, स्वर्गीय, हृदयमें भर देती है,
करती प्रेमाश्रु निकालकर अन्तःकरण पवित्र है ,
प्रिय प्रेम-कथा वह प्रेमकी भागीरथी विचित्र है ॥

(२)

करना चाहे प्रेम-पयोनिधिका जो दर्शन—
वह श्रीमद्भागवत करे सत्वर अवलोकन ,
है नव रस शुचि नीररूपमें जहाँ प्रवाहित ,
जो महोच्चतम भाव-ऊर्मि-दलमें कल्लोलित ,
गाम्भीर्य अर्थ-गाम्भीर्य ही है इस पारावारमें ,
जो रत्न कथारूपी विविध है प्रदान करता हमें ॥

(३)

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, मिलित हैं इसमें ऐसे ,
सरस्वती, सुरसरी, सूर्य्यजा-संगम जैसे ।
पूर्णतया त्रयताप नष्ट जो कर देता है ,
शान्ति, प्रेम, आनन्द हृदयमें भर देता है ,
प्रतिमा पुनीत सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् की यहाँ ,
महिमा इस महाप्रयागकी पूर्ण न जा सकती कही ॥

(४)

जप, तप, यज्ञ-विधान, योग आदिकके साधन—
उत्तम हैं; चाहिये किन्तु श्रम, मन-बल, धन, जन,
घोर कठिनता सहित लक्ष्यतक पहुँचाते हैं—
इन मार्गोंपर तथा विघ्न भीषण आते हैं ।
है मृदुल पुष्प जिसपर बिछे, ऐसा यह पथ कान्त है ,
इस सुलभ, सरस पथका पथिक कभी न होता श्रान्त है ॥

(५)

संस्कृतके साहित्य-दुर्गका कीर्त्ति-केतु है ,
भव-सागर-अवतरणहेतु यह सुखद सेतु है ,
मृत्यु-व्याधि-नाशार्थ सुलभ यह सुधा-सार है ,
मोक्ष-मार्गका परम प्रमुख कमनीय द्वार है ,
शुचि वैदिक विज्ञानाद्रिका यह अनुपम सोपान है ,
उपमा-अभाववश कहूँगा इसके यही समान है ॥

(६)

वेदव्यास कृतकृत्य हुए जिसके प्रणयनमें ,
काव्य-कला कृतकृत्य हुई जिसके वर्णनसे ,
हिन्दू जाति महत्वमयी जिसके कारणसे ,
हुआ धरातल धन्य अहो ! जिसके धारणसे ,
महिमामय महापुराण वह था अवतीर्ण हुआ जहाँ ,
उस उत्तमतम भारत सदृश देश स्वर्गमे भी कहाँ ?

(७)

श्याम-लेखनी ! ऋणी रहेगा विश्व तुम्हारा ,
तुमसे हुई प्रसूत सुधाकी वह प्रिय धारा—
जिसे पान कर स्वर्ग विश्व बन सकता सारा ,
जा सकता है कल्प-विपिन भी तुमपर वारा ,
भूपर श्रीमद्भागवतका यदि यथेष्ट सुप्रचार हो—
द्वेषाग्नि नष्ट हो सर्वथा पावन प्रेम-प्रसार हो ॥

(८)

है विभूति सर्वोच्च अखिल साहित्य-जगतकी ,
है अमूल्य सम्पत्ति आज भी यह भारतकी ,
संस्कृत भाषा हुई अमित गौरवमय जिससे ,
पाते हैं हम पूर्व कालका परिचय जिससे ,
वेदोक्त सनातन धर्मका जो जीवनप्रद प्राण है ,
वह प्रियतम श्रीमद्भागवत नामक महापुराण है ॥

सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ?

(लेखक—पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे, एम्० ए०; श्रीभगवतप्रसाद शुक्ल)

संसार आज मदोन्मत्त और निरङ्कुश गजराजकी नाईं सुख और शान्तिकी खोजमें जान और मालकी बाजी लगाकर बेतहाशा भागा जा रहा है। समुद्रपार पूर्व और पश्चिमके प्राय: सभी देश अपनेको सबसे अधिक सभ्य, शिक्षित, शक्तिमान् और ऐश्वर्यवान् समझते हैं। विज्ञानकी सहायतासे एक ओर यदि जर्मनी सर्वोत्कृष्ट वायुयान बनाकर तैयार करता है तो दूसरी ओर अमेरिका उससे भी बढ़िया वायुयान बनानेके लिये प्रयत्नशील होता है। यदि इंगलैंड एक रेडियोका आविष्कार करता है तो रूस यह सिद्ध करनेके लिये कटिबद्ध होता है कि वह इससे भी अधिक ऊँचे दरजेका उपयोगी रेडियो बना सकता है। फ्रांस यदि धन कमानेकी लालसासे अनेक प्रकारकी कम कीमती बढ़िया और टिकाऊ चीजें बनाता है तो जापान प्रतिस्पर्धा करके यह बतला देना चाहता है कि वह इस कलामें सबसे अधिक कुशल है। देशों-की इस प्रतिस्पर्धा और संघर्षके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक आविष्कारोंके प्रकाशमें आँखें चौंधिया रही हैं। 'व्यापारे वसते लक्ष्मी:' की उक्तिके अनुसार इन देशोंपर आज लक्ष्मीजी भी प्रसन्न हैं। धन-धान्यसे भरे-पूरे होनेके कारण ये अपनेको सब प्रकारसे सुखी समझ रहे हैं।

परन्तु यह सुख सच्चा सुख कदापि नहीं माना जा सकता। धनकी बढ़तीके साथ-ही-साथ मनुष्यकी इच्छाएँ भी बढ़ा करती हैं। एक इच्छाकी पूर्ति हुई कि मनके परदेपर दूसरी इच्छा अंकित हो जाती है। मनुष्यकी इच्छाओंका अन्त कभी नहीं होता। एक इच्छा पूरी होने और दूसरी इच्छाके उत्पन्न होने-तकके सन्धिकालमें मनुष्यको सुखकी झलक दिखलायी पड़ती है। वह उसके रसका स्वाद भी नहीं लेने पाता कि तृष्णा उसका गला दबा देती है। वह दूसरी इच्छाकी पूर्तिके लिये आगे बढ़ता है। बिना सब इच्छाओंकी पूर्तिके सन्तोष कदापि नहीं मिलता। एकके बाद दूसरी इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करते रहनेसे असन्तोष सदा बना रहता है। तृष्णा और वासना अग्निमें घीके समान असन्तोषको भड़काया करती हैं। आश्चर्यकी बात है कि सभ्य कहलानेवाला संसार धनके नशेमें इतना गर्क है कि उसे असलियतका पता नहीं चलता! वह जुगनूके प्रकाशको सूर्यका प्रकाश समझ रहा है। असली सुख-शान्ति और सन्तोष तो मनुष्यको तभी प्राप्त हो सकते हैं जब वह अपने मन और इन्द्रियोंको अपने क़ब्जेमें कर ले, तृष्णा और वासनाके विषवृक्षको समूल अपनी मनकी जमीनसे उखाड़ फेंके और उखाड़ फेंके इसके साथ-ही-साथ उस मोहरूपी परदेको, जिसके घने अँधेरेमें उसकी विवेक-बुद्धि काम ही नहीं कर पाती। इतना करनेपर ही उसे सच्चा सुख, सन्तोष और शान्ति मिल सकेंगे, अन्यथा नहीं। ओसके जलकणसे प्यास नहीं बुझती। प्यास बुझानेके लिये शीतल मीठे जलकी आवश्यकता पड़ती है। यह जल भौतिकवादके भ्रमपूर्ण मार्गद्वारा नहीं, अध्यात्मवादके कठिन पथपर चलनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

इस नाशवान् पार्थिव शरीरको सुखी बनानेके लिये जितने भी पदार्थोंकी कल्पना की जा सकती है, वे सब इन सभ्य कहलानेवाले देशोंने तैयार कर लिये हैं। इनका उपभोग करते हुए वे अपनेको सुखी और सम्पन्न समझ रहे हैं। यहीं भी वे गलती कर रहे हैं। जिस शरीरको सुखी बनानेके लिये वे रात-दिन एड़ी-चोटीका पसीना एक किया करते हैं, वह तो बरसातके पानीके उस बुलबुलेके समान है जिसके उत्पन्न होने और नाश होनेमें देर नहीं लगती। इनकी सुखलालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। तृष्णाके बवंडरमें लालसाके प्राबल्य और प्रेरणासे तथा प्रतिस्पर्धाके आवेशमें आज प्राय: इन सभी देशोंने ऐसे-ऐसे तेज विषैले गैसोंको बना डाला है जिनके प्राणघातक नतीजेको देखकर रोमाञ्च हो आता है। इन सभ्य

कहलानेवाले देशोंके प्रसिद्ध विद्वान् वैज्ञानिक अपनी प्रतिभाका प्रयोग मानव-समाजके नष्ट करनेके साधन जुटानेमें कर रहे हैं। इस ओर भी सब देश बाजी लगाकर भिड़े हुए हैं। कहना न होगा कि वर्तमान योरोपीय महायुद्धमें इसी वैज्ञानिक प्रतिस्पर्धाके परिणामस्वरूप करोड़ों मनुष्योंका अबतक बलिदान हो चुका है। भविष्यके गर्भमें अभी और क्या छिपा है, यह कहा नहीं जा सकता। विज्ञानका उपयोग यदि मानव-समाजको सुखी बनानेके साधन एकत्रित करनेतक सीमित रहता तो वास्तवमें वह प्रशंसनीय था; परन्तु उसके द्वारा मनुष्योंका मूक पशुओंके समान वध किया जाना, विशाल बेशकीमती इमारतोंका जलाया जाना और निर्बोध बालकों, अशक्त वृद्धों और असहाय अबलाओंको मर्मान्तक क्लेश पहुँचाना कितना निन्दनीय, कलङ्कित और कलुषित काम है।

धन और ऐश्वर्यके मदमें मत्त योरोपनिवासी स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये एक-दूसरेके प्राण और स्वतन्त्रता हरण करनेके लिये भगीरथप्रयत्न कर रहे हैं। जर्मनी चाहता है कि संसारमें मेरा एकाधिपत्य राज्य स्थापित हो जाय। इधर इंगलैंड और अमेरिका अपनी शान बनायी रखनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार दो विपरीत दृष्टि कोणके प्रतिस्पर्धा और संघर्षके परिणामस्वरूप प्रलयकारी महाभयङ्कर युद्ध हो रहा है। जिस समय कौरवों और पाण्डवोंके मध्य कुरुक्षेत्रमें महाभारत हो रहा था उस समय दुर्योधन रणाङ्गणमें जाते समय अपनी माता गान्धारीके पास नित्य जाता और उनके पैर पकड़कर उनसे विजयका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहता। परन्तु सतीशिरोमणि गान्धारी उससे नित्य-प्रति यही कहा करतीं—'यतो धर्मस्ततो जयः' अर्थात् जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। इस युद्धका परिणाम भी इसी सिद्धान्तके अनुसार होगा, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं।

यह मानव शरीर पाँच तत्त्वोंसे बना है। इसके भीतर आत्मा विराजमान है। शरीरमें चैतन्य-शक्ति उत्पन्न करनेवाला यही आत्मा है। जबतक शरीरमें आत्मा है, तभीतक वह जीवित माना जाता है। जिस समय आत्मा शरीरको त्याग देता है, तभी यह शरीर 'मृत' कहलाता है। आत्मा परमात्माका अंश है। वह शरीरद्वारा किये गये कर्मोंके अनुसार अनेक जन्म लेता और अन्तमें परमात्मामें उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सूर्यके अस्ताचलगामी होते ही उन्हींमें समाविष्ट हो जाता है। आत्माके शरीरसे निकल जानेपर शरीर फिर उन्हीं पाँच तत्त्वोंमें मिल जाता है, जिनसे वह बनता है। अधिकांश मनुष्य अज्ञानवश इस जड शरीरकी विषय-वासनाको तृप्त करनेमें ही अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं। मनुष्यका सबसे प्रबल शत्रु 'काम' है। मनुष्य इसके जालमें ऐसा बेतरह फँसता है कि वह उसका गुलाम बनकर जन्मभर उसकी उपासना किया करता है। लोभ, क्रोध और मोह भी मनुष्यको पथभ्रष्ट किया करते हैं। विषय-वासनाओंकी तृप्ति और धनकी प्राप्तिहीको वह वास्तविक सुख समझता है। परन्तु यह सब उस मृगमरीचिकाके जलके समान निस्सार और धोखेकी टट्टी है, जिसके पानेके लिये अज्ञानी पथिक रेगिस्तानमें भटककर प्राण गँवा देता है। इन्हीं क्षणिक और निस्सार आधिभौतिक सुखोंको मनुष्य जीवनके सच्चे सुख समझ बैठा है। यह भौतिक सुख उस आबदार मोतीके समान है, जो नकली होते हुए भी मनुष्योंको भ्रममें डाल देता है। लोग उसे असली समझकर प्रसन्नतासे ग्रहण करते और सुखका अनुभव करते हैं। परन्तु ज्यों ही वह किसी जौहरीके पास जाता, उसकी असलियत परख ली जाती और वह फोड़कर फेंक दिया जाता है। इस समय संसार भौतिकवादकी उत्तुङ्ग तरलतरङ्गोंमें लहराता हुआ अचेत बहा चला जा रहा है। किसी चट्टानपर टकराते ही उसका नाश अवश्यम्भावी है। अभी समय है। हमको सचेत होकर अपनी वास्तविक परिस्थितिका विचार करना चाहिये।

मनुष्यके इस शरीररूपी रथमें इन्द्रियरूपी दस घोड़े जुते हुए हैं। आत्मा रथपर बैठा हुआ है। मनरूपी लगामको बुद्धिरूपी सारथि सम्हाले हुए हैं। यात्रा लंबी है। मार्ग ठीक नहीं। बहुत सम्हलकर चलनेकी आवश्यकता है। घोड़े हठीले और बिदकनेवाले हैं। कहीं बिदक गये तो कहा नहीं जा सकता कि यह रथ किस खंदकमें गिरकर विध्वंस हो जाय। यदि सारथी घोड़ेको सम्हाले हुए सीधे रास्तेसे ले जाय और लगामको सावधानीसे सम्हाले रहे तो मनुष्य आनन्दपूर्वक अपने निश्चित ध्येय -मोक्षको शीघ्र और सुरक्षित पहुँच सकता है।

मनुष्य-जीवनका वास्तविक उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्षका अर्थ है जीवन और मरणसे मुक्त होकर आत्माका परमात्मामें लीन हो जाना। विषय-वासनाओं-के क्षणिक सुख उसके मार्गके रोड़े हैं। प्रत्येक मनुष्य-का कर्तव्य है कि वह सबसे पहले यम, नियम और संयमद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करे। कारण, यही इन्द्रियाँ मनुष्यको पथभ्रष्ट करती हैं। उनके वशमें होकर मनुष्य नाना प्रकारके पाप करता है। नवयुवकोंके लिये तो इन्द्रिय परम प्रबल शत्रुहीका काम करती हैं। आधुनिक कालमें शिक्षित होकर और यह जानकर भी कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह पाप है, अनुचित है और उसे हमें न करना चाहिये, वे पाप-पङ्कमें फँसते हैं और घृणित तथा कुत्सित कार्य करते हुए जरा भी नहीं लजाते। काँचके समान निस्सार क्षणिक सुखके पीछे काञ्चनके सदृश कायाको नष्ट करके संसार-में कलुषित और कलङ्कित जीवन व्यतीत करते हैं। शक्ति क्षीण करते हुए निस्तेज और रोगोंके शिकार बनकर डाक्टरोंके रजिस्टरोंकी संख्या बढ़ाया करते तथा नाना प्रकारके क्लेश सहते हुए अकाल ही कालके गालमें समाते और अपने माता-पिताको आजीवन शोकाग्निमें जलाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय नवयुवकोंकी आँखोंके सामने मोहका मजबूत परदा पड़ा हुआ है। उनकी विवेक-बुद्धि विलीन-सी हो गयी है। वे अपनेको भूल गये हैं।

असंयत मन मनुष्यका दूसरा प्रबल शत्रु है। इसके वशमें न होनेसे भी मनुष्य अनेक पाप किया करता है। मन एक प्रबल और द्रुतगामी बिना लगाम-का घोड़ा है, जो एक क्षणमें चाहे जहाँ जा सकता है। मन ही मनुष्यका मन्त्री है। मनुष्यके प्रत्येक सङ्कल्प-विकल्प सबसे पहले मनरूपी मानसरोवरमें उत्पन्न होते हैं। मन शरीरसे भी अधिक गुप्त पाप किया करता है। क्षण-क्षणमें वह नये-नये मनसूबे बनाता और पलक झपते ही उन्हें बालकोंके मिट्टीके घरके समान नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। मनुष्य जितने भी कार्य करता है, उसकी तीन सीढ़ियाँ हैं। पहली सीढ़ी मन है। विचार मनमें उत्पन्न होता है। इसके बाद दूसरी सीढ़ी है उस विचारको दूसरोंपर वाणीद्वारा प्रकट करना। तीसरी सीढ़ी उस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेकी है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म मनसा-वाचा-कर्मणा किया जाता है। सब कर्मोंकी जड़ मन है। मन इतना चञ्चल रहता है कि उसका वशमें करना बड़ा कठिन काम है। जिस मनुष्यने मनको जीत लिया उसके लिये संसारकी कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह सबसे पहले अपने प्रबल शत्रु मनपर विजय प्राप्त करे। बिना मनपर विजय प्राप्त किये उसका जीवन सफल नहीं हो सकता। मनके जीतनेके लिये भी यम, नियम और संयम ही चाबी हैं। दृढनिश्चय और लगनके साथ नित्य नैमित्तिक रूपसे अपने उपर्युक्त शस्त्रोंको हाथमें लेकर प्रत्येक मनुष्यको अपने शत्रुका मुकाबिला करना चाहिये। मजाल है कि वह सामनेसे कहीं भाग सके। अपनी शक्तिपर विश्वास करते हुए यदि मनुष्य लगातार मनपर इस प्रयोगका प्रहार करता रहेगा तो उस (मन) पर उसकी (मनुष्यकी) विजय अवश्यम्भावी है। इस विजयके

साथ-ही-साथ मनुष्यके जीवनकी सफलता निश्चित है।

मनुष्यके शरीररूपी रथपर आरूढ आत्मा ही परमात्माका दूसरा स्वरूप है। मनुष्य अपने इस नाशवान् जड शरीरको सुखी बनानेके लिये अनेक प्रयत्न किया करता है। परन्तु उसे इस बातका कभी ध्यान नहीं रहता कि उसका इस आत्माको उन्नत और सुखी बनाना भी परम धार्मिक कर्तव्य है। मनुष्यको अपने आत्माको पहचाननेका सबसे पहला लक्ष्य बनाना चाहिये। आत्माको पहचानते ही उसका परमात्मासे साक्षात्कार हो जाता है। इसको उन्नत और सुखी बनाना परमात्माकी सर्वोत्कृष्ट विभूतिकी आराधना करनेके समान है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसके दर्शनमात्रसे मोहान्धकार नष्ट हो जाता है। मन निर्मल ज्ञानके उज्ज्वल प्रकाशसे जगमगा उठता है। आत्माको सुखी करना ही सच्चा आध्यात्मिक सुख है। यही सच्चा और वेशकीमती मणि है। यही कामधेनु है। यही कल्पतरु है और अष्ट सिद्धि और नव निधिका दाता है। इसकी सेवा करनेसे मनुष्यको और किसीकी सेवा करनेकी आवश्यकता नहीं। कैसी विडम्बना है कि मनुष्यके पास मणि-मुक्ता और स्वर्णका समूह होते हुए भी वह दूसरोंके सामने हाथ पसारता है। इसी आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये प्राचीन कालमें ब्राह्मण-लोग लंगोटी लगाकर जंगलमें मङ्गल मनाया करते थे; इस सुखको प्राप्तकर वे संसारकी सब सम्पदा—यहाँतक कि सारे संसारके साम्राज्यको भी तुच्छ समझते थे। आज हमारी ज़बानपर उस आध्यात्मिक सुखका स्वाद अभीतक नहीं लग पाया है। इसीलिये हम इस भौतिक सुखके पीछे प्राणतक देनेको तैयार हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके कारण ही किसी समय भारत समस्त संसारका गुरु था। आज गुरु गुड़ बन गया है और चेला चीनी बनकर अपने जीवनको सफल समझ रहे हैं। जिस क्षण भारतके नवयुवक भौतिक सुखको लात मारकर आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर होंगे; इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि उसी क्षण भारतकी सब आधि-व्याधि, परतन्त्रता इत्यादिक न जाने कहाँ काफ़ूर हो जायँ।

भौतिकवादके दुष्परिणामकी एक झलक योरोपखण्डमें इस समय महायुद्धके रूपमें दिखलायी दे रही है। भारतवर्षमें यह दूसरे रूपोंमें अपना ताण्डवनृत्य कर रहा है। भारतवर्षके अधिकांश मनुष्य स्वार्थसाधनमें इतनी तत्परतासे लगे हुए हैं कि उन्हें दूसरोंके नफा-नुकसानका कुछ भी खयाल नहीं रहता। धर्मसे अथवा अधर्मसे और न्यायसे अथवा अन्यायसे जिस तरह उनका हित-साधन हो, उसे करनेमें उन्हें ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता। समाचार-पत्रोंमें लोग झूठे विज्ञापन छपाकर भोले-भाले लोगोंको ठगने और धन कमाकर मूँछोंपर ताव दिया करते हैं। पूँजीपतियोंको देखिये। मजदूरोंसे कड़ी-से-कड़ी मिहनत कराकर उन्हें इतना कम वेतन देना चाहते हैं कि वे अपना पेटतक नहीं पाल सकते। इनके लिये रहनेके लिये हवादार तथा साफ स्थान नहीं, शरीरकी लज्जा ढाँकनेके लिये काफी कपड़े नहीं और सन्तानको शिक्षित बनानेके लिये साधन नहीं। इधर पूँजीपतियोंको देखिये। उनकी कोठियाँ हैं। वे मिल तथा कारखाने चलाते और मोटरपर चलते हैं। विलास-भोगमें नित्य सैकड़ों रुपये खर्च कर डालते हैं। क्या यह स्वार्थकी पराकाष्ठा नहीं? इनके अत्याचारकी चक्कीमें लाखों मजदूर नित्य पीसे जा रहे हैं, परन्तु गरीबका सहायक कोई नहीं। ज़मींदार किसानोंको बात-बातमें तंग करते और मौका पाते ही उन्हें खेतोंसे बेदखल करके अपने कोषकी वृद्धि करते हैं। किसानोंकी मदद करना तो दूर रहा उन्हें इस बेरहमीके साथ सताया जाता है कि शायद ऐसा कोई अपने पशुओंको भी न सताता होगा। सराफा, बजाजा, मनिहारी, किराना—किसीकी भी दूकानपर आप जाइये, धोखा देकर ठगनेकी

वृत्ति सब जगह आपको मिलेगी। आदमी देखकर भाव किया जाता है। भोलेभाले और सीधे लोगोंको बड़ी बेरहमीसे ठगा जाता है। सचाई और ईमानदारी बहुत कम दिखलायी देती है। दूध, घी, तेल इत्यादिक द्रव पदार्थको बेचनेवाले बिना मिलावटके चीजें बेचते हुए नजर नहीं आते। दूधमें आधेसे ज्यादा पानी मिलाकर कसम खाते हैं कि यह खालिस है और चार आना सेरके भावका है। शुद्ध घीका मिलना दुष्प्राप्य-सा हो गया है। जिस देशमें घी और दूधकी नदियाँ बहा करती थीं, आज उसी देशमें हवन करनेके लिये भी बाजारसे शुद्ध घी नहीं खरीदा जा सकता। पैसे-पैसेके लिये लोग छल-छन्द और बेईमानी करते है। कहाँतक कहें-रुपया, दो रुपयातककी चीजोंके लिये लोगोंकी जान ले ली जाती है। महाजन अधिक-से-अधिक सूद लेते, वकील झूठे मुकदमे गढ़ते अथवा गढ़नेमें मदद देते, मुवक्किलोंको मुकदमेबाजीके लिये उकसाते और उन्हें फँसाकर उनकी गाढ़ी कमाईका धन लूटते, एवं उन्हें बरबाद करते हैं। बेईमानी करनेमें लोग आपसमें प्रतिस्पर्धा करते है। जो ज्यादा-से-ज्यादा लोगोंको ठग सकता है वह तजरबेकार, होशियार और दुनियादार समझा जाता है। लोगोंने धर्म और ईमान तो बालाये ताक रख दिया है। कलह, द्वेष, लूट-मार, चोरी, हत्या और पाखण्ड सर्वत्र दिखलायी पड़ते हैं। आजकल माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र-कलत्र पैसेके साथी दिखलायी पड़ते हैं। स्वार्थके साम्राज्यमें परमार्थका पता नहीं चलता। मनुष्योंकी आयु क्षीण हो गयी है। कमजोरी, बुजदिली और बेईमानीने अधिकांश लोगोंके हृदयमें घर कर लिया है। इस भौतिकवादने भारतवर्षका इतना काला, कलुषित और कलंकित स्वरूप बना दिया है कि उसे देखकर हृदय दहल उठता है, दिमाग चक्कर खाने लगता है और नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती हैं।

किसी भी देश अथवा समाजकी उन्नति अथवा अवनतिके प्रधान कारण उसके नवयुवक हुआ करते हैं। नवयुवक ही आगे चलकर देशके सूत्रधार बनते हैं। भारतवर्षके शिक्षित नवयुवकोंको भौतिक सुखके कड़वे फलका काफी स्वाद मिल चुका है। वे इसकी निस्सारताका अनुभव करने लगे हैं। इस मायामय आधिभौतिक कहलानेवाले सुखने भारतका सर्वनाश कर डाला है। इसके दुष्परिणामके अनेकों जाज्वल्यमान उदाहरण देशके नवयुवकोंके नेत्र-पटलके सामने मौजूद हैं। वे इस बातको भलीभाँति समझने लगे हैं कि मानव-जातिका कल्याण भौतिकवादसे नहीं, अध्यात्म-वादद्वारा ही हो सकता है। योरोपके पास इतना अपार धन होते हुए भी वह न तो सुखी है और न सन्तुष्ट ही। धनसे सुख, सन्तोष और शान्ति नहीं मिल सकती। धनसे ये कोसों दूर भागते हैं। संसार भौतिकवादकी बाढ़में यदि बहा जा रहा है और स्वयं अपने नाशकी सामग्री एकत्रित कर रहा है, तो उसकी रक्षा और कल्याणके लिये आवश्यक है कि भारतके शिक्षित नवयुवक इस समय देशमें अध्यात्मवादकी मधुर मुरलीकी तान छेड़ दें। इस अध्यात्मवादद्वारा हम न केवल अपना ही कल्याण कर सकेंगे वरं अज्ञानवश विनाशकी ओर बहे जाते संसारको भी इस प्राण-संकटसे उबार लेंगे।

मनको वशमें करने, बुद्धिको परिमार्जित करने, इन्द्रियोंको निगृहीत करने तथा आत्माको पहचानने और उसकी उन्नति करनेके लिये हमारे शास्त्रकारोंने सबसे सरल, सुगम और सच्चा उपाय 'सन्ध्या' (नित्य नियमित भगवदुपासना) बतलाया है। सन्ध्याद्वारा हम अपने बे-लगामके मनरूपी उच्छृङ्खल घोड़ेको काबूमें कर सकते हैं। हमारे तपोनिष्ठ पूर्वजोंने इसी सन्ध्याद्वारा मनुष्यके इस प्रबल शत्रुपर विजय प्राप्त की थी। सन्ध्या-द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेपर ही ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। जिस समय ब्राह्मणलोग धर्मका सच्चा पालन करते थे, उस समय इस देशकी भी इज्जत थी। ब्राह्मणोंके पतनके साथ-ही-साथ देशका भी पतन हो गया है। एक समय विश्वामित्र और ब्रह्मर्षि वसिष्ठमें

युद्ध छिड़ा । विश्वामित्रने अनेक प्रकारके शस्त्रोंका प्रहार वसिष्ठपर किया, परन्तु उनका वे कुछ भी न बिगाड़ सके । अन्तमें हार मानकर उन्हें यही कहना पड़ा कि 'धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्' । सन्ध्याके प्रतापसे ही परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको जीतकर ब्राह्मणोंको दान कर दिया । सन्ध्याके प्रतापसे ही महर्षि भरद्वाजने भरतजीकी मय फौज-फाटेके खातिर की । भरतजी और उनके साथी भरद्वाजके प्रभावको देखकर दंग हो गये । जो खातिरदारी बड़े-बड़े महाराजा भी नहीं कर सकते थे, वही खातिरदारी एक निर्धन तपस्वी ब्राह्मणद्वारा क्योंकर की जा सकी । यह सब सन्ध्याकी सिद्धिका प्रभाव था । मनुष्यकी कौन कहे, राजा इन्द्रतकको ब्राह्मणोंके सामने हाथ पसारना पड़ा था । दानवेन्द्र वृत्रासुरके अत्याचारसे देवता पीड़ित होकर त्राहि-त्राहि करने लगे । इन्द्र अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी जब वृत्रासुरको परास्त न कर सके, तब वे दधीचिके पास गये । उनको ब्रह्माजीद्वारा विदित हुआ कि दधीचिकी हड्डीसे बने हुए वज्रद्वारा वृत्रासुर मारा जा सकेगा, अन्यथा नहीं । इन्द्र दधीचिसे हाड़ माँगते हैं । दधीचि सहर्ष अपना शरीर त्याग देते हैं । इस प्रकार इन्द्र वृत्रासुरका वध करते हैं । यह सन्ध्याका ही प्रताप था कि दधीचिकी हड्डियोंतकमें इतना अपार बल भरा पड़ा था । प्राचीन कालमें सन्ध्याकी सिद्धिद्वारा हमारे महर्षियोंने ऐसे अलौकिक और आश्चर्यजनक कार्य करके बतलाये हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । आजकल भी ऐसे बहुत-से ब्राह्मण तथा द्विज हैं जो सन्ध्याके प्रसादसे सुख, शान्ति और सन्तोषका अनुभव कर रहे हैं । जो सज्जन भविष्यमें सन्ध्योपासना करेंगे उनको भी सुख, सन्तोष और शान्ति प्राप्त होंगे । इस बातमें ज़रा भी सन्देह नहीं है । सब मनःकामनाओंको पूर्ण करनेवाली सन्ध्याकी उपासनाको जिन द्विजोंने अभीतक नहीं किया है, वे उसे अविलम्ब करना प्रारम्भ कर दें ।

मनका जीतना आसान काम नहीं है । बिना सन्ध्योपासनाके अन्य उपायोंद्वारा इसका जीता जाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । सन्ध्याद्वारा भी मन मास, दो मासमें नहीं जीता जा सकता । इसके जीतनेके लिये समयकी आवश्यकता है । जितने धैर्य और लगनके साथ सन्ध्या की जायगी, उतना ही शीघ्र मन अपने अधिकारमें किया जा सकेगा । समय लगनेपर साधकको कभी हतोत्साह न होना चाहिये । धैर्यके साथ शास्त्रोक्त विधिसे नियमपूर्वक सन्ध्या करते जाना चाहिये । मन अपने ऊपर विजय प्राप्त करनेवालेपर अपने शस्त्र जरूर चलायेगा । उस आक्रमणको सहकर भी दृढप्रतिज्ञ और दृढसङ्कल्प बनकर अधिक लगन और उत्साहके साथ सन्ध्या करते जाना चाहिये । उसको विवश होकर एक-न-एक दिन साधकके सामने नतमस्तक और पराजित होना पड़ेगा । इस प्रबल शत्रुको जीतकर भी घमंड करनेकी जरूरत नहीं । घमंड करनेसे साधककी सारी तपस्या नष्ट हो सकती है । घमंडने रावण और दुर्योधनके समान चक्रवर्ती महाराजाओंका भी नाश कर दिया । इसलिये उससे बड़ी सावधानीसे बचते रहनेकी आवश्यकता है । हृदयक्षेत्रमें ज्यों ही इसका अंकुर जमे उसी समय उसे बेरहमीके साथ उखाड़ फेंकना चाहिये । ऐसा करनेसे भविष्यका मार्ग सुगम हो जायगा ।

नियमित भगवदुपासनारूप सन्ध्यासे बढ़कर बुद्धिको परिमार्जित करनेका दूसरा साधन नहीं है । जितनी लगन और तत्परताके साथ साधक सन्ध्या करता जायगा उतना ही शीघ्र और सुन्दरताके साथ उसकी बुद्धि मानसरोवरके कमलके समान प्रस्फुटित और प्रखर होती जायगी । सन्ध्याके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह भी बड़ी सुगमताके साथ होता है । साधकको इन्द्रियोंके वशीभूत हो जानेपर अपार आनन्द प्राप्त होगा । इन कामोंमें श्रद्धा, विश्वास और लगनकी आवश्यकता है । इसे ढोंग और आडम्बर न समझकर

आवश्यक कर्मकी भाँति नित्यप्रति करते जाना चाहिये। सफलता चेरीकी भाँति साधकके पीछे-पीछे दौड़ती फिरेगी। मनको एकाग्र कर आत्माको परब्रह्मके चिन्तनमें लीन करनेसे एक वह स्वर्ण-सुदिन अवश्य आयेगा, जब उस सच्चिदानन्द अखिलेश्वर परमेश्वरका साक्षात्कार होगा और साधकके हृदयमें अलौकिक शान्ति और सुखको देनेवाली एक निर्मल उज्ज्वल ज्योति जगमगा उठेगी। उस समयका आनन्द वर्णनातीत है। उसे साधक स्वयं ही अनुभव करके प्राप्त कर ले। प्रत्येक द्विजको अपनी जाति, देश और संसारके कल्याणके लिये सन्ध्याकी नित्यप्रति उपासना अवश्य करनी चाहिये। इसीसे सच्चा सुख, शान्ति और मोक्ष मिल सकता है।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

हमारी स्वास्थ्य-रक्षक सेना

केशव—पिताजी! माताजीको बुखार आ गया है। चारपाईपर पड़ी हैं।

पिता—बुखार न आये तो क्या हो। इतनी बार उन्हें समझा चुका, वह अपने स्वास्थ्यपर ध्यान देती ही नहीं।

केशव—स्वास्थ्य किसे कहते हैं, पिताजी?

पिता—जब हमारे शरीरके हरेक कल-पुर्जे अपना-अपना काम ठीक ढंगपर करते रहते हैं, तब उस अवस्थाको हम स्वास्थ्य कहते हैं। जब वे अपना काम ठीक ढंगपर नहीं करते या उनमें कोई खराबी पैदा हो जाती है, तब उसे हम रोग या बीमारीके नामसे पुकारते हैं।

केशव—पिताजी, बीमारी कैसे पैदा होती है?

पिता—बीमारियाँ बहुत तरहकी होती हैं, और उनके पैदा होनेके कारण भी बहुतेरे हैं। किन्तु मोटे तौरसे हम कह सकते हैं कि कुछ बीमारियाँ तो ऐसी हैं, जो खान-पान या रहन-सहनकी खराबियोंसे पैदा हो जाती हैं—जैसे अपच, मंदाग्नि, वात, गठिया, सिरका दर्द, पेटका दर्द, कब्जियत इत्यादि; और कुछ ऐसी हैं जो छूतही हैं, अर्थात् छूतसे पैदा होती हैं—जैसे प्लेग, हैजा, चेचक, सर्दी-जुकाम, इन्फ्लुएंजा, क्षय इत्यादि।

केशव—ये छूतकी बीमारियाँ किस तरह पैदा होती हैं?

पिता—छूतसे पैदा होनेवाली बीमारियाँ वास्तवमें छोटे-छोटे कीड़ोंसे उपजती हैं। ये कीड़े इतने छोटे होते हैं कि साधारण आँखोंसे दिखायी नहीं देते। इसीसे इन्हें कीटाणु कहकर पुकारते हैं। इन्हें देखनेके लिये एक ऐसे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जो छोटी-छोटी चीजोंको बड़ा करके दिखा दे।

केशव—वह यन्त्र कौन-सा है?

पिता—उस यन्त्रको अणुवीक्षण यन्त्र कहते हैं। उसके द्वारा हम छोटी-से-छोटी वस्तुको भी बिल्कुल आसानीके साथ देख सकते हैं। ये यन्त्र कई प्रकारके होते हैं—कोई कम शक्तिका और कोई ज़्यादा शक्तिका। जो यन्त्र जितनी ही ज़्यादा शक्तिका होगा, उससे उतनी ही बारीक चीज देखी जा सकेगी। रोगके कीटाणुओंको देखनेके लिये बहुत तेज शक्तिके यन्त्रोंकी जरूरत हुआ करती है, क्योंकि ये कीटाणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं।

केशव—अच्छा, तो ये कीटाणु होते कैसे हैं?

पिता—ये कीटाणु अनेक प्रकारके होते हैं, किन्तु अधिकतर ये तीन ही रूपोंमें दिखायी दिया करते हैं—(१)* पहियेकी तरह गोल आकारमें, (२)† डंडीकी तरह लंबे और (३)‡ लहरियेदार या उमेठनदार शकलमें। जातियाँ इनकी बहुत-सी हैं और उनके रूप-रंग और स्वभावके अनुसार अलग-

* Coccus. † Bacillus. ‡ Spirillum.

अलग नाम भी हैं, किन्तु तुम्हें उस झगड़ेमें पड़नेकी जरूरत नहीं। केवल इतना ही समझ लो कि जितने भी प्रकारके छूतहे रोग होते हैं—अर्थात् सर्दी और जुकाम-जैसे साधारण रोगोंसे लेकर क्षय, चेचक, हैजा और प्लेग-जैसे भयङ्कर रोगोंतक—सबकी उत्पत्तिके लिये अलग-अलग जातिके कीटाणु हुआ करते हैं।

केशव—लेकिन इन कीटाणुओंसे रोग कैसे होता है?

पिता—बात यह है कि इन कीटाणुओंमें अपनी संख्याको बढ़ानेकी बड़ी विचित्र शक्ति हुआ करती है। हर एक कीटाणु अपने शरीरको बढ़ाकर दो टुकड़े कर देता है, जिससे एककी जगह दो कीटाणु बन जाते हैं। इस प्रकार क्षणभरमें ही इनकी संख्या दुगुनी हो जाती है। हमारे शरीरमें यदि इनमेंसे एक भी कीटाणु किसी तरह प्रवेश कर पाये और उसकी बाढ़के लिये परिस्थिति बिल्कुल अनुकूल हो तो उससे इसी तरह एकसे दो, दोसे चार और चारसे आठ होते हुए कुछ ही समयमें करोड़ों कीटाणु पैदा हो जायँगे और हमारे शरीरके अंदर उनकी एक भारी बस्ती तैयार हो जायगी।

केशव—तब उससे क्या होगा?

पिता—बस, फिर वे तमाम कीटाणु हमारे खूनके साथ मिलकर सारे शरीरमें चक्कर लगाने लगेंगे, और खूनमें अपना ज़हर भरकर हमारे शरीरके पेचीले और सुकुमार पुर्ज़ोंमें तरह-तरहकी खराबियां पैदा कर देंगे, जिससे हम बीमार पड़ जायँगे।

केशव—लेकिन, पिताजी, ये रोगके कीटाणु हमारे शरीरमें पहुँच कैसे जाते हैं?

पिता—इनकी पहुँच हमारे शरीरमें अनेक प्रकारसे हो सकती है। कुछ तो हवामें उड़कर साँसके साथ आ जाते हैं; कुछ दूध, जल या भोजनके साथ मिलकर अंदर पहुँच जाते हैं और कुछ रोगी मनुष्यके पहने हुए वस्त्रोंमें चिपककर एकके पाससे दूसरेके पास जा पहुँचते हैं। कुछ कीटाणु ऐसे भी हैं जो किसी खास किस्मके जानवरके काटनेसे ही हमारे खूनमें पहुँच जाते हैं।

केशव—तब इनसे बचनेका उपाय क्या है?

पिता—इनसे बचनेका सबसे बड़ा उपाय तो उस परम पिता परमात्माने ही हमारे शरीरके भीतर कर रक्खा है। उसने हमारे अंदर करोड़ों सिपाहियोंकी एक ऐसी सेना पैदा कर दी है, जो हर समय हमारे शरीरकी रखवाली किया करती है और शरीरके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक दिन-रात चक्कर लगा-लगाकर पहरा दिया करती है। जहाँ कोई शत्रु हमारे भीतर घुसा कि इस सेनाके बहुत-से सिपाही झट उसपर टूट पड़ते हैं और उसे मार-मारकर बाहर निकालनेकी चेष्टामें लग जाते हैं।

केशव—ओहो! ये सिपाही कौन हैं?

पिता—ये हमारे खूनके सफ़ेद कण हैं। हमारे खूनमें दो प्रकारके अत्यन्त नन्हे-नन्हे जीवाणु पाये जाते हैं—एक लाल और दूसरे सफ़ेद। इनकी शकल पहियोंकी तरह घेरेदार हुआ करती है। ये हमारे खूनके जीवित कण हैं और खूनके साथ-साथ सारे शरीरमें चक्कर लगाया करते हैं। इनमेंसे लाल कणोंका काम शरीरके तमाम अङ्गोंको भोजन ढो-ढोकर पहुँचाना है और सफ़ेद कणोंका काम शरीरकी रक्षा करना है। बहुत छोटे होनेके कारण आँखोंसे ये नहीं दिखायी देते, किन्तु अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायतासे हम इन्हें जब चाहें देख सकते हैं। जिस समय किसी रोगके कीटाणु हमारे खूनमें पहुँचते हैं तो ये सफ़ेद कण हमारी रक्षाके लिये उनसे बड़ी तत्परताके साथ जा भिड़ते हैं, और फिर कुछ समयतक उन दोनोंमें एक खासी कुश्ती होती रहती है। यदि हमारे सफ़ेद कण रोगके कीटाणुओंसे शक्ति और संख्यामें बलवान् हुए तो वे इन्हें तुरंत नष्ट कर डालते हैं, या कम-से-कम इनकी बाढ़को ही रोक रखते हैं, जिससे हमारे शरीरको किसी

तरहकी हानि नहीं पहुँचने पाती। वास्तवमें हमें यह भी नहीं मालूम होता कि हमारे शरीरमें किसी रोगके कीटाणुओंने प्रवेश भी किया था या नहीं। किन्तु यदि हमारे सफ़ेद कण इनसे कमज़ोर पड़े, तो फिर वे स्वयं नष्ट होने लगते हैं और रोगके कीटाणु तेज़ीके साथ बढ़कर सारे शरीरपर अपना अधिकार जमा लेते हैं, जिससे आदमी बीमार पड़ जाता है।

केशव—ये बातें सुननेमें बड़ी अद्भुत जान पड़ती हैं।

पिता—हाँ, लेकिन हैं ये बिल्कुल सच। हम बहुधा देखते हैं कि कोई आदमी तो छूतहे रोगीके पास दिन-रात सोता-बैठता है और उसकी सेवा किया करता है, लेकिन फिर भी बीमार नहीं पड़ता, और कोई केवल दस-पाँच मिनटके लिये वहाँ रोगीका हाल-चाल देखने आता है, और घर पहुँचते ही बीमार पड़ जाता है। इसका कारण क्या है? रोगके छूतहे कीटाणु तो दोनोंहीके शरीरमें प्रवेश करते हैं, किन्तु पहला आदमी बीमार नहीं पड़ता; क्योंकि उसके खूनमें सफ़ेद कण रोगके कीटाणुओंसे अधिक बलवान् हैं और इसलिये उन्हें रोक रखते हैं। दूसरा आदमी बीमार पड़ जाता है, क्योंकि उसके खूनमें सफ़ेद कण उतने मज़बूत नहीं हैं और उन कीटाणुओंको दबा नहीं सकते।

केशव—तब इन सफ़ेद कणोंको बलवान् बनानेका उपाय क्या है?

पिता—इन्हें बलवान् बनानेका सबसे सुन्दर और सीधा उपाय यह है कि हम बराबर ऐसे नियमोंका पालन करते रहें, जिनसे हमारे शरीरका बल और मनकी शक्ति बराबर बढ़ती जाय। इसके लिये सबसे पहले हमें अपने खान-पान और रहन-सहनको ठीक रास्तेपर रखना होगा।

केशव—खान-पान हमें कैसा रखना चाहिये?

पिता—खान-पानका सवाल हमारे शरीर और स्वास्थ्यके लिये बड़े महत्त्वका है। तुम जानते हो कि जो कुछ तुम खाते हो उसीसे तुम्हारा खून बनता है, उसीसे तुम्हारा बल बढ़ता है और उसीसे तुम्हारा शरीर भी बड़ा होता है। जन्मके समय तुम्हारा शरीर कैसा नन्हा-सा था, किन्तु आज यह इतना बड़ा हो गया। उस समय तुम उठकर बैठ भी नहीं सकते थे, परन्तु आज तुम उछल-कूदकर छलाँगें मार सकते हो। अब तुम्हीं सोचो कि यह ऐसा शरीर और इतना बल तुमने कहाँसे पाया। भोजनसे ही न! अस्तु, हम क्या खायँ और कैसे खायँ, इस विषयमें हमें सदैव सावधान रहना चाहिये। अवसर मिलनेपर किसी दिन इसकी बाबत हम तुम्हें अधिक विस्तारसे समझायेंगे। अभी केवल इतना ही समझ लो कि हमारे खाने-पीनेकी चीजें सदा ऐसी होनी चाहिये, जो बल और स्वास्थ्यको बढ़ानेवाली हों और आसानीसे पच सकें।

केशव—ये चीजें कौन-सी हैं?

पिता—ताजे फल, दूध, मक्खन और मेवोंका स्थान इस विचारसे सबसे ऊँचा है। इनके बाद रोटी, दाल, भात, तरकारी, शाक और घीका नंबर आता है। पूड़ी, मिठाई, पकवान, चाट और दही-बड़े आदिका नंबर और उतरकर है; क्योंकि ये चीजें अधिक देरमें पचती हैं और शरीरकी अपेक्षा केवल जीभको ही ज़्यादा सुख देनेवाली हैं। किन्तु ध्यान रहे कि उत्तम भोजन भी ज़रूरतसे ज़्यादा या बेवक्त खा लेनेसे विषके समान हो जाता है। साथ ही जो भोजन खूब चबाकर नहीं खाया जाता, वह भी पेटके लिये बोझ बन जाता है। सड़ा, गला, बासी या देरका रक्खा हुआ भोजन भी हर्गिज़ न खाना चाहिये। ऐसा भोजन तामसी कहा गया है और शरीरके साथ-साथ हमारी बुद्धिको भी भ्रष्ट कर देता है।

केशव—मैं इन बातोंपर ध्यान रक्खूँगा।

पिता—हाँ, और साथ ही हमें अपने रहन-सहनपर भी ध्यान रखना होगा।

केशव—वह क्या ?

पिता—वह है मुख्यतः सफ़ाई और सदाचार। ये दोनों ही बातें स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भोजनसे कम महत्त्व नहीं रखतीं। सफ़ाईके अंदर भोजनकी सफ़ाई, पानीकी सफ़ाई, हवाकी सफ़ाई, शरीरकी सफ़ाई, वस्त्रोंकी सफ़ाई, घर-द्वारकी सफ़ाई और पास-पड़ोसकी भी सफ़ाई शामिल है। इनके अतिरिक्त मन, स्वभाव और चरित्रकी स्वच्छता भी सदाचारके अंदर आ जाती है। इस प्रकार अपने रहन-सहनमें हमें सब प्रकारकी सफ़ाई और निर्मलता लानेकी ज़रूरत है। याद रहे कि जितने भी प्रकारके रोग और रोगके कीटाणु हैं, सब गंदगीमें ही पनपते हैं। सफ़ाई और प्रकाशमें उनकी बाढ़ और शक्ति क्षीण हो जाती है। साथ ही सफ़ाई और प्रकाश हमारे खूनके कणोंको बल देते हैं। इससे हममें रोगोंको रोकनेकी शक्ति आती है। इस प्रकार सफ़ाई हमारी दो तरहसे सहायक है। एक ओर तो वह हमारी शक्तिको बढ़ाती है और दूसरी ओर वह हमारे शत्रुओंकी शक्तिको क्षीण करती है। अतएव इसका साथ हमें जीवनपर्यन्त छोड़ना उचित नहीं।

केशव—परन्तु पिताजी! मन और चरित्रकी सफ़ाईसे स्वास्थ्यका क्या सम्बन्ध ?

पिता—देखो, जिस प्रकार बाहरी सफ़ाईसे शरीरको शक्ति मिलती है, उसी प्रकार मन और चरित्रकी स्वच्छतासे मनको भी शक्ति प्राप्त होती है; और मन है शरीरका राजा। उसीके कहनेपर शरीर चलता है। अतएव यदि मन कमज़ोर हुआ तो फिर शरीरपर वह अपना क़ाबू नहीं रख सकता और न उससे स्वास्थ्यके नियमोंका ठीक-ठीक पालन ही करा सकता है। तुमने सुना होगा कि यूरोपमें कितने ही चिकित्सक रोगीको केवल यह विश्वास दिलाकर अच्छा कर देते हैं कि तुम अब अच्छे हो। जिस रोगीके मनमें जितना ही मज़बूत यह विश्वास जम जाता है, उतना ही जल्दी वह अच्छा भी हो जाता है। कहनेका मतलब यह कि शरीरका मनके साथ बहुत ही घना सम्बन्ध है। अतएव शरीरके स्वास्थ्यके लिये मनकी शक्ति, जिसे हम इच्छा-शक्ति भी कहते हैं, बहुत आवश्यक है; और यह शक्ति उन लोगोंको आसानीसे प्राप्त हो जाती है, जिनका मन निर्मल है और जो चरित्रवान् हैं।

केशव—तो मन और चरित्रको निर्मल रखनेके लिये उपाय क्या है ?

पिता—इसका सबसे सीधा उपाय यह है कि बुरे और गंदे विचारवाले लोगोंकी संगतसे बचो, पवित्र और ऊँचे विचारवाले लोगोंका सत्सङ्ग करो, बुद्धि और ज्ञानको बढ़ानेवाली पुस्तकें पढ़ो और अपने मनमें हर एक बातपर स्वतन्त्र रूपसे सोचनेकी आदत डालो। जब कभी तुम्हारा मन भटककर किसी बुरे रास्तेपर जाना चाहे तो उसे पूरी शक्तिसे रोको और उसके परिणामोंपर विचार करो साथ ही ईश्वरसे प्रार्थना करो कि वह तुम्हारे मनको इतनी शक्ति दे कि तमाम बुरे विचारोंसे तुम अपनेको दूर रख सको।

केशव—मैं अवश्य ऐसा ही करूँगा। आज मैंने कितनी ही नयी बातें सीखीं। मैं इन सबोंको ध्यानमें रक्खूँगा।

पिता—यदि आजकी बतायी हुई तमाम बातोंको तुम ध्यानमें रक्खोगे और उनके अनुसार चलनेकी चेष्टा करोगे तो ईश्वर अवश्य तुम्हारा कल्याण करेगा और शारीरिक स्वास्थ्यके साथ-साथ मनका स्वास्थ्य और शक्ति भी तुम लाभ करोगे।

धर्मका स्वरूप

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।
आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥
आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति पूरुषः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः स प्रेत्य सुखमेधते ॥
सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवापि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥
न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

(महाभारत)

जो मनुष्य किसीको न सतानेवाले निरपराध जीवोंको अपने सुखकी इच्छासे दण्डके द्वारा मारता है, वह मरकर कभी सुखी नहीं होता, उसकी सद्गति नहीं होती । जो मनुष्य क्रोधको जीतकर अहिंसाव्रती हो जाता है, किसीको दण्ड अथवा त्रास नहीं देता, और जो दूसरे जीवोंके साथ आत्मवत् व्यवहार करता है, सबको अपने ही समान समझता है, वह परलोकमें सुखी होता है, उसे मरनेके बाद उत्तम गति प्राप्त होती है । जिस मनुष्यकी संसारमें कोई प्रतिष्ठा—इज्जत-आबरू नहीं है, किन्तु जो सब प्राणियोंको अपने ही समान देखता है—देखता ही नहीं, उनके साथ आत्मवत् व्यवहार भी करता है, उसके मार्ग-को—उसकी गतिको इन्द्रादिके उच्च पदकी अभिलाषा करनेवाले देवता भी नहीं लख पाते, नहीं समझ पाते । लखें भी कैसे ? वे तो ठहरे उच्च पदके भूखे और वह आत्मदर्शी पुरुष सारे पदोंको लाँघकर आत्मपदमें—परमात्माके पदमें प्रतिष्ठित होता है । संक्षेपमें–एक वाक्यमें धर्मका स्वरूप यह है कि जो बर्ताव अपने प्रतिकूल हो, अपनेको अच्छा न लगे, वैसा बर्ताव दूसरेके साथ स्वयं कभी न करे । जो व्यवहार कामनासे प्रेरित होता है अर्थात् जो केवल अपने सुखके लिये, अपने स्वार्थके लिये किया जाता है, जिसमें दूसरेकी अनुकूलताका, दूसरेके हितका ध्यान नहीं रहता, वह अधर्म है, धर्मविरुद्ध है ।

कल्याण
वर्ष १६ अङ्क १

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण जनवरी सन् १९४२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–राम-लक्ष्मणकी झाँकी [कविता] (श्रीतुलसीदासजी)	१३९७
२–प्रभु-स्तवन [कविता] (अनुवादक–श्रीमुंशी-रामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम') ···	१३९८
३–कुम्भ (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज) ··· ···	१३९९
४–पूजाका परम आदर्श (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०) ···	१४०६
५–श्रीहरिभक्ति सुगम और सुखदायी है (श्री-जयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ···	१४११
६–कल्याण ('शिव') ··· ···	१४१३
७–प्रार्थना (अधम परन्तु तुम्हारा ही) ···	१४१४
८–निज नाम-लोभ-त्याग [कविता] (श्रीशिव-कुमारजी केडिया 'कुमार') ···	१४१४
९–डाकू भगत ··· ···	१४१५
१०–श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना (नाम-जप-विभाग, 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुर) ···	१४२३
११–याचना [कविता] ((श्रीमती) 'रूप हुक्कू')	१४२४
१२–कामके पत्र ··· ···	१४२५
१३–गृहस्थका परम धर्म–अतिथि-सत्कार (पं० श्री-अम्बालालजी जानी, बी० ए०) ···	१४२९
१४–मूर्छित नारी (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ···	१४३१
१५–वर्णाश्रम-विवेक (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थयतिजी महाराज)	१४३४
१६–व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) ···	१४३८
१७–कामना [कविता] ('श्रीहरि') ···	१४४५
१८–बाह्य और अन्तर्जगत्‌की समरसता (श्रीलाल-जीरामजी शुक्ल एम्० ए०) ···	१४४६
१९–कौन यहाँ अपना है ? [कविता] (श्री-बालकृष्णजी बलदुवा) ··· ···	१४४८
२०–अपरिग्रह [कहानी] (श्री 'चक्र') ···	१४४९
२१–मत्सङ्गका प्रसाद (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· ···	१४५२
२२–सती सुकला (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ···	१४५८
२३–दानका आनन्द (श्रीलॉवेल फिल्मोर) ···	१४६३
२४–बालप्रश्नोत्तरी (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल० बी०) ···	१४६७
२५–सच्ची सीख [कविता] (पु० श्रीप्रतापनारायण-जी कविरत्न) ··· ···	१४७३
२६–योगसाधनाकी तैयारी (रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी बी० ए०)··· ···	१४७४

श्रीहरिः

सत्सङ्गका सुन्दर अवसर !

प्रयाग—कुम्भके मेलेमें गीताप्रेस, गोरखपुरकी ओरसे

गीता-ज्ञानयज्ञका आयोजन

समस्त धर्मानुरागी सत्सङ्गप्रेमी महानुभावोंको विदित हो कि माघ सं० १९९८ में प्रयाग कुम्भमेलेके अवसरपर त्रिवेणीके किनारे यमुना-पट्टीमें सर्वसाधारणके पारमार्थिक लाभके लिये गीता-ज्ञानयज्ञका आयोजन किया गया है। इसमें गीताका अखण्डपाठ, गीताकी कथा-व्याख्या, अखण्ड हरि-नामकीर्तन, सामूहिक कीर्तन, रामायणकी कथा, सत्सङ्ग-व्याख्यान आदिका प्रबन्ध किया गया है। आज-कल जो सब ओर युद्धकी ज्वाला प्रज्वलित हो सारे देशको आतङ्कित किये हुए है, उससे त्राण पानेके लिये भी नामकीर्तन आदिके द्वारा भगवान्‌की शरण जाना ही सर्वोत्तम उपाय है। इसका सुयोग यहाँ सुलभ है; अतः सबको इस परमार्थ यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

कार्य-विवरण

अखण्ड हरिनामकीर्तन, गीतापाठ और रामायण एवं गीतापर कथा और व्याख्यान

प्रातः ७ बजेसे ९ बजेतक—सामूहिक कीर्तन।

मध्याह्न ९ बजेसे ११ बजेतक—स्वामी श्रीरामसुखजी महाराजद्वारा गीताकी कथा और व्याख्यान।

अपराह्न २ बजेसे ५ बजेतक—विद्वानोंके व्याख्यान।

सायं ५ बजेसे ७ बजेतक—सामूहिक कीर्तन।

रात्रि ७ बजेसे ९ बजेतक—रामचरितमानसकी कथा।
रात्रि ९ बजेसे १० बजेतक—सामूहिक कीर्तन।

नोट—कार्यविवरणमें समयपर आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है।

—व्यवस्थापक, गीता-ज्ञानयज्ञ (गीताप्रेस, गोरखपुर)
यमुनापट्टी, कुम्भमेला, प्रयाग

आवश्यक सूचना

कमीशनमें परिवर्तन

वर्तमान महायुद्धके कारण कागजोंके दाम उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं। यद्यपि सदासे ही हमारा यह विचार रहता आया है कि पुस्तकोंके मूल्यमें वृद्धि न की जाय परन्तु जब कि कागजोंके दाम पहलेसे करीब तिगुने हो गये हैं, ऐसी परिस्थितिमें पुस्तकोंका मूल्य बढ़ाना अनिवार्य हो गया है। इसलिये यह निश्चय किया गया है कि दामोंको न बढ़ाकर कमीशनमें कमी कर दी जाय। अतः अब जो कमीशन २५) सैकड़ा दिया जाता था, वह १२॥) सैकड़ा ही दिया जायगा। यह नियम २५ दिसम्बर सन् १९४१ से जारी कर दिया गया। पुस्तकोंके लिये आर्डर देनेवाले सज्जन कृपापूर्वक इसे नोट कर लें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

कुम्भमें क्या करना चाहिये ?

प्रयाग तीर्थराज है। गङ्गा, यमुना और अन्तःसलिला सरस्वतीका यहीं सङ्गम होता है। यहीं भगवान् बिन्दुमाधव और अक्षयवटकी पवित्रस्थली है। वैसे तो किसी भी दिन, किसी भी समय, किसी भी प्रकार इस तीर्थका दर्शन, स्पर्श और स्मरण होना मनुष्यके लिये बड़े सौभाग्य और पुण्यकी बात है; फिर भी माघ मास और मकरके सूर्यमें यहाँके स्नानादिकी विशेष महिमा है। पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें कहा है—

सितासितजले मज्जेदपि पापशतान्वितः।
मकरस्थे रवौ माघे नैव गर्भेषु मज्जति॥
सितासिता तु या धारा सरस्वत्या विगर्भिता।
तन्मार्गं विष्णुलोकस्य सृष्टिकर्त्ता ससर्ज वै॥

पापी-से पापी मनुष्य भी यदि मकरके सूर्य एवं माघ मासमें श्रीयमुना एवं श्रीगङ्गाजीके सङ्गमपर स्नान करता है तो उसे सर्वदाके लिये पुनर्जन्मसे मुक्ति मिल जाती है। सृष्टिकर्त्ताने गङ्गा, यमुना एवं सरस्वतीके सङ्गमरूप त्रिवेणीकी सृष्टि ही इसलिये की है कि लोग उसमें स्नानादि करके श्रीभगवद्धामको प्राप्त हों, त्रिवेणी वैकुण्ठका सीधा मार्ग है।

बारह वर्षपर जो महाकुम्भपर्व लगता है, उसकी महिमा तो अनिर्वचनीय है। सौभाग्यवश वह पर्व इस वर्ष लग रहा है। शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि तीर्थमें स्नान करनेसे समस्त पाप मिट जाते हैं। परन्तु तीर्थमें मनसे भी पाप-चिन्तन नहीं करना चाहिये। क्योंकि तीर्थका पाप कोटिगुना हो जाता है और तीर्थस्नानके द्वारा भी उसकी निवृत्ति नहीं होती, जैसा कि पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें कहा गया है—

प्रायश्चित्तं परं तीर्थे स्नानं च ऋषिभिः स्मृतम्।
किन्तु तीर्थे त्यजेद्धीरः मनसाप्यशुभं कृतम्॥
प्रयागस्नानमात्रेण नृणां स्वर्गो न संशयः।
अन्यदेशकृतं पापं तत्क्षणादेव भामिनि॥
प्रयागे विलयं याति पापं तीर्थकृतं विना॥

ऋषियोंने सभी प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त तीर्थस्नानसे बतलाया है। परन्तु तीर्थमें मनसे भी पाप नहीं करना चाहिये। यदि पाप छोड़कर प्रयागमें स्नान किया जाय तो स्नानमात्रसे ही स्वर्ग मिलता है। दूसरे स्थानके किये हुए पाप प्रयागमें स्नानमात्र करनेसे ही तुरंत नष्ट हो जाते हैं। परन्तु तीर्थमें किये हुए पापोंका नाश नहीं होता।

बहुत-से लोग माघभर प्रयागमें रहकर कल्पवास करते हैं। कुछ लोग स्नान-दर्शन आदि करके उसी दिन या दस-पाँच दिनमें लौट जाते हैं। उन्हें प्रयागमें रहते समय कुछ-न-कुछ विशेष नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। नियम अपनी शक्ति और रुचिको देखकर ही लेना चाहिये। यहाँ कुछ नियम लिखे जाते हैं—

१—अनावश्यक, अनवसर, कटु, असत्य और अहितकर वचन नहीं बोलना चाहिये।

२—किसी भी प्राणीको तन, मन अथवा वचनसे कष्ट नहीं देना चाहिये।

३—यथाशक्ति दीन, दुखी एवं अङ्गहीन प्राणियोंपर दया करनी चाहिये।

४—क्रोध मनमें भी न आने पावे। यदि आ जाय तो क्रियामें न आने देनेका तो दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

५—अपनी सब इन्द्रियाँ वशमें रक्खी जायँ।

६—सपत्नीक पुरुष भी ब्रह्मचर्यका पालन करें।

७—तेल न लगावें, साबुनका व्यवहार न करें।

८—पान न खायें। वनस्पति घी और बाजारकी मिठाइयोंसे बचें।

९—चामका जूता न पहनें।

१०— सूर्योदयसे पहले ही उठें और उठते ही भगवान्‌का स्मरण करें।

११—त्रिवेणी-स्नान कभी न छूटने पावे।

१२—यज्ञोपवीतधारी हों तो तीनों समय सन्ध्या और देवर्षि-पितृतर्पण करें।

१३—घण्टे-दो घण्टेका मौन अवश्य ही रक्खें।

१४—यथाशक्ति सत्पात्रको दान करें।

१५—भगवत्कथा एवं सत्पुरुषोंके उपदेश श्रवण करें।

१६—श्रीबिन्दुमाधवजीका दर्शन नित्य करें।

१७—तीर्थकी सीमासे बाहर न जायँ।

१८—शौचादिसे निवृत्त होनेके लिये दूर जायँ अथवा नियत स्थानपर ही करें।

१९—किसीके प्रति दोष-दृष्टि अथवा किसीकी निन्दा न करें।

२०—शक्तिभर साधुसेवा करें।

२१—ऐसी चेष्टा रक्खें कि निरन्तर भगवन्नामका जप और स्मरण होता रहे।

२२—नित्य नियमपूर्वक भगवन्मूर्तिकी आराधना करें।

२३—श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीरामचरित-मानस आदि पवित्र ग्रन्थोंमेंसे किसी एकका अथवा सबका कुछ-न-कुछ स्वाध्याय भी करना चाहिये।

नियमोंमें बड़ी शक्ति है। ये इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको नष्ट करते हैं। अभिमान घटता और संयम बढ़ता है। कहीं भी रहकर नियमोंके पालनसे लाभ ही होता है। परन्तु यदि पवित्र तीर्थमें पवित्र पर्वपर ईमानदारीके साथ इनका पालन किया जाय तब तो लाभके सम्बन्धमें कहना ही क्या है। उसे शास्त्रोंमें वर्णित तीर्थ-स्नानका पूरा फल मिलता है। शास्त्रमें कहा है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च तीर्थञ्च स तीर्थफलमश्नुते॥

जिसके हाथ, पैर और मन संयत होते हैं; ज्ञान, तपस्या और दान भी संयमित होते हैं; वह तीर्थका वास्तविक फल प्राप्त करता है। इसलिये काम, क्रोध एवं लोभकी क्रिया तथा भावनाओंको छोड़कर यथाशक्ति नियमोंका पालन करना चाहिये और कुम्भपर्वके इस दुर्लभ अवसरसे लाभ उठाना चाहिये।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

जनकपुरमें राम-लक्ष्मण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

वर्ष १६ } गोरखपुर, जनवरी १९४२ पौष १९९८ { संख्या ६ पूर्ण संख्या १८६

राम-लक्ष्मणकी झाँकी

जबतें राम लखन चितए, री ।
रहे एकटक नर नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए, री ॥
प्रेम-बिबस माँगत महेस सों, देखत ही रहिए नित ए, री ।
कै ए सदा बसहु इन्ह नयननि, कै ए नयन जाहु जित ए, री ॥
कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि, बड़े भाग आए इत ए, री ।
कुलिस-कठोर कहाँ संकर-धनु, मृदुमूरति किसोर कित ए, री ॥
बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रित ए, री ।
तुलसिदास ते धन्य जनम जन, मन-क्रम-बच जिन्हके हित ए, री ॥

—तुलसीदासजी

प्रभु-स्तवन

(अनुवादक—श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६ । २)

प्रभु, जो दोष बाह्य करणोंमें आँख आदिमें भरे हुए हों,—
अथवा अन्तःकरण हृदय-मन मध्य घाव अति हरे हुए हों ॥
बृहत जगतपति उनको कर दो दूर, दोष-दुख छिद्र हटाओ ।
ज्ञानपते, भुवनेश्वर, देकर शान्ति, हमारे कष्ट मिटाओ ॥

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ॥

(ऋ० ८ । ९६ । ४)

पूज्य पूजनीयोंमें तुम हो, अच्युतको भी च्युत कर देते ।
बलवानोंमें बहुत बली हो, निज झण्डा ऊँचा कर लेते ॥
एक तुम्हीं जीवोंके हितकर सकल सुफल दल देनेवाले,—
कौन तुम्हारे सदृश यहाँ है तुमने सतत भगत-दुख टाले ॥

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम् ॥

(ऋ० ६ । १३ । १)

अयि सुन्दर, सुन्दरता स्रोत !
तुमसे निकल निकल फैले हैं जगमें वैभव-गरिमा-गोत ॥
जैसे तरुसे फूट-फूट कर चारों ओर गईं शाखाएँ ।
सबमें एक मूल रस व्यापक, गुप्त फूल-फल-अभिलाषाएँ ॥
जिसने सेवन किया मिला धन, दिव्य वृष्टिकी सृष्टि निराली ।
शक्ति सामरिक, ज्योति प्रशंसित गतिको भी गति देनेवाली ॥
एक तुम्हारा आश्रय बनता भवसागरमें पावनपोत ।

क स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः ॥

(ऋ० २ । ३३ । ७)

मेरे रुद्र रोग-दुख-नाशक, सुखवर्षक कर कृपा बताओ,—
कहाँ तुम्हारा वरद हस्त वह, जिससे सौख्य-शान्ति सरसाओ ।
संतापोंमें औषध-सम जो जनहित-साधक शक्ति विशाला,—
देवोंके प्रति पाप किए जो उनको दूर भगानेवाला ।
आज उसी करकी छायामें, क्षमा करो, मम वास बनाओ ॥

कुम्भ

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

शिष्य–महाराज ! क्या आप कुम्भमें नहीं पधारेंगे ? दुनियाभर उमड़ी चली जा रही है !

गुरु–बच्चा ! मेरा घट तो फूट गया !

शिष्य–अजी ! वाह ! कहूँ खेतकी सुनें खलियानकी ! आप कहीं ऊँचा तो सुनने नहीं लगे हैं ? मैं पूछता हूँ आप कुम्भमें जायँगे या नहीं ? आप कहते हैं मेरा घट फूट गया ! मेरे और आपके वाक्यकी सङ्गति नहीं मिलती !

गुरु–भाई ! तेरी तो वही मसल है, बारह वर्ष भारतमें रहे, क्या किया ? भाड़ झोंका ! चौबीस वर्ष अफ्रीकामें रहे, क्या किया ? रुई धुनी ! छत्तीस वर्ष अमेरिकामें रहे, क्या किया ? खाक छानी ! सौ वर्ष स्वर्गलोकमें इन्द्रके नन्दनवनमें रहे, क्या किया ? अप्सराओंके बैठनेकी कुर्सियाँ साफ कीं ! हजार वर्ष ब्रह्मलोकमें रहे, क्या किया ? ब्रह्माजीका पलंग बुना ! दस हजार वर्ष जगत्सेठकी नौकरी की, क्या किया ? थैलियाँ ढोयीं ! भाई ! क्या तेरे भाग्यमें बोझा ढोना और चंदिया रोटी खाना ही लिखा है ? ऐसा ही है तब तो तू मोक्षसे भी लौट आवेगा ! अपनी तो दुर्दशा करावेगा ही, साथ ही मेरी भी हँसी करावेगा क्योंकि उम्रभर गुरुके पास रहा, क्या किया ? लंगोटी धोता रहा ! यह सुनकर शिष्ट पुरुष मुझको ही दोष देंगे कि अच्छे गुरु हैं, जिन्होंने बेचारे शिष्यका अमूल्य मानव-जीवन लंगोटी धुलवानेमें ही नष्ट करवा दिया, कुछ सिखाया-पढ़ाया नहीं। इससे तो बेचारा विवाह कर लेता, तो पाँच-चार बच्चे ही हो जाते, जो उसकी सेवा किया करते। कहीं डाकखाने आदिमें नौकरी कर लेता, तो पचास-साठ रुपये पेंशन ही मिल जाती, तो बैठे-बैठे खाया तो करता ! सच है, अयोग्य शिष्य गुरुको भी बदनाम करता है और आप भी दुःख उठाता है। तुझसे मेरे और अपने वाक्यकी संगति ही नहीं मिलायी गयी, तो फिर मन-वाणीके अविषय ब्रह्मका लक्षणावृत्तिसे कैसे साक्षात्कार कर सकेगा ? अच्छा ! अब ध्यान देकर सुन, मैं अपने और तेरे वाक्यकी सङ्गति दिखलाता हूँ।

भाई ! कुम्भ नाम घटका है। जैसे घट पोला होता है, इसी प्रकार यह शरीर भी पोला है अथवा जैसे घट फूटता रहता है, इसी प्रकार यह शरीर भी फूटता रहता है या जैसे घटका द्रष्टा घटसे भिन्न होता है, इसी प्रकार इस शरीरका द्रष्टा आनन्दस्वरूप आत्मा इस शरीरसे भिन्न है इसलिये इस शरीरको विद्वान् घट कहते हैं। जैसे घटको मनुष्य जी चाहे जहाँ ले जाता है, इसी प्रकार इस शरीरको भी आनन्दस्वरूप आत्मा चाहे जहाँ ले जाता है, इसलिये भी शरीर और घटकी समानता है। जैसे घट मिट्टीसे बनता है, इसी प्रकार यह शरीर भी माता-पिताके खाये हुए अन्नरूप पृथ्वीके अंशसे उत्पन्न रज-वीर्यसे बना हुआ है, इसलिये विद्वान् इस शरीरको घट कहते हैं। यह शरीर सब जीवोंको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, इसलिये शास्त्रवेत्ता इसको स्थूल शरीर कहते हैं। स्थूल शरीरके भीतर एक दूसरा सूक्ष्म शरीर है। वह सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीरसे विलक्षण है। जैसे यह स्थूल शरीर बार-बार बनता-बिगड़ता यानी जन्मता-मरता रहता है, इस प्रकार वह सूक्ष्म शरीर बार-बार जन्मता-मरता नहीं है, वह मोक्षपर्यन्त एक ही रहता है, इसलिये तत्त्व-

दर्शी उसको सुवर्णमय कहते हैं। जैसे स्थूल शरीर पृथ्वीमय यानी अन्नमय है, इस प्रकार सूक्ष्म शरीर अन्नमय नहीं है, वह तेजोमय है। इसीलिये उसे सुवर्णमय कहा जाता है, जितने तेजोमय शरीर हैं, उन सबकी उत्पत्ति हिरण्यगर्भ भगवान्से हुई है। हिरण्य नाम सुवर्णका है, इसलिये हिरण्यगर्भका अर्थ भी सुवर्णमय है। सुवर्णमय हिरण्यगर्भसे उत्पन्न होनेके कारण भी तेजोमय सूक्ष्म शरीर सुवर्णमय कहलाता है। न्यायशास्त्रकर्ता गौतम ऋषिने सुवर्णको तैजस द्रव्य माना है। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। इस न्यायसे यद्यपि सबके सूक्ष्म शरीर सुवर्णरूप ही हैं तो भी सत्त्वगुणकी न्यूनता-अधिकताके कारण शरीरोंमें भेद है। इसलिये सबसे अधिक सत्त्वगुणवाले शरीरको सुवर्णका, उससे कम सत्त्वगुणवालेको चाँदीका, उससे भी उतरतेको ताँबेका, उससे उतरतेको पीतलका और सबसे उतरतेको लोहेका कह सकते हैं। सुवर्णादिरूप ये सब घट यद्यपि निर्मल गङ्गाजलसे भरे हुए हैं परन्तु उनके अभिमानी जीवोंमेंसे प्रायः सबको इसकी खबर नहीं है, विरलोंको ही इस बातका ज्ञान है। अधिक लोग तो जो अपने घटको खाली समझते हैं, उसे भरनेके लिये कुम्भमें जाते हैं। थोड़े-से भरे हुए जलवाले लोकसंग्रहके लिये अथवा गङ्गाजीका माहात्म्य प्रचार करनेके लिये जाते हैं, जैसे जिस ग्राममें बहुत-से ब्राह्मण रहते हैं, वह ग्राम ब्राह्मणोंका ग्राम अथवा ब्राह्मण ही कहलाता है, इसी प्रकार बहुत-से कुम्भ एकत्र होनेसे कुम्भोंके समागमको कुम्भ कहते हैं। पर्वके मुहूर्तमें प्रथम सुवर्णके कुम्भ स्नान करते हैं और पश्चात् क्रमसे चाँदी आदिके कुम्भ स्नान करते हैं और अपनी-अपनी श्रद्धा और भावनाके अनुसार अपनेमें जल भर लाते हैं, बहुत-से कुम्भ जो छिद्रवाले होते हैं, वे तो वहीं अपना जल खाली कर आते हैं और बिना छिद्रवाले जल लाकर सब लोगोंको बाँट देते हैं। यद्यपि गङ्गाजल सबमें समान ही निर्मल होता है परन्तु घटोंकी प्रकृतिके अनुसार जलकी तासीर बदल जाती है। सुवर्णके कुम्भोंमें तो जल ज्यों-का-त्यों शुद्ध और निर्मल होता है, चाँदीकेमें उससे कुछ कम निर्मल होता है, ताँबेकेमें और भी कम, पीतलकेमें उससे भी कम और लोहेकेमें तो सबसे अधिक गँदला जल हो जाता है। लोहेका कुम्भ पहले अपने गँदले जलको इस प्रकार बहाता हुआ त्रिवेणीका माहात्म्य कहता है।

लोहेका कुम्भ-(गँदला जल) यहाँ प्रयागमें गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका सङ्गम है। उनमेंसे गङ्गा, यमुना तो प्रत्यक्ष हैं, सरस्वतीका कहीं पता नहीं है, इसलिये दोहीका सङ्गम है, तीनका नहीं है। तीनका सङ्गम ब्राह्मणोंकी कपोलकल्पना है। तीन होतीं तो दिखायी न देतीं ? थोड़ी देरके लिये मान लिया कि तीन ही हैं, तो भी विशेषता क्या है ? दुनियाभरके देशोंमें बहुत-सी नदियाँ हैं, कई जगह दो-दो, तीन-तीनका सङ्गम है। यदि सङ्गमका कोई माहात्म्य होता, तो दूसरे देशोंमें भी होता। असलमें यहाँकी जनता भोली है, ब्राह्मणोंने अपना पेट भरनेके लिये और दूसरोंको लूटनेके लिये बढ़ा-बढ़ाकर माहात्म्य लिख दिया है। गङ्गा-यमुना स्वयं ही जड हैं, फिर वे अपनेमें स्नान करनेसे किसीको क्या फल दे सकती हैं ? उन्हें जिधरको काट दो, उधरको ही बही चली जाती हैं। नहरें निकल जानेसे वे स्वयं ही दुर्बल हो गयी हैं, फिर दूसरोंको क्या फल देंगी ? और देंगी भी कब ? देह तो मरते ही जला दिया जायगा ! जब देह ही नहीं रहेगा, तो फिर फल किसको मिलेगा ? जैसे चूना, कत्था, सुपारी और पान चार चीजोंके मेलसे मुखमें लाली आ

जाती है, इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार भूतोंके मेलसे शरीरमें चेतनता आ जाती है। स्त्री-पुरुषके रज-वीर्य मिलनेसे शरीर उत्पन्न होता है। शरीरके साथ ही जीव उत्पन्न होता है, माताके पेटमें रुधिरसे बढ़ता रहता है। नौ मासके बाद पेटसे बाहर निकल आता है, कुछ दिनों दूध पीकर बढ़ता है और फिर अन्न खाने लगता है। बीस वर्षतक बढ़ता है, चालीस वर्षतक न घटता है, न बढ़ता है। चालीसके बाद घटने लगता है और घटते-घटते कुछ दिनों बाद नष्ट हो जाता है। पीछे लेन, न देन! जन्मसे पहले भी कुछ पता नहीं था, पीछे भी नहीं है। फिर स्नानादिका और यज्ञ, दान, तपादिका फल कहाँसे मिलेगा? जन्मसे मरणतक जो कुछ खा लो, पी लो, मौज कर लो—वही अपना है। आगे न पुण्य है, न पाप। न जीव है, न ईश्वर। न वेद है, न कर्म। खाने-पीनेमें, नाचने-गानेमें, तेल-फुलेल लगानेमें, विषय-भोगोंमें प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव होता है, इसलिये जितने भोग प्राप्त हो सकें, भोग लेने चाहिये। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। माता-पिताने हमें उत्पन्न करनेके लिये विवाह थोड़े ही किया था, उन्होंने तो अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके लिये किया था! हमारा जन्म तो स्वाभाविक ही हो गया। तब माता-पिताका क्या झगड़ा? उन्होंने कुछ हमपर अहसान तो किया नहीं है जो हम उनकी सेवा करें, गुलामी करें और उनके खाने-पीने-की चिन्ता करें? हाँ, विवाह अवश्य करना चाहिये; क्योंकि जैसे खाना-पीना जीवनके लिये आवश्यक है वैसे ही स्त्री-सुख भी आवश्यक ही है। एक विवाहसे वासना पूर्ण न हो तो दो-चार कर लेनेमें भी आपत्ति नहीं है। जिस काममें सुख हो, वही पुण्य है और जिसमें दुःख हो, वही पाप है। विषयभोगमें प्रत्यक्ष सुख मिलता है, धन और स्त्री सुखके साधन हैं, फिर चाहे वे अपने हों या पराये। उनका संग्रह अवश्य करना चाहिये। तीर्थ, व्रत, तप और दान आदिमें तो प्रत्यक्ष ही कष्ट है और धनका खर्च भी है, फिर ऐसा पाप क्यों करें? दिन-रात चिन्ता करते और शरीरका कचूमर निकालते हुए धन कमाओ और फिर उसे दूसरोंको दे दो, इसका नाम बुद्धिमानी नहीं है, यह तो स्पष्ट मूर्खता है। भोजन होनेपर भी भूखों मरो, यह बात कौन बुद्धिमान् मानेगा? कोई मूर्ख ही इसे मानते होंगे! वर्णाश्रम, जाति आदि सब सुखमें बाधा डालनेवाले हैं। जातिके भयसे दूसरेका बनाया नहीं खा सकते, परायी जातिकी सुन्दर पढ़ी-लिखी स्त्रीसे भी विवाह नहीं कर सकते, स्वच्छन्दतासे चाहे जहाँ—चाहे जैसे रहकर मन-माना धन नहीं कमा सकते। डबलरोटी, बिस्कुट नहीं खा सकते। मांस-मदिराका भी सेवन नहीं कर सकते। मनमानी स्त्रीके साथ विहार नहीं कर सकते। ऐसी-ऐसी अनेकों बाधाएँ जाति और धर्मके कारणसे सुख भोगनेमें पड़ती हैं। नेमसे नहाओ, कपड़े उतारो और चौकेमें बैठकर खाओ—इससे भला धर्मका क्या सम्बन्ध? नहाकर ही भोजन क्यों किया जाय, क्या नहानेसे भोजनका स्वाद बढ़ जाता है या कुछ बल बढ़ जाता है? सिकुड़े हुए नंगे बैठकर खानेमें असलमें भोजनका स्वाद चला जाता है, इस प्रकार जाति-धर्मके कारण महान् दुःखोंकी प्राप्ति होती है। सुखका नाश और दुःखकी प्राप्ति—दोनोंमें यह जातिका बखेड़ा ही प्रधान कारण है। वर्णाश्रमके ऐसे-ऐसे कठिन नियम हैं, कि वे तो दुःखस्वरूप ही हैं। दुःखस्वरूप होनेसे पापरूप तो हैं ही। क्योंकि दुःखका नाम ही तो पाप है। इसलिये बस, इस वर्णाश्रम और जाति-को जड़से उखाड़कर त्रिवेणीमें बहा देना चाहिये। गङ्गा-यमुना सबके पाप धोती हैं, यह उनका

माहात्म्य है। भाई! मरे पीछे धोती हो, यह तो हमारी समझमें नहीं आता क्योंकि हम जब रहेंगे ही नहीं तब वे पाप किसके धोयेंगी। वर्ण, आश्रम और जाति—ये तीन सबको सङ्कट देनेवाले प्रत्यक्ष पाप हैं, इसलिये इन तीनोंको त्रिवेणीमें बहा दो! यदि त्रिवेणी इन तीनोंको बहा ले जायँ तब तो हम समझें कि हाँ! त्रिवेणीमें कुछ ताकत है। फिर तो हम भी जबतक जीयेंगे, बराबर त्रिवेणीके गुण गाते रहेंगे और समझेंगे कि प्रयाग सचमुच तीर्थराज है और इस वर्षका कुम्भ हमारे लिये शातकुम्भरूप ही सिद्ध हुआ!

हे शिष्य! लोहेके कुम्भ इस प्रकार इतना अधिक बहकते हैं कि कहीं पार ही नहीं मिलता। इस व्यर्थकी बकवादको कौन अधिक कहे-सुने, अतएव इस चर्चाको यहीं समाप्त करता हूँ। आजकलके लोग बुद्धिपर जोर लगाकर यह भी नहीं विचारते कि यह कौन कह रहा है, यह कथन मानने योग्य है या नहीं, कहीं किसी अक्लके पूरेने इसीको सिद्धान्त समझ लिया और प्रमाण मान लिया तो उसका पाप मेरे-तेरे पल्ले पड़ेगा, इसलिये इस चर्चाको बढ़ाना उचित नहीं है। शातकुम्भका अर्थ सुवर्ण है। या शातका अर्थ सुख है और कुम्भका अर्थ प्रत्यक्ष कुम्भ है। इस व्युत्पत्तिसे शातकुम्भका अर्थ सुखरूप कुम्भ हुआ। इसी अभिप्रायसे लोहेका कुम्भ इस वर्षके कुम्भको सुवर्ण और सुखरूप मानता है। लोहेके कुम्भकी वाणी सुनकर पीतलका कुम्भ अपने जलके स्वादका परिचय देता हुआ कहता है—

पीतलका कुम्भ—भाइयो! देह आत्मा नहीं है। आत्मा देहसे भिन्न है। चार भूतोंके मिलनेसे चेतनता नहीं आती। ऐसा होता, तब तो मरे हुए देहमें भी चेतनता रहती; क्योंकि उसमें भी चारों भूत विद्यमान हैं, यदि भूतोंके मिलनेसे ही चेतनता होती, तो देह कभी मरना ही न चाहिये! चेतनता देहसे भिन्न है, मृतक देहसे चेतनता चली जाती है, इसीलिये निर्जीव देह चेष्टारहित हो जाता है। यदि देहको आत्मा मानें तो फिर पुण्य-पापका भोग ही न हो। क्योंकि जिस देहने पुण्य-पाप किये थे, वह तो नष्ट हो गया, फिर पुण्य-पाप कौन भोगेगा? ऐसा हो तो कोई पुण्य कर्म करे ही नहीं। सब जीव पुण्य करते हैं और आगे दूसरे जन्मोंमें उनका फल भोगते हैं। बालक जन्मते ही सुख-दुःख भोगता है, इससे सिद्ध है कि वह पूर्वजन्ममें पुण्य-पाप कर आया है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि देहसे अलग आत्मा है। जन्मते ही बालक दूध पीने लग जाता है, इससे भी सिद्ध होता है कि उसने पूर्वजन्ममें दूधको अपने हितका साधन अनुभव किया है, इससे भी आत्मा देहसे अलग सिद्ध होता है। प्रत्येक बालककी बुद्धिमें भेद होता है। कोई बालक एक बार बतानेसे ही बातको समझ जाता है और कोई बहुत माथापच्ची करनेपर भी नहीं समझता। कोई एक-एक सालमें दो-दो कक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेता है, तो कोई-कोई एक ही कक्षामें दो-दो, तीन-तीन वर्ष तक पड़ा रहता है, इससे सिद्ध होता है कि पूर्वजन्ममें एकने विद्याका अभ्यास किया है, दूसरेने नहीं किया। इन सब कारणोंसे सिद्ध होता है कि जीवात्मा देहसे भिन्न है। देहको आत्मा माननेवालोंका मत बहुत ही पोच और युक्तिरहित है। इसलिये विद्वानोंको यह मत नहीं मानना चाहिये।

ईश्वरकी सिद्धि—यद्यपि ईश्वरतत्त्वको किसीने आँखोंसे नहीं देखा, इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, तो भी अनुमानप्रमाणसे ईश्वर सिद्ध है, इतना बड़ा ब्रह्माण्ड बिना कर्ताके नहीं बन सकता। लोकमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो बिना

कर्ता और कारणके बन जाती हो। एक घड़ा भी बिना कुम्हार और बिना मिट्टीके नहीं बन सकता तो इतना बड़ा विश्व बिना ईश्वरके कैसे बन सकता है? घड़ियाँ, मशीनें आदि यन्त्र भी कर्ता और कारणके बिना नहीं बनते, इससे सिद्ध होता है कि जगत्का निर्माण करनेवाला ईश्वर है।

सभी वस्तुएँ नियमसे अपना-अपना कार्य करती हैं, इससे भी ईश्वरका अनुमान होता है। सूर्य नियमसे गरमी और प्रकाश देता है। सूर्य जरा भी नीचे उतर आवे तो सब प्राणी जल जायँ, अधिक प्रकाश देने लगे, तो सबकी आँखोंमें चकाचौंध आ जाय, कोई देख ही न सकें। चन्द्रमा नियमसे शीतलता देता है, यदि अधिक शीतलता देने लगे, तो सब ठंडे हो जायँ! समुद्र अपनी मर्यादामें रहता है, यदि समुद्र बढ़ आवे, तो सारी पृथ्वी डूब जाय! गङ्गा-यमुना नदी नियमसे अपनी दिशाको जा रही हैं। वायु नियमसे चलता है, यदि अधिक आँधी आ जाय तो सब धूलमें ही दब जायँ। पृथ्वी नियमसे ओषधि-अन्नादि देती है, यदि नियमसे अन्नादि न उत्पन्न हों तो सब प्राणी भूखे मर जायँ! पृथ्वी-पर एक-से-एक बलवान् हैं, यदि ईश्वरका भय न हो तो बलवान् लोग अपनेसे कम बलवालोंको रहने ही न दें, शिष्ट पुरुषका कोई आदर ही न करे, धूर्तोंका मान होने लगे। ईश्वरका भय न हो तो कोई मर्यादापर न चले, सब विपरीत करने लगें। पाप करनेसे सबको डर लगता है और पुण्यकर्मोंको सब करना चाहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि उनके मनमें ईश्वरका भय है। ईश्वरके भयसे कोई अन्याय नहीं करता, यदि कोई करता भी है तो राजा उसे दण्ड देता है, अथवा शिष्ट पुरुष उसको शिक्षा देते हैं या अग्नि और जलसे उसको दण्ड मिल जाता है, देर-सबेर सबको अपने-अपने पुण्य-पापका फल मिलता देखनेमें आता है। इससे सिद्ध होता है कि इस जगत्का कोई नियामक अवश्य है।

वेद प्राचीन ऋषियोंके बनाये हुए हैं, इसलिये मान्य हैं। परन्तु धूर्तोंने वेदोंमें बहुत-सी बातें पीछे-से बढ़ा दी हैं, जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं। जो बात बुद्धिमें नहीं आती हो, उसे मानना उचित नहीं है। वेदमें कर्म करनेके लिये कहा गया है; परन्तु कहा है उन्हीं कर्मोंके लिये, जिनसे दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न हो। जैसे चोरी, व्यभिचार, जुआ, हिंसा आदि निषिद्ध कर्म हैं, इनसे दूसरोंको पीड़ा होती है, इसलिये ये सब पापरूप हैं। बुरे कर्मको हमारा मन ही बता देता है, इसलिये जिस कर्मके करनेकी मन गवाही न दे उसे कभी नहीं करना चाहिये। काल जड है, इसलिये वह कोई वस्तु नहीं है। भले-बुरे लोग थोड़े-बहुत सभी युगोंमें होते हैं, इसलिये सत्य-युगादि सभी युग एक-से हैं। लोक भी बस, यह पृथ्वी ही है जो हमारे सामने है। इसके सिवा और कोई लोक नहीं है। स्वर्ग-नरक सब यहीं है अन्य कहीं नहीं है इसलिये यहाँ जीवोंको आराम पहुँचाना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है। परलोकमें यज्ञ, दान और तपका फल मिलता है, यह कथन ठीक नहीं है। भला! यज्ञ यहाँ करो, और परलोकमें चन्द्रलोककी प्राप्ति हो, यहाँ ब्राह्मणोंको भोजन करा दो और वहाँ पितृलोकमें पितरोंको पहुँच जाय। यह कैसे हो सकता है? इन अनहोनी कल्पनाओंको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष भला कैसे मान सकता है! हवन करनेसे वायु अवश्य शुद्ध होता है, इसलिये हवन नित्य करना चाहिये। पिता-माता आदिको पूजना यानी अन्न, वस्त्र, सेवा आदिसे उनका सत्कार करना, यही पितृयज्ञ या श्राद्ध है। जीवित माता-पिता आदिकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। दान भी लूले, लँगड़े, अंधे, अपाहिजोंको देना ही चाहिये। तप भी यही है कि

ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय। जो वस्तु आरोग्यतामें हानिकारक हो, उसका सेवन न करना चाहिये। मूर्ति आदिकी पूजा करना उचित नहीं है क्योंकि मूर्ति जड है, उसे पूजनेसे किसी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो आप ही अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह दूसरेकी कैसे करेगा। वर्णाश्रम भी व्यर्थ हैं, क्योंकि जन्मसे सब शूद्र ही होते हैं, फिर यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह अमुक जातिका है—ये सब व्यर्थकी कल्पनाएँ हैं। सब मनुष्य हैं, सबको एक-सा अधिकार है, जो मनुष्य जिस कार्यको करना चाहे, वही कर सकता है। अन्य देशोंमें भी तो बिना वर्ण-आश्रमके काम चलता ही है, जो चाहे जिसके साथ विवाह कर सकता है, चाहे जिसके साथ बैठकर खा सकता है। जाति-पाँति, वर्णाश्रम सब ढकोसला है, इसलिये इन्हें उठा देना चाहिये। सारांश यह कि वेद-शास्त्रकी उतनी ही बात माननी चाहिये, जितनी हमारी बुद्धिमें आ सके। जो बात बुद्धिसे बाहर हो वह माननीय नहीं है। इसलिये इस वर्षके कुम्भमें हम सबको मिलकर यह प्रस्ताव स्वीकार करना चाहिये कि अपने अनुभव और बुद्धिके अनुसार जिस कार्यमें सुखका अनुभव हो वही कार्य करना और जिस कार्यमें दुःखका अनुभव हो, उसे सर्वथा त्याग देना उचित है।

हे शिष्य! इतना कहकर पीतलका कुम्भ अपनी बुद्धिका परिचय देकर चुप हो जाता है। इसके बाद शास्त्रमें किञ्चित् प्रवेश करनेवाला और इसी कारण शुद्ध बुद्धिवाला ताँबेका कुम्भ अपनी बुद्धिका इस प्रकार परिचय देता है—

ताँबेका कुम्भ—भाइयो! मनुष्यकी बुद्धि तुच्छ है। शास्त्रकी सहायता बिना वह सत्यासत्यका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकती, विद्वानोंने प्रत्यक्ष प्रमाणसे शास्त्र-प्रमाणको प्रबल माना है। सूर्य यहाँसे देखनेमें छोटा-सा दीखता है परन्तु ज्यौतिषशास्त्रसे यह प्रत्यक्ष प्रमाण बाधित हो जाता है। ज्यौतिषशास्त्रने सूर्यको कोटि योजनवाला बतलाया है। जो लोग शास्त्रका अपनी बुद्धिसे निर्णय करना चाहते हैं वे भूल करते हैं।

शङ्का—जब शास्त्रका बुद्धिसे निर्णय नहीं हो सकता, तो और किससे हो सकता है? हमारे पास बुद्धिके सिवा और साधन ही क्या है?

समाधान—भाई! यह ठीक है कि बुद्धिके सिवा अन्य कोई साधन हमारे पास नहीं है परन्तु बुद्धि यदि शास्त्रपर विश्वास न करके शास्त्रकी सहायताके बिना शास्त्रका निर्णय करना चाहे, तो कैसे हो सकता है। शास्त्रोंके अध्ययनसे ही तो बुद्धि शुद्ध और तीव्र होती है। शास्त्रसंस्कारसे रहित बुद्धि अन्धी आँखके समान है और शास्त्रसंस्कारोंसे संस्कृत बुद्धि सूझती आँख है। संस्कारी पुरुषोंके सिवा अन्य सबकी बुद्धि आरम्भमें तीव्र और शुद्ध नहीं होती। ज्यों-ज्यों शास्त्रका अभ्यास किया जाता है, बुद्धि तीव्र होती चली जाती है। अन्य जीवोंसे मनुष्यमें यही विशेषता है। जबसे सृष्टि उत्पन्न हुई तबसे अनेकों प्रतापी ऋषि, महर्षि और राजर्षि हुए हैं, उन सबके द्वारा रचित शास्त्र मनुष्यको प्राप्त हैं, उन्हें देखनेसे मनुष्यके हृदयकी आँखें खुल जाती हैं। सभी ऋषि-मुनियोंने वेदको मुख्य प्रमाणरूप और अपौरुषेय यानी ईश्वररचित माना है। वेदोंके सिवा इतिहास-पुराणादिकी वेदके तात्पर्यको जाननेवाले ऋषियोंने रचना की है, उनको भी शिष्ट पुरुषोंने प्रमाण माना है, वेदको श्रुति और ऋषियोंके रचे हुए ग्रन्थोंको स्मृति कहते हैं, श्रुति-स्मृति दोनों प्रमाणरूप हैं। श्रुति और स्मृतिका अभिप्राय ही अलौकिक पदार्थोंको बताना है। जिन पदार्थोंको मनुष्य अपनी बुद्धिसे नहीं जान सकता, उन्हीं पदार्थोंका

श्रुति-स्मृतियोंमें प्रतिपादन किया गया है। व्यावहारिक मनुष्य सब शास्त्रोंको नहीं देख सकता, उन्हें संत महात्मा ही देख सकते हैं क्योंकि उनको शास्त्राव-लोकनके अतिरिक्त अन्य कुछ काम ही नहीं है, इसलिये शास्त्रपर विश्वास करके पहले यथा-सम्भव शास्त्रको जानना चाहिये और जिस बातका अपनेसे निर्णय न हो सके, उसका निर्णय शास्त्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मण तथा साधु-संतोंसे कराना चाहिये। पृथ्वीके अतिरिक्त अन्य लोक नहीं है, यह कहना भी सर्वथा विरुद्ध है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण ये लोक प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं और उनमें भी प्राणी रहते हैं, यह बात अनुमानप्रमाणसे सिद्ध होती है, क्योंकि जैसे पृथ्वी है, वैसे ही सूर्य, चन्द्र भी हैं, जब पृथ्वीपर जीव हैं, तो उनमें भी जीव होने चाहिये, हाँ! इतनी विलक्षणता सम्भव है कि जैसे यहाँ पृथ्वी-तत्त्वकी विशेषता है, वहाँ अग्नि और जलकी हो, इसलिये अग्नि और जलतत्त्वकी विशेषतावाले वहाँ भी हो सकते हैं। शब्दप्रमाणसे तो स्पष्ट है ही कि चन्द्रलोक, आदित्यलोक, वरुणलोक, विद्युत्लोक और वायुलोक आदि हैं, उनकी प्राप्तिके उपाय भी शास्त्रोंमें बतलाये हैं, इससे सिद्ध है कि पृथ्वीके सिवा अन्य लोक भी हैं। इसलिये हमको केवल पृथ्वीके भोगोंको ही पर्याप्त न समझना चाहिये किन्तु स्वर्गीय उच्च लोकोंकी प्राप्तिके लिये यज्ञ, दान, तपादि कर्म करने चाहिये। उच्च लोकोंकी प्राप्तिका उपाय मनुष्य-लोकमें हो सकता है, क्योंकि शास्त्रमें मनुष्यशरीरको ही उनका अधिकारी बतलाया है। जैसे हमने अमेरिका आदि देशोंको देखा नहीं है परन्तु आप्त-पुरुषोंसे सुनकर हम यह विश्वास करते हैं कि भारतके सिवा अन्य देश भी अवश्य हैं, इसी प्रकार शास्त्र-द्वारा उच्च लोकोंकी विद्यमानता जानकर उनकी भी प्राप्तिका उपाय करना चाहिये। इसलिये यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत, तपादिमेंसे जिसमें जिसके करनेकी योग्यता हो, उसीको करना चाहिये। कालको भी अवश्य मानना चाहिये क्योंकि काल यद्यपि जड है तो भी समर्थ है। जाड़ा, गरमी, वर्षा नियमसे होते हैं। जाड़ेकी वस्तु जाड़ेमें और गरमीकी वस्तु गरमीमें ही होती है, सब वृक्ष अपनी-अपनी ऋतुपर फल देते हैं। ज्वार, बाजरा आदि कारमें होते हैं, चने गेहूँ आदि फाल्गुनमें होते हैं। मनुष्यका बालक नौ मासमें होता है, इसी प्रकार अन्य पशु-पक्षी आदिके बच्चोंका नियम है। इसलिये यज्ञादि जो कार्य हों सब शास्त्रोंमें बताये हुए कालपर ही करना चाहिये। जो जिस कालमें होनेवाला होता है, अवश्य होकर रहता है, इसलिये जो कुछ जिस कालमें प्राप्त हो, उसको ईश्वरकी इच्छा समझकर दुखी न होना चाहिये।

वर्णाश्रमधर्म–वर्णाश्रमधर्म वेदमें बताये हुए हैं। अनादि कालसे चले आये हुए हैं, संसारके व्यवहारमें उनसे मदद मिलती है। अपना-अपना धर्म सबका स्वाभाविक होता है, इसलिये अपने धर्मके पालन करनेमें कोई अड़चन नहीं पड़ती। और भी विशेष लाभ हैं, ऋषि-मुनियोंने पुराण, इतिहासादिमें वर्णा-श्रमका विस्तारसे वर्णन किया है। सबको अपने-अपने धर्मको जानना चाहिये और उनका यथा-सम्भव पालन करना चाहिये।

जातिधर्म–जातिधर्म भी श्रेयका मार्ग है। जातिसे बड़े-बड़े लाभ हैं। जातिके भयसे कोई दुष्टाचरण नहीं कर सकता। दुनियाभरके साथ खान-पान, विवाह-सम्बन्ध आदि व्यवहार कोई नहीं कर सकता। स्वाभाविक ही एक सुन्दर संयम रहता है। सब

मनुष्य एक प्रकृतिके नहीं होते। अपनी जाति थोड़ी-बहुत एक-सी प्रकृतिवाली हो सकती है, इसलिये अपनी-अपनी जातिसे सबको व्यवहार करना चाहिये।

हे शिष्य! इस प्रकार काल, कर्म, वर्णाश्रम, जातिके सम्बन्धमें बड़े लंबे-चौड़े व्याख्यान ताँबेके कुम्भके मुखसे सुनकर चाँदीका कुम्भ अपने जलका परिचय इस प्रकार देता है—

(शेष आगे)

पूजाका परम आदर्श

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्०, ए०)

[तान्त्रिक दृष्टिसे]

(गताङ्कसे आगे)

(३)

आत्मविमर्शका स्वरूप भलीभाँति जाननेके लिये सृष्टि प्रभृति विभिन्न चक्रोंका तत्त्व-निरूपण आवश्यक है। अद्वैतदृष्टिसे परमेश्वर अथवा विश्वगुरु साधककी अपनी आत्मासे अभिन्न हैं। चित् शक्ति नामकी जो उनकी असाधारण स्वातन्त्र्य शक्ति है वह निरन्तर स्वभावतः पञ्चकृत्य रूपमें अपनेको प्रकट करती रहती है। सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँच कृत्योंका स्वभाव क्रमशः क्रिया, ज्ञान, इच्छा, उद्योग तथा प्रतिभा रूपमें वर्णित होता है। हमने जिस स्वातन्त्र्य शक्तिके विषयमें उल्लेख किया है, उसीको आगम शास्त्रोंमें महाप्रतिभाशालिनी 'भासा' के नामसे निर्देश किया गया है। तरङ्गहीन समुद्रमें जिस प्रकार वायुकी क्रियाके कारण कुछ चाञ्चल्य दिखलायी देता है, जिसके द्वारा एकके बाद एक महातरङ्गोंकी उत्पत्ति होती रहती है, उसी प्रकार निर्विशेष शान्त तथा क्षोभशून्य 'भासा'रूपी महासत्ताके वक्षःस्थलपर स्वातन्त्र्यके उल्लासके कारण उद्योगरूपी आदि-स्पन्दका उदय होता है। इसे ही कहते हैं सृष्टिकी प्रथम कलाका आत्म-प्रकाश। उद्योग, अवभास, चर्वण, आत्मविलापन तथा निस्तरङ्गत्व—इस पाँच प्रकारकी समष्टिको सृष्टि कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मामें यह समरूपसे निहित है। दृष्टान्तके लिये एक कुम्हारके घड़ा बनानेके व्यापारको ले सकते हैं। घड़ा बनानेके पहले घड़ेका भाव कुम्हार-के आत्मचैतन्यके साथ अभिन्नरूपमें स्थित रहता है। आत्मस्वरूपमें अभिन्नरूपसे वर्तमान इस भावको भिन्न अथवा पृथक् रूपमें बाहर निकालनेके लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है वही 'उद्योग' नामक प्रथम प्रथा है। इसके पश्चात् दण्ड, चक्र, आदिकी सहायतासे यह भाव बाहर प्रकाशित होता है—इसीको 'अवभास' कहते हैं, सृष्टि क्रियाके अन्तर्गत यह द्वितीय प्रथा है। इसके पश्चात् बाह्यरूपमें अवभासित इस भावको नाना प्रकारके व्यापारोंके द्वारा बार-बार अपने रूपमें अनुभव करना पड़ता है, इसीका पारिभाषिक नाम है 'चर्वण'। इतना हो जानेके बाद इस भाव-विशेषके प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व अथवा स्रष्टा-का प्रयोजनसम्पादन ही सब भावोंका एकमात्र उद्देश्य होता है। इस उद्देश्यके सिद्ध हो जानेपर इसके प्रति उदासीनताका होना स्वाभाविक है। यही 'विलापन' नामक चतुर्थ प्रथा है। जब इस अर्थक्रियाकी स्मृति-तक लुप्त हो जाती है तब 'निस्तरङ्ग' नामक पञ्चम

प्रथाका आविर्भाव होता है। हमने जो दृष्टान्त दिया है उसमें आत्मा या परमेश्वरका स्वरूप ही समुद्रस्थानीय है, तथा घटादि प्रत्येक भाव उसके तरङ्गस्वरूप हैं। ये तरङ्गें परमेश्वरमें ही उदित होती हैं और फिर उन्हींमें लीन हो जाती हैं। भासा अथवा स्वातन्त्र्यशक्ति वस्तुतः निष्कल होते हुए भी कलामय है, क्रमहीन होते हुए भी क्रमविशिष्टके समान प्रतीत होती है। सृष्टिव्यापारमें जिन पाँच प्रथाओंका उल्लेख किया गया है, ये उसीकी कलाके खेल हैं। सिद्धपुरुष कहते हैं कि परमेश्वर या आत्माकी सृष्टिके व्यापारमें १० कलाएँ, स्थितिमें २२ तथा संहारमें ११ कलाएँ, एवं अनाख्यामें १० कलाएँ कार्य करती हैं। सृष्टिकी समस्त कलाएँ पहले प्रवृत्तिकी ओर मुड़ती हैं। आत्माकी स्वधामस्थ पञ्च योनि तथा उनके साथ अविनाभूत पञ्च सिद्ध, ये दस मिलकर सृष्टिकी दस कलाके रूपमें वर्णित होते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर ये पूर्वलिखित उद्योग, अवभासन, आत्मविलापन तथा निस्तरङ्गसे भिन्न पदार्थ नहीं हैं। सृष्टि प्रभृति प्रत्येक व्यापारमें इनका खेल देखनेमें आता है। इसी कारण एकमात्र सृष्टिमें ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा—इन पाँचों कृत्योंकी समस्त विचित्रताओंका स्पष्टरूपसे विकास पाया जाता है। इसी प्रकार अन्य चक्रमें भी उनसे भिन्न चक्रोंके स्वभावका अनुप्रवेश अवश्यम्भावी है। अतएव परमेश्वरके प्रत्येक कृत्यमें पञ्चकृत्यप्रवृत्तिकी उन्मुखता देखी जाती है। इन सब कलाओंमें जब एक कला स्वतः स्फुरित होती है, तब अन्य कलाएँ उसके साथ समरसभावमें वर्तमान रहती हैं।

आत्मस्वरूपको विभिन्न रूपमें धारण करनेको स्थिति कहते हैं। स्थितिचक्रमें जो बाईस कलाएँ कार्य करती हैं उनमें आठ शिवचक्रमें अर्थात् सहस्रारमें, बारह हृदयस्थ षट्कोणमें तथा दो उस षट्कोणके मध्यबिन्दुमें रहती हैं। पहली आठमेंसे चार पीठोंके अधिष्ठाता चार युगनाथ नामसे प्रसिद्ध हैं तथा चार उन्हींकी शक्तियाँ हैं। उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप—इन चार केन्द्रोंमें परमेश्वरके परम कर्तृत्वकी अभिव्यक्ति होनेके कारण ये 'पीठ' नामसे परिचित हैं। परमेश्वरका जो प्रतिबिम्ब कर्त्तारूपमें उनके परमकर्तृत्वकी स्फुरणाके द्वारा अनुप्राणित होकर उड्डीयान पीठमें अपनी शक्तिके साथ अधिष्ठित रहता है उसे कलियुगका 'नाथ' कहा जाता है। अकारात्मक प्रणवकला मन्त्रके द्वारा उसका ऐश्वर्य बढ़ता है। जाग्रत् अवस्थापन्न विश्वकी स्थापनाका अधिकार उसके ऊपर है। उसे 'कर्त्ता' कहते हैं। इसी प्रकार जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप पीठके अधिष्ठातृगण द्वापर आदि तीनों युगोंके नाथस्वरूप हैं। उनका ऐश्वर्य उकार, मकार और नादात्मक प्रणवकला मन्त्रके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है। वे सभी परमेश्वरके परमकर्तृत्व-के स्फुरणविशेषके कर्त्ता हैं तथा क्रमशः ज्ञान, व्यवसाय या विचार और चैतन्यके आश्रयरूपमें स्वप्नावस्थाक्रान्त, सुषुप्ति अवस्थासे आक्रान्त तथा तुरीया-वस्थासे आक्रान्त विश्वकी स्थापना करते हैं। जाग्रत् आदि चार अवस्थाओंमें जगत्की स्थितिका सम्पादन जिन आठ कलाओंके द्वारा होता है, वे ही मस्तकके चक्रमें स्थित चार पीठोंके अधिष्ठाता शक्तिसहित चार युगनाथके नामसे परिचित हैं। हृदयस्थित षट्कोणोंमें जिन बारह कलाओंकी बात कही गयी है, वे तन्त्रशास्त्रमें 'राजपुत्र' के नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें छः साधिकार हैं और शेष छः निरधिकार कहलाती हैं। दर्शन-शास्त्रमें जिन्हें इन्द्रिय कहा जाता है, यहाँ 'राजपुत्र' शब्दसे उन्हींका निर्देश किया गया है। बुद्धि और पाँच कर्मेन्द्रियाँ साधिकार राजपुत्र हैं, तथा मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ निरधिकार राजपुत्र—दोनोंमें यही भेद है। षट्कोणके केन्द्रस्थानमें जो कुलेश्वर और कुलेश्वरीके अवस्थानकी बात कही गयी है, उसे अहङ्कार और

अभिमान-शक्तिका वर्णन समझना चाहिये। आत्मस्वरूप-के तत्तत् रूपमें धृतिके मूलमें यही बाईस कलाएँ अनुस्यूत रहती हैं। यही स्थितिचक्रका रहस्य है।

संहारचक्रमें ग्यारह कलाओंका कार्य देखनेमें आता है। जितने भाव आत्मस्वरूपसे पृथक् होकर विक्षिप्त हैं, उनको फिर आत्मप्रकाशमें वासनारूपसे अवस्थापन करना ही 'संहार' शब्दका अर्थ है। ग्यारह संहार-शक्तियाँ अन्तःकरणके समष्टिरूप अहङ्कारको तथा बाह्य दस इन्द्रियोंको ग्रास करके स्फुरित होती हैं। यहाँ अहङ्कार ही प्रमाता, इन्द्रियाँ प्रमाण तथा इन्द्रियोंके विषयरूप समस्त ग्राह्य वस्तुएँ प्रमेय हैं। जो कलाएँ इन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयको भीतर ग्रास करके प्रकाशित होती हैं वे ही आत्मरूपी भगवान्‌की संहारिणी-शक्ति हैं। इन्हीं ग्यारह शक्तियोंके सम्बन्धके कारण परमेश्वर 'एकादशरुद्र' संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

'अनाख्या' नामक चतुर्थ चक्रमें तेरह शक्तियोंके कार्य दिखलायी देते हैं। आख्या शब्दसे पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन तीन प्रकारके वाक्‌के स्वभावका बोध होता है। अतएव आख्याहीन अनाख्या चक्रमें ये वाक्प्रवृत्तियाँ नहीं रह सकतीं। हम पहले जिन सृष्टि, स्थिति और संहारनामक तीन चक्रोंके विषयमें कह आये हैं, उनमें संहारधाममें नादरूपा पश्यन्ती वाक् कार्य करती है, स्थितिधाममें बिन्दुरूपा मध्यमा वाक् व्याप्त रहती है तथा सृष्टिधाममें लिपिरूपा स्थूल वा वैखरी वाक् कार्य करती है। यह तीनों प्रकारके वाक् ही ऊर्ध्वस्थित विमर्श अथवा परावाक्‌के द्वारा अनुप्राणित तृतीयावस्थामें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—इस त्रिपुटीको उपसंहृत करके चिदग्निरूपमें पर्यवसित होती हैं। संविदुल्लासनामक तन्त्रग्रन्थमें इस अवस्थाके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—

उद्योगमयमालस्यं प्रकाशैकात्मकं तमः।
अशून्यं शून्यकल्पं च तत्त्वं किमपि शाम्भवम्॥

अर्थात् शिवरूपी आत्माका तत्त्व सचमुच ही अनिर्वचनीय है। यह उद्योगमय होते हुए भी आलस्य-मय है। शुद्ध प्रकाशमय होते हुए भी तमोरूप है तथा शून्य न होते हुए भी शून्यवत् है।

इस अवस्थाको वस्तुतः शून्यरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस अवस्थामें योगी प्रकाशके साथ-साथ मानो एक प्रकारके अन्तर्विमर्शका भीतर-ही-भीतर अनुभव करते हैं। यह एक अलौकिक स्फुरणरूपी भासाके आनन्दमय अनुभवका विजृम्भण मात्र है। 'स्पन्दकारिका' में इस अवस्थाके वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—

तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥

अर्थात् चन्द्र और सूर्य जहाँ विलीन हो गये हैं, ऐसे महाव्योममें आत्मा सुषुप्ति अवस्थापन्न मूढवत् प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः आवरणहीन तथा नित्य जाग्रत् अवस्थामें ही रहता है। वस्तुतः यह अवस्था महासुषुप्तिके समान प्रतीत होनेपर भी चिन्मय मुक्त अवस्थाका ही नामान्तर है। इस दशामें साधारणतः 'शक्ति' कहनेमें जो अभिप्राय व्यञ्जित होता है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यही नहीं, उस शक्तिके प्रकार और संख्याका निर्देश करना भी एक प्रकारसे असम्भव है, तथापि तन्त्रमें 'शक्ति' शब्दका औपचारिक प्रयोग देखनेमें आता है। अनाख्या चक्रमें जिन तेरह कलाओंकी बात कही गयी है, उनमें बारह कलाएँ व्यष्टिभावमें इन्द्रियोंके स्फुरणरूपमें हैं और एक कला इनकी समष्टिरूपमें। वस्तुतः सृष्टि आदि करनेवाली सारी शक्तियाँ यहाँ संहारकरूपमें पर्यवसित होती हैं। परन्तु जो संख्या आदिका निर्देश किया जाता है, वह भविष्यत्‌में होनेवाले ज्ञेय पदार्थोंके वैचित्र्यको तथा वर्तमान समयमें जो वासनारूपमें भीतर स्थित है उसको लक्ष्य करके ही किया जाता है। सृष्टिके भीतर

सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार स्थिति और संहार—इनमें भी प्रत्येकमें ये चारों अवस्थाएँ रहती हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बारह शक्ति या देवीके खेल दिखलायी पड़ते हैं। ये बारह शक्तियाँ जिस महाशक्तिसे निकलती हैं तथा जिनमें लीन होती हैं उन्हींको 'त्रयोदशी' कहते हैं। वस्तुतः यह त्रयोदशी सबमें अनुस्यूत तुरीयके साथ सम्मिलित 'भासा' के सिवा और कुछ नहीं है।

भासा या महाप्रतिभा भगवान्‌की स्वातन्त्र्यरूपा चित्-शक्तिका ही नामान्तर है, इसका हमने पहले ही उल्लेख किया है। इसीके गर्भमें पञ्चकृत्यमय अनन्त वैचित्र्य निहित है। यह सर्वातीत होनेपर भी सबकी अनुग्राहिणी पराशक्ति है। जिस प्रकार दर्पणमें नगर आदि दृश्य-प्रपञ्च प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार इस स्वच्छ चिन्मयी पराशक्तिकी भित्तिमें ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयरूप समस्त जगत् प्रतिबिम्बकी भाँति स्फुटित हो उठता है। जहाँ जो कुछ भान होता है, उस सबका पर्यवसान इसीमें है। इसी कारण इससे स्वयं किसी प्रकारके विकल्पके उदय होनेकी आशङ्का नहीं है। यही निर्विकल्प परमधाम है। तथापि आत्यन्तिक स्वच्छताके कारण सृष्टि आदि समस्त चक्र इसमें प्रतिबिम्बरूपमें स्फुरित होते हैं। इसी कारण एक प्रकारसे तत्तत् शक्तिके विकल्परूपसे उपासना करनेका एक न्यायसंगत हेतु देखा जाता है। इसीलिये 'क्रमकेलि' में कहा गया है, कि 'अतएव ये निर्विमर्शं तुर्यातीतमिच्छन्ति ते निरुपदेशा एव।' इसीको 'सप्तदशी कला' कहा जाता है। षोडश कलाएँ विश्वप्रतिबिम्ब-स्वभाव होती हैं और सप्तदशी कला विश्ववैचित्र्यके भित्तिस्वरूप। इसी कारण 'सप्तदशी' शब्दसे विश्व तथा विश्वोत्तीर्ण परमेश्वर दोनोंका ही बोध होता है।

यह स्वातन्त्र्य शक्तिरूपा संविद् देवी संकोच और विकास दोनों प्रणालीसे नाना रूपमें प्रतिभात होती हैं। पचास मातृकारूपी वर्णमाला इन्हींका विकास है। पक्षान्तर-से नवचक्र तथा पञ्चपिण्ड इन्हींका संक्षिप्त रूप है। नवचक्र-से मूर्त्ति, प्रकाश, आनन्द और वृन्द—ये चार, तथा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा—ये पाँच कुल नवचक्रोंका बोध होता है। गुरु अथवा परमेश्वरके पूर्वोक्त नवचक्र पीठनिकेतनकी ओर पाँच प्रकारसे अथवा पञ्चस्रोतमें प्रवाहित होते हैं। सारा प्रपञ्च इन पाँच प्रवाहोंमें पर्यवसित होनेके कारण 'पञ्चपिण्ड' नामसे प्रसिद्ध है। ये पञ्चपिण्ड और भी संक्षिप्त होकर वाग्भवबीजमें परिणत होते हैं। वाग्भवबीजका पर्यवसान होता है 'अनुत्तरकला' में; तथा चरमावस्थामें अनुत्तरकलाके विशुद्ध आत्मपरामर्शरूपमें परिणत होनेपर अपना परमेश्वरत्व सिद्ध होता है, एवं जीवन्मुक्तिकी प्रतिष्ठा होती है। अतएव पूर्वोक्त आलोचनाके द्वारा यह समझा जा सकता है कि भगवान्‌की पराशक्ति एक ओर जिस प्रकार आत्म-विमर्शरूपमें स्थित है दूसरी ओर उसी प्रकार पचास वर्णोंके रूपमें विश्वप्रसारके विमर्शरूपमें स्फुरणशील है। अर्थात् आत्मा विश्वातीत होते हुए ही विश्वमय है।

यहाँ जिन सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पाँच चक्रोंकी बात कही गयी है, वही पञ्चवाह महाक्रमके नामसे प्रसिद्ध हैं। पहले सृष्टिसे लेकर अनाख्यापर्यन्त चार चक्रोंकी पूजा क्रमपूजा नामसे अभिहित होती है, उसके पश्चात् अक्रम-क्रम-पूजाका अधिकार होता है, यही शास्त्रका विधान है।

परमेश्वर निरन्तर अविच्छिन्नभावसे अपनी स्वरूप-भित्तिसे सृष्टि प्रभृतिको स्फुटित करते रहते हैं। इसी कारण स्रष्टृत्व आदि सभी गुणोंमें उनका अपना श्रेष्ठ कर्तृत्व अनुस्यूत रहता है। उन्हें विमर्शमय या

स्वातन्त्र्यशाली कहा जाता है। यही उसका तात्पर्य है। साधारण जीवोंको वस्तुतत्त्वविषयक ज्ञान नहीं होता, इसी कारण वे जन्म-मृत्युके स्रोतमें विवश होकर बहते चले जाते हैं। वे कालके अधीन होनेके कारण पञ्चचक्रोंके क्रमका अनुभव करनेमें समर्थ नहीं हैं, इसी कारण उनके लिये सृष्टिसे भासाका व्यवधान अनुभवसिद्ध है। क्योंकि क्रमबोधके अधीन होनेसे सारे जीवोंकी यह धारणा हो जाती है कि सृष्टिके परे स्थिति, संहार और अनाख्या क्रमशः इन तीन चक्रोंका व्यवधान है और इस व्यवधानको पार किये बिना भासाका साक्षात्कार हो नहीं सकता। परन्तु यह धारणा परतन्त्रता और अज्ञानका विलासमात्र है। क्योंकि भासा ही सृष्टिकी अधिष्ठानभूमि होनेके कारण तात्त्विक दृष्टिसे सृष्टि और भासाके बीच किसी प्रकारका व्यवधान नहीं रह सकता। हमने पहले ही कहा है कि भासासे पहले परिस्पन्दनरूपमें उद्योग आदि क्रमसे सृष्टिका आविर्भाव होता है। इसी प्रकार विचार करनेसे समझा जा सकता है कि सृष्टिका मूल भासा है और भासाका विकास सृष्टि है। अन्यान्य चक्रोंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करना होगा। अर्थात् स्थितिका मूल सृष्टि है और सृष्टिका विकास स्थिति है—इत्यादि।

हमने जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यही है कि सृष्टि प्रभृति चारों कार्योंमेंसे प्रत्येकमें ये चारों प्रकार हैं। अन्तमें भासा या चित् शक्तिमें ही सबका पर्यवसान होता है। पक्षान्तरसे चित् शक्ति यद्यपि विशुद्ध स्वरूपके साक्षात्कारके कारण चैतन्यके अखण्ड अनुभवस्वरूप तथा अद्वैत है तथापि वह प्रतिबिम्बात्मक प्रपञ्चके स्वभावका अनुकरण करके पञ्चकरूपमें वर्णित होने योग्य है। इसी कारण पञ्चकरूपमेंसे प्रत्येकमें पञ्चात्मकत्व रहता है। इनमें पूर्व-पूर्व पञ्चककी पञ्चम कलाका आश्रय करके परवर्ती पञ्चककी प्रथम कलाका स्फुरण होता है तथा परवर्ती पञ्चककी प्रथमकला पूर्ववर्ती पञ्चककी अन्तिम कलामें विश्राम लेती है। इसी प्रकार सर्वत्र एक क्रम है। इसीके द्वारा परमेश्वरके पञ्चकृत्यचक्रका व्यापार चलता है, यह क्रम इतना सूक्ष्म है कि साधारणतः कोई उसे जान नहीं सकता तथापि अत्यन्त तीव्र अभ्यासके द्वारा तथा सद्गुरुकी कृपासे विरले ही कोई-कोई पुरुष कदाचित् ही इसे जाननेमें समर्थ होते हैं। इसे क्रमपरामर्श कहते हैं।

यह क्रमपरामर्श ही पूर्वोक्त स्वात्मविमर्श या जीवन्मुक्ति है। इस अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर प्रकृति वशमें हो जाती है, तथा अनन्त प्रकारकी बाह्य विभूतियाँ योगीके लिये स्वाभाविक हो उठती हैं। भगवान् शङ्कराचार्यने दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रमें जिस महाविभूतिरूप ईश्वरत्वका वर्णन किया है वह इस क्रमविमर्शसे भिन्न नहीं। यही इच्छाशक्तिका विकास है। सद्गुरुकी कृपाके बिना इस ज्ञानको प्राप्त करना सम्भव नहीं है। क्रमसिद्धिनामक ग्रन्थमें है—

गुर्वायत्तं क्रमज्ञानमाज्ञासिद्धिकरं परम्।
क्रमज्ञानान्महादेवि त्रैलोक्यं कवलीकृतम्॥

अर्थात् क्रमज्ञान सद्गुरुके अनुग्रहपर अवलम्बित है। यह योगीके लिये परम आज्ञासिद्धिका सम्पादन करता है। हे महादेवि! क्रमज्ञानकी प्राप्ति कर लेनेपर त्रैलोक्य वशमें हो जाता है।

अतएव हम जिन्हें क्रमपूजाके रहस्यको जाननेवाले आदर्श पूजकके नामसे वर्णन करते हैं वे क्रमसिद्ध महायोगी हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष हैं तथा परमेश्वरके साथ अभेदज्ञानमें प्रतिष्ठित होकर स्वातन्त्र्य शक्तिके अधिकारी हैं। महाशक्तिके श्रेष्ठ उपासकका यही स्वरूप है।

श्रीहरिभक्ति सुगम और सुखदायी है

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पँचवै जठरागी॥
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

भाव यह कि भगवद्भक्ति मुँहमें कौर ग्रहण करनेके समान ही सुगम है—'भोजन करिअ तृपिति हित लागी।' वैसे ही वह सुखदायी भी है—'जिमि सो असन पँचवै जठरागी।' जिस प्रकार भोजन करते समय प्रत्येक कौरके साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी तीनों बातें एक ही साथ प्राप्त होती हैं; श्रीमद्भागवतमें यही कहा गया है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
(११।२।४२)

श्रीजनकजी महाराजके प्रश्न करनेपर नौ योगीश्वरोंमेंसे प्रथम योगीश्वर श्रीकविजी महाराज, यह बतलाते हुए कि जो गति बड़े-बड़े योगियोंको अनेक जन्मोंतक साधन करनेपर भी दुर्लभ है, वह एक ही जन्ममें भगवन्नाम-कीर्तनमात्रसे तत्काल कैसे प्राप्त हो जाती है, कहते हैं—'जैसे भोजन करनेवाले मनुष्यके प्रत्येक ग्रासके साथ सुख, उदर-पोषण और क्षुधा-निवृत्ति ये तीनों काम एक साथ ही सम्पन्न होते जाते हैं, वैसे ही भजन करनेवाले पुरुषमें भगवत्प्रेम, परम प्रेमास्पद भगवान्‌के स्वरूपकी स्फूर्ति और सांसारिक सम्बन्धोंसे वैराग्य ये तीनों एक साथ ही प्रकट होते चलते हैं।'

'सुगम सुखदाई' कहनेका यह भी तात्पर्य है कि पूर्व प्रसङ्गानुसार वर्णित ज्ञान आदि साधनोंमें हृदयसे समस्त सांसारिक वस्तुओंके प्रति पूर्ण एवं दृढ़ वैराग्यकी तो आवश्यकता है ही, साथ ही उनको बड़ी सावधानीके साथ स्वरूपसे त्यागनेमें ही कुशल है। यह बड़ा कठिन मार्ग है। परन्तु भगवद्भक्ति ऐसी सुगम है कि वह केवल त्याग और वैराग्यमें ही नहीं, संग्रह और रागकी स्थितिमें भी बढ़ती जाती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि प्राप्त तो हों संसारके भोग्यपदार्थ और बढ़े भगवान्‌का विशुद्ध प्रेम! उदाहरणार्थ ज्ञानी और विरक्त साधकके लिये धन आदिका छूना और चाहना निषिद्ध है, वह किसी सांसारिक पदार्थको ग्रहण करते ही अपने साधनसे च्युत हो जाता है; परन्तु जो भगवत्प्रेमी भक्त एकमात्र 'राम भरोस हृदय नहिं दूजा' की स्थितिमें है, वह अपने योगक्षेमके लिये साधारण-सी सांसारिक सामग्री पाते ही इस भावमें डूबने-उतराने लगता है कि हे प्रभो! हे विश्वम्भर! हे भक्तोंके योगक्षेम वहन करनेवाले! आपकी इस अहैतुकी दयाको धन्य है, धन्य है! आप ऐसे दयासिन्धु और करुणानिधि हैं कि मेरे-जैसे खोटे भक्तपर भी ऐसी असीम कृपा करते हैं। ऐसे भावमें मग्न होनेके कारण वह भक्त 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' नामकी तीसरी शरणागतिकी सच्ची दृढ़ता प्राप्त करता है और श्रीप्रभुके चरणोंमें उसके प्रेमकी वृद्धि होती है। इधर तो उसके शरीरके लिये योगक्षेमकी सामग्री मिल गयी और उधर भगवान्‌के प्रति प्रेम और विश्वासकी वृद्धि एवं दृढ़ता भी प्राप्त हो गयी। फिर सांसारिक सम्बन्धोंसे उपरामता तो हुई ही—'जिमि सो असन पँचवै जठरागी।' सचमुच श्रीहरिभक्ति ऐसी ही 'सुगम सुखदाई' है।

अवश्य ही दूसरे साधनोंमें 'रमाविलास' विष है। परन्तु प्रेमी भक्त जब अपने निर्वाहमात्रके लिये उसे भगवत्प्रसादके रूपमें स्वीकार करता है तब वहाँ वह अमृतका फल देता है। क्योंकि यदि भक्त उस सामग्रीको भगवत्प्रदत्त नहीं निश्चय करेगा, स्वतन्त्र मानेगा,

तब तो वह उसे पचेगी ही नहीं; उसका वमन हो जायगा—'रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी ॥' जिस समय श्रीअवधका राज्य भक्तराज श्रीभरतजीके गले बाँधा जा रहा था, उस समय उन्होंने अपने श्रीमुखसे स्पष्टतः यह निर्णय दे दिया था कि 'मोहि राज हठि देइहौ जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥' उनके कहनेका भाव यह कि श्रीके पति तो एकमात्र मेरे प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही हैं, जो मेरे पितातुल्य हैं। इस राज्यश्रीके भोगका अधिकार उन्हींको है। मैं तो उनका शिशु-सेवक हूँ। भला, पुत्र कभी अपनी माताका पतित्व ग्रहण कर सकता है? यदि राज्यपदपर मेरा अभिषेक किया जायगा तो यह धरातल रसातलमें धँस जायगा।' परन्तु पीछेसे जब उसी राजशासनकी सेवा श्रीप्रभुकी चरणपादुकाके प्रसादरूपमें प्राप्त हुई तब उन्होंने 'बिनु रागा' अर्थात् स्वयं भोक्ता न बनकर चौदह वर्षकी अवधितक भजनरूपसे उसका निर्वाह किया। उससे उन्हें लोकसुयश और परलोक-सुख दोनों ही प्राप्त हुए। उनकी कोई हानि नहीं हुई, इतना ही नहीं, उनके आदर्शसे जगत्का भी सुधार होता है, वे तरन-तारन हो गये!

'जठरागी' की उपमा देकर एक बात और भी कही गयी है; जैसे भोजन पचकर भोजन करनेवालेके लिये अधिक पुष्टिका कारण बनता है, वैसे ही लौकिक वस्तु भी प्राप्त होकर भक्तके भगवत्प्रेमकी वृद्धि और पुष्टि ही करती है। क्योंकि भक्त भगवान्की कृपाको ही उसकी प्राप्तिका कारण मानता रहता है। इसलिये अन्य साधनोंमें तो केवल त्याग और निग्रहसे ही बल मिलता है, परन्तु भक्तिमें सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे भी उसकी पुष्टि होती है—'कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपबासा ॥'

'तृप्ति हित लागी' कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंको शरीरकी रक्षाके लिये अन्न-वस्त्र आदि तो ग्रहण करना पड़ता है, परन्तु उसकी प्राप्तिसे पुष्ट होता रहता है उनका अपने प्रभुमें विशुद्ध प्रेम! इस प्रकार उनके लोक और परलोक दोनों ही बनते हैं। अतः अन्य साधनोंकी अपेक्षा हरिभक्ति 'सुगम' और 'सुखदायी' है, यह सिद्ध होता है। ज्ञान आदि अन्य साधनोंमें लोक-अर्थका न्यास होनेपर ही परलोक बन सकता है। 'भोजन'की उपमा देकर भक्तिमें एक यह भी खूबी दिखलायी गयी है कि इस साधनमें क्रमनाश अर्थात् जब साधन पूरा हो जाय तभी लाभ हो, अन्यथा नहीं, यह बात नहीं है। बल्कि जैसे भोजनके समय एक-एक ग्राससे ही क्रमशः सन्तुष्टि और पुष्टि प्राप्त होने लगती है, वैसे ही भक्तिमें भी ज्यों-ज्यों भजन किया जाता है, त्यों-त्यों उसके फलस्वरूप प्रभुमें प्रेम, उनके स्वरूपकी अनुभूति और लोक-परलोकसे वैराग्य होने लगता है। इस बातकी बिल्कुल अपेक्षा नहीं रहती कि साधन सोलहों आने पूरा होनेपर ही सफलता मिलेगी। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
> **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥**
> (२।४०)

अर्थात् इस योगमें आरम्भका नाश नहीं है और न विपरीत फलरूप दोष ही होता है। इस धर्मका थोड़ा-सा साधन भी महान् भयसे तार देता है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

याद रक्खो, जिसको अपने जीवनमें एक बार भी सच्चे संतके दर्शनका, उससे उपदेश प्राप्त करनेका, उसके करस्पर्शका और उसकी चरणधूलि सिर चढ़ानेका सौभाग्य प्राप्त हो गया, वह परम आनन्द और परम शान्तिका सहज ही अधिकारी हो गया।

याद रक्खो, संतोंके दर्शन, स्पर्श, उपदेश-श्रवण और चरणधूलिके सिर चढ़ानेकी बात तो दूर रही, जो कभी अपने मनमे संतोंका चिन्तन भी कर लेता है, वही शुद्धान्तःकरण होकर भगवत्प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है।

याद रक्खो, संत-दर्शन और संत-प्राप्तिका फल परम कल्याणकारी होता है। अनजानमें भी यदि किसीको संत-समागम मिल जाता है तो वह भी संतके स्वाभाविक पापनाशक गुणका स्पर्श पाकर निष्पाप हो जाता है।

याद रक्खो, संतोंके द्वारा किसीका अहित तो हो ही नहीं सकता। वे यदि किसीको शाप दे देते हैं तो उससे भी परिणाममें हित ही होता है। नारदजीने नलकूबर और मणिग्रीवको शाप दिया था, वे अर्जुनके जुड़े वृक्ष बन गये परन्तु परिणाममें उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनका सौभाग्य मिला।

याद रक्खो—संतोंके द्वारा उनका अहित करनेवालोंका भी कल्याण ही होता है। अमृतसे भले ही कोई मर जाय परन्तु संतसे किसीका अहित हो नहीं सकता। कुल्हाड़ा चन्दनको काटता है, परन्तु चन्दन अपने स्वभावज गुणसे उसे अपनी सुगन्ध देकर चन्दन बना लेता है, वैसे ही संत भी अपने प्रति बुरा करनेवालोंका कल्याण ही करते है।

याद रक्खो—संतका स्वभाव ही परहित होता है, लोककल्याणके लिये ही उनका जीवन होता है। उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही उनके द्वारा लोगोंका कल्याण होता रहता है।

याद रक्खो—संत स्वयं सांसारिक सुख-दुःखोंसे परे होते हैं, उन्हें किसी वस्तुपर ममता नहीं होती, और कहीं भी उनमें अहङ्काररूप विकार नहीं रहता, तथापि वे दूसरोंके सुख-दुःखसे सुखी-दुखी-से होते देखे जाते हैं। यह उनका स्वभाव है।

याद रक्खो—संतोंको शरीरका कोई मोह नहीं होता, वे शरीरको सर्वथा असत् मानते हैं। एक परमात्म-सत्ताके सिवा उनकी दृष्टिमें और कुछ रहता ही नहीं। तथापि दूसरोंके शरीरपर आये हुए कष्टोंके निवारणके लिये वे अपने शरीरकी सहज ही आहुति दे डालते हैं, यह भी उनका स्वभाव है।

याद रक्खो—संतोंकी पहचान कोई भी मनुष्य विषयोंमें फँसी हुई अपनी बुद्धिसे नहीं कर सकता। वे बुद्धिमें आनेवाले भावोंसे बहुत ऊपर उठे होते हैं। किसी भी बाहरी लक्षणसे उन्हें कोई नहीं पहचान सकता। संतोंकी प्राप्ति और पहचान भगवान् और संतोंकी कृपासे ही हो सकती है। अतएव संत-समागम और संत-परिचयके लिये भगवान्से और संतोंसे ही प्रार्थना करो।

याद रक्खो—संत-सेवा और संत-पूजाका सबसे प्रधान साधन है, संतोंके बतलाये हुए मार्गपर श्रद्धा और साहसके साथ चलना। जो अपनी साधनाके द्वारा संतोंकी साधनाकी पूजा करता है, वही असलमें सच्ची संतसेवा करता है। 'शिव'

प्रार्थना

प्रभो!

सुखी होनेके लिये मैंने कौन-सा काम नहीं किया? विवाह किया, सन्तानें पैदा कीं, धन कमाया, यश-कीर्त्तिके लिये प्रयास किया, लोगोंसे प्रेम बढ़ाना चाहा और न मालूम क्या-क्या किया, परन्तु सच कहता हूँ मेरे स्वामी, ज्यों-ज्यों सुखके लिये प्रयत्न किया, त्यों-ही-त्यों परिणाममें दुःख और कष्ट ही मिलते गये। जहाँ मन टिकाया वहीं धोखा खाया! कहीं भी आशा फलवती नहीं हुई। चिन्ता, भय, निराशा और विषाद बढ़ते ही गये। कहीं रास्ता दिखायी नहीं दिया। मार्ग बंद हो गया।

तुमने कृपा की; तुम्हारी कृपासे यह बात समझमें आने लगी कि तुम्हारे अभय चरणोंके आश्रयको छोड़कर कहीं भी सच्चा और स्थायी सुख नहीं है। चरणाश्रय प्राप्त करनेके लिये कुछ प्रयत्न भी किया गया। अब भी प्रयत्न होता है। और यह सत्य है कि इसीसे कुछ सुख-शान्ति और आरामके दर्शन भी होने लगे हैं, परन्तु प्रभो! पूर्वाभ्यासवश बार-बार यह मन विषयोंकी ओर चला जाता है। रोकनेकी चेष्टा भी करता हूँ, कभी-कभी रुकता भी है, परन्तु जानेकी आदत छोड़ता नहीं! तुम्हारे चरणोंके सिवा सर्वत्र भय-ही-भय छाया रहता है—दुःखोंका सागर ही लहराता रहता है, यह जानते, समझते और देखते हुए भी मन तुम्हें छोड़कर दूसरी ओर जाना नहीं छोड़ता! इससे अधिक मेरे मनकी नीचता और क्या होगी मेरे दयामय स्वामी!

तुम दयालु हो, मेरी ओर न देखकर अपनी कृपासे ही मेरे इस दुष्ट मनको अपनी ओर खींच लो। इसे ऐसा जकड़कर बाँध लो कि यह कभी दूसरी ओर जा ही न सके। मेरे स्वामी! ऐसा कब होगा? कब मेरा यह मन तुम्हारे चरणोंके दर्शनमें ही तल्लीन हो रहेगा। कब यह तुम्हारी मनोहर मूरतिकी झाँकी कर-करके कृतार्थ होता रहेगा।

अब देर न करो दयामय! जीवन-सन्ध्या समीप है। इससे पहले-पहले ही तुम अपनी दिव्य ज्योतिसे जीवनमें नित्य प्रकाश फैला दो। इसे समुज्ज्वल बनाकर अपने मन्दिरमें ले चलो और सदाके लिये वहीं रहनेका स्थान देकर निहाल कर दो।

—अधम परन्तु तुम्हारा ही

निज नाम-लोभ-त्याग

तजत लोभ निज नामको,
ते पावहिं सुख-सार।
पायौ अटल अनामिका,
पूजन-जप-अधिकार॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'।

डाकू भगत

पुराने जमानेकी बात है। एक धनी गृहस्थके घर भगवत्कथाका बड़ा सुन्दर आयोजन हो रहा था। वैशाखका महीना, शुक्लपक्षकी रात्रिका समय। अतिथि-अभ्यागतोंकी सुख-सुविधाके लिये सब प्रकारका प्रबन्ध किया गया था। जूही, बेला, मौलसिरी आदि सुगन्धित पुष्पोंकी सौरभसे दिशाएँ सुवासित हो रही थीं। भगवान्के नैवेद्यके लिये आम, अंगूर, अनार, सेब आदि फल तराशे जा रहे थे। सारी सामग्री तैयार हो जानेपर विधिपूर्वक भगवान्की पूजा सम्पन्न हुई। भगवान्की मनोहर मूर्तिके दर्शन, भगवत्कथाके श्रवण, सुगन्धित पुष्पोंके आघ्राण और शान्तिमय वातावरणके प्रभावसे सभी उपस्थित सज्जन लोकोत्तर आनन्दका आस्वादन करने लगे। सब लोग इस पवित्र उत्सव-कार्यमें इतने संलग्न और तन्मय हो गये कि उन्हें समयका कुछ ध्यान ही न रहा।

कथावाचक पण्डितजी विद्वान् तो थे ही, अच्छे गायक भी थे। वे बीच-बीचमें भगवत्सम्बन्धी भावपूर्ण पदोंका मधुर कण्ठसे गान भी करते, पहले उन्होंने श्रीमद्भागवतके आधारपर संक्षेपमें भगवान्के जन्मकी कथा सुनायी, फिर नन्दोत्सवका वर्णन करते-करते बिलावल रागमें एक मधुर पद गाया—

आनँद आज नंदके द्वार।
दास अनन्य भजन रस कारण प्रगटे लाल मनोहर ग्वार॥
चंदन सकल धेनु तन मंडित कुसुम दाम सोभित आगार।
पूरन कुंभ बने तोरन पर बीच रुचिर पीपरकी डार॥
जुवति जूथ मिलि गोप बिराजत बाजत प्रनव मृदंग सितार।
जय (श्रीहित) हरिवंश अजिर बर बीथिन दधि मधु दुग्ध हरदके खार॥

कथाका प्रसङ्ग आगे चला। श्रोतागण व्यवहारकी चिन्ता और शरीरकी सुधि भूलकर भगवदानन्दमें मस्त हो गये। बहुतोंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। कितनोंकी आँखोंमें आँसू छलक आये। सभी तन्मय हो रहे थे।

उसी समय सुयोग देखकर एक डाकू उस धनी गृहस्थके घरमें घुस आया और चुपचाप धन-रत्न ढूँढ़ने लगा। परन्तु भगवान्की ऐसी लीला कि बहुत प्रयास करनेपर भी उसके हाथ कुछ नहीं लगा। वह जिस समय कुछ-न-कुछ हाथ लगानेके लिये इधर-उधर ढूँढ़ रहा था, उसी समय उसका ध्यान यकायक कथाकी ओर चला गया। कथावाचक पण्डितजी महाराज ऊँचे स्वरसे कह रहे थे—प्रातःकाल हुआ। पूर्वदिशा उषाकी मनोरम ज्योति और अरुणकी लालिमासे रँग गयी। उस समय व्रजकी झाँकी अलौकिक हो रही थी। वहाँका पत्ता-पत्ता चमक रहा था। पक्षिगण मानो इसलिये और भी जोर-जोरसे चहक रहे थे कि श्रीकृष्ण शीघ्र-से-शीघ्र आकर उनके नेत्रोंकी प्यास बुझावें। गौएँ और बछड़े सिर उठा-उठाकर नन्द बाबाके महल-की ओर सतृष्ण दृष्टिसे देख रहे थे कि अब हमारे प्यारे श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करनेके लिये आ ही रहे होंगे। उसी समय भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा आदि ग्वालबालोंने आकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको बड़े प्रेमसे पुकारा—हमारे प्यारे कन्हैया, आओ न। अबतक तुम सो ही रहे हो? देखो, गौएँ तुम्हें देखे बिना रँभा रही हैं। हम कभीसे खड़े हैं। चलो, वनमें गौएँ चरानेके लिये चलें। दाऊ दादा, तुम इतनी देर क्या कर रहे हो?' इस प्रकार ग्वालबालोंकी पुकार और जल्दी देखकर नन्दरानी अपने प्यारे पुत्रोंको बड़े ही मधुर स्वरसे जगाने लगी—

तुम जागौ मेरे लाड़िले गोकुल सुखदाई।
कहति जननि आनंद सौं उठो कुँअर कन्हाई॥

तुमको माखन-दूध दधि मिश्री हौं ल्याई ।
उठि कै भोजन कीजियै पकवान मिठाई ॥
सखा द्वार परभात सौं सब टेर लगाई ।
बनको चलिए साँवरे दयो तरनि दिखाई ॥

फिर मैयाने स्नेहसे उन्हें माखन-मिश्रीका तथा भाँति-भाँतिके पकवानोंका कलेऊ करवाकर बड़े चावसे खूब सजाया । लाख-करोड़ रुपयोंके गहने, हीरे-जवाहर और मोतियोंसे जड़े स्वर्णालङ्कार अपने बच्चोंको पहनाये । मुकुटमें, बाजूबन्दमें, हारमें जो मणियाँ जगमगा रही थीं, उनके प्रकाशके सामने प्रातःकालका उजेला फीका पड़ गया । इस प्रकार भलीभाँति सजाकर नन्दरानीने अपने लाड़ले पुत्रोंके सिर सूँघे और फिर बड़े प्रेमसे गौ चरानेके लिये उन्हें विदा किया । इतनी बातें डाकूने भी सुनीं । और तो कुछ उसने सुना था नहीं । अब वह सोचने लगा कि 'अरे यह तो बड़ा सुन्दर सुयोग है, मैं छोटी-मोटी चीजोंके लिये इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता हूँ । यह तो अपार सम्पत्ति हाथ लगनेका अवसर है । केवल दो बालक ही तो हैं । उनके दोनों गालोंपर दो-दो चपत जड़े नहीं कि वे स्वयं अपने गहने निकालकर मुझे सौंप देंगे । यह सोचकर वह डाकू धनी गृहस्थके घरसे बाहर निकल आया और कथाके समाप्त होनेकी बाट देखने लगा ।

डाकूके आनन्दकी सीमा नहीं थी । कथावाचक पण्डितजीने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके सुन्दर शरीरोंपर सजे हुए गहनोंकी जो बात कही थी, उसे याद कर-करके वह खिल उठता था—'अहा, वे गहने कितने चमकदार होंगे । उनको छीनकर लाते ही मैं बहुत बड़ा धनी हो जाऊँगा । फिर तो मेरे सुखका क्या पूछना !' उन गहनोंके चिन्तनसे ही उसके हृदयमें प्रकाशकी रेखा खिंच गयी । गहनोंके साथही भगवान्के दिव्य स्वरूपका भी चिन्तन होता ही था ! वह अपने दुःख-दारिद्र्यको भूलकर सुखके समुद्रमें डूबने-उतराने लगा । बहुत रात बीतनेपर कथा समाप्त हुई । भगवान्के नाम और जयकारके नारोंसे आकाश गूँज उठा । भक्त गृहस्थ बड़ी नम्रतासे ठाकुरजीका प्रसाद ग्रहण करनेके लिये सब श्रोताओंसे अनुरोध करने लगे । प्रसाद बँटने लगा । आनन्दकी धारा बह चली । जहाँ देखो, लोग भगवान्का प्रसाद पा-पाकर मस्त हो रहे हैं । उधर यह सब हो रहा था, परन्तु डाकूके मनमें इन बातोंका कोई ध्यान नहीं था । वह तो रह-रहकर कथावाचककी ओर देख रहा था । उसकी आँखें कथावाचकजीकी गति-विधिपर जमी हुई थीं । कुछ समयके बाद प्रसाद पाकर कथावाचकजी अपने डेरेकी ओर चले । डाकू भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा ।

जब पण्डितजी खुले मैदानमें पहुँचे तब डाकूने पीछेसे कुछ कड़े स्वरमें पुकारकर कहा—'ओ पण्डितजी ! खड़े रहो ।' पण्डितजीके पास दक्षिणाके रुपये-पैसे भी थे, वे कुछ डरकर और तेज चालसे चलने लगे । डाकूने दौड़ते हुए कहा—'पण्डितजी, खड़े हो जाओ । यों भागनेसे नहीं बच सकोगे ।' पण्डितजीने देखा कि अब छुटकारा नहीं है । वे लाचार होकर ठमक गये । डाकूने उनके पास पहुँचकर कहा—'देखिये पण्डितजी, आप जिन कृष्ण और बलरामकी बात कह रहे थे, उनके लाखों-करोड़ों रुपयोंके गहनोंका वर्णन कर रहे थे, उनका घर कहाँ है ? वे दोनों गौएँ चरानेके लिये कहाँ जाते हैं ? आप सारी बातें ठीक-ठीक बता दीजिये; यदि जरा भी टालमटोलकी तो बस, देखिये मेरे हाथमें कितना भारी डंडा है, यह तुरंत आपके सिरके टुकड़े-टुकड़े कर देगा ।' पण्डितजीने देखा, उसका लंबा-चौड़ा दैत्य-सा शरीर बड़ा ही बलिष्ठ है । मजबूत हाथोंमें मोटी लाठी है, आँखोंसे क्रूरता टपक रही है । उन्होंने सोचा, हो-न-हो यह कोई डाकू है । फिर साहस बटोरकर कहा—'तुम्हारा उनसे क्या

काम है ?' डाकूने तनिक जोर देकर कहा—'जरूरत है।' पण्डितजी बोले—'जरूरत बतानेमें कुछ अड़चन है क्या ?' डाकूने कहा—'पण्डितजी, मैं डाकू हूँ। मैं उनके गहने लूटना चाहता हूँ। गहने मेरे हाथ लग गये तो आपको भी अवश्य ही कुछ दूँगा । देखिये, टालमटोल मत कीजिये । ठीक-ठीक बताइये।' पण्डितजीने समझ लिया कि यह बज्र मूर्ख है। अब उन्होंने कुछ हिम्मत करके कहा—'तब इसमें डर किस बात का है ? मैं तुम्हें सब कुछ बतला दूँगा। लेकिन यहाँ रास्तेमें तो मेरे पास पुस्तक नहीं है। मेरे डेरेपर चलो। मैं पुस्तक देखकर सब ठीक-ठीक बतला दूँगा।' डाकू उनके साथ-साथ चलने लगा।

डेरेपर पहुँचकर पण्डितजीने किसीसे कुछ कहा नहीं। पुस्तक बाहर निकाली और वे डाकूको भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामकी रूप-माधुरी सुनाने लगे। उन्होंने कहा—'श्रीकृष्ण और बलराम दोनोंके ही चरण-कमलोंमें सोनेके सुन्दर नूपुर हैं। जो अपनी रुनझुन ध्वनिसे सबके मन मोह लेते हैं। श्यामवर्णके श्रीकृष्ण पीत वर्णका और गौरवर्णके बलराम नील वर्णका वस्त्र धारण कर रहे हैं। दोनोंकी कमरमें बहुमूल्य मोतियोंसे जड़ी सोनेकी करधनी शोभायमान है । गलेमें हीरे-जवाहरातके स्वर्णहार हैं। हृदयपर कौस्तुभ मणि झल-मला रही है। ऐसी मणि जगत्में और कोई है ही नहीं। कलाईमें रत्नजटित सोनेके कंगन, कानोंमें मणि-कुण्डल, सिरपर मनोहर मोहन चूड़ा। घुँघराले काले-काले बाल, ललाटपर कस्तूरीका तिलक, होठोंमें मन्द-मन्द मुसकराहट, आँखोंसे मानो आनन्द और प्रेमकी वर्षा हो रही है। श्रीकृष्ण अपने कर-कमलोंमें सोनेकी बंशी लिये उसे अधरोंसे लगाये रहते हैं। उनकी अङ्ग-कान्तिके सामने करोड़ों सूर्योंकी कोई गिनती नहीं। रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पोंकी माला, तोतेकी-सी नुकीली नासिका, कुन्द-बीजके समान धौले दाँतोंकी पाँत, बड़ा लुभावना रूप है। अजी, जब वे त्रिभङ्गललित भावसे खड़े होते हैं; देखते-देखते नेत्र तृप्त ही नहीं होते। बाँकेबिहारी श्रीकृष्ण जब अपनी बाँसुरीमें 'राधे-राधे-राधे' की मधुर तान छेड़ते हैं तब बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी समाधिसे पिण्ड छुड़ाकर उसे सुननेके लिये दौड़ आते हैं। यमुनाके तटपर वृन्दावनमें कदम्ब वृक्षके नीचे प्रायः उनके दर्शन मिलते हैं। वनमाली श्रीकृष्ण और हलधारी बलराम।'

डाकूने पूछा—'अच्छा पण्डितजी, सब गहने मिलाकर कितने रुपयोंके होंगे।' पण्डितजीने कहा—'ओह, इसकी कोई गिनती नहीं है। करोड़ों-अरबोंसे भी ज्यादा!' डाकू—'तब क्या जितने गहनोंके आपने नाम लिये, उनसे भी अधिक हैं ?' पण्डितजी—'तो क्या ? संसारकी समस्त सम्पत्ति एक ओर और कौस्तुभमणि एक ओर। फिर भी कोई तुलना नहीं।' डाकूने आनन्दसे गद्गद होकर कहा—'ठीक है, ठीक है! और कहिये, वह कैसी है ?' पण्डितजी—'वह मणि जिस स्थानपर रहती है, सूर्यके समान प्रकाश हो जाता है। वहाँ अँधेरा रह नहीं सकता। वैसा रत्न पृथ्वीमें और कोई है ही नहीं!' डाकू—'तब तो उसके दाम बहुत ज्यादा होंगे। क्या बोले ! एक बार भलीभाँति समझा तो दीजिये। हाँ, एक बात तो भूल ही गया। मुझे किस ओर जाना चाहिये ?' पण्डितजी-ने सारी बातें दुबारा समझा दीं। डाकूने कहा—'देखिये पण्डितजी, मैं शीघ्र ही आकर आपको कुछ दूँगा। यहाँसे ज्यादा दूर तो नहीं है न ? मैं एक ही रातमें पहुँच जाऊँगा, क्यों ? अच्छा; हाँ-हाँ, एक बात और बताइये। क्या वे प्रतिदिन गौएँ चराने जाते हैं ? पण्डितजी—'हाँ, और तो क्या ?' डाकू—'कब आते हैं ?' पण्डितजी—'ठीक प्रातःकाल। उस समय थोड़ा-थोड़ा अँधेरा भी रहता है।' डाकू—'ठीक है। मैंने सब समझ लिया। हाँ तो, अब मुझे किधर जाना

चाहिये ?' पण्डितजी—'बराबर उत्तरकी ओर चले जाओ।' डाकू प्रणाम करके चल पड़ा।

पण्डितजी—मन-ही-मन हँसने लगे। देखो, यह कैसा पागल है! थोड़ी देर बाद उन्हें चिन्ता हो आयी, यह मूर्ख दो-चार दिन तो ढूँढ़नेका प्रयत्न करेगा। फिर लौटकर कहीं यह मुझपर अत्याचार करने लगा तो? किन्तु नहीं, यह बड़ा विश्वासी है। लौटकर आयेगा तो एक रास्ता और बतला दूँगा। यह दो-चार दिन भटकेगा तबतक मैं कथा समाप्त करके यहाँसे चलता बनूँगा। इससे पिण्ड छुड़ानेका और उपाय ही क्या है? पण्डितजी कुछ-कुछ निश्चिन्त हुए।

डाकू अपने घर गया। उसकी भूख, प्यास, नींद सब उड़ गयी। वह दिन-रात गहनोंकी बात सोचा करता, चमकीले गहनोंसे लदे दोनों नयन-मन-हरण बालक उसकी आँखोंके सामने नाचते रहते। क्षणभरके लिये भी तो उसका मन इधर-उधर नहीं जाता। कहीं भूल जाय तो हाथ लगी सम्पत्ति खो जायगी। भगवान्‌के दिव्य अङ्ग और उसपर सजे गहनोंकी चमक-दमक उसकी आँखोंके सामने सदा झिलमिलाती रहती। इसी ध्यानमें रात बीत गयी। उसे पतातक न चला। सूर्योदय हुआ। फिर भी उसे एक ही चिन्ता, एक ही ध्यान। दुनियाके लोग अपने-अपने कामोंमें लगे थे। कोई मनोरञ्जन कर रहा था, कोई आलस्यसे दिन काट रहा था, हवा चल रही थी, नदी बह रही थी, पक्षी चहक रहे थे और डाकू मन-ही-मन श्याम-गौर किशोरोंके देदीप्यमान शरीरोंसे गहने उतारनेमें व्यस्त था। एक क्षणकी तरह पलक मारते-मारते सारा दिन बीत गया। परन्तु डाकूके मनमें एक ही धुन। लगन हो तो ऐसी! मस्ती हो तो ऐसी!! अँधेरा हुआ, डाकूने लाठी उठाकर कंधेपर रक्खी। वह उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा। यह उत्तर भी उसकी अपनी धुनका ही था, दूसरोंके देखनेमें शायद वह दक्खिन ही जा रहा हो! उसे इस बातका भी पता नहीं था कि उसके पैर धरतीपर पड़ रहे हैं या काँटोंपर। ठीक ही तो है—

> जाहि लगन लगी घनस्यामकी।
> धरत कहूँ पग परत कितैहूँ भूल जाय सुधि धामकी॥
> छबि निहार नहिं रहत सार कछु घरि पल निसिदिन आमकी।
> जित मुँह उठै तितै ही धावै सुरति न छाया घामकी॥
> अस्तुति निंदा करौ भलै ही मेंड़ तजी कुल-गामकी।
> नारायन बौरी भइ डोलै रही न काहू कामकी॥

चलते-चलते एक स्थानपर डाकूकी आँख खुली। उसने देखा बड़ा सुन्दर हरा-भरा वन है। एक नदी भी कल-कल करती बह रही है। उसने सोचा, निश्चय किया 'यही है, यही है! परन्तु वह कदम्बका पेड़ कहाँ है?' डाकू बड़ी सावधानीके साथ एक-एक वृक्षके पास जाकर कदम्बको पहचाननेकी चेष्टा करने लगा। उसने न जाने कितने वृक्षोंका स्पर्श किया, कितनोंके पत्ते देखे! अन्तमें वहाँ उसे एक कदम्ब मिल ही गया। अब उसके आनन्दकी सीमा न रही। उसने सन्तोषकी साँस ली और आस-पास आँखें दौड़ायीं। एक छोटा-सा पर्वत, घना जंगल और गौओंके चरनेका मैदान भी दीख गया। हरी-हरी दूब रातके स्वाभाविक अँधेरेमें घुल-मिल गयी थी। फिर भी उसके मनके सामने गौओंके चरने और चरानेवालोंकी एक छटा छिटक ही गयी। अब डाकूके मनमें एक ही विचार था। कब सबेरा हो, कब अपना काम बने। वह एक-एक क्षण सावधानीसे देखता और सोचता कि आज सबेरा होनेमें कितनी देर हो रही है! पल-पल उसके उत्साहमें वृद्धि होती। वह देखता कि मेरा मनोरथ पूरा होनेका समय निकट आ रहा है। वह कदम्ब वृक्षकी एक-एक डालपर पैनी दृष्टि डालकर और चढ़कर इस बातकी परीक्षा करता कि कहाँ बैठनेसे मैं उन दोनोंके आते ही झटपट कूद पड़ूँगा और गहने छीन लेनेमें सुविधा होगी। मैं किस

तरह उन्हें पकड़ूँगा, किस तरह गहने छीनूँगा, इस बातको वह बार-बार पक्की करने लगा। ज्यों-ज्यों रात बीतती, त्यों-त्यों उसकी चिन्ता, उद्वेग, उत्तेजना, आग्रह और आकुलता बढ़ती जाती।

कभी-कभी उसे ऐसा मालूम होता, मानो कौस्तुभ मणि उसकी आँखोंके सामने चमक गयी हो। उसने सोचा, कौस्तुभ मणिसे तो अँधेरा दूर हो जाता है। यदि उन बालकोंने मणिके प्रकाशमें मुझे देख लिया तो सारा किया-कराया चौपट हो जायगा। वे मुझे देखकर भागनेकी चेष्टा करेंगे। हाँ, तो मैं अभी कदम्बकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ जाऊँ और पत्तोंमें छिपकर उनकी बाट देखूँ। वह पेड़पर चढ़ गया। अभी थोड़ी ही देर हुई कि उसके मनमें आया -- 'नहीं, नहीं; यहाँसे जितनी देरमें मैं उतर पाऊँगा, उतनी देरमें तो वे भाग जायँगे। यहाँ ठहरना ठीक नहीं। वह नीचे उतर आया। सोचने लगा--'कुछ वृक्षोंके झुरमुटमें चुपचाप खड़ा हो जाऊँ और आते ही झपटकर उन्हें पकड़ लूँ।' वह जाकर वृक्षोंकी आड़में खड़ा हो गया। खड़े होते ही उसके मनमें विचारोंका तूफान उठने लगा—'ना-ना, शायद वे दोनों मुझे यहाँ देख लें। तब तो सारा बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। अच्छा, सामनेवाले गढ़ेमें छिप जाऊँ। ठीक तो है, वह आते ही बाँसुरी बजायेगा। वंशीकी धुन सुनते ही मैं दौड़कर उसे पकड़ लूँगा।' यह विचारकर डाकू गढ़ेमें जाकर छिप रहा। क्षणभर बाद ही उसके मनमें आया कि 'कहीं वंशीकी धुन मेरे कानोंमें न पड़ी तो? बाहर रहना ही ठीक है' अब वह बाहर आकर बार-बार कान दे-देकर वंशीकी धुन अकलनेमें लगा। जब उसे किसी शब्दकी आहट न मिली तब वह फिर कदम्बपर चढ़ गया और देखने लगा कि किसी ओर उजेला तो नहीं है। कहींसे वंशीकी आवाज तो नहीं आ रही है। उसने अपने मनको समझाया—'अभी सबेरा होनेमें देर है। मैं ज्यों ही वंशीकी धुन सुनूँगा, त्यों ही टूट पड़ूँगा।' इस प्रकार सोचता हुआ बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ वह डाकू सबेरा होनेकी बाट जोहने लगा।

देखते-ही-देखते मानो किसीने प्राची दिशाका मुख रोलीके रंगसे रँग दिया। डाकूके हृदयमें आकुलता और भी बढ़ गयी। वह पेड़से कूदकर जमीनपर आया, परन्तु वंशीकी आवाज सुनायी न पड़नेके कारण फिर उछलकर कदम्बपर चढ़ गया। वहाँ भी किसी प्रकारकी आवाज सुनायी नहीं पड़ी। उसका हृदय मानो क्षण-क्षणपर फटता जा रहा था। अभी-अभी उसका हृदय विहर उठता, परन्तु यह क्या, उसकी आशा पूर्ण हो गयी! दूर, बहुत दूर वंशीकी सुरीली स्वर-लहरी लहरा रही है। वह वृक्षसे कूद पड़ा। हाँ, परन्तु हृदयपर फिर अविश्वासकी रेखा खिंच गयी। कहीं मेरा भ्रम तो नहीं था! वह तुरंत वृक्षकी सबसे ऊँची डालपर चढ़ गया। हाँ, ठीक है, ठीक है; बाँसुरी ही तो है! अच्छा, यह स्वर तो और समीप होता जा रहा है! डाकू आनन्दके आवेशमें अपनी सुध-बुध खो बैठा और मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़ा। कुछ ही क्षणोंमें उसकी बेहोशी दूर हुई, आँखें खुलीं; वह उठकर खड़ा हो गया। देखा तो पास ही जंगलमें एक दिव्य शीतल प्रकाश चारों ओर फैल रहा है। उस मनोहर प्रकाशमें दो भुवन-मोहन बालक अपने अङ्गकी अलौकिक छटा बिखेर रहे हैं। गौएँ और ग्वालबाल उनके आगे-आगे कुछ दूर निकल गये हैं।

डाकूने उन्हें देखा, अभी पुकार भी नहीं पाया था कि मन मुग्ध हो गया—अहाहा! कैसे सुन्दर चेहरे हैं इनके, आँखोंसे तो अमृत ही बरस रहा है। और इनके तो अङ्ग-अङ्ग बहुमूल्य आभूषणोंसे भरे हैं। हाय-हाय! इतने नन्हे-नन्हे सुकुमार शिशुओंको माँ-बापने गौएँ चरानेके लिये कैसे भेजा? ओह! मेरा तो जी भरा आता है—मन चाहता है, इन्हें देखता ही रहूँ! इनके

गहने उतारनेकी बात कैसी, इन्हें तो और भी सजाना चाहिये। नहीं, मैं इनके गहने नहीं छीनूँगा। ना, ना, गहने नहीं छीनूँगा तो फिर आया ही क्यों? ठीक है। मैं गहने छीन लूँगा। परन्तु इन्हें मारूँगा नहीं। बाबा रे बाबा, मुझसे यह काम न होगा! दुत् तेरेकी! यह मोह-छोह कैसा? मैं डाकू हूँ, डाकू। मैं और दया! बस, बस, मैं अभी गहने छीने लेता हूँ। यह कहते-कहते वह श्रीकृष्ण और बलरामकी ओर दौड़ा। भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामके पास पहुँचकर उनका स्वरूप देखते ही उसकी चेतना एक बार फिर लुप्त हो गयी। पैर लड़खड़ाये और वह गिर पड़ा। फिर उठा। कुछ देर एकटकी लगाये देखता रहा, आँखें आसुओंसे भर आयीं। फिर न मालूम क्या सोचा, हाथमें लाठी लेकर उनके सामने गया और बोला— 'खड़े होजाओ। सारे गहने निकालकर मुझे दे दो।'

श्रीकृष्ण— 'हम अपने गहने तुम्हें क्यों दें?'

डाकू—'दोगे नहीं? मेरी लाठीकी ओर देखो।'

श्रीकृष्ण—'लाठीसे क्या होगा?'

डाकू—'अच्छा, क्या होगा? गहना न देनेपर तुम्हारे सिर तोड़ डालूँगा, और क्या होगा?'

श्रीकृष्ण—'नहीं, हमलोग गहने नहीं देंगे।'

डाकू—'अभी-अभी मैं कान पकड़के ऐंठूँगा और सारे गहने छीन-छानकर तुम्हें नदीमें फेंक दूँगा।'

श्रीकृष्ण—(जोरसे) 'बाप-रे-बाप! ओ बाबा!! ओ बाबा!!!'

डाकूने झपटकर अपने हाथसे श्रीकृष्णका मुँह दबाना चाहा, परन्तु स्पर्श करते ही उसके सारे शरीरमें बिजली दौड़ गयी। वह बेहोश होकर धड़ामसे धरतीपर गिर पड़ा। कुछ क्षणोंके बाद जब होश हुआ तब वह श्रीकृष्णसे बोला—'अरे, तुम दोनों कौन हो? मैं ज्यों-ज्यों तुम दोनोंको देखता हूँ त्यों-ही-त्यों तुम मुझे और सुन्दर, और मधुर, और मनोहर क्यों दीख रहे हो? मेरी आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयीं। हाय! हाय! मुझे रोना क्यों आ रहा है! मेरे शरीरके सब रोएँ क्यों खड़े हो गये हैं। जान गया, जान गया, तुम दोनों देवता हो, मनुष्य नहीं हो।'

श्रीकृष्ण—[मुसकराकर] 'नहीं हम मनुष्य हैं। हम ग्वालबाल हैं। हम व्रजके राजा नन्दबाबाके लड़के हैं।'

डाकू—अहा! कैसी मुसकान है! 'जाओ, जाओ; तुम लोग गौएँ चराओ। मैं अब गहने नहीं चाहता। मेरी आशा-दुराशा, मेरी चाह-आह सब मिट गयीं। हाँ, मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंके सुरंग अङ्गोंमें अपने हाथोंसे और भी गहने पहनाऊँ। जाओ, जाओ। हाँ, एक बार अपने दोनों लाल-लाल चरण-कमल तो मेरे सिरपर रख दो। हाँ, हाँ; जरा हाथ तो इधर करो! मैं एक बार तुम्हारी स्निग्ध हथेलियोंका चुम्बन करके अपने प्राणोंको तृप्त कर लूँ। ओह, तुम्हारा स्पर्श कितना शीतल, कितना मधुर! धन्य! धन्य!! तुम्हारे मधुर स्पर्शसे हृदयकी ज्वाला शान्त हो रही है। आशा-अभिलाषा मिट गयी। जाओ, हाँ-हाँ, अब तुम जाओ। मेरी भूख-प्यास मिट गयी। अब कहीं जानेकी इच्छा नहीं होती। मैं यहीं रहूँगा। तुम दोनों रोज इसी रास्तेसे जाओगे न। एक बार केवल एक क्षणके लिये प्रतिदिन, हाँ, प्रतिदिन मुझे दर्शन देते जाना। देखो, भूलना नहीं। किसी दिन नहीं आओगे—दर्शन नहीं दोगे तो याद रक्खो, मेरे प्राण छटपटाकर छूट ही जायँगे।'

श्रीकृष्ण—'अब तुम हमलोगोंको मारोगे तो नहीं? गहने तो नहीं छीन लोगे? हाँ, ऐसी प्रतिज्ञा करो तो हमलोग रोज प्रतिदिन आ सकते हैं।'

डाकू—'प्रतिज्ञा, सौ बार प्रतिज्ञा! अरे भगवान्की शपथ! तुमलोगोंको मैं कभी नहीं मारूँगा, तुम्हें मार सकता हो ऐसा कौन है जगत्में? तुम्हें तो देखते ही

सारी शक्ति गायब हो जाती है, मन ही हाथसे निकल जाता है। फिर कौन मारे और कैसे मारे? अच्छा, तुमलोग जाओ!'

श्रीकृष्ण–'यदि तुम्हें हमलोग गहना दें तो लोगे?'

डाकू–'गहना, गहना; अब गहने क्या होंगे? अब तो कुछ भी लेनेकी इच्छा नहीं है।'

श्रीकृष्ण–'क्यों नहीं, ले लो। हम तुम्हें दे रहे हैं न?'

डाकू–'तुम दे रहे हो? तुम मुझे दे रहे हो? तब तो लेना ही पड़ेगा, परन्तु तुम्हारे माँ-बाप तुमपर नाराज होंगे, तुम्हें मारेंगे तो?'

श्रीकृष्ण–'नहीं-नहीं, हम राजकुमार हैं। हमारे पास ऐसे-ऐसे न जाने कितने गहने हैं। तुम चाहो तो तुम्हें और भी बहुत-से गहने दे सकते हैं।

डाकू–ऊहूँ, मैं क्या करूँगा? हाँ, हाँ; परन्तु तुम्हारी बात टाली भी तो नहीं जाती। क्या तुम्हारे पास और गहने हैं? सच बोलो।'

श्रीकृष्ण–'हैं नहीं तो क्या हम बिना हुए ही दे रहे हैं! लो तुम इन्हें ले जाओ।'

भगवान् श्रीकृष्ण अपने शरीरपरसे गहने उतारकर देने लगे। डाकूने कहा—'देखो भाई, यदि तुम देना ही चाहते हो, तो मेरा यह दुपट्टा ले लो और इसमें अपने हाथोंसे बाँध दो। किन्तु देखो लाला, यदि तुम मेरी इच्छा जानकर बिना मनके दे रहे हो तो मुझे गहने नहीं चाहिये। मेरी इच्छा तो अब बस एक यही है कि रोज एक बार तुम्हारे मनोहर मुखड़ेको देख लूँ और एक बार तुम्हारे चरणतलसे अपने सिरका स्पर्श कर लूँ।' श्रीकृष्ण—'नहीं-नहीं, बेमनकी बात कैसी? तुम फिर आना, तुम्हें इस बार और गहने देंगे।' श्रीकृष्णने उसके दुपट्टेमें सब गहने बाँध दिये। डाकूने गहनेकी पोटली हाथमें लेकर कहा—'क्यों भाई, मैं फिर आऊँगा तो तुम मुझे और गहने दोगे? गहने चाहे न देना परन्तु दर्शन जरूर देना।' श्रीकृष्णने कहा—'अवश्य! गहने भी और दर्शन भी दोनों।' डाकू गहने लेकर अपने घरके लिये रवाना हुआ।

डाकू आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता घर लौटा। दूसरे दिन रातके समय कथावाचक पण्डितजीके पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और गहनोंकी पोटली उनके सामने रख दी। बोला—'देखिये, देखिये, पण्डितजी! कितने गहने लाया हूँ। आपकी जितनी इच्छा हो, ले लीजिये। पण्डितजी, उसने और गहने देना स्वीकार किया है। पण्डितजी तो यह सब देख-सुनकर चकित रह गये। उन्होंने बड़े विस्मयके साथ कहा—'मैंने जिनकी कथा कही थी उनके गहने ले आया?' डाकू बोला—'और तो क्या, देखिये न; यह सोनेकी वंशी! यह सिरका मोहन चूड़ामणि!!' पण्डितजी हक्के-बक्के रह गये। बहुत सोचा, बहुत विचारा, परन्तु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके। जो अनादि अनन्त पुरुषोत्तम हैं। बड़े-बड़े योगी सारे जगत्को तिनकेके समान त्यागकर, भूख-प्यास-नींदकी उपेक्षा कर सहस्र-सहस्र वर्षपर्यन्त जिनके ध्यानकी चेष्टा करते हैं, परन्तु दर्शनसे वञ्चित ही रह जाते हैं; उन्हें यह डाकू देख आवे! उनके गहने ले आवे!! अजी कहाँकी बात है! असम्भव! हो नहीं सकता। परन्तु यह क्या! यह चूड़ामणि, यह बाँसुरी, ये गहने सभी तो अलौकिक हैं। इसे ये सब कहाँ, किस तरह मिले? कुछ समझमें नहीं आता। क्षणभर ठहरकर पण्डितजीने कहा—'क्यों भाई, तुम मुझे उसके दर्शन करा सकते हो?' डाकू–'क्यों नहीं, कल ही चलिये न?' पण्डितजी पूरे अविश्वासके साथ केवल उस घटनाका पता लगानेके लिये डाकूके साथ चल पड़े और दूसरे दिन नियत स्थानपर पहुँच गये। पण्डितजीने देखा—एक सुन्दर-सा वन है। छोटी-सी नदी बह रही है, बड़ा-सा

मैदान और कदम्बका वृक्ष भी है। वह व्रज नहीं है, यमुना नहीं है; पर है कुछ वैसा ही। रात बीत गयी, सबेरा होनेके पहले ही डाकूने कहा—'देखिये पण्डित-जी, आप नये आदमी हैं। आप किसी पेड़की आड़में छिप जाइये। वह कहीं आपको देखकर न आवे तो! अब प्रातःकाल होनेमें विलम्ब नहीं है। अभी आवेगा।' डाकू पण्डितजीसे बात कर ही रहा था कि मुरलीकी मोहक ध्वनि उसके कानोंमें पड़ी। वह बोल उठा—'सुनिये, सुनिये पण्डितजी! बाँसुरी बज रही है! कितनी मधुर! कितनी मोहक! सुन रहे हैं न?' पण्डितजी—कहाँ जी, मैं तो कुछ नहीं सुन रहा हूँ। क्या तुम पागल हो गये हो? डाकू—पण्डितजी, पागल नहीं, जरा ठहरिये, अभी आप उसे देखेंगे। रुकिये, मैं पेड़पर चढ़कर देखता हूँ कि वह अभी कितनी दूर है?

डाकूने पेड़पर चढ़कर देखा और बोला—पण्डितजी, पण्डितजी; अब वह बहुत दूर नहीं है, उतरकर उसने देखा कि थोड़ी दूरपर वैसा ही विलक्षण प्रकाश फैल रहा है। वह आनन्दके मारे पुकार उठा—'पण्डितजी, यह है, यह है। उसके शरीरकी दिव्य ज्योति सारे वनको चमका रही है।' पण्डितजी—'मैं तो कुछ नहीं देखता।' डाकू—'ऐसा क्यों पण्डितजी, वह इतना निकट है, इतना प्रकाश है; फिर भी आप नहीं देख पाते हैं? अजी, आप जङ्गल, नदी, नाला सब कुछ देख रहे हैं और उसको नहीं देख पाते?' पण्डितजी—'हाँ भाई, मैं तो नहीं देख रहा हूँ। देखो, यदि सचमुच वे हैं तो तुम उनसे कहो कि 'आज तुम जो देना चाहते हो, सब इसी ब्राह्मणके हाथपर दे दो।' डाकूने स्वीकार कर लिया।

अबतक भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी डाकूके पास आकर खड़े हो गये थे। डाकूने कहा—'आओ, आओ; मैं आ गया हूँ। तुम्हारी बाट जोह रहा था।' श्रीकृष्ण—'गहने लोगे?' डाकू—'नहीं भाई, मैं गहने नहीं लूँगा। जो तुमने दिये थे, वे भी तुम्हें देनेके लिये लौटा लाया हूँ, तुम अपना सब ले लो। लेकिन भाई, ये पण्डितजी मेरी बातपर विश्वास नहीं कर रहे हैं। विश्वास करानेके लिये ही मैं इन्हें साथ लाया हूँ। मैं तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनता हूँ। तुम्हारी अङ्गकान्तिसे चमकते हुए वनको देखता हूँ, तुम्हारे साथ बातचीत करता हूँ। परन्तु पण्डितजी यह सब देख-सुन नहीं रहे हैं। यदि तुम इन्हें नहीं दीखोगे तो ये मेरी बातपर विश्वास नहीं करेंगे। श्रीकृष्ण—'अरे भैया, अभी ये मेरे दर्शनके अधिकारी नहीं हैं। बूढ़े, विद्वान् अथवा पण्डित हैं तो क्या हुआ?' डाकू—'नहीं भाई, मैं बलिहारी जाऊँ तुमपर। उनके लिये जो कहो वही कर दूँ। परन्तु एक बार इन्हें अपनी बाँकी झाँकी जरूर दिखा दो।' श्रीकृष्णने हँसकर कहा—'अच्छी बात, तुम मुझे और पण्डितजीको एक साथ ही स्पर्श करो।' डाकूके ऐसा करते ही पण्डितजीकी दृष्टि दिव्य हो गयी। उन्होंने मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्याम-सुन्दरकी बाँकी झाँकीके दर्शन किये। फिर तो दोनों निहाल होकर भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े।

भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्णकी लीला ऐसी ही है। वे कहीं प्रकट हैं तो कहीं आँखमिचौनी खेल रहे हैं। जिसने विश्वासकी आँखोंसे उन्हें देखना चाहा, उसे वे मिले। ठीक उसी रूपमें, जिस रूपमें उसने चाहा। डाकू और पण्डितमें उनके लिये कोई भेद नहीं है। केवल विश्वास चाहिये, प्रेम चाहिये, लगन चाहिये। क्या हम भी उसी डाकूकी तरह, नहीं-नहीं, भक्तराज डाकूकी तरह विश्वासके नेत्रसे भगवान्‌को देख सकेंगे? अवश्य।

बोलो भक्त और भगवान्‌की जय!

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

लौकिक-पारलौकिक दुःखोंके नाश, सुखोंकी प्राप्ति, भवबन्धनसे सहज ही छूटनेका साधन कलियुगमें केवल श्रीभगवन्नाम ही है। सचमुच श्रीहरिनाम भवसागरसे तरनेके लिये सुदृढ़ जहाज है। इसीसे भगवान् शिवजीने पार्वतीसे कहा है—

तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥

लोगोंके उद्धारके लिये सर्वत्र श्रीहरिनामका प्रकाश करना चाहिये। कलियुगमें जीव एकमात्र श्रीहरिनामसे ही सारे महापापोंसे छुटकारा पा सकेंगे।

तन्नामकीर्तनं भूयस्तापत्रयविनाशनम्।
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमुदाहृतम्॥
नातः परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
नामसङ्कीर्तनादेव तारकं ब्रह्म दृश्यते॥

काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, असूया, अपमान, वैर, डाह, असहिष्णुता, अभिमान आदिसे उत्पन्न मानस दुःखोंका नाम आध्यात्मिक ताप है। मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी आदिसे प्राप्त दुःखोंका नाम आधिभौतिक ताप है और वायु, वर्षा, बिजली, अग्नि आदिसे उत्पन्न दुःखोंको आधिदैविक ताप कहते हैं। आज सारा जगत् इन तीनों तापोंकी प्रचण्डतासे जला जा रहा है, चारों ओर हाहाकार मचा है। भगवान्के नामसे इन त्रिविध तापोंका समूल नाश और सब प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त होता है। श्रीहरिनामकीर्तन-के समान पुण्य तीनों लोकोंमें और कोई भी नहीं है। इस नामसङ्कीर्तनसे मनुष्य साक्षात् भगवान्के दर्शन प्राप्त कर सकता है। इतना महान् होनेपर भी इतना सुगम है कि इस भगवन्नामका ग्रहण पुरुष-नारी, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के पाठकों और प्रेमियोंसे नामजपका अभ्यास बढ़ानेके लिये प्रतिवर्ष २॥ महीने नाम-जपके लिये प्रार्थना की जाती है। बड़े ही हर्षकी बात है कि प्रतिवर्ष 'कल्याण'के ग्राहक और पाठक महोदय 'कल्याण' की प्रार्थना सुनकर जगत्के परमकल्याणकी भावनासे स्वयं नामजप करते और दूसरोंसे करवाते हैं।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष शुक्ल १से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमातक अर्थात् ढाई महीनेमें उपर्युक्त सोलह नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और आनन्दकी बात है कि दस करोड़की जगह पचास करोड़से अधिक मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है। आशा है भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती हैं, अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये।

यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१–किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३–प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४–सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५–संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्रजपकी संख्या एक सौ आठ होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६–संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७–सूचना भेजनेका पता–

नाम-जप-विभाग,
'कल्याण'-कार्यालय,
गोरखपुर।

याचना

जगहित-विषधर ! जग विषयोंने जब मन मेरा मचलाया।
उमा-रमन-मधु-स्मरन-स्वप्नसे बार बार तब बहलाया॥
हठ तज माया-बंधन आई आशुतोष प्रभु ! मैं दासी।
हिमकर-भूषित ! दो शीतलता अपने हिमकी आभासी॥

(श्रीमती) 'रूप कुमारी'

कामके पत्र

(१)

भगवान्की कृपाशक्ति

एक पत्रमें आपने इस आशयकी बात लिखी थी कि किसी समय मेरे किसी संकल्पसे आपके मनमें बार-बार उठनेवाली एक बुरी वासना शान्त हो गयी थी, इसलिये अब मैं पुनः ऐसा संकल्प करूँ जिससे आपकी कोई दूसरी बुरी वासना भी शान्त हो जाय। इसपर मेरा यह निवेदन है कि यदि उस बार ऐसा हुआ तो इसमें प्रधान कारण भगवत्-कृपा और आपकी श्रद्धा है, मेरे सङ्कल्पोंमें मुझे ऐसी कोई शक्ति नहीं दीखती जिसके बलपर मैं कुछ कर सकता हूँ, ऐसा कह सकूँ। हाँ, आपके मनसे बुरी वासना नाश हो जाय यह मैं भी चाहता हूँ। आप भगवत्-कृपापर विश्वास करें और श्रद्धापूर्वक ऐसा निश्चय करें कि 'भगवान्की दयासे अब मेरे मनमें अमुक बुरी वासना कभी न उठे।' तो मेरा विश्वास है कि यदि आपका निश्चय दृढ़ श्रद्धायुक्त होगा तो आपके मनसे उक्त बुरी वासना हट सकती है। श्रीभगवान्की शक्ति अपरिमित है, जो मनुष्य अपनेको भगवान्पर सर्वतोभावेन छोड़ देता है, अपना सारा बल भगवान्के चरणोंमें न्योछावरकर भगवान्के बलका आश्रय कर लेता है, तो भगवान्की अचिन्त्य महिमामयी कृपाशक्तिके द्वारा सुरक्षित होकर वह समस्त विरोधी शक्तियोंपर विजयी हो सकता है। निर्भरता अवश्य ही सत्य, पूर्ण और अनन्य होनी चाहिये। फिर उसे कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

सत्यका स्वरूप और उसका महत्त्व

सत्यका महत्त्व समझमें आ जानेके बाद जरा-सा भी सत्यका अपलाप बहुत ही असत्य मालूम होता है। सत्यके द्वारा प्राप्त होनेवाले अतुलनीय आनन्द और शान्तिका आस्वादन नहीं होता, तभीतक असत्यकी ओर प्रवृत्ति होती है। श्रीभगवान्में पूर्ण विश्वास होनेपर भी असत्य छूट जाता है। आसक्ति, मोह और प्रमादवश ही मनुष्य झूठ बोलता है और उसके द्वारा सफलताकी सम्भावना मानता है। मनोरञ्जनके लिये झूठ बोलना प्रमाद है। स्वभाव बिगड़ जानेपर असत्य छूटना अवश्य ही कठिन हो जाता है। परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि वह छूट ही नहीं सकता। वास्तवमें आत्मा सत्-स्वरूप है, आत्माका स्वरूप ही सत्य है। अतएव असत्य आत्माका स्वभाव नहीं है। भूलसे इस दोषको आत्माका स्वरूप मान लिया जाता है। जो बाहरसे आयी हुई चीज है, उसको निकालना असम्भव कदापि नहीं है। पुरानी होनेकी वजहसे कठिन अवश्य है। भगवान्की कृपापर भरोसा करके दृढ़तापूर्वक पुराने अभ्यासके विरुद्ध नया अभ्यास किया जाय और बीचमें ही घबड़ाकर छोड़ न दिया जाय, असत्यका पुराना अभ्यास निश्चय ही छूट जा सकता है। इस बातपर अवश्य विश्वास करना चाहिये। दुर्गुण और दुर्भाव, आत्मा या अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। अतएव इनको नष्ट करना, यथायोग्य परिश्रमसाध्य होनेपर भी सर्वथा सम्भव है।

यहाँ एक बात यह सत्यके सम्बन्धमें जान रखनी चाहिये। सत्य वही है, जिसमें किसी प्रकारका कपट न हो और जो निर्दोष प्राणीका अहित न करता हो। मानो सत्यके साथ सरलता और अहिंसाका प्राण और जीवनका-सा मेल है। इनका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। वाणीसे शब्दोंका उच्चारण ज्यों-का-त्यों होनेपर भी यदि कपटयुक्त भावभंगीके द्वारा सुननेवालेकी समझमें यथार्थ बात नहीं आती तो वह वाणी सत्य नहीं है। इसके विपरीत शब्दोंके उच्चारणमें एक-एक अक्षरकी या वाक्यकी यथार्थता न होनेपर भी यदि सुननेवालेको ठीक समझा देनेकी नीयत, इशारों या भावोंका प्रयोग करके उसे यथार्थ

समझा देनेकी सरल चेष्टा होती है तो वह सत्य है। उच्चारणमें वाणीकी प्रधानता होनेपर भी सत्यका यथार्थ सम्बन्ध मनसे है। इसी प्रकार किसी निर्दोष जीवका अहित करनेकी इच्छा या वासनासे जो सत्य शब्दोंका उच्चारण किया जाता है, वह भी परिणाममें असत्य और अनिष्ट फलका उत्पादक होनेसे असत्यके ही समान है। मन, वचन तथा तनमें कहीं भी छल न होकर जो सरल भाषण होता है, वही अहिंसायुक्त होनेपर सत्य समझा जाता है।

क्रोधनाशके उपाय

क्रोधके नाशके प्रधान उपाय दो हैं—

१—सबमें भगवान्‌को देखना। २—सब कुछ भगवान्‌का विधान समझकर प्रत्येक प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करना। और भी अनेकों उपाय हैं, उनसे सावधानीके साथ काम लेना चाहिये। सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका अभ्यास करना चाहिये। और जिनसे व्यवहार पड़ता हो उनको भगवान्‌का स्वरूप समझकर पहले मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लेना चाहिये। तदनन्तर यथायोग्य निर्दोष व्यवहार करना चाहिये। श्रीभगवान् हैं, यह बात याद रखनेपर व्यवहारमें निर्दोषता आप-ही-आप आ जायगी।

नरकके तीन द्वार

धनका लोभ न रखकर कर्तव्यबुद्धिसे या इससे भी उच्च भावना हो तो भगवान्‌की सेवाके भावसे धनोपार्जनके लिये चेष्टा करनी चाहिये। यह भाव रहेगा तो दोष नहीं आ सकेंगे। धनोपार्जनमें पापोंका प्रवेश लोभके कारण ही होता है। यह याद रखना चाहिये कि काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके द्वार हैं और आत्माका पतन करनेवाले हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट इस बातकी घोषणा की है, अतएव इन तीनोंसे यथासाध्य बचना चाहिये।

परधन और परस्त्रीमें विषबुद्धि

परधन और परस्त्रीमें विष-बुद्धि होनी चाहिये। उन्हें जलती हुई आग या महा विषधर सर्प समझकर उनसे दूर—अतिदूर रहना चाहिये। सद्हेतुसे भी परधन या परस्त्रीमें प्रीति होनेपर गिरनेका डर रहता है; क्योंकि ये ऐसी ही वस्तुएँ हैं। जरा-सी दूषित आसक्ति उत्पन्न होते ही पतन होते देर नहीं लगती। इसीलिये साधकोंके लिये शास्त्रोंमें इनका 'स्व' होनेपर भी वर्जन ही श्रेयस्कर बतलाया गया है। 'पर' तो प्रत्यक्ष नरकानल है ही। अतएव बार-बार दोष और दु:खबुद्धि करके परस्त्री और परधन-की ओर चित्तवृत्तिको कभी जाने ही नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌की दयापर विश्वास

एक बात और, वह यह कि श्रीभगवान्‌की दयापर विश्वास करके उनका स्मरण करते रहना चाहिये भगवान्‌पर निर्भर हो जानेसे सारी विपत्तियाँ अपने-आप ही टल जाती हैं। भगवान् कहते हैं—तुम मुझमें मन लगाये रक्खो, फिर मेरी कृपासे सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको सहज ही लाँघ जाओगे।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(गीता)

भगवान्‌की इस आश्वासन-वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(२)

बुद्धि और श्रद्धा

तुमने लिखा कि मैं ईश्वरको न तो भूला हूँ और न भूलनेकी आशंका है; रास्ता चाहे दूसरा हो। सो भाई! बहुत अच्छी बात है, रास्तेकी तो कोई बात नहीं; सभी रास्ते अन्तमें जाकर उस एक ही लक्ष्यमें समा जाते हैं। ईश्वरको नहीं भूलना और किसी भी मार्गपर उसे उपलब्ध करनेके लिये मनुष्यको दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिये। जगत्‌के शास्त्रसम्मत सभी धर्मोंमें एक ही सत्य समाया हुआ है। बाह्य रूपोंमें अन्तर होनेपर भी मूलत: और परिणामत: सबका समन्वय है। अवश्य ही तुम्हें और भी विशेष चेष्टाके साथ लगना

चाहिये। परमात्माके साधनमें आलस्य करना, समयकी प्रतीक्षा करना और अधूरी स्थितिको ही पूर्ण मान लेना यथार्थ स्थितिकी प्राप्तिमें बहुत बाधक हुआ करता है। मनुष्य-जीवन नश्वर और क्षणभङ्गुर है अतएव विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है × × × ×

तुम्हारा यह लिखना बहुत ठीक है कि 'मनुष्यको अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये, जहाँ अपनी बुद्धि काम न दे वहाँ बड़ोंसे या जिनपर अपनी श्रद्धा हो—पूछकर उनकी अनुमतिसे काम करना चाहिये। तथा तुम्हारा यह लिखना भी बहुत उचित है कि 'यद्यपि अच्छे पुरुष जान-बूझकर अनुचित नहीं कहते पर भूल तो सबसे ही होती है।' ये दोनों ही बातें ठीक हैं। तथापि बुद्धि और श्रद्धा दोनोंकी ही आवश्यकता है और प्रायः जगत्‌के सभी क्षेत्रोंमें इन दोनोंसे ही लाभ उठाया जाता है। बुद्धिवाद भी इतना बढ़ जाना बहुत हानिकर होना है, जहाँ अभिमानवश अपनी बुद्धिके सामने सबकी बुद्धिका तिरस्कार किया जाने लगे। और श्रद्धा भी इस रूपमें नहीं परिणत हो जानी चाहिये, जिससे ईश्वर, सत्य और सदाचारके विरुद्ध मतको किसीके कहनेमात्रसे स्वीकार कर लिया जाय। मर्यादित रूपसे बुद्धि हो और यह भी माना जाय कि ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वरकी सन्तानोंमें सम्भवतः मुझसे भी अधिक बुद्धिमान् पुरुष हो चुके हैं और हो सकते हैं।

बुद्धिवाद घोर अभिमान, उच्छृङ्खलता और नास्तिकतामें परिणत नहीं होना चाहिये। मेरी धारणामें तो बुद्धिवादकी अपेक्षा श्रद्धा बहुत ही ऊँची और उपादेय वस्तु है, परन्तु उसकी कसौटी यही है कि ईश्वर या सत्यका श्रद्धालु कभी पापका आचरण नहीं कर सकता—श्रद्धामें यह शर्त जरूर रहनी चाहिये।

बुद्धिवादियोंमें भी यह भाव रहना आवश्यक है कि वे अपने लिये अपनी बुद्धिसे काम लेनेका जितना अधिकार समझते हैं, उतना ही दूसरोंके लिये भी मानें, चाहे वे दूसरे उनके अधीनस्थ निम्नश्रेणीके लोग माने जाते हों या कम विद्या प्राप्त हों। यदि मैं किसीपर श्रद्धा करना आवश्यक नहीं समझता तो मुझे ऐसा चाहनेका भी अधिकार नहीं होना चाहिये कि दूसरे कोई मुझपर श्रद्धा करें या मेरी ही बुद्धिको मान दें। जैसे दूसरेसे गलती हो सकती है, वैसे अपनेसे भी तो हो सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आँख मूँद-कर तो किसीकी बात नहीं माननी चाहिये, तथापि कुछ ऐसी बातें भी जगत्‌में होती हैं, जो हमारे समझमें नहीं आतीं, पर सत्य होती हैं और जिसपर हमारा भरोसा होता है, उसके विश्वासपर हमें उनको स्वीकार भी करना पड़ता है और स्वीकार करना भी चाहिये। वर्तमान वैज्ञानिक युगमें तो ऐसी बहुत-सी बातें हैं।

इसी प्रकार ईश्वरीय साधन-क्षेत्रमें भी है—इस बातका यदि मुझपर कुछ भी विश्वास है तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर कह सकता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल ढोंग बहुत ज्यादा बढ़ गया है, जिससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि श्रद्धा किसपर की जाय। जिसपर श्रद्धा की जाती है, प्रायः वही ठग, स्वार्थी, कामी, क्रोधी या लोभी निकलता है। भेड़की खालमें भेड़िया साबित होता है। इसलिये विश्वास तो खूब ठोक-पीटकर करना चाहिये और यथासाध्य सचेत रहना तथा अपने अंदर भी ईश्वर और ईश्वरकी शक्ति है—इस बातपर भरोसा करके अपनी बुद्धिसे पूरा काम लेना चाहिये। ईश्वरका आश्रय लेकर अपनी बुद्धिसे काम लेनेवाला निरहंकारी पुरुष कभी नहीं ठगा सकता।

(३)

भगवत्प्रेमकी अभिलाषा

आपके अंदर जबतक दोष हैं, तबतक अपनेको कभी उत्तम नहीं समझना चाहिये। सारे दोषोंका मिट जाना मालूम होनेपर भी दोषोंकी खोज करनी चाहिये, तथा जरा-सा भी दोष शूलकी तरह हृदयमें चुभना

चाहिये। जबतक किञ्चिन्मात्र भी दूषित भाव हृदयमें रहे, तबतक सूरदासजीकी भाँति अपनेको महान् पातकी ही मानकर प्रभुके सामने रोना चाहिये। आपने जैसा मुझको लिखा है, ऐसा ही बल्कि इससे भी और खुलासा अन्तर्यामी प्रभुसे अपने हृदयकी आर्त भाषामें कहना चाहिये। मनुष्य शायद न सुने, किसीकी भाषाका मर्म न समझ सके, समझकर भी लापरवाही कर दे और समझ भी ले किन्तु शक्ति न होनेसे कुछ भी सहायता न कर सके, परन्तु भगवान्में ये सब बातें कोई-सी नहीं हैं। वह सुनता है, सबके हृदयकी भाषाका रहस्य समझता है, लापरवाही भी नहीं करता और सर्व प्रकार दोष-दुःख दूर करनेकी उसमें पूर्ण सामर्थ्य भी है, इसलिये मनुष्यको अपने दोष-दुःखोंका नाश करनेके लिये प्रभुसे ही प्रार्थना करनी चाहिये। प्रभु अन्तर्यामी हैं, सब कुछ जानते हैं, परन्तु प्रार्थना किये बिना, हमारे चाहे बिना, उनके द्वारा सदा किया जानेवाला उपकार हमपर प्रकट नहीं होता। तथा ऐसा विशेष रूपसे अद्भुत कार्य भी नहीं होता जो चाहनेपर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चींटीकी चालके बदलेमें भगवान् इच्छागति गरुड़की चालसे ही आते हैं, परन्तु चींटीकी चालसे भी उनकी ओर चल पड़ना तो हमारा ही कार्य है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का यही रहस्य है कि मनुष्य उन्हें चाहने लगे। उनकी तरफ अपनी ही चालसे चलना शुरू कर दे, फिर भगवान् अपनी चालसे चलकर उसके पास बात-की-बातमें पहुँच जायँगे। हमारी मन्द गतिके बदलेमें वे अपनी चाल नहीं छोड़ेंगे। परन्तु उनकी ओर चलना, उन्हें चाहना होगा पहले हमें। आप चल पड़े हैं, तो प्रभुके वाक्योंपर विश्वास रखिये, वे आपकी ओर द्रुत गतिसे, आपके मनकी गतिके अनुसार ही अपनी तीव्र गतिसे आ रहे हैं, यदि नहीं चले हैं तो सब कुछ भूलकर चल पड़िये और फिर देखिये कितनी जल्दी वे आते हैं। भगवान्में अनन्य प्रेमकी भिक्षा अनन्यप्रेमी भगवान्से ही माँगनी चाहिये। यदि हमारी अभिलाषा सच्ची होगी तो अनन्य प्रेम अवश्य मिलेगा। अनन्य प्रेमकी आपको अभिलाषा है, यह बड़े ही सौभाग्य और आनन्दकी बात है। भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेकी अभिलाषासे बढ़कर कोई सौभाग्यभरी उत्तम अभिलाषा नहीं है। यह सर्वोच्च अभिलाषा है। जो मोक्षतककी अभिलाषाको लात मार देनेके बाद उत्पन्न होती है। भगवत्प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जो मोक्षकी इच्छाके भी त्यागसे होता है। और जिसके परे श्रीभगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है। बल्कि भगवान् भी उस प्रेमकी डोरमें बँधकर प्रेमीके नचाये नाचते, बाँधे बँधते, जन्माये जन्मते और मारे मरते हुए-से प्रतीत होते हैं। विशुद्ध और अनन्य प्रेमकी महत्ता और कौन कहे, यह प्रेम प्रेमार्णव भगवान्से ही मिलता है। दूसरेमें किसमें शक्ति है, जो इसका व्यापार करे।

महापुरुषको आत्मसमर्पण

निश्चय ही अच्छे पुरुष ग्रहण करके छोड़ते नहीं, यदि ग्रहण वास्तविक दानसे हुआ है तो, वह कभी छूटता भी नहीं। फिर बदनामी-खुशनामीका तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। यदि हमें किसी महापुरुषने ग्रहण कर लिया है तो फिर हम यह क्यों सोचें कि किस कार्यमें उसकी बदनामी-खुशनामी होगी और उसे क्या करना चाहिये। यदि उसमें इतनी ही सोचनेकी शक्ति नहीं है तो वह महापुरुष कैसा? अतएव हम-सरीखे साधारण पुरुषोंका महापुरुषोंपर विश्वास होना ही हमारे कल्याणके लिये काफी है। परम विश्वाससे ही शरणागति होती है। आत्मसमर्पण होता है। और पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण रह ही नहीं जाता। जबतक चिन्ता है, तबतक समर्पणमें कमी समझकर उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये। समर्पणकी पूर्णता विश्वास और श्रद्धासे होती है।

गृहस्थका परम धर्म—अतिथि-सत्कार

(लेखक—पं० श्रीअम्बालालजी जानी, बी० ए०)

अतिथिका यथाशक्ति सत्कार करना—प्राचीन कालमें गृहस्थाश्रमका एक आवश्यक अङ्ग, प्रत्येक गृहस्थाश्रमीका प्रथम धर्म माना जाता था। गृहस्थाश्रम बाकी तीन आश्रमों—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रमका—उपकारक गिना जाता था। अर्थात् इन तीनों आश्रमोंका निर्वाह करनेमें मुख्यतया सहायक माना जाता था। गृहस्थोंद्वारा किये जानेवाले पञ्च-महायज्ञोंमें अतिथि-सत्काररूप मनुष्ययज्ञका प्रधान स्थान था, तथा अतिथिसत्कार न करनेवाला गृहस्थ आदर तथा सम्मानका पात्र नहीं समझा जाता था। मनुष्योंके लिये ही नहीं, अपितु देवताओंके लिये भी अतिथि-सत्कार कर्तव्य था। यमराज-जैसे कृतान्त अथवा कालरूप माने जानेवाले देवता भी अतिथिसत्कारको अत्यन्त आवश्यक समझते हैं तथा अतिथिसत्कार न करनेवालेको जो हानि और दुर्गति सहनी पड़ती है, उसे भी जानते हैं। इस सम्बन्धमें कठोपनिषद्की एक छोटी-सी आख्यायिका अत्यन्त भावपूर्ण होनेसे नीचे दी जाती है।

उद्दालक मुनिके नचिकेता नामका एक पुत्र था। मुनिने स्वर्गप्राप्तिकी इच्छासे 'विश्वजित्' नामका यज्ञ आरम्भ किया तथा अपनी सारी सम्पत्ति दान करनेका सङ्कल्प किया। परन्तु नचिकेताने देखा कि दान करनेमें उसके पिता उद्दालक मुनि पूरी कृपणता—सङ्कोच कर रहे हैं। वे ब्राह्मणोंको दानमें जो गौएँ दे रहे हैं, वे अशक्त, निर्बल एवं गर्भधारणके अयोग्य हैं। नचिकेताने सोचा कि इस प्रकारकी निरुपयोगी गौओंका दान करनेवाला मनुष्य पुण्यके बदले पापका भागी होता है और परिणाम-में दु:खमय लोकोंको प्राप्त होता है।

इसलिये पिताको इस बातकी सूचना देनेके लिये उसने कहा—'पिताजी! आप मुझे किसको दान कर रहे हैं?' यह प्रश्न उसने उसी प्रकार तीन बार किया। इसपर उद्दालक मुनिने झुँझलाकर कहा कि 'तुझे मैं यमराजको दान करूँगा।'

इसके बाद पुत्रके आग्रह करनेपर उद्दालकने उसे यमराजको दान कर दिया। तदनुसार वह यमराजके लोकमें चला गया। परन्तु उस समय यमराज घरपर न थे। फलत: वह उनके द्वारपर तीन रात बिना अन्न-जल ग्रहण किये पड़ा रहा। इसके बाद जब यमराज घर आये तो उनकी पत्नीने उनसे कहा कि 'यह अग्निरूप अतिथि ब्राह्मण बालक अपने द्वारपर तीन दिनसे भूखा-प्यासा पड़ा हुआ है, अत: आप उसके पास जाकर उसे सत्कारद्वारा शान्त कीजिये। यदि आप इस अतिथिको सत्कारद्वारा शान्त नहीं करेंगे तो इसके फलरूपमें आपको बहुत भारी पाप लगेगा।'

अतिथि-सत्कारकी अनिवार्यरूपमें आवश्यकता बतलाने-वाला मन्त्र नीचे दिया जाता है—

> आशाप्रतीक्षे संगतᳶ सूनृतां च
>
> इष्टापूर्ते पुत्रपशूᳶश्च सर्वान्।
>
> एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
>
> *यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥*
>
> (कठोपनिषद् १।१।८)

'स्वामिन्! जिस अल्पबुद्धि गृहस्थ पुरुषके घरमें अतिथि साधु-ब्राह्मणरूप अग्नि बिना अन्न-जल ग्रहण किये रह जाता है, उसकी आशा (जिसकी प्राप्ति अनिश्चित है किन्तु जो प्राप्त होनेयोग्य है, ऐसी इष्ट वस्तुकी प्रार्थना), प्रतीक्षा (निश्चित प्राप्त होनेवाली वस्तुकी अपेक्षा), सङ्गत (सत्सङ्गसे प्राप्त होनेवाला फल), सूनृत (सुख पहुँचानेवाली वाणी), इष्ट (अग्निहोत्र एवं यज्ञ आदिसे होनेवाले पुण्यका फल), पूर्त (बावली, कुओं, तालाब आदि खुदानेसे होनेवाला पुण्य) तथा

पशु, पुत्र आदि सभी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, वह उस अपराधके कारण सब कुछ खो बैठता है ।'

मनुभगवान्‌का आदेश

श्रीमनुभगवान् भी 'उपनिषदादिमें उपदिष्ट अतिथि-सत्काररूप कर्म प्रत्येक गृहस्थको यथाशक्ति अवश्य करना ही चाहिये तथा उसे न करनेवाला गृहस्थ पापका भागी अर्थात् दुःखी होता है'—इस प्रकारके विधि-नियम मनुस्मृतिके गृहस्थधर्म नामक तीसरे अध्यायमें दिखलाते हुए कहते हैं—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥१००॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥

× × × ×

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥

'गृहस्थके द्वारपर यदि कोई अतिथि अपने-आप (बिना बुलाये) आ जाय तो गृहस्थको चाहिये कि वह उसका विधिपूर्वक सत्कार करे, तथा उसे बैठनेके लिये आसन, पीनेके लिये पानी तथा खानेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार अन्न अर्पण करे । अर्थात् दरिद्र गृहस्थको भी चाहिये कि वह अतिथिको निराश न लौटाकर किसी-न-किसी प्रकारसे यथाशक्ति उसका सत्कार ही करे ।'

'जो गृहस्थ नित्य शिलोञ्छवृत्तिसे आजीविका चलाता हो (खेतोंमें किसानके द्वारा छोड़े हुए तथा मण्डीमें व्यापारियोंद्वारा छोड़े हुए अन्नके दानोंको बटोरकर उन्हींसे जीवन-निर्वाह करता हो) अथवा पञ्चाग्निमें हवन करता हो, वह भी यदि अपने घर आये हुए अतिथिका सत्कार न करे तो वह अतिथि लौटता हुआ उस गृहस्थके पुण्यको हर ले जाता है ।'

'यदि किसी पुरुषकी अतिथिको खानेके लिये अन्न देनेकी सामर्थ्य न हो तो उसे चाहिये कि वह उसके बैठनेके लिये घास-फूसकी चटाई, विश्राम करनेके लिये भूमि तथा पीनेके लिये जल तो अवश्य अर्पण करे तथा प्रिय एवं हितभरी वाणीसे उसे शान्त एवं प्रसन्न करे ।' इतनी वस्तुओंका तो सत्पुरुषोंके घरमें किसी भी समय अभाव नहीं होता, ये वस्तुएँ तो उनके यहाँ हर समय मिल सकती हैं ।'

'शास्त्रज्ञानसे शून्य जो गृहस्थ सुवासिनी—बहिन-भानजी आदि सत्कारके योग्य सौभाग्यवती स्त्रियाँ, क्वारी कन्या, रोगी, गर्भिणी स्त्री तथा आगन्तुक मेहमानसे लेकर सेवकपर्यन्त सभी आश्रितोंको भोजन कराये बिना उनसे पहले ही भोजन कर लेता है, वह भोजन करते समय इस बातको नहीं जानता कि मरनेके बाद मेरी इस देहको श्मशानके कुत्ते और गीध नोच-नोचकर खायँगे ।'

संतशिरोमणि कबीरने कहा है—

कहै कबीर कमाल कूँ—दो बाताँ सिख लेय ।
कर ईश्वरकी बंदगी, भूखे कूँ अन देय ॥

आज हमारी इस आर्यभूमिकी जो दुर्दशा हो रही है, उसके मुख्य कारण हैं हमारे गुरुकुलोंका अभाव तथा अतिथि-सत्कारकी ओरसे हमारी लापरवाही । प्रभो ! सबको अपने कर्तव्यका ज्ञान कराओ, यही प्रार्थना है । ॐ इति शम् ।

मूर्च्छित नारी

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

अभी उस दिन एक बहनसे बातें चल पड़ीं। यह एक कालेजकी प्रिंसिपल हैं। सुधारके वातावरणमें पली हुई। पुरुषोंके अन्यायोंपर इन्होंने काफ़ी लिखा है। जीवनके शैशवमें बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर यह चली थीं। समझती थीं कि वह युग बीत गया है जब नारी पुरुषके इशारेपर नाचती थी। आज विश्वके कोलाहल और संघर्षमें वह राजपथपर खड़ी है और यात्रामें पूरा भाग लेगी।

पर अनुभवने शीघ्र स्वप्न भङ्ग कर दिया। अब वह अनुभव करती हैं कि एक अद्भुत-सी चीज़ आजकी नारी बन गयी है। सुबहसे शामतक अपने शृङ्गार और प्रसाधनमें व्यस्त; कालेज जा रही है तो बार-बार साड़ीको देख लेती है; वेणीपर हाथ जाते हैं कि कहीं गाँठ खुल तो नहीं रही है; वैनिटी बैगमेंसे शीशा निकालकर देखती जाती है; रूमालसे चप्पलपर पड़ी गर्द झटकार लेती है; विद्याभिरुचि उतनी नहीं जितनी डिग्रियोंके बलपर 'अच्छा' वर प्राप्त करनेका भाव है; विवाहके पूर्व यह और विवाहके बाद बँगले, कार, सिनेमा, क्लब, पार्टियाँ; या यह न हुआ तो कभी समाप्त न होनेवाली एक आगमें धीरे-धीरे जलना। और कुछ काम नहीं।

वह कहने लगीं—जो सार्वजनिक कार्योंमें थोड़ा बहुत आती भी हैं उनका भी उनमें कोई गम्भीर अनुराग नहीं होता; वहाँ भी वे मनोविनोद ही ढूँढ़ती फिरती हैं और इसका नतीजा यह होता है कि बहुत शीघ्र स्वयं दूसरोंके दिलबहलावकी सामग्री बन जाती हैं।

इसी सिलसिलेमें उन्होंने अपना एक अनुभव मुझे सुनाया। एक प्रसिद्ध देशनेताके अनुरोधपर एक दूसरी सार्वजनिक कार्योंमें आगे बढ़ी हुई बहनके साथ काम करने वह गयीं। बहनोंके साथ भाई भी थे। एक बहनके घर सब विचारार्थ एकत्र हुए। वहाँके दृश्य देखकर इस बहनकी आँखें खुल गयीं और उनका इस प्रकार सार्वजनिक कार्य करनेका उत्साह भङ्ग हो गया। उन्होंने देखा—कोई एक बहनके कंधेपर हाथ रक्खे है, कोई दूसरीके। एकने इनके कंधेपर भी हाथ रख दिया। इन्होंने उसे फटकारा तो औरोंने इन्हें 'असंस्कृत' और 'रूक्ष' समझा।

सबसे बड़ी बात इस मामलेमें यह है कि देश-सेवा या समाज-सेवाके कार्यक्रमपर विचार करते समय जो गम्भीरता, जो वेदना, जो तन्मयता होनी चाहिये वह कहीं दिखायी न देती थी। शिथिल, विकृत, विकारग्रस्त मन और वैसी ही चेष्टाओंका वाहक शरीर लिये जीवनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर दिल्लगी हो रही थी!

तबसे वह बहन वहाँ नहीं जातीं और जब कुछ काम करना होता है तो चुपचाप गाँवोंकी ओर निकल जाती हैं—किसी दीन-दुखियाके पास बैठती हैं; उसके दुःख-दर्दमें शरीक होती हैं। उसकी जो कुछ सेवा सम्भव हुई कर देती हैं। स्त्रियों और बच्चोंके साथ अपनापनका सम्बन्ध स्थापित करनेकी कोशिश करती हैं। अब वह उस आनन्दका अनुभव करती हैं जो सच्ची और सात्त्विक सेवा तथा हार्दिक तन्मयतासे प्राप्त होता है।

इस प्रकारके अनुभव और इस प्रकारकी बातें एकाकी नहीं हैं। वे हमारे समाजकी एक गहरी मानसिक व्याधिकी सूचना देती हैं। मैं तो ज्यों-ज्यों नारीकी समस्याओंका अध्ययन करता जाता हूँ मेरी धारणा दृढ़ होती जाती है कि नारी आज जैसी मूर्च्छित है वैसी कभी न थी। प्रचारके इस युगमें जब प्रत्येक

व्यक्ति और प्रत्येक वर्ग अपने अधिकारोंका प्रश्न लेकर उठ खड़ा हुआ है और जन-सेवकोंने जागरणकी शङ्ख-ध्वनिसे हमारा मानस कम्पित कर दिया है तब यह बात न केवल आश्चर्यकारी वरं हास्यास्पद प्रतीत होगी। पर हास्यास्पद यह नहीं है। शङ्ख तो बज रहे हैं पर जब हर दसवें आदमीके हाथमें एवं ओठोंसे शङ्ख और बिगुल लग रहे हों तब किसीको कुछ सुनायी न देना स्वाभाविक है।

मैं पूछता हूँ कि आज जब संसारपर मरणका अन्धकार छा गया है और जब जीवन, भयत्रस्त-सा, हमारे दरवाजेकी कुंडी खटखटा रहा है तब यह मूर्च्छित नारी क्या एक ख़तरा नहीं है? आज वह अपने प्रति कैसे आश्वस्त होगी और मानवजातिकी माता होनेके नाते उसे क्या आश्वासन देगी?

अपने सम्पूर्ण दावों और विरोधोंके साथ भी आज-की अधिकांश शिक्षित स्त्रियाँ पुरुषोंकी उससे अधिक गुलाम हैं जितनी उनकी माताएँ या दादियाँ थीं—यदि 'गुलाम' ही आप उन्हें कहना चाहें। मैं मानता हूँ कि हमारी पत्नियाँ, बेटियाँ और बहनें उससे अधिक असमर्थ हैं जितना हमारी माँएँ तथा उनकी बहनें थीं। आधुनिक नारी अपने प्रति एक सजीव व्यंग-सी है। जब पिछले ४० वर्षोंमें जीवनका संघर्ष अपेक्षाकृत बढ़ता गया है तब वह बराबर अपने रूप और शृङ्गार, अपने शारीरिक सुखके लिये सुविधाएँ और बाजार पैदा करनेमें अधिकाधिक व्यस्त होती गयी है। पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ अपढ़ या अपेक्षाकृत कम पढ़ी-लिखी स्त्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक असहाय है। आकाङ्क्षाएँ बड़ी-बड़ी, शक्ति थोड़ी। और फिर आकाङ्क्षाएँ भी प्रायः व्यक्तिगत सुविधा और वैभवतक सीमित। जीवनमें कष्टसे पलायनकी वृत्ति जैसी आजकी नारीमें है, कभी न थी। मानो नारी आज केवल रमणी रह गयी है। एक शिक्षित नारीकी शक्ति आज अधिक मामलोंमें, केवल उसका रूप है और इस रूपके प्रति आज जितना आग्रह, जितनी ममता उसमें है उतनी और किसी चीजके लिये नहीं है। और यह ममता उसमें व्यक्त इस तरह होती है कि वह पुरुषका शिकार बनती जा रही है। आज अधिकांशतः केवल रूपके बल-पर वह पुरुषको आकर्षित कर सकती है। विवाहोंके विज्ञापन देखिये, सभ्यसमाजमें होनेवाले विवाहोंपर एक सरसरी नजर दौड़ाइये—नारी कैसी भी गुणवती हो पर यदि रूपवती नहीं है तो सफलतापूर्वक उसका विवाह होना कठिन है। कहा जाता है कि पुरुष सदा-से स्त्रीके रूपका प्यासा रहा है। पर यह जानकर भी उसकी प्यासको बढ़ा देनेका प्रयत्न आजकी नारी क्यों करना चाहती है? पुरुषकी सुप्त वासनाको चुटकियाँ काट-काटकर वह क्यों जगा रही है? जो लचक और मटक, जो शृङ्गार और आकर्षण कवियोंकी कल्पनातक या गृहके अन्तरङ्गमें सीमित था वह आज राजमार्गपर इतराता और अठखेलियाँ करता चल रहा है।

मैं भी चाहता हूँ कि नारी अपने गौरवसे गौरवान्वित हो; अपनी महिमासे महिमामयी हो, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और अधिकारकी घोषणा करे। पर क्या यह अपनेको केवल पुरुषके आकर्षणका केन्द्र बना देनेसे होगा?

× × × ×

और दूसरी ओर दुनियासे अनजान, देश और धर्म-से अनजान, केवल परम्पराके अवगुण्ठनमें बँधी, व्याह जिसके लिये एक अनिवार्य कर्म है—जिसका व्याह इसलिये हुआ कि व्याह होता है, अपने पति और अपने बाल-बच्चोंकी नाव खेनेवाली नारी—धर्मकी अपेक्षा परम्पराका बोझ जिसपर अधिक है, ज्ञानकी अपेक्षा अफ़वाह और किंवदन्तियाँ जिसके मानसपर छायी हुई हैं। थोड़ी दूरतक देखनेवाली, थोड़ेमें सन्तुष्ट और थोड़े-में असन्तुष्ट। मानो संसारके प्रति आँखें बंद किये। एक साँस और गतिसे जीवनकी लीक-लीकसे बनी डगर-

पर चलनेवाली। चलना है, इसलिये चलती है। बोझ ढोना ही है, इसलिये ढोती है।

इस लड़कीका जन्म होता है केवल विवाहके लिये। उसकी और कोई सार्थकता नहीं है। माता उसे पाकर पुलकित नहीं; पिता उसे पाकर प्रसन्न नहीं। जब आ गयी है तब उसे ग्रहण करना ही है इसलिये कुटुम्बमें वह स्वीकृत है। गहने-कपड़ोंमें मगन, बाल-बच्चोंमें मगन, गाँव-घरमें मगन, सगे-सम्बन्धियोंमें मगन। जो मिला है उसके प्रति कोई सक्रिय विरोधका भाव उसमें नहीं। वह क्या है और कहाँ है, इसकी कोई अनुभूति नहीं। पुरुषके बिना रास्ता भी खोजनेमें असमर्थ, चलती हुई भय, लज्जा, शङ्का और आशङ्कासे त्रस्त; भीत मृगीकी भाँति देखकर, फूँक-फूँककर पाँव रखनेवाली। खिलौना-सी।

नारी-जीवनके ये दोनों ही दृश्य बड़े दुःखद हैं। समाजमें इतनी सभाएँ हैं; इतने संगठन हैं; हर तरहका काम हो रहा है पर चेतना नहीं आ रही है, उसका कारण यही है कि नारी-जीवन मूर्च्छाके अन्धकार और नशेसे भर गया है। आज नारी अचेत है; क्षुद्र प्रश्नोंमें व्यस्त, क्षुद्र स्वार्थोंमें लिप्त, दूरतक देखनेमें असमर्थ, अपनी संस्कृति और उदार परम्पराओंके प्रति अविश्वस्त।

मैं मानता हूँ कि हमारी संस्कृतिके लिये बड़ा ही विकट समय यह आया है। हमें भय दूसरोंसे उतना नहीं, जितना अपनेसे है। अपनेसे इसलिये कि हम आत्मविश्वास, आत्मदीप्तिसे शून्य हो गये हैं। हम अपने अन्तरको भूलकर बाहर प्रकाशके लिये भटक रहे हैं। आँखें बंद किये हुए सूर्यके न उगनेका यह उलाहना व्यर्थ है। एक सर्वग्राही नास्तिकतासे हमारा मानस आच्छन्न होता जा रहा है। चारों ओरसे तेज हवाएँ आ रही हैं और इसके बीच हमें अपने दीपककी रक्षा-का कोई उत्साह नहीं रह गया है।

और, यह सब इसलिये और भी भयानक हो उठा है कि न केवल हमारे राष्ट्रकी शरीर-शक्ति सुप्त है वरं प्राणशक्ति भी सो रही है। कौन है यह प्राण-शक्ति? वही नारी जो युग-युगसे हमारी सभ्यताके आदर्शका दीपक प्रज्वलित रखती आ रही है। जिसने पुरुषके ज्ञानको भक्ति और श्रद्धासे संस्कृत किया है; जिसने स्वार्थोंपर मानवताकी प्रधानताकी घोषणा की है, जिसने मानव-जातिमें समष्टिगत कोमल प्राण और आत्माका सृजन किया है। वही दानमयी, सर्वत्यागमयी, महिमामयी, नारी।

वही नारी आज मूर्च्छित है। वही नारी आज अचेत है। माता आज दीना बन गयी है। अपने गौरवके प्रति विस्मृत। स्नेहकी धारासे गृहोंका सिञ्चन करने-वाली गृहलक्ष्मी आज विवशा, उपेक्षिता, तिरस्कृता है। अपने दूधसे मानव-जातिकी आशा और भविष्यका रक्षण करनेवाली माता आज भूलुण्ठित है। अपनेको देकर सब कुछ पानेवाली, सर्वमयी अन्नपूर्णा आज रिक्त है। तब कैसे जागरण होगा?

बाहर दीपक सँजोनेका आज फैशन है। जगमग करती दीपमालिका मनको मुग्ध किये लेती है। प्रकाशसे आँखें चकाचौंध हैं। पर अन्तर सूना, देव-गृहमें बुझती-सी एक लौ, जिसकी ओर किसीका ध्यान नहीं और उपेक्षा तथा स्नेहकी कमीसे जिसकी बाती दम तोड़ना चाहती है। चेतन नारीसे शून्य गृह ऐसा ही होता है।

मेरे सामने एक चित्र टँगा है। मनोरम प्रान्त; चतुर्दिक् हरे-हरे वृक्ष; डालियाँ हिलतीं-डुलतीं; झकोरोंसे कम्पित वृक्ष। एक नारी आँचलसे दीपकको बुझनेसे बचाती हुई देव-मन्दिरकी ओर अग्रसर हो रही है। कहीं उसका ध्यान नहीं है, अपना भी ध्यान नहीं है। दीपक जलता रहे; देवताके मन्दिरको प्रकाशित करनेवाला दीपक।

यही हमारी सभ्यता और संस्कृतिका चित्र है। यही वास्तविक नारीका चित्र है। कठिनाइयों और प्रतिकूल

परिस्थितियोंके बीच भी अपने कर्त्तव्यमें अनुरक्त। अपने आदर्शको बुझने न देनेको समद्ध। जिसने युगोंसे इसी प्रकार हमारी आत्माको जाग्रत् रखा है—प्राणोंकी दीप्ति बुझने नहीं दी है। जिसके अञ्चलतले प्रकाश सुरक्षित है; जिसकी छायामें देवताकी अर्चना आश्वस्त है। आत्मदेवकी पूजा निरन्तर चलती रहे, यह देखकर श्रद्धाके दीपकको बचाती हुई देवताके मार्गपर निरन्तर बढ़नेवाली।

यह सम्पूर्ण नारी-शक्ति आज मूर्च्छित है। यह समस्त शक्ति आज रुद्ध है। हे माताओ, बहनो, बेटियो! तुम अपने गौरवकी परम्पराकी ओर देखो। तुम जगो, तुम्हारे जगे बिना कुछ न बचेगा। तुम्हारे सहयोग बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य असम्भव है। तुम उठो। आज मोहके तुच्छ बन्धनोंको तोड़ दो। आज जीवन तुम्हारी भीख चाहता है; आज सन्तति तुम्हारा मातृत्व चाहती है। आज भाई तुम्हारा बहनापा चाहते हैं। युग-युगसे तुमने स्नेहका जो दान किया है वह क्या आज बंद हो जायगा? तुम्हारी मधुर वाणीसे गृह मुखरित रहे हैं, क्या वे आज मौन हो जायँगे? तुम्हारी मुसकानसे हमारा मानस स्निग्ध होता रहा है, क्या आज उस क्रमका अन्त हो जायगा? तुमको देखकर हमने अपनेको खोजा और पाया है। तब आज तुम अपने 'स्वरूप' को क्यों छोड़ोगी?

माँ, जगो। उठो। तुम बन्धनमुक्त हो, तुम सर्व-शक्तिमयी हो। तुममें वह मातृत्व जाग्रत् हो—वह गौरव, वह तेज, विश्वके, भारतके प्राण जिसके लिये छट-पटा रहे हैं। हे मङ्गलमयी! तुम्हारे मङ्गल-गानसे मानवताका मार्ग मुखरित हो। हे दानमयी! तुम्हारे दानसे हमारा जीवन धन्य हो। हे शक्तिमयी! तुम्हारे तेजसे हम तेजस्वी हों। उन बन्धनोंको टूट जाने दो जिनमें तुमने अपनेको बाँध लिया है और कल्याण-मार्गकी यात्रा आरम्भ होने दो। हे रुद्धनारी! तुम निर्बन्ध हो; हे मूर्च्छिते! तुम जाग्रत् हो।

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीशङ्करतीर्थ यतिजी महाराज)

[गतांकसे आगे]

वर्ण

भगवान् यास्कने कहा है— 'वर्णो वृणोतेः।'—निरुक्त। 'आवृणोति हि स आश्रयम्।'—निरुक्तटीका। 'वृ' धातुसे वर्ण पद सिद्ध होता है। जो आश्रयको आवृत करता है, ढँक रखता है, वह 'वर्ण' है। सत्त्व-रज-तम—ये तीन गुण आत्माकी शक्तियाँ हैं। ये आत्माको आश्रय करके रहते हैं, आत्मा इन तीनों गुणोंका आश्रय है। परन्तु ये गुणत्रय स्वाश्रय आत्माको, आत्माके यथार्थरूपको ढँके रखते हैं। विज्ञानभिक्षुने कहा है—'तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्, पुरुषपशुबन्धक त्रिगुणात्मकमहदादिरज्जु-निर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते।'—सांख्यप्रवचनभाष्य। अर्थात् 'भोक्ता पुरुष या आत्माके उपकरण (भोगसाधन), अथवा पुरुषरूपी पशुको बाँधनेवाले त्रिगुणात्मिका महदादि रज्जुके निर्माता सत्त्व, रज, तम—इन तीन द्रव्योंसे आत्माको बाँधनेवाले महत् अहङ्कारादिका परिणाम होता है, अतएव सांख्य और वेदान्तादि शास्त्रोंमें सत्त्वादि पदार्थत्रयकी 'गुण' संज्ञा दी गयी है।' सत्त्वादि गुण या रज्जुत्रयके द्वारा विश्वपिता परमेश्वर जगत्को धारण किये हुए है, अखिल जगत्को बाँधनेवाली परमेशशक्ति सत्त्व, रज और तम—गुणत्रयात्मिका है।

बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—'एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय।' (४।४।२२)—इसके भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने कहा है—'एष सेतुः; किंविशिष्ट इत्याह—विधरणो वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता।' अर्थात् भूलोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त अखिल लोककी मर्यादामें अन्तर न हो, व्यवस्थामें विपर्यय न हो, कोई नियमका उल्लङ्घन न करे, इसी कारण सर्ववशी—ब्रह्मादिके भी ईशिता—सर्वाधिपति परमपिताने सेतुके समान अखिल

ब्रह्माण्डको धारण किया है, वर्णाश्रमादि व्यवस्थाकी रक्षा की है।

बन्धनार्थक 'सि' धातुके आगे 'तुन्' प्रत्यय लगानेसे 'सेतु' पद सिद्ध होता है। परमेश्वरने सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके द्वारा अखिल ब्रह्माण्डको नियमित कर रक्खा है, इसी कारण सत्त्वादि शक्तित्रयको 'गुण' नाम दिया गया है। वर्णाश्रम-धर्म, सत्त्वादि गुणत्रयके ही कार्य-परिणाम हैं। जो धारण किये रखता है, उसे 'धर्म' कहते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था प्राकृतिक 'धर्म' है, यह अखिल जगत्‌की प्राकृतिक नियम-रज्जु है। भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यने इसी कारण कहा है—'विधरणो वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता।' 'परमेश्वर वर्णाश्रमादि व्यवस्थाके धारण करनेवाले हैं।'

यह त्रिगुणात्मिका परमेशशक्ति माया ही 'वर्ण' है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में कहा गया है—'य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।' (४।१) ऋग्वेदसंहितामें कहा है, 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥' (चतुर्थ अष्टक ३।४।४७) अर्थात् परमात्मा नाना प्रकारकी शक्तियोंके संयोगसे नाना वर्ण धारण करते हैं, अनेकों रूपोंमें प्रतीयमान होते हैं। अर्थात् एक ब्रह्म ही, एकत्वकी (Monistic All-Pervading Essence) अविरोधिनी आत्मभूता शक्ति या मायाके द्वारा अनेकों रूपोंमें, अनेकों नामसे विराजमान हो रहे हैं, नाना प्रकारके विचित्र जगत्‌के आकारोंको धारण कर रहे हैं।

अतएव जो लोग, भगवान् यास्कके 'वर्णो वृणोतेः' इस पदका अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'जिसके जिस प्रकारके गुण और कर्म हों, उसे तदनुकूल अधिकार देना उचित है, ब्राह्मणादि चतुर्विध वर्णभेद गुण और कर्मके भेदसे ही मनुष्य-द्वारा निर्मित है'—वे शास्त्र और युक्तिसे युक्त बात नहीं कहते। वे संभवतः अपने किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही वेद-शास्त्रोंका मनमाना और विकृत अर्थ करते हैं। प्रयोजनका ज्ञान न होनेके कारण घरमें पड़े हुए चिन्तामणिकी भी लोग उपेक्षा करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

कलिमल ग्रसे धर्म सब गुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुतिबिरोधरत सब नरनारी॥
द्विज श्रुति बेंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधनहारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

अर्थात् कलिमें पापने समस्त धर्मोंको ग्रस लिया, सद्-ग्रन्थोंका प्रचार बंद हो गया। पाखण्डी लोगोंने अपने-अपने मनकी कल्पनाके अनुसार अनेकों पन्थ चला दिये। कलियुगमें न तो वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-का धर्म है और न चार आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ही रहे हैं। सारे नर-नारी वेदविरोधी हो रहे हैं। ब्राह्मण वेद बेचनेवाले और राजा प्रजाको हड़प जाने-वाले हैं। वेदकी आज्ञा, वेदकी मर्यादाको कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लगता है, वह उसी मार्गमें चलता है। और पण्डित वही है जो खूब गाल बजाता है। जो मिथ्या बोलता है और अपनी खूब प्रशंसा करता है, उसे ही सब लोग संत कहते हैं। जो पराया धन हरण कर सके, वही चतुर है, जो दम्भ करता है, लोगोंको दिखलानेके लिये कर्म करता है, वह बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है, हँसी-मजाक करना जानता है, कलियुगमें उसी मनुष्यको सब गुणवान् कहते हैं।

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलिजुग माहिं॥
जे अपकारी चार तिन्हकर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

अर्थात् जो आचारको नहीं मानता, जिसने वेदमार्गका त्याग कर दिया है, वही कलियुगमें ज्ञानी और वैरागी है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुग-में प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अशुभ वेष और भूषण धारण करते हैं, भक्ष्याभक्ष्यका विचार नहीं करते हैं, इस प्रकारके भ्रष्ट लोग ही कलियुगमें योगी और सिद्ध माने जाते हैं और उन्हींकी सर्वत्र पूजा होती है।

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी॥

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि दिखावहिं डाटि॥

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा । स्वपच किरात कोल कलवारा ॥
नारि मुई गृह संपति नासी । मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी ॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषली स्वामी ॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥

श्रुति संमत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक ।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक ॥

बहुदाम सँवारहिं धाम जती । बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती ॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही । कलि कौतुक तात न जात कही ॥

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानका उपदेश करते हैं, तथा गलेमें जनेऊ डालकर कुदान ग्रहण करते हैं। सब मनुष्य काम, क्रोध, लोभमें रत होकर देव, द्विज, वेद और संतोंके विरोधी हो गये हैं। शूद्र ब्राह्मणोंसे विवाद करते हैं और कहते हैं कि 'बतलाओ तो हम तुमसे किस बातमें कम हैं ! अरे भाई, 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'--जो ब्रह्मको जानता है, वही ब्राह्मण है; और जात-पाँतमें है ही क्या ! कर्मके अनुसार वर्ण है, जन्मके अनुसार वर्ण नहीं—यह सब कह करके उन्हें डाँटकर आँखें दिखलाते हैं। वर्णाधम—तेली, कुम्हार, चाण्डाल, व्याध, कोल, कलवार आदि जब स्त्री मर जाती है और घरपर खाने पीनेका कोई साधन नहीं दिखायी देता, तब सिर मुँड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। ये सब ब्राह्मणोंके द्वारा अपनेको पुजवाते हैं और अपने ही हाथों अपना इहलोक तथा परलोक दोनों नष्ट करते हैं। तथा ब्राह्मण भी निरक्षर, लोभी, कामी, आचारसे हीन, मूर्ख और नीची जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी बन बैठे हैं।

वेदसम्मत जो भक्तिमार्ग वैराग्य और ज्ञानसे युक्त है, उस मार्गसे लोग नहीं चलते, बल्कि अज्ञानवश अनेकों नये-नये पन्थोंकी कल्पना करते हैं, इसी कारण बहुत दुःख भी पाते हैं।

घर और धनका त्याग करनेवाले यति अर्थात् संन्यासी—दाम (धन-दौलत) और धाम (घर) की रक्षा करते हैं। विषयोंने उनके समस्त वैराग्यको हर लिया है। जो तपस्वी हैं ! वे धनी बन रहे हैं और गृहस्थ दरिद्र हो रहे हैं। हे तात ! कलियुगका कौतुक और नहीं कहा जाता।

धन्य हैं वाल्मीकिके अवतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ! आपका वर्णन अक्षरशः सत्य है !

भगवान् यास्क कहते हैं—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा ।'--निरुक्त । महर्षि शौनक कहते हैं—'न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रः'—बृहद्देवता । अर्थात् जो ऋषि या तपस्वी नहीं हैं, वेदका यथार्थ स्वरूप—वेदकी सम्यक् उपलब्धि, वेदका प्रत्यक्ष, वेदका पूर्ण यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं हो सकता। निरुक्तकार अन्यत्र कहते हैं---'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्'---निरुक्त। अर्थात् जिन्होंने गुरुपरम्परागत उपदेशको प्राप्त किया है, उनमें जो भूयोविद्य—'बहुश्रुत हैं, बहुविद्या-पारदर्शी हैं, वे वेदार्थके परिज्ञानमें प्रशस्त हैं।' ऐसे ही पुरुषोंको वेदोंका उपदेष्टा बनाना चाहिये। परन्तु आजकल तो दो ही तीन वर्षोंमें वेदके उपदेष्टा उत्पन्न हो जाते हैं, तथा जहाँ-तहाँ वेद-विद्यालय खोलकर चाण्डालतकको वेदकी शिक्षा देने लगते हैं।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलिका उपदेश है---

तपः श्रुतं योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥

—महाभाष्य 'नञ्' पा० २-२-६ सूत्रभाष्य

अर्थात् तपस्या, श्रुत---साङ्गोपाङ्गवेदविज्ञान, एवं योनि—ब्राह्मणके औरससे, ब्राह्मणीके गर्भसे जन्म, ये ही ब्राह्मणकारक हैं। जो तपस्या और वेद-वेदाङ्ग आदिके अध्ययनसे हीन हैं, वे केवल जातिब्राह्मण हैं।

भगवान् पतञ्जलिके इस महान उपदेशको अग्राह्य करके आधुनिक सम्प्रदायोंके संचालक कहते हैं—'जो विद्यादि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं, ब्राह्मणेतर जातिमें जन्म लेनेपर भी उन्हें ब्राह्मण कहना उचित है।' परन्तु गुणभेदसे जातिभेदको मानना असम्भव है। अपने गुणसे मनुष्य सिविलियन हो सकता है, गवर्नर हो सकता है, लार्ड हो सकता है, परन्तु क्या किसी व्यवस्थासे हिन्दू अंग्रेज हो सकता है ! Native Christian तक तो हो सकता है, परन्तु अंग्रेज नहीं हो सकता। बीज-शुद्धिसे जातिकी उत्पत्ति होती है, बीजकी अशुद्धिसे जाति नष्ट होती है। कर्मदोषसे पतित होनेपर शूद्रके समान हो सकता है, परन्तु शूद्र नहीं हो जाता। बहुत जन्मोंकी सुसंस्कृत पवित्र प्रतिभा (संस्कार) के हुए बिना कोई यह समझ नहीं सकता कि सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके तारतम्यके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकारके भाव स्वर्गादि प्रत्येक लोकमें, प्रत्येक कालमें, प्रत्येक सृष्ट पदार्थोंमें प्रवर्तित होते रहते हैं।*

* श्री रिचमण्ड कहते हैं—Just as the soul or astral in man is what makes the man, so the astral in an inorganic compound is

'आर्य शास्त्र-प्रदीप' ग्रन्थके लेखक ब्रह्मनिष्ठ महात्मा स्वामिपाद योगत्रयानन्द सरस्वतीजी महाराजने कहा है—'वर्ण' शब्दका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग हो सकता है, इसकी निरुक्ति भी अनेकों प्रकारसे की जाती है। क्र्यादिगणके वरणार्थक 'वृ' धातुके उत्तर 'न' प्रत्यय करके (कृवृजृसिद्रु-पन्यनिस्वपिभ्यो नित्'—उणा० ३ । १०), अथवा चुरादिगणके प्रेरणार्थक 'वर्ण्' धातुके बाद 'अच्' प्रत्यय करके या चुरादिगणके वर्ण-क्रियाविस्तार और गुणवचनार्थक 'वर्ण' धातुके आगे 'घञ्' प्रत्यय करके 'वर्ण' पद निष्पन्न होता है।" निरुक्तकार भगवान् यास्कने स्वादिगणके 'वृञ्' धातुसे निष्पन्न 'वर्ण' शब्दकी ही निरुक्ति की है। जो वृत होता है—रमणीयरूपमें निर्वाचित या प्रार्थित होता है 'वर्ण' शब्द उसका अथवा जो वृत होते हैं, उनका वाचक होता है। गुण और कर्म देखकर जो यथायोग्य वृत होते हैं, वे 'वर्ण' हैं। 'वर्ण' शब्दकी इस प्रकारकी निरुक्तिसे इसके स्वरूपका ठीक प्रकाश नहीं होता। मनुष्यने गुण-कर्म देखकर किसीको ब्राह्मण, किसीको क्षत्रिय, किसीको वैश्य, तथा किसीको शूद्ररूपमें निर्वाचित किया है और करेगा—'वर्ण' शब्दके इस प्रकारके अर्थसे, 'वर्ण' पदार्थके तत्त्वनिरूपणमें कोई लाभ नहीं होता।* वस्तुके गुण और कर्मके अनुसार ही वह वृत होता है, वरणीय (कमनीय वा प्रार्थित) होता है, यह ठीक है; परन्तु जिस निमित्तसे 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणादिका वाचक बना है, 'वर्ण' शब्दकी उक्त व्युत्पत्तिसे यह स्पष्ट और विशुद्धरूपमें समझा नहीं जा सकता। जो वरणीयरूपमें निश्चित होता है, जिसके द्वारा प्रयोजन सिद्ध होता है, जो सुखजनक होता है, सब उसीकी इच्छा करते हैं, वही वस्तु सबको प्रिय होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये परस्पर एक दूसरेके द्वारा वरणीय हैं; इनमेंसे एकके अभावमें दूसरेका काम नहीं चल सकता, एकके अभावसे दूसरेका तिरोभाव हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये यथाक्रम सत्त्वादि गुणत्रयके कार्य हैं; सत्त्वादि गुणत्रय परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा करते हैं और परस्पर एक दूसरेकी सहायतासे प्रकट होते हैं, इनमें एकके अभावमें दूसरेकी क्रियाशीलता नहीं रहती। गुणत्रय एक दूसरेके आश्रित रहते हैं; अतएव ये परस्पर एक दूसरेके द्वारा वरणीय हैं, ये परस्पर एक दूसरेसे वर्णीभूत होते हैं, व्यक्त अवस्थाको प्राप्त (mainfested) होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जब गुणत्रयके कार्य हैं, तब ये भी एक दूसरेके आश्रित होंगे—यह सहज ही समझा जा सकता है। जो प्रकाशित होता है, वर्णीभूत होता है, वह 'वर्ण' है। जो स्तुत होता है, वर्णित होता है वह वर्ण है। जिसके द्वारा कोई स्तुत वा वर्णित होता है, वह वर्ण है। हम पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ उपलब्ध करते हैं, वे गुणत्रय-के व्यक्त रूप हैं; अतएव वे भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, वे अवर्णके गुणविशेषके योगसे निर्मित विशेष-विशेष वर्ण हैं। एक प्रकार-से वर्ण ही जगत् है।

पैंसठ वर्णोंका समूह ही त्रयीलक्षण ब्रह्म या वेदराशि है। ये ही एक दूसरेके साथ व्यवस्थित होकर, उदात्तादि स्वरोंसे शुद्ध होकर, गायत्री आदि छन्दोंसे विशिष्ट होकर, ऋक् यजुः और साम संज्ञाको प्राप्त होते हैं। 'एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः'—महर्षि कात्यायनकृत शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यका यह वाक्य स्मरण करो। अकारादि वर्णसमूहों-का 'वर्ण' नाम होनेका कारण क्या है, इसका भी विचार करो। एक प्राणवायु अनुप्रदानादि गुणविशेषके योगसे वर्णीभूत होता है, विशेष-विशेष वर्णत्वको प्राप्त होता है, एक श्रुति कर्मके योगसे अनेकों रूपोंको प्राप्त होती है—'प्रयोक्तुरीहा गुणसन्निपाते वर्णीभवन् गुणविशेषयोगात्। एकश्रुतीः कर्मणाऽऽप्नोति बह्वीः'—ऋग्वेद प्रातिशाख्य। वेदज्ञ, वेदप्राण महर्षि शौनकके इस अमूल्य उपदेशका तात्पर्य समझनेका प्रयत्न करो।

शब्द या वेदसे जगत्‌की सृष्टि होती है, अतएव शब्द या वेदसे ही ब्राह्मणादि वर्णचतुष्टयकी सृष्टि होती है। वेद और ब्रह्म एक पदार्थ हैं। अतएव परमेश्वरके विराट्स्वरूपसे चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि होती है। ब्राह्मणादि वर्ण गायत्र्यादि छन्दोंसे उत्पन्न होते हैं। गायत्री ही ब्राह्मण है—'ब्रह्म वै गायत्री' ('ताण्ड्यमहाब्राह्मण')—इत्यादि श्रुतियोंसे यह प्रमाणित होता है कि चातुर्वर्ण्य मनुष्यकृत नहीं है।

what gives character to the compound. *Religion of the Stars*, page 99. अर्थात् मनुष्यका लिङ्गशरीर ही जिस प्रकार व्यक्तिगत अस्तित्वकी अनेकताका कारण है, उसी प्रकार अमूर्त्त जड पदार्थके लिङ्गशरीर ही मूर्त्त जड पदार्थको विभिन्न धर्मोंसे आक्रान्त करते हैं, पृथक्-पृथक् गुणोंसे विशिष्ट कर देते हैं।

* जन्मके समय बालकके किसी भी गुणके ठीक न होनेके कारण, उसके सम्बन्धमें किसी भी जातिका निरूपण नहीं किया जाता। अतएव उन विभिन्न जातिके विभिन्न प्रकारकी जातकर्मादि क्रियाओंका अनुष्ठान कैसे किया जायगा? एक ही व्यक्तिके कुछ समय अध्यापन, कुछ समय नौकरी, कुछ समय वाणिज्य, कुछ समय युद्ध करनेपर उसे कभी ब्राह्मण, कभी शूद्र, कभी क्षत्रिय कहना पड़ेगा। इससे समाज शृङ्खला कैसे रहेगी?

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१०)

(पौषके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **सङ्कष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)–पौष कृष्ण (चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा) चतुर्थीको गणपति स्मरणपूर्वक प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् 'मम सकलाभीष्टसिद्धये चतुर्थीव्रतं करिष्ये' इस प्रकार संकल्प करके दिनभर मौन रहे। रात्रिमें पुनः स्नान करके गणपति-पूजनके पश्चात् चन्द्रोदयके बाद चन्द्रमाका पूजन करके अर्घ्य दे, फिर भोजन करे।

(२) **अष्टकाश्राद्ध** (आश्वलायन)–पौष कृष्ण अपराह्णव्यापिनी अष्टमीको शास्त्रोक्त विधिसे अष्टकाश्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करानेसे उत्तम फल मिलता है और न कराये तो दोष लगता है।

(३) **रुक्मिणीअष्टमी** (व्रतकौस्तुभ)–पौष कृष्ण अष्टमीको कृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्नकी स्वर्णमयी मूर्तियोंका गन्धयुक्त गन्धादिसे पूजन कर उत्तम पदार्थ अर्पण करे और शक्ति हो तो सुवासिनी—अच्छे वस्त्रोंवाली (सौभाग्यवती) आठ स्त्रियोंको भोजन करवाकर दक्षिणा दे तो रुक्मिणीजीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(४) **कृष्णैकादशी** (पद्मपुराण)–पौष कृष्ण एकादशीको उपवास करके भगवान्‌का यथाविधि पूजन करे। यह सफला एकादशी है; अतः नैवेद्यमें केला, बिजौरा, जंभीरी, नारियल, दाडिम (अनार) और पूगफलादि अर्पण करके रात्रिमें जागरण करे। प्राचीन कालमें चम्पावतीके माहिष्मान् राजाका लुम्पक नामक पुत्र कुमार्गी होकर धन-पुत्रादिसे हीन हो गया था। कई वर्ष कष्ट भोगनेके बाद एक रोज (एकादशीको) उसने फल बीनकर किसी पुराने पीपलकी जड़ोंमें रख दिये और असमर्थ होनेके कारण खाये नहीं, रातभर जागता रहा। इस प्रकार अनायास किये गये व्रतसे भी भगवान् प्रसन्न हुए और उसे उसके पितासे आदरपूर्वक चम्पावतीका राज्य प्रदान करवा दिया।

(५) **सुरूपद्वादशी** (व्रतार्क)–पौष कृष्ण पुष्ययुक्त द्वादशीके पहले दिन रात्रिमें जितेन्द्रिय होकर विष्णुका ध्यान करे और सफेद गौके छतपर सुखाये हुए गोबरकी आगमें घृतादियुक्त तिलोंकी १०८ आहुतिका हवन करे। और दूसरे दिन द्वादशीको नदी या तालाब आदिपर स्नान करके भगवान्‌की सुवर्णमयी मूर्तिको तिलपूर्ण पात्रमें रखकर गन्धादिसे पूजन करे और तिल, फल आदिका भोग लगाकर 'नमः परमशान्ताय विरूपाक्ष नमोऽस्तु ते' से अर्घ्य दे और विद्वान् ब्राह्मणको भोजन करवाकर उक्त मूर्ति उसे देवे।

शुक्लपक्ष

(१) **आरोग्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)–पौष शुक्ल द्वितीयाको गोशृङ्गोदक (गायोंके सींगोंको धोकर लिये हुए जल) से स्नान करके सफेद वस्त्र धारण कर सूर्यास्तके बाद बालेन्दु (द्वितीयाके चन्द्रमा) का गन्धादिसे पूजन करे। जबतक चन्द्रमा अस्त न हो तबतक गुड़, दही, परमान्न (खीर) और लवणसे ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करके केवल गोरस (छाछ) पीकर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल द्वितीयाको एक वर्षतक चन्द्रपूजन और भोजनादि करके बारहवें महीने (मार्गशीर्ष) में बालेन्दुका यथापूर्व पूजन करे और इक्षुरस (ईखके रस) का घड़ा, सोना और वस्त्र ब्राह्मणको देकर भोजन करे तो रोगोंकी निवृत्ति और आरोग्यताकी प्रवृत्ति होती है और सब प्रकारके सुख मिलते हैं।

(२) **विधिपूजा** (ब्रह्मपुराण)–पौष शुक्ल द्वितीयाको गुरुवार हो तो प्रातःस्नानादिके अनन्तर यथाविधि विधिपूजा (ब्रह्माजीका पूजन) करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो उत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(३) **उभयसप्तमी** (आदित्यपुराण)–यह व्रत पौष शुक्ल सप्तमीको उपवास करके तीनों सन्धियों (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में गन्ध, पुष्प और घृतादिसे सूर्यका पूजन करे। और क्षारसिद्ध मोदक निवेदन करे (पकते हुए घीमें नमक डालकर उसे निकाल दे और फिर आटेको सेंककर मोदक बनावे)। ब्राह्मणोंको भोजन कराये, गोदान करे और भूमिपर शयन करे तो सब कामना सफल होती है।

(४) **मार्तण्डसप्तमी** (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल सप्तमीको मार्तण्ड (सूर्य) का पूजन करके गोदान करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है।

(५) **महाभद्रा** (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल अष्टमीको बुधवार हो तो उस दिनके स्नान-दानादिसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(६) **जयन्ती अष्टमी** (निर्णयामृत)—उसी (पौष शुक्लाष्टमी बुधके) दिन भरणी हो तो वह 'जयन्ती' होती है। उस दिन स्नान, दान, जप, होम, देवर्षिपितृतर्पण करनेसे तथा ब्राह्मण-भोजन करानेसे कोटिगुना फल होता है।

(७) **शुक्लैकादशी** (ब्रह्मवैवर्त)—पौष शुक्ल एकादशी 'पुत्रदा' है। इसके उपवाससे पुत्रकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें भद्रावती नगरीके राजा वसुकेतुके पुत्र न होनेसे राजा, रानी दोनों दुखी थे। उनके मनमें यह विचार उठा कि 'पुत्रके बिना गज, तुरग, रथ, राज्य, नौकर-चाकर और सम्पत्ति—सब निरर्थक है; अतः पुत्रप्राप्तिका उपाय करना चाहिये।' यह सोचकर राजा एक ऐसे गहन वनमें चला गया जिसमें बड़, पीपल, बेल, जामुन, केले, कदम्ब, टेंटू, लीची और आम आदि भरे हुए थे; जहाँ सिंह, व्याघ्र, वराह, शश, मृग, शृगाल और चार दाँतोंके हाथी आदि घूम रहे थे; शुक, सारिका, कबूतर, पपीहा और उल्लू आदि बोल रहे थे और साँप, बिच्छू, गोह और कीट-पतंगादि डरा रहे थे। ऐसे सुहावने और डरावने जङ्गलमें एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और मधुरतम जलपूर्ण सरोवरके तटपर मुनिलोग सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे थे। उनको देखकर राजाने अपना अभीष्ट निवेदन किया। तब महात्माओंने बतलाया कि 'आज पुत्रदा एकादशी है, इसका उपवास करो तो पुत्र प्राप्त हो सकता है।' राजाने ऐसा ही किया और भगवत्-कृपासे उसके यहाँ सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ।

(८) **सुजन्मद्वादशी** (वीरमित्रोदय)—यदि पौष शुक्ल द्वादशीको ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो उस दिन भगवान्‌का पूजन करके घीका दान करे, गोमूत्र पीकर उपवास करे और आगे माघादि महीनोंमें नियत वस्तुका दान और भोजन करके उपवास करे। जैसे माघमें चावलदान, जलप्राशन; फाल्गुनमें जौदान, घृतभोजन; चैत्रमें सुवर्णदान, सुपक्व शाकभोजन; वैशाखमें जौदान, दूर्वाभोजन; ज्येष्ठमें जलदान, दधिभोजन; आषाढ़में सोना, अन्न और जलदान, भातभोजन; श्रावणमें छत्रदान, जौभोजन; भादोंमें दूधदान, तिलभोजन; आश्विनमें अन्नदान, सूर्यकिरणोंसे तपाये हुए जलका भोजन; कार्तिकमें गुड़-फाण्ट-दान, दूधभोजन और मार्गशीर्षमें मलयागिरिचन्दनका दान और दूधका भोजन कर उपवास करे तो कुलमें प्रधानता और घरमें सम्पत्ति होती है।

(९) **घृतदान** (कृत्यतत्त्वार्णव)—पौष शुक्ल १३ को भगवान्‌का पूजन करके ब्राह्मणको घीका दान दे तो सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

(१०) **विरूपाक्षपूजन** (हेमाद्रि)—पौष शुक्ल १४को विरूपाक्षका पूजन करके तदनुकूल उपकरण महोक्ष (बड़ा बैल—साँड आदि) का दान करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल चतुर्दशीको वर्षभर करनेसे राक्षसादिका भय नहीं होता और घरमें सुख, शान्ति एवं समृद्धिकी वृद्धि होती है।

(११) **ईशानव्रत** (कालिकापुराण)—पौष शुक्ल चतुर्दशीका व्रत करके पुष्ययुक्त पूर्णमासीको सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित की हुई वेदीपर चारों दिशाओंमें अक्षतोंकी चार ढेरियाँ बनाये। एक वैसी ही मध्यमें बनाये। उनपर पूर्वमें 'विष्णु', दक्षिणमें 'सूर्य', पश्चिममें 'ब्रह्मा', और उत्तरमें 'रुद्र'को स्थापित करे और सबके मध्यमें 'ईशान'की स्थापना करके उत्तम प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और कर्पूरादिसे नीराजन (आरती) करके गोमिथुन (एक गौ और एक बैल) का दान करे। ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं गोमूत्र पीकर उपवास करे। इस प्रकार पाँच वर्ष करनेसे यह व्रत पूर्ण होता है। गोदानमें यह विशेषता है कि पहले वर्षमें एक गौ, एक बैल; दूसरे वर्षमें दो गौ, एक बैल; तीसरेमें तीन गौ, एक बैल; चौथेमें चार गौ, एक बैल और पाँचवेंमें पाँच गौ और एक बैल दान करे। बैल ब्रह्मचारी या साँड हो—खेती आदिमें जोता हुआ न हो तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारका सुख होता है और लक्ष्मी बढ़ती है।

(११)

(माघके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **माघस्नान** (नानापुराणादि)—माघ, कार्तिक और वैशाख महापुनीत महीने माने गये हैं। इनमें तीर्थस्थानादिपर या स्वदेशमें रहकर नित्यप्रति स्नान-दानादि करनेसे अनन्त

फल होता है । यदि माघमें मलमास हो और स्नान निष्काम-भावसे केवल धर्म-दृष्टि रखकर किया जाता हो तो उसकी पूर्ति ३० दिनमें कर देनी चाहिये और यदि सकाम-भावसे किया जाता हो तो दोनों माघोंके ६० दिनतक स्नान करना चाहिये। स्नानका समय सूर्योदयसे पहले श्रेष्ठ है। उसके बाद जितना विलम्ब हो उतना ही निष्फल होता है। स्नानके लिये काशी और प्रयाग उत्तम माने गये हैं। वहाँ न जा सके तो जहाँ भी स्नान करे, वहीं उनका स्मरण करे अथवा 'पुष्करादीनि तीर्थानि गङ्गाद्याः सरितस्तथा । आगच्छन्तु पवित्राणि स्नानकाले सदा मम ॥' 'हरिद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते। स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते ॥' 'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः ।' 'गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति । नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥' का उच्चारण करे। अथवा वेगसे बहनेवाली किसी भी नदीके जलसे स्नान करे अथवा रातभर छतपर रक्खे हुए जलपूर्ण घटसे स्नान करे। अथवा दिनभर सूर्य-किरणोंसे तपे हुए जलसे स्नान करे। स्नानके आरम्भमें 'आपस्त्वमसि देवेश ज्योतिषां पतिरेव च। पापं नाशय मे देव वाङ्मनः-कर्मभिः कृतम् ॥' से जलकी और 'दुःखदारिद्र्यनाशाय श्रीविष्णोस्तोषणाय च । प्रातःस्नानं करोम्यद्य माघे पाप-विनाशनम् ।' से ईश्वरकी प्रार्थना करे और स्नान करनेके पश्चात् 'सवित्रे प्रसवित्रे च परं धाम जले मम । त्वत्तेजसा परिभ्रष्टं पापं यातु सहस्रधा ॥' से सूर्यको अर्घ्य देकर हरिका पूजन या स्मरण करे। माघस्नानके लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थी, संन्यासी[6] और वनवासी—चारों आश्रमोंके; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके; बाल, युवा और वृद्ध—तीनों अवस्थाओंके स्त्री, पुरुष या नपुंसक जो भी हों, सबको आज्ञा है; सभी यथानियम नित्यप्रति माघस्नान कर सकते हैं। स्नानकी अवधि या तो पौष शुक्ल एकादशीसे माघ शुक्ल एकादशीतक या पौष शुक्ल पूर्णिमासे माघ शुक्ल पूर्णिमातक अथवा मकरार्कमें (मकरराशिपर सूर्य आये, उस दिनसे दूसरी राशिपर जाय, उस दिनतक) नित्य स्नान करे और उसके अनन्तर यथावकाश मौन रहे । भगवान्का भजन या यजन करे। ब्राह्मणोंको अवारित (बिना रोक) नित्य भोजन कराये। कम्बल, मृगचर्म, रत्न, कपड़े (कुरता, चादर, रूमाल, कमीज, टोपी), उपानह (जूते), धोती और पगड़ी आदि दे। एक या एकाधिक ३० द्विजदम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी) के जोड़ेको षट्रस भोजन करवाकर 'सूर्यो मे प्रीयतां देवो विष्णुमूर्तिनिरञ्जनः ।' से सूर्यकी प्रार्थना करे। इसके बाद उनको अच्छे वस्त्र, सप्तधान्य और तीस मोदक दे। और स्वयं निराहार, शाकाहार, फलाहार या दुग्धाहार व्रत अथवा एकभुक्त व्रत करे। इस प्रकार काम, क्रोध, मद, मोहादि त्यागकर भक्ति, श्रद्धा, विनय-नम्रता, स्वार्थत्याग और विश्वास—भावके साथ स्नान करे तो अश्वमेधादिके समान

१. 'मासोपवासचान्द्रायणादि तु मलमास एव समापयेत् । काम्यानां तत्र समाप्तिनिषेधान्मासद्वयं प्रातःस्नानं तन्नियमाश्च कर्तव्याः ।' (दीपिकायाम्)

२. 'स्नानकालश्च सूर्योदयः ।' (त्रिस्थलीसेतौ)

३. उत्तमं तु सनक्षत्रं लुप्ततारं तु मध्यमम् ।
सवितर्युदिते भूप ततो हीनं प्रकीर्तितम् ॥ (ब्राह्मे)

४. काश्युद्भवे प्रयागे ये तपसि स्नान्ति मानवाः ।
दशाश्वमेधजनितं फलं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥
(काशीखण्ड)

५. सरित्तोयं महावेगं नवकुम्भस्थितं तथा ।
वायुना ताडितं रात्रौ गङ्गास्नानसमं स्मृतम् ॥

६. ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
बालवृद्धयुवानश्च नरनारीनपुंसकाः ॥
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः..........................
स्नात्वा माघे शुभे तीर्थे प्राप्नुवन्तीप्सितं फलम् ।'
(भविष्ये)

'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप ।' (पाद्मे)

७. एकादश्यां शुक्लपक्षे पौषमासे समारभेत् ।
द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा शुक्लपक्षे समापनम् ॥ (ब्राह्मे)
'पुण्यान्यहानि त्रिंशत्तु मकरस्थे दिवाकरे ।' (विष्णु)

८. 'एवं स्नात्वावसाने तु भोज्यं देयमवारितम् ।' (भविष्ये)

९. कम्बलाजिनरत्नानि वासांसि विविधानि च ।
चोलकानि च देयानि प्रच्छादनपटास्तथा ॥
उपानहौ तथा गुप्तमोचकौ पापमोचकौ ।
(भविष्ये)

१०. दम्पत्योर्वाससी सूक्ष्मे सप्तधान्यसमन्विते ।
त्रिंशत्तु मोदका देयाः शर्करातिलसंयुताः ॥ (नारद)
(विशेष माघी पूर्णिमा और अमाके उल्लेखमें देखना चाहिये ।)

फल होता है और सब प्रकारके पाप-ताप तथा दुःख दूर हो जाते हैं।

(२) **वक्रतुण्डचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—माघ कृष्ण चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थीको वक्रतुण्डचतुर्थी कहते हैं। इस व्रतका आरम्भ 'गणपतिप्रीतये सङ्कष्टचतुर्थीव्रतं करिष्ये'—इस प्रकार संकल्प करके करे। सायङ्कालमें गणेशजीका और चन्द्रोदयके समय चन्द्रका पूजन करके अर्घ्य दे। इस व्रतको माघसे आरम्भ करके हर महीनेमें करे तो संकटका नाश हो जाता है।

(३) **सङ्कष्टचतुर्थी** (व्रतोत्सव)—यह प्रशस्त व्रत उपर्युक्त वक्रतुण्डचतुर्थीव्रतके समान किया जाता है।

(४) **सर्वाप्तिसप्तमी** (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण सप्तमीको स्नान-दानादि करनेसे इच्छानुसार फल मिलता है।

(५) **कृष्णैकादशी** (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नान करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके ८, २८, १०८ या १००० जप करे। उपवास रक्खे। रात्रिमें जागरण और हवन करे। भगवान्‌का पूजन करे। और 'सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं लक्ष्म्या सह जगत्पते ॥' —इस मन्त्रसे अर्घ्य दे। यह 'षट्तिला' एकादशी है। इसमें (१) तिलोंके जलसे स्नान करे, (२) पिसे हुए तिलोंका उबटन करे, (३) तिलोंका हवन करे, (४) तिल मिला हुआ जल पीये, (५) तिलोंका दान करे और (६) तिलोंके बने (मोदक, बर्फी या तिलसकरी आदि) का भोजन करे तो पापोंका नाश हो जाता है। इस व्रतकी कथा संक्षेपमें इस प्रकार है कि प्राचीन कालमें भगवान्‌की परम भक्त एक ब्राह्मणी थी; वह भगवत्सम्बन्धी उपवासव्रत रखती, भगवान्‌की विधिवत् पूजा करती और नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण किया करती थी। कठिन व्रत करने और पतिसेवा एवं घरकी सम्हाल रखने आदिसे उसका शरीर सूख गया था। किन्तु अपने जीवनमें उसने दानके निमित्त किसीको एक दाना भी नहीं दिया था। एक दिन स्वयं भगवान्‌ने कपालीका रूप धारण कर उससे भिक्षाकी याचना की, परन्तु उसने उन्हें भी कुछ नहीं दिया। अन्तमें कपालीके ज्यादा बड़बड़ानेसे उसने मिट्टीका एक बहुत बड़ा ढेला दिया तो भगवान् उसीसे प्रसन्न हो गये और ब्राह्मणीको वैकुण्ठका वास दिया। परन्तु वहाँ मिट्टीके परम मनोहर मकानोंके सिवा और कुछ भी नहीं था। तब उसने भगवान्‌की आज्ञासे षट्तिलाका व्रत किया और उसके प्रभावसे उसको सब कुछ प्राप्त हुआ।

(६) **माघी अमा** (वायु, देवी, ब्रह्म, हारीत, व्यासादि)—अमा और पूर्णिमा ये दोनों पर्वतिथियाँ हैं। इस दिन पृथ्वीके किसी-न-किसी भागमें सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो ही जाता है। इससे धर्मप्राण हिंदू इस दिन दान-पुण्यादिके सिवा अन्य काम नहीं करते।···हिमपिण्ड चन्द्रका आधा भाग काला और आधा सफेद है। सफेदपर सूर्यकिरण पड़नेसे वह प्रकाशित होता है।······जब चन्द्रमा क्षीण होकर दीखता नहीं तो उस तिथिको अमा कहते हैं और पूर्ण चन्द्रसे पूर्णिमा होती है।······जिस अमामें चन्द्रकी कुछ सफेदी हो, वह 'सिनीवाली'— और कोयलके शब्द करने जितनी हो वह 'कुहू' होती है। इसी प्रकार पूर्णचन्द्रकी पूर्णिमा 'राका' और कलामात्र कमकी 'अनुमती' होती है। सिनीवाली और कुहूके भेदसे अमा तथा राका और अनुमतीके भेदसे पूर्णिमा दोनों दो प्रकारकी हैं।······ चन्द्रमा सूर्यसे नीचा है; अतः पूर्णिमाको इसका काला भाग और अमाको सफेद भाग सूर्यकी तरफ रहनेसे पृथ्वीपर किये गये दान, पुण्य और भोजनादिके बाष्पसम्भूत अंश सूर्यकी किरणोंसे आकर्षित होकर चन्द्रमण्डलमें (जहाँ पितृगण रहते हैं) चले जाते हैं। इसी कारण अमाको पितृश्राद्धादि करनेका विधान किया गया है।·········अमाके दिन चन्द्रका प्रकाशमान भाग सूर्यके आगे आ जानेसे सूर्यग्रहण और पूर्णिमाको नीचे गये हुए सूर्यसे उठी हुई पृथ्वीकी छाया चन्द्रके सामने आ जानेसे चन्द्रग्रहण होता है। ···'लोकान्तरमें कहीं भी ग्रहण हुआ होगा'—इस सम्भावनासे धर्मज्ञ मनुष्य अमा और पूर्णिमाको स्नान-दानादि पुण्य कर्म किया करते हैं।···ग्रहण तब होता है जब सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी (तीनों) एक सीधमें आते हैं; अन्यथा नहीं होता। ···व्रतादिमें अमावस्या परविद्धा (प्रतिपदायुक्त) लेनी चाहिये। चतुर्दशीयुक्त यानी पूर्वविद्धा अमा निषिद्ध मानी गयी है।··· 'पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणाम्' के अनुसार दिनको (लगभग १०-१० घड़ीके) तीन भागोंमें विभाजित मानकर जप, ध्यान और उपासना आदिके कार्य प्रथम तृतीयांश (लगभग १० घड़ी दिन चढ़ेतक) करने चाहिये। संस्कारादि व आयुर्बलवित्तादिप्राप्तिके प्रयोगादि 'मनुष्यकार्य' दूसरे तृतीयांश (मध्य दिनकी लगभग १० घड़ी) में करने चाहिये और श्राद्ध, तर्पण एवं हंतकारादि 'पितृकार्य'

तीसरे तृतीयांश (दिनास्तसे पहलेतककी लगभग १० घड़ी) में करने चाहिये ।

(७) विधिपूजा (भविष्योत्तर)–माघी अमाको प्रतिदिनके स्नान-दानादिके पश्चात् वस्त्राच्छादित वेदीपर वेद-वेदाङ्गभूषित ब्रह्माजीका गायत्रीसहित पूजन करे और नवनीत (मक्खन) की देनेवाली गौका तथा सुवर्ण, छत्र, वस्त्र, उपानह, शय्या, अञ्जन और दर्पणादि 'स्थानं स्वर्गेऽथ पाताले यन्मर्त्ये किञ्चिदुत्तमम् । तदवाप्नोत्यसंदिग्धं पद्मयोनेः प्रसादतः ॥' इस मन्त्रसे निवेदन करके ब्राह्मणको दे और 'यत्किञ्चिद् वाचिकं पापं मानसं कायिकं तथा । तत् सर्वं नाशमायाति युगादितिथिपूजनात् ॥' को स्मरण कर शुद्ध भावसे सजातियों-सहित भोजन करे ।

(८) अर्धोदय (महाभारत)–माघ कृष्ण अमावस्याको रविवार, व्यतीपात और श्रवण हो तो 'अर्धोदय' योग होता है । इस योगमें स्कन्दपुराणके लेखानुसार सभी स्थानोंका जल गङ्गातुल्य हो जाता है और सभी ब्राह्मण ब्रह्मसन्निभ शुद्धात्मा हो जाते हैं । अतः इस योगमें यत्किञ्चित् किये हुए स्नान दानादिका फल भी मेरुसमान होता है ।

(९) पात्रदान (स्कन्दपुराण)–अर्धोदय योगवाली अमावस्याको साठ, चालीस या पचीस मासा सुवर्णका अथवा चाँदीका पात्र बनाकर उसमें खीर भरे और पृथ्वीपर अक्षतोंका अष्टदल लिखकर उसपर ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप उपर्युक्त पात्रको स्थापित करके गन्ध पुष्पादिसे पूजन करे और फिर सुपठित ब्राह्मणको दे तो समुद्रान्त पृथ्वीदान करनेके समान फल होता है । यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि इस व्रतमें गोदान, शय्यादान और जो भी देय द्रव्य हो तीन-तीन दे । अर्धोदय योगके अवसरपर सत्ययुगमें वसिष्ठजीने, त्रेतामें रामचन्द्रजीने, द्वापरमें धर्मराजने और कलियुगमें पूर्णोदर (देवविशेष) ने अनेक प्रकारके दान, धर्म किये थे; अतः धर्मज्ञ सत्पुरुषोंको अब भी अवश्य करना चाहिये ।

शुक्लपक्ष

(१) गुड-लवणदानव्रत (भविष्योत्तर)–माघ शुक्ल तृतीयाको गुड़ और लवणका दान करे तो गुड़से देवी और लवणसे प्रभु प्रसन्न होते हैं ।

(२) वरदाचतुर्थी (निर्णयामृत)–माघ शुक्ल चतुर्थीको कुन्दके पुष्पोंसे शिवजीका पूजन करनेसे श्रीकी प्राप्ति होती है ।

(३) गौरीव्रत (ब्रह्मपुराण)–माघ शुक्ल चतुर्थीको गन्ध, पुष्प, धूप-दीप और नैवेद्य आदिसे उमाका पूजन करके गुड़, अदरख, लवण, पालक और खीर इनसे बलि देकर ब्राह्मणोंको भोजन कराये ।

(४) कुण्डचतुर्थी (देवीभागवत)–माघ शुक्ल चतुर्थीको उपवास करके देवीका पूजन करे । अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, फल, पत्र, धान्य, बीज और सब प्रकारकी नैवेद्य-सामग्री अर्पण करे तथा शूर्प या मिट्टीके पात्रमें उक्त नैवेद्य सामग्री भरकर ब्राह्मणको दे तो सन्तति और सौभाग्य दोनों प्राप्त होते हैं ।

(५) ढुण्ढिपूजा (त्रिस्थलीसेतु)—माघ शुक्ल चतुर्थीको नक्तव्रतमें परायण होकर काशीवासी ढुण्ढिराजका पूजन करे, सफेद तिल और चीनीके मोदक अर्पण करे, तिलोंकी आहुति दे । और रात्रिमें एकभुक्त करके जागरण करे तो उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं ।

(६) शान्तिचतुर्थी (भविष्यपुराण)—माघ शुक्ल चतुर्थीको गणेशजीका पूजन करके घीमें सने हुए गुड़के अपूप (पूआ) और लवणके पदार्थ अर्पण करे और गुरुदेवकी पूजा करके उनको गुड़, लवण और घी दे तो इस व्रतसे सब प्रकारकी स्थिर शान्ति प्राप्त होती है ।

(७) अङ्गारकचतुर्थी (मत्स्यपुराण)—यदि माघ शुक्ल चतुर्थीको मंगलवार हो तो उस दिन प्रातःस्नानके पहले शरीरमें मिट्टी लगाकर शुद्ध स्नान करे । लाल धोती पहने । पद्मराग मणि धारण करे । और उत्तराभिमुख बैठकर 'अग्निमूर्द्धा०' इस मन्त्रका जप करे । जिसके यज्ञोपवीत न हो, वह 'अङ्गारकाय भौमाय नमः'का जप करे । फिर भूमिको गोबरसे लीपकर उसपर लाल चन्दनका अष्टदल बनाये तथा उसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें भक्ष्य-भोजन और चावलोंसे भरे हुए चार करवे रक्खे तथा उनका गन्धाक्षतादिसे पूजन करके कपिला गौ और लाल रंगका अतीव सौम्य धुरंधर बैल दे और साथमें शय्या दे तो सहस्रगुण फल होता है ।

(८) गणेशव्रत (भविष्यपुराण)—माघ शुक्ल पूर्वविद्धा चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् 'ममाखिलाभिलषितकार्यसिद्धिकामनया गणेशव्रतं करिष्ये' इस मन्त्रसे

संकल्प करके वेदीपर लाल वस्त्र बिछाये। लाल अक्षतोंका अष्ट-दल बनाकर उसपर सिंदूरचर्चित गणेशजी स्थापित करे। स्वयं लाल धोती पहनकर लाल वर्णके फल पुष्पादिसे षोडशोपचार पूजन करे। नैवेद्यमें (भिगोकर छीली हुई) हल्दी, गुड़, सक्कर और घी—इनको मिलाकर भोग लगाये और नक्त-व्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

(९) **सुखव्रतुर्थी** (भविष्यपुराण)—सुमन्तुरुके 'चतुर्थी तु चतुर्थी तु यदाङ्गारकसंयुता। चतुर्थ्यो तु चतुर्थ्यो तु विधानं शृणु यादृशम्॥' के अनुसार माघ शुक्ल चतुर्थीको यदि मङ्गलवार हो तो लाल वर्णके गन्ध, अक्षत और पुष्प, नैवेद्यसे गणेशजीका पूजन करके उपवास करे। इस प्रकार चतुर्थ-चतुर्थ (चौथी, चौथी) चतुर्थी (माघ, वैशाख, भाद्रपद और पौष) का एक वर्ष व्रत करे तो सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। प्रत्येक चतुर्थीको भौमवार होना आवश्यक है।

(१०) **यमव्रत** (हेमाद्रि)—माघ शुक्ल चतुर्थीको भरणी नक्षत्र और शनिवार हो तो उस दिन यमका पूजन और तन्निमित्त व्रत करनेसे यमके भयकी निवृत्ति और स्वर्गीय सुखकी प्रवृत्ति होती है।

(११) **श्रीपञ्चमी-वसन्तपञ्चमी** (पुराणसमुच्चय)—माघशुक्ल पूर्वविद्धा पञ्चमीको उत्तम वेदीपर वस्त्र बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये। उसके अग्रभागमें गणेशजी और पृष्ठभागमें 'वसन्त'—जौ, गेहूँकी बालका पुञ्ज (जो जलपूर्ण कलशमें डंठलसहित रखकर बनाया जाता है) स्थापित करके सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करे और पीछे उक्त पुञ्जमें रति और कामदेवका पूजन करे। और उनपर अबीर आदिके पुष्पोपम छींटे लगाकर वसन्तसदृश बनाये तत्पश्चात् 'शुभा रतिः प्रकर्तव्या वसन्तोज्ज्वलभूषणा। नृत्यमाना शुभा देवी समस्ताभरणैर्युता॥ वीणावादनशीला च मदकर्पूरचर्चिता।' से 'रति' का और 'कामदेवस्तु कर्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि। अष्टबाहुः स कर्तव्यः शङ्खपद्मविभूषणः॥ चापबाणकरश्चैव मदादञ्चितलोचनः। रतिः प्रीतिस्तथा शक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला॥ चतस्रस्तस्य कर्तव्याः पत्न्यो रूपमनोहराः। चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगाः॥ केतुश्च मकरः कार्यः पञ्चबाणमुखो महान्।' से कामदेवका ध्यान करके विविध प्रकारके फल, पुष्प और पत्रादि समर्पण करे तो गार्हस्थ्यजीवन सुखमय होकर प्रत्येक कार्यमें उत्साह प्राप्त होता है।

(१२) **मन्दारषष्ठी** (भविष्योत्तर)—यह व्रत तीन दिनमें पूर्ण होता है। एतन्निमित्त माघशुक्ल पञ्चमीको सम्पूर्ण कामना त्याग करके जितेन्द्रिय होकर थोड़ा-सा भोजन करके एकभुक्त व्रत करे। षष्ठीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके बाद ब्राह्मणसे आज्ञा लेकर दिनभर व्रत रक्खे और रात्रि होनेपर केवल मन्दारके पुष्पको भक्षण करके उपवास करे और सप्तमीके प्रभातमें पुनः स्नान करके ब्राह्मणोंका पूजन करे और मन्दार (आक) के आठ पुष्प लाकर ताँबेके पात्रमें काले तिलोंका अष्टदल कमल बनाये। उसकी प्रत्येक कर्णिका (कली या कोण) पर एक-एक पुष्प रक्खे और बीचमें सुवर्णनिर्मित सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापन करके—'भास्कराय नमः' से पूर्वके, 'सूर्याय नमः' से अग्निके, 'सूर्याय नमः' से दक्षिणके, 'यशेशाय' से नैर्ऋतके, 'वसुधाम्ने' से पश्चिमके, 'चण्डभानवे' से वायव्यके, 'कृष्णाय' से उत्तरके और 'श्रीकृष्णाय' से ईशानके अर्क-पुष्पका स्थापन और पूजन करे और पद्मके मध्यमें स्थापित की हुई सुवर्णमूर्तिका 'सूर्याय नमः' इस मन्त्रसे पूजन करे। और तैल तथा लवण-वर्जित भोजन करे। इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक महीने-के महीने प्रत्येक सप्तमीको वर्षपर्यन्त व्रत करके—समाप्तिके दिन कलशपर रक्त सूर्यमूर्ति स्थापन करके पूजन करे और 'नमो मन्दारनाथाय मन्दारभवनाय च। त्वं रवे तारयस्वास्मानस्मात् संसारसागरात्॥' से प्रार्थना करके सूर्यमूर्ति सुपठित ब्राह्मणको दे तो उसके सब पाप दूर हो जाते हैं और वह स्वर्गमें जाता है।

(१३) **दारिद्र्यहरषष्ठी** (स्कन्दपुराण)—माघ शुक्ल षष्ठीसे आरम्भ करके प्रत्येक षष्ठीको एकभुक्त, नक्त, अयाचित या उपवास करके ब्राह्मणको भोजन कराये और कटोरेमें दूध, घी, भात और शक्कर भरकर (प्रति षष्ठीको) वर्षपर्यन्त दान करे तो उसके कुलसे दरिद्र दूर हो जाता है।

(१४) **भानुसप्तमी** (बहुसम्मत)—यह माघ शुक्ल सप्तमीको होती है। प्राणीमात्रकी जीवनशक्तिको जीवित रखनेवाले प्रत्यक्ष ईश्वर सूर्यनारायणने मन्वन्तरके आदिमें इसी दिन अपना प्रकाश प्रकाशित किया था। अतः यह जयन्ती भी है। इस दिन सूर्यकी उपासनाके कई कृत्य कई प्रयोजनों और प्रकारोंसे किये जाते हैं। इस कारण इसके 'अर्क-अचला-रथ-सूर्य और भानुसप्तमी आदि कई नाम हैं। यह अरुणोदय-व्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन अरुणोदयी हो तो पहलो लेना चाहिये। स्नानके विषयमें यह स्मरण रहे कि जो माघ-

स्नान करते हों, वे इसी दिन अरुणोदय (पूर्व दिशाकी प्रातः-कालीन लालिमा) होनेपर और भानुसप्तमीनिमित्त स्नान करनेवालोंको सूर्योदयके बाद स्नान करना चाहिये।⋯ स्नान करनेके पहले आकके ७ पत्तों और बेरके ७ पत्तोंको कसुम्भाकी बत्तीवाले तिल तैलपूर्ण दीपकमें रखकर उसको सिरपर रक्खे और सूर्यका ध्यान करके गन्नेसे जलको हिलाकर दीपकको प्रवाहमें बहा दे। दिवोदासके मतानुसार दीपकके बदले आकके सात पत्ते सिरपर रखकर ईखसे जलको हिलाये और 'नमस्ते रुद्ररूपाय रसानां पतये नमः। वरुणाय नमस्तेऽस्तु' पढ़कर दीपकको बहा दे। और 'यद् यज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम्। मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताज्ञाते च ये पुनः॥ इति सप्तविधं पापं स्नानान्ते सप्तसप्तिके। सप्तव्याधि-समाकीर्णे हर भास्करि सप्तमि॥' इनका जप करके केशव और सूर्यको देखकर पादोदक (गङ्गाजल अथवा चरणामृत) को जलमें डालकर स्नान करे तो क्षणभरमें पाप दूर हो जाते है। इसके बाद अर्घमें जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा, सात अर्कपत्र और सात बदरीपत्र रखकर 'सप्तसप्तिवह प्रीत सप्तलोकप्रदीपन। सप्तम्या सहितो देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥' से सूर्यको और 'जननी सर्वलोकानां सप्तमी सप्तसप्तिके। सप्तव्याहृतिके देवि नमस्ते सूर्यमण्डले॥' से सप्तमीको अर्घ्य दे।⋯इसी दिन तालक-दानके निमित्त नित्य-नियमसे निवृत्त होकर चन्दनसे अष्टदल लिखे। पूर्वादि-क्रमसे उसकी आठों कर्णिका (कोणोंपर) शिव, शिवा, रवि, भानु, वैवस्वत, भास्कर, सहस्रकिरण और सर्वात्मा— इनका यथाक्रम स्थापन और पूजन करके–ताम्रादिके पात्रमें काञ्चन कर्णाभरण (कुण्डल), घी, गुड़ और तिल रखकर लाल वस्त्रसे ढाँके और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके 'आ-दित्यस्य प्रसादेन प्रातःस्नानफलेन च। दुष्टदुर्भाग्यदुःस्वप्नं मया दत्तं तु तालकम्॥' से ब्राह्मणको दे। और 'भानुसप्तमी' के निमित्त⋯प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर समीपमें सूर्यमन्दिर हो तो उसके सम्मुख बैठे अथवा सुवर्णादिकी छोटी मूर्ति हो तो उसे अष्टदल कमलके बीचमें स्थापित कर 'मम अखिल-कामनासिद्ध्यर्थं सूर्यनारायणप्रीतये च सूर्यपूजनं करिष्ये।' से सङ्कल्प करके –'ॐ सूर्याय नमः' इस नाममन्त्रसे अथवा पुरुषसूक्तादिसे आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। ऋतुकालके पत्र, पुष्प, फल, खीर, मालपुआ, दाल-भात या दध्योदनादिका नैवेद्य निवेदन करे और भगवान्‌को सर्वाङ्ग-पूर्ण रथमें विराजमान करके गायन-वादन और स्वजन-परिजनादिको साथ लेकर नगर-भ्रमण करवाकर यथास्थान स्थापित करे। और ब्राह्मणोंको खीर आदिका भोजन करवाकर दिनास्तसे पहले स्वयं एक बार भोजन करे। उस दिन तैल और लवण न खाय। इस प्रकार प्रतिवर्ष करे तो सूर्योप-रागादिमे कियेके समान अक्षय पुण्य होता है।

(१५) **महती सप्तमी** (मत्स्यपुराण)–इसी माघ शुक्ल सप्तमीको रथारूढ़ सूर्यनारायणका पूजन करके उपवास करे तो सात जन्मके पाप दूर होते हैं। यही रथसप्तमी भी है।

(१६) **रथाङ्गसप्तमी** (हेमाद्रि)–इसी सप्तमीको उपवास करके सूर्यका पूजन करे, उनको सुवर्णके रथमें स्थापित करके और प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको पूजन करके वर्षके अन्तमें ब्राह्मणको दे।

(१७) **पुत्रसप्तमी** (आदित्यपुराण)–माघ शुक्ल षष्ठीको उपवास करके सप्तमीके प्रातःकालमें स्नान करे। और सूर्यनारायणका पूजन एवं तन्निमित्त हवन करके दूध, दही, भात या खीर आदिका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इसी प्रकार कृष्णपक्षमें उपवास करके लाल कमलके पुष्पादिसे सूर्यका पूजन करे तो वर्षपर्यन्त करनेसे उत्तम पुत्रकी उपलब्धि होती है।

(१८) **सप्तसप्तमी** (सूर्यारुण-हेमाद्रि)–जिस प्रकार योगविशेषसे वारुणी, महावारुणी, महामहावारुणी या माघी, महामाघी, महामहामाघी अथवा जया, विजया, महाजया आदि होती हैं उसी प्रकार वारादिके योगविशेषसे माघ शुक्ल सप्तमीके भी कई भेद होते हैं। यथा–१ जया, २ विजया, ३ महाजया, ४ जयन्ती, ५ अपराजिता, ६ नन्दा और ७भद्रा-⋯अथवा १ अर्कसम्पुटक, २ मरीचि, ३ निम्ब-पत्र, ४ सुफला, ५ अनोदना, ६ विजया और ७ कामिका— ये सब रविवारको पञ्चतारक (रो. श्ले. म. ह.) अथवा पुन्नाम (मृ. पु. पु. ह. अनु.) नक्षत्र होनेसे सिद्ध होती हैं। इनमें व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, हवन और ब्राह्मण-भोजनादि करने करानेसे अनन्त फल होता है। विशेषकर १ अर्कसम्पुटकसे धनवृद्धि, २ मरीचिसे प्रिय-पुत्रादिका सङ्गम, ३ निम्बपत्रासे रोगनाश, ४ सुफलासे पुत्र-पौत्र-दौहित्रादिकी अपूर्व अभिवृद्धि, ५ अनोदनासे धन-धान्य, सुवर्ण, चाँदी और आरोग्यलाभ, ६ विजयासे शत्रुनाश और ७ कामिकासे सब प्रकारकी अभीष्टसिद्धि होती है। इनके निमित्त माघ शुक्ल सप्तमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् आकाशस्थ सूर्यका अथवा

सुवर्णादिनिर्मित सूर्यमूर्तिका यथालब्ध उपचारोंसे पूजन करके खीर, मालपुआ, दाल-भात, दूध-दही अथवा दध्योदनादिका नैवेद्य अर्पण करे और पीछे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो यथोक्त फल मिलता है ।

(१९) **भीष्माष्टमी** (धवलनिबन्ध)-माघ शुक्ल अष्टमीको जौ, तिल, गन्ध, पुष्प, गङ्गाजल और दर्भ आदिसे भीष्मजीका श्राद्ध अथवा तर्पण करे तो अभीष्टसिद्धि होती है । यदि तर्पणमात्र भी न किया जाय तो पाप होता है । श्राद्धके अवसरमें भीष्मका पूजन भी किया जाता है, अतः उसमें 'वसूनामवताराय शान्तनोरात्मजाय च । अर्घ्यं ददामि भीष्माय आबाल्यब्रह्मचारिणे ॥' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे ।

(२०) **शुक्लैकादशी** (पद्मपुराण)-माघ शुक्ल एकादशीका नाम 'जया' है । इसका व्रत करनेसे पिशाचत्व मिट जाता है । एक बार इन्द्रकी सभामें युवक माल्यवान् और युवती पुष्पवतीके लज्जाहीन बर्तावसे रुष्ट होकर इन्द्रने उनको पिशाच बना दिया था, उससे उनको बड़ा दुःख हुआ । अन्तमें उन दोनोंने माघ शुक्ल एकादशीका उपवास किया तब अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुए ।

(२१) **तिलद्वादशी** (ब्रह्मपुराण)-यह व्रत षट्‌तिलाके समान है । इसके लिये माघ शुक्ल द्वादशीको तिलोंके जलसे स्नान करे । तिलोंसे विष्णुका पूजन करे । तिलोंके तेलका दीपक जलाये । तिलोंका नैवेद्य बनाये । तिलोंका हवन करे और तिलोंका दान करके तिलोंका ही भोजन करे तो इस व्रतके प्रभावसे स्वाभाविक, आगन्तुक, कायकान्तर और सांसर्गिक सम्पूर्ण व्याधि दूर होती है और सुख मिलता है ।

(२२) **भीमद्वादशी** (हेमाद्रि)-यह भी इसी माघ शुक्ल द्वादशीको होती है । इसमें व्रतको ब्रह्मार्पण करके ब्राह्मणोंको भोजन करायें और फिर पारण करे । शेष विधि एकादशीके समान करे ।

(२३) **दिनत्रयव्रत** (पद्मपुराण)-माघस्नान ३० दिनमें पूर्ण होता है, परन्तु इतने समयकी सामर्थ्य अथवा अनुकूलता न हो तो माघ शुक्ल त्रयोदशी-चतुर्दशी और पूर्णिमाके अरुणोदयमें स्नानादि करके व्रत करे और यथानियम दान-पुण्य करे तो सम्पूर्ण माघस्नानका फल मिलता है ।

(२४) **माघी पूर्णिमा** (दानचन्द्रोदय)-माघ शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःस्नानादिके पीछे विष्णुका पूजन करे, पितरोंका श्राद्ध करे, असमर्थोंको भोजन, वस्त्र और आश्रय दे, तिल, कम्बल, कपास, गुड़, घी, मोदक, उपानह्, फल, अन्न और सुवर्णादिका दान करे और व्रत या उपवास करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और कथा सुने ।

(२५) **महामाघी** (कृत्यचन्द्रिका)—माघ शुक्ल पूर्णिमाको मेषका शनि, सिंहके गुरु-चन्द्र और श्रवणका सूर्य हो तो इनके सहयोगसे महामाघी सम्पन्न होती है । इसमें स्नान-दानादि जो भी किये जायँ, उनका अमिट फल होता है ।

कामना

नाथ ! दो मुझको यह वरदान,
किसी भाँति भी इस जीवनमें, रहे तुम्हारा ध्यान ।
दीनबन्धु ! यदि तुम्हें दीन प्रिय, बनूँ दीन निर्मान ,
देखेंगे, फिर दयादृष्टिसे मुझको दयानिधान ॥ १ ॥
यदि प्रिय पतित, पतितपावनको बनकर पतित महान ,
उसी रूपमें इन नयनोंसे, लखूँ तुम्हें भगवान ॥ २ ॥

—'श्रीहरि'

बाह्य और अन्तर्जगत्की समरसता

(लेखक—श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०)

एक बार मैं अपने एक मित्रके घरपर उनके परिवारके लोगोंके साथ बैठा हुआ था कि मित्रकी पत्नीने मेरे एक सम्बन्धीकी कुशल पूछी। मैंने उनकी कुशल कही। इसके बाद उन्होंने उनके पारिवारिक जीवनके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये। इसके उत्तरमें मुझे उस परिवारके कलहकी बात बतलानी पड़ी। मेरे सम्बन्धी सब प्रकारसे सम्पन्न होकर भी मनसे पूरे सुखी नहीं थे। इस वृत्तान्तको सुनकर उस महिलाने कहा कि 'संसारमें कोई मनुष्य सुखी नहीं रहता। मनुष्यका मन ही उसे दुखी बनाता है। संसारमें वास्तविक भलाई-बुराई कुछ भी नहीं है, अपना मन ही सब भले-बुरेका बनानेवाला है। अपनी कल्पना-से ही मनुष्य सुखी-दुखी रहता है।'

इस वार्तालापको मेरे मित्र भी सुन रहे थे। उन्होंने कहा कि 'मेरे विचारसे हमें हमारे पाप ही दुःखमय परिस्थितिमें डाल देते हैं और हम अपने पाप-कर्मोंके कारण ही ऐसे लोगोंके साथ पड़ जाते हैं, जिनके सङ्गसे हमें दुःख होता है। अर्थात् सांसारिक दुःख कल्पनामात्र नहीं हैं। संसारमें भलाई और बुराई वास्तविक है। इन भलाइयों और बुराइयोंको, सुख-दुःखकी परिस्थितियोंको अपने पुराने संस्कारोंके अनुसार हम अपनी ओर खींचते रहते हैं, अथवा हम उनकी ओर आकर्षित होते रहते हैं। यदि किसी मनुष्यका मन पापरहित है तो उसे क्लेशमयी परिस्थितियोंमें पड़ना ही न पड़ेगा।'

उपर्युक्त दोनों प्रकारके विचार दार्शनिक विचार हैं। एक विचारके अनुसार बाह्य संसारका दुःख-सुख कल्पनामात्र ही है, दूसरे विचारके अनुसार ये दुःख-सुख बाह्य परिस्थितियोंपर निर्भर हैं, पर बाह्य परिस्थितियोंकी उपस्थिति हमारे पूर्वसंस्कारोंपर निर्भर करती है। इन दो विचारधाराओंमें कौन-सी श्रेष्ठ है—यहाँ इसी विषयपर विचार करना है।

पहले विचारकी सत्यता हमारे कई अनुभवोंसे प्रमाणित होती है। कितनी ही बार हम ऐसी बातोंसे दुखी होते हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं। हम कल्पना कर लेते हैं कि अमुक व्यक्ति हमारा शत्रु है और हमारे प्रति अनेक प्रकारके षड्यन्त्र रच रहा है। मनमें इस तरहके विचारोंका प्रादुर्भाव होनेपर हम अनेकों प्रकारके भय, ईर्ष्या आदिसे सन्तप्त हो उठते हैं। कितने ही लोग अपने-आपको अभागा मान बैठते हैं; फलतः वे सदा-सर्वदा प्रत्येक घटनाको अपने प्रतिकूल ही देखते हैं। मनुष्यकी विक्षिप्त अवस्थामें इस प्रकारके काल्पनिक रोगोंकी बहुतायत देखी जाती है। लेखक एक ऐसी महिलासे मिला जो 'पुरुष' मात्रको बुरा समझती थी। इस महिलाकी पूर्वकथा जाननेसे पता लगा कि उसे किसी नवयुवकने विवाहका वचन देकर फिर अपने वचनको भङ्ग कर दिया था। एक पादरी खूबसूरत स्त्रियोंके चरित्रको सदा सन्देहकी दृष्टिसे ही देखा करता था। प्रत्येक स्त्रीपर चरित्रकी कमीका सन्देह करना उसका मानसिक रोग था। कृपण लोग इसी दुःखमें त्रस्त रहते हैं कि कहीं उनके धनको कोई चुरा न ले जाय। वे भले-से-भले आदमीको भी चोर-डाकू ही समझते हैं।

पर इस प्रकारके काल्पनिक दुःखोंकी सीमा है। विक्षिप्त अवस्था छोड़कर मनुष्य विचारसे काम लेता है। वह विचारके अनुसार ही घातक परिस्थितियोंसे डरता है और अनुकूल परिस्थितियोंको पाकर प्रसन्न होता है। हमारी अनेकों मनोवृत्तियाँ बाह्य परिस्थितियोंके ज्ञानपर

निर्भर रहती हैं और उसी ज्ञानसे सञ्चालित होती हैं। भारतवर्षके प्रत्येक शास्त्रने तीन प्रकारके दुःख माने हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पहले प्रकारके दुःख मनकी कल्पनाओंपर अवश्य ही निर्भर रहते हैं, पर यह बात दूसरे और तीसरे प्रकारके दुःखोंके विषयमें नहीं कही जा सकती। उनकी उत्पत्ति तो बाह्य परिस्थितियोंपर ही निर्भर करती है। क्या इन दुःखोंका भी कोई सम्बन्ध हमारे मनसे है ? क्या हमारा मन इन दुःखोंकी उपस्थितिका कारण किसी प्रकार कहा जा सकता है ?

इस प्रश्नका उत्तर मेरे मित्रने यही दिया है कि हमारे पाप इन दुःखोंको हमारे समीप पहुँचा देते हैं। हमारा सिद्धान्त उपर्युक्त विचारके पूर्ण अनुकूल है। वास्तवमें प्रत्येक बाह्य परिस्थितिकी जड़ मनमें ही है। यहाँ मनको हमें उसके बृहत् रूपमें समझना चाहिये। मन ही संसारका सरजनहार है। इसीको योगवासिष्ठमें ब्रह्मा कहा है। मन एक ओर अन्तर्जगत्की सृष्टि करता है और दूसरी ओर बाह्य जगत्को रचता है। इन दोनों जगतोंमें समरसता है। हमारी कल्पनाओंके अनुसार हम बाह्य संसारको पाते हैं और बाह्य संसारके अनुसार कल्पनाएँ बनती जाती हैं। बाह्य संसार कल्पनाओं-का कारण है और कल्पना बाह्य संसारका। वास्तवमें कल्पना और बाह्य संसार एक ही वस्तुके दो पहलू हैं।

इस बातकी सत्यता अपने स्वप्नोंपर विचार करनेसे प्रत्यक्ष होती है। आधुनिक मनोविज्ञान सिद्ध करता है कि हमारे प्रत्येक स्वप्नकी जड़ हमारे मनमें रहती है; प्रत्येक स्वप्न हमारी सुप्त वासनाओंकी आविर्भूति मात्र है। जिन वासनाओंको किसी कारण-वश जाग्रत्-अवस्थामें तृप्त होनेका अवसर नहीं मिलता, वे हमारी अर्धचेतन अवस्थामें एक नया संसार निर्माण करके अपने तृप्तिका मार्ग खोज लेती हैं। इस तृप्तिके लिये अनेक प्रकारके स्वाँग रचे जाते हैं। इस-लिये हम अपनी वासनाओंको पहचान नहीं पाते। वासनाएँ स्वप्नोंमें छिपेरूपसे ही तृप्त होनेकी चेष्टा करती हैं। जब हम स्वप्नमें देखते हैं कि हमारा कोई मित्र हमसे मिल रहा है अथवा हमारा कोई शत्रु हमारे पेटमें छूरा भोंक रहा है तो समझना चाहिये—इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी जड़ हमारे मनमें ही है। हमारा मन ही सारे स्वप्न-संसारका निर्माण करता है। इस तथ्यको हमारे पुराने ऋषियोंने आजसे हजारों सदियों पहले ही जानकर कह दिया था।

जाग्रत् अवस्था भी स्वप्नावस्थाके ही समान है। जो पदार्थ इस अवस्थामें दृश्यमान हैं उन सबका सम्बन्ध हमारे अदृश्य मनसे है। हम अपनी सम्पूर्ण वासनाओंको नहीं जानते अतएव हम बाह्य संसारकी अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंसे अपने आपका सम्बन्ध भी नहीं जान पाते। पर यदि हम अपने-आपको भलीभाँति समझनेकी चेष्टा करें तो अवश्य ही बाह्य और अन्तर्जगत्की समरसताको पहचान सकेंगे।

जब मनुष्य किसी प्रकारकी दुर्भावना मनमें लाता है तो वह दुर्भावना उसके मनमें एक प्रकारका संस्कार छोड़ जाती है। यह संस्कार ही मनुष्यको उस ओर खींचता है जहाँ वह अपना बीजरूप छोड़कर वृक्ष बन सके। बाह्य जगत् संस्कारोंका व्यक्त स्वरूप है। आत्माके प्रतिकूल संस्कार ही पाप हैं। ये पाप हमें दुःखकी ओर अपने-आप ले जाते हैं; अथवा दुःखोंकी सृष्टि कर देते हैं। दुःखोंके द्वारा हमारा मन फिर शुद्ध हो जाता है। दुर्भावनाका मनमें लाना ही पाप है, और उनके लिये दुःखोंका भोगना ही हृदयकी शुद्धि है। सद्भावनाओं-को मनमें लाना ही पुण्य है और पुण्यका ही परिणाम सुख होता है।

मनुष्य प्रत्येक क्षण अनेक प्रकारकी दुर्भावनाएँ मनमें लाता रहता है। इनके संस्कारोंको यदि तत्क्षण

नाश न कर दिया जाय तो वे मनुष्यको निश्चय ही दुःखमें डालेंगे। इन संस्कारोंके नाश करनेके लिये यह आवश्यक है कि वह नियमितरूपसे सद्भावनाओंको मनमें धारण करे, तथा अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार कुछ-न-कुछ दूसरोंके लिये उपकार किया करे। जिस मनुष्यकी भावनाएँ भली होती हैं, और वह इन वासनाओंसे प्रेरित होकर दूसरोंका उपकार करना चाहता है वह ऐसे उपकार करनेके अवसरोंसे वञ्चित नहीं रहता। साथ-ही-साथ उसकी उपकार करनेकी शक्ति और सामर्थ्य भी दिनोंदिन बढ़ती जाती है। यदि आप किसी व्यक्तिकी हृदयसे सेवा करना चाहते हैं, तो आज भले ही आप अपनेमें उक्त सेवाकी योग्यता न पावें, पर आपकी सद्भावना आपको एक दिन वह सामर्थ्य प्रदान करेगी जिससे आप उसकी सेवा कर सकेंगे। जिस समय किसी मनुष्यमें, किसी प्रकारके कार्यके लिये आन्तरिक परिपक्वता हो जाती है, उस समय बाह्य जगत्‌में भी वह तदनुकूल परिस्थितियोंको पा लेता है। परमात्मा हमारी सच्ची भूखके लिये भोजन अवश्य देते हैं, झूठी भूखके लिये नहीं। जिस मनुष्यकी जिस बातमें सच्ची लगन है वह उसे अवश्य प्राप्त करता है।

जापर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहिं मिलहि न कछु संदेहू॥

ईश्वर-प्रार्थना, तर्पण, पूजा-पाठ और पर-सेवासे यह लाभ होता है कि मनुष्य प्रथम तो कष्टकी परिस्थितिमें पड़ता ही नहीं और यदि पड़ता है तो वह उसके प्रति साक्षीभाव धारण करनेमें समर्थ होता है। संसारकी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ, सिनेमा फिल्मके खेलोंके समान उसे असत् दिखायी देने लगती हैं। जिस मनुष्यमें मानसिक दृढ़ता नहीं रहती वही प्रतिकूल परिस्थितिमें उद्विग्न होता है। मानसिक दृढ़ता सद्भावना और सदाचारसे आती है। प्रतिदिन-की सद्भावना और सदाचार एक प्रकारका सञ्चित धन है जो सङ्कटके समय काम आता है; यह सङ्कट कालके लिये 'प्रीमियम' का चुकना है। मनुष्यको प्रीमियमोंका चुकाना सामान्य अवस्थामें भले ही व्यर्थ जान पड़े, पर जब सङ्कट पड़ता है तो उसका मूल्य वह जान लेता है। हम सद्भावनाओंको मनमें धारण करके तथा दूसरोंकी सेवा करके ऐसी बैंकमें अपना रुपया जमा कर रहे हैं, जो कभी फेल नहीं होती। सदा दूसरोंका शुभ-चिन्तन करना अपना ही शुभ-चिन्तन करना है, और दूसरोंके प्रति दुर्भावना लाना अपने-आपके प्रति ही दुर्भावना लाना है, कारण जगत् आत्माका ही प्रसार मात्र है।

कौन यहाँ अपना है ?

कौन यहाँ अपना है ?
जिसको अपना समझा, उसने दुख ही दुख पहुँचाया।
जिसको अपना समझा, उसने सुख न कभी दिखलाया॥
जिसको अपना समझा, उसने नित काँटों उलझाया।
जिसको अपना समझा, उसने मुझको खूब सताया॥
कौन यहाँ अपना है ?

—बालकृष्ण बलदुवा

अपरिग्रह

[अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः]

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

समाचारपत्रोंमें कई बार ऐसे बच्चोंका वर्णन मैंने पढ़ा है, जो अपने पूर्वजन्मकी स्मृति रखते हैं। अपने पूर्वजन्मके माता पिता, घर प्रभृतिको पहचान भी लेते हैं। मेरे पड़ोसमें आज डिप्टी श्रीरमाशंकरजी चतुर्वेदी आये हैं। मैंने इनकी कन्याके सम्बन्धमें पढ़ा था कि वह भी पूर्वजन्मकी स्मृति रखती है। मैंने अपने यहाँके साप्ताहिक पत्र 'निगम' की पुरानी प्रतियोंको उलटने-पुलटनेमें बहुत समय व्यतीत किया और अन्तमें वह प्रति प्राप्त कर ली जिसमें डिप्टीसाहबकी पुत्री कुमारीकलाके पूर्वजन्मकी स्मृतिका विवरण दिया गया था।

डिप्टीसाहब फैजाबादसे बदलकर परसों मथुरा आये हैं और ठहरे हैं मेरे पड़ोसके बँगलेमें। बड़े सज्जन हैं। कल सन्ध्या समय स्वयं मेरे यहाँ टहलते आये और बड़ी देरतक इधर-उधरकी बातें करते रहे। उनके जानेपर मुझे उनकी कन्याके सम्बन्धमें समाचारपत्रोंमें निकले समाचारका ध्यान आया।

कलकी भेंटने संकोचको दूर कर ही दिया था, मैं स्वयं डिप्टीसाहबके यहाँ पहुँचा। बंगलेके सामने घास-पर कुर्सी डाले वे बैठे थे। मुझे देखते ही हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। 'नमस्कार डाक्टर बाबू!' मैंने उनके अभिवादनका उत्तर दिया और उनके पास ही नौकर-द्वारा लायी हुई कुर्सीपर बैठ गया।

'आपसे कुछ जानने आया हूँ।'

'कहिये क्या?'

उनके आग्रहके उत्तरमें मैंने 'निगम' की प्रति खोलकर उनके हाथमें दे दी और उस समाचारकी ओर सङ्केत कर दिया।

'यह प्रति कबकी है?' उन्होंने समाचारका शीर्षक मात्र देखकर फिर अपने प्रश्नके साथ कवर-पृष्ठ देखा और तब हँसकर बोले—'आप इतना पुराना समाचार कहाँसे ढूँढ़ लाये हैं? यह तो दो वर्षकी पुरानी प्रति है और अब तो कला सब भूल-भाल गयी है।' उन्होंने पत्र मुझे लौटा दिया।

'क्या बच्चीको बुला देंगे!' उनकी उदासी मुझे अखरी। मैंने अपनी उत्सुकताको बिना दबाये हुए आग्रह किया।

'क्यों नहीं' उन्होंने लड़कीको पुकारा और 'आयी पिताजी!' कहनेके एक मिनट बाद ही दस वर्षकी एक भोली बालिका उनके पास आ गयी।

'यही है' डिप्टीसाहबने उसे मेरे सामने कर दिया हाथ पकड़कर। लड़कीने मुझे प्रणाम किया। मैंने उसे पास बुला लिया। वह सङ्कोचसे सिकुड़ी जाती थी।

'बच्ची, तुम्हारा नाम क्या है?' इस प्रकार परिचय बढ़ानेके लिये मैंने उससे कई प्रश्न किये। उसने सबका उत्तर दिया। प्रश्नोंके ही क्रममें मैंने पूछा 'तुम बता सकती हो कि इससे पहले तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ था?' लड़की चुप हो गयी। कई बार पुचकारकर मैंने और डिप्टीसाहबने पूछा, तब कहीं उसने कहा 'काशीमें'।

'काशीमें किसके घर!' लड़कीको और कुछ भी स्मरण नहीं था। वह आगे कुछ भी बता नहीं सकी।

डिप्टीसाहब-जैसे सम्पन्न, सरल और धार्मिक व्यक्ति भला समाचारपत्रोंमें क्यों झूठा आडम्बर करेंगे? अतः उस साप्ताहिक पत्रके विवरणको डिप्टीसाहबके स्वीकार

कर लेनेके पश्चात् सन्दिग्ध समझनेका कोई कारण नहीं था। यह एक समस्या अवश्य थी कि बच्चे बड़े होकर उस पूर्वजन्मकी स्मृतिको क्यों विस्मृत हो जाते हैं ? डिप्टीसाहबके पास भी इसका कोई समाधान नहीं था।

(२)

जाड़ेके दिन थे और सन्ध्याका समय। मैं डिप्टी रमाशंकर चतुर्वेदीके साथ टहलने निकला था। बँगलेसे थोड़ी दूर आगे चलकर हम दोनोंने पक्की सड़क छोड़ दी और पगडण्डीसे एक तालाबकी ओर चले।

तालाब कभी अच्छा रहा होगा; किन्तु आज तो वह नामके लिये ही तालाब है। उसमें शरद् ऋतुमें भी जल नहीं रहता। गहराई भी उसकी अब कमरभर रह गयी है। उसके आस-पास कुछ कदम्बके वृक्ष हैं। चारों कोनोंपर टूटी हुई बुर्जें हैं और घाट अब भी बैठने योग्य हैं। एकान्त होनेके कारण हम सब कभी-कभी यहाँ आकर थोड़ी देर बैठते हैं।

व्रजमें साधु तो आते ही रहते हैं। उनमें हमारा कोई विशेष आकर्षण नहीं। फिर भी इस नितान्त एकान्तमें घाटकी एक शिलापर इतनी सर्दीमें भी केवल कौपीन लगाये मजेसे आधे लेटे, दुबले-पतले, साँवले रंगके साधुने हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हमें अपनी ओर आते देखकर वह बैठ गये। हम दोनोंने अभिवादन किया और उनके समीप ही एक शिलापर हमें भी बैठनेका सङ्केत हुआ।

साधुके समीप परमार्थचर्चा तो चलेगी ही। प्रसङ्गवश पुनर्जन्मकी चर्चा आ गयी। महात्माजीने बतलाया कि वे पिछले जन्ममें अयोध्याके समीप सरयूकिनारे एक मन्दिरके पुजारी थे। वहाँ कुछ अपराध हो गया और उसीके कारण उन्हें पुनः इस शरीरको धारण करना पड़ा।

मैं विस्तारमें जाना नहीं चाहता। महात्माजीसे उनके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें हम दोनोंने बहुत कुछ पूछा और उन्होंने भी बहुत कुछ बताया। अन्तमें मैंने पूछा—'शरीरत्यागके पश्चात् और इस शरीरको धारणके पूर्व मध्यमें क्या-क्या हुआ ?' महात्माजी पहलेहीसे कुछ उकताहट दिखला रहे थे। अँधेरा भी हो रहा था। उन्होंने कहा—'प्रश्न पर्याप्त गम्भीर और महत्त्वका है, मुझे अभी नित्यकर्मसे निवृत्त होना है।' डिप्टीसाहब भी अँधेरेके कारण लौटनेको उत्सुक थे। उन्होंने बीचमें ही कहा—'इसे कलपर रहने दीजिये !' इच्छा न होनेपर भी उन लोगोंका रुख देखकर मुझे अनुमोदन करना पड़ा। हम दोनों वहाँसे लौट आये। बहुत आग्रह करनेपर भी महात्माजीने न तो बस्तीमें चलना स्वीकार किया और न कुछ ग्रहण करना ही।

दूसरे दिन महात्माजीको अपने घर भिक्षा करानेको निमन्त्रित कर आया था। लगभग दस बजे नौकरको भेजा तो वहाँ उनका कोई पता नहीं लगा। सोचा 'साधु ठहरे, कहीं टहल गये होंगे।' एक-दो बार नौकर भेजा और सन्ध्याको डिप्टीसाहबके साथ वहीं घूमने गया। साधु होते हैं रमते राम। वे एक स्थानसे खिसके तो फिर भला कौन उनका पता पाता है।

(३)

कालिन्दीके किनारे एक झोपड़ी पड़ी थी। मैं अकेले टहलते उधरसे निकला तो एक बार उसमें झाँककर देखनेकी इच्छा हुई। 'यह क्या ? यह तो वही पूर्वपरिचित महात्माजी हैं !' महात्माजी रुग्ण दिखायी देते थे। थोड़ा पुआल पड़ा था और उसीपर एक कम्बलमें लिपटे वे पड़े थे। पासमें दो तूँबियाँ रक्खी थीं और सम्भवतः एक कपड़ेका छोटा टुकड़ा भी।

मेरी आहट पाकर उन्होंने मुख खोला। अभिवादन करके मैं पास ही बैठ गया। उन्होंने देखते ही मुझे पहचान लिया। शरीरके सम्बन्धमें पूछनेपर ज्ञात हुआ कि इधर कुछ दिनोंसे आँवके दस्त होते थे, फिर

ज्वर हो गया। ज्वर छूट गया है; लेकिन आँव अभी गया नहीं। यह झोंपड़ी पासके ग्रामवालोंने उनके लिये बना दी है।

मैंने पहले जैसा अनुमान किया था, महात्माजी उतने दुर्बल थे नहीं। वे उठकर बैठ गये और सत्सङ्ग होने लगा। मैंने वही पुराना प्रश्न दुहराया कि शरीरत्यागके पश्चात् क्या होता है? लेकिन मुझे निराश होना पड़ा। उन्होंने कहा 'भैया, उसी दिन बता देता तो बता भी देता। वहाँ मच्छरोंने बहुत तंग किया। उठकर यमुनाजीकी ओर आ गया। बड़ी भली चाँदनी थी। चलनेमें आनन्द प्रतीत होता था। पैर बढ़ते गये और दूर निकल गया। जाकर भला कहाँ लौटा जाता है। तब तो यह बाधा हुई और अब वह सब बातें विस्मृत हो गयीं। तुम लोगोंसे मैंने क्या-क्या बतलाया, यह भी स्मरण नहीं।'

मुझे डिप्टीसाहबकी लड़कीके विस्मरणका ध्यान हुआ। मैंने पूछा 'आपको यह पूर्वजन्मकी स्मृति जन्मसे थी?'

'नहीं' महात्माजीने स्वभावके अनुसार समझाना प्रारम्भ किया—'पूर्वजन्मकी स्मृति तो संस्कारोंसे होती है। संस्कार सबके भीतर हैं; पर बाहरी वस्तुओंके संग्रहसे मन जब उनमें आसक्त हो जाता है, तब वह अन्तर्मुख होकर भीतरके संस्कारोंको ग्रहण नहीं कर पाता। मैंने जबसे बाहरी वस्तुओंका सचमुच संग्रह छोड़ा था, तभीसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति हुई थी और जब मैंने उनका संग्रह किया तो वह स्मृति क्षीण हो गयी।'

'आपके पास तो अब भी कोई संग्रह नहीं!' मैंने पूछा।

'संग्रह केवल पदार्थोंका थोड़े ही होता है। पदार्थ भला कैसे छोड़े जावेंगे? नगरमें रहोगे तो मकान रहेंगे। यहाँ भी ईंट, पत्थर, पेड़, पशु बहुत हैं। इनसे भागकर कोई कहाँ जायगा? संग्रह छोड़ना है इनमें आसक्तिका। इनकी अपेक्षा करना ही संग्रह है। शरीर रुग्ण होनेके कारण कम्बल, तुम्बी आदि अपेक्षित हैं। इनके बिना कष्ट होगा। इनमें कुछ आसक्ति भी हो ही गयी है। यही आसक्ति इनका संग्रह हो गयी। अन्यथा राजा भी अपरिग्रही हो सकता है।'

'तब तो अपरिग्रहका अर्थ हुआ अनासक्ति।' मैंने जिज्ञासा की।

'थोड़ा अन्तर है' महात्माजीने बतलाया 'अपरिग्रह धनका होता है और अनासक्ति धन-जन दोनोंमें।'

'ये बालक जो पूर्वजन्मकी स्मृतिवाले कहीं-कहीं पाये जाते हैं, वे तो अपरिग्रही नहीं?'

'पूर्वजन्ममें मृत्युसे पूर्व रोगके कारण या किसी भी कारणसे धन (पदार्थ-पशु प्रभृति) से आसक्ति दूर हो जानेपर ही उन्हें इस जन्ममें पूर्वजन्मकी स्मृति होती है और परिग्रह होते ही वह क्षीण हो जाती है।'

आज जाकर मैं उस लड़कीके पूर्वजन्मकी बातोंके विस्मरण-रहस्यको जान सका।

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

'हाय पैसा ! हाय पैसा !' की करुण चीख कानोंका परदा फाड़े डालती है। भला यह भी कोई मनुष्यता है ! जिसका सब कुछ होना चाहिये मनकी शान्तिके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये; वही मानव आज कौड़ी-कौड़ीके लिये दर-दर भटक रहा है। कहीं क्षणभरके लिये भी तो उसे शान्ति मिल जाती। बाबाने आगे कहा—'परन्तु यह सब किसलिये ? जिस सुखके लिये यह परिश्रम किया जा रहा है, उसे पानेके पहले ही यदि पागल हो गये, सदाके लिये चल बसे तो वह किस काम आयेगा ? उससे कौन-सी साध पूरी होगी ? भैया ! सच्ची बात तो यह है कि जगत्‌की सारी सम्पत्ति भी मनकी एक क्षणकी शान्तिकी तुलनामें कुछ भी नहीं है।'

बाबा बोलते गये—'तुम महात्मा लीलातीर्थको तो जानते हो न ? वे जब डाक्टरी पढ़ रहे थे, उनका नाम था रामहरि। उस समय कालेजमें लड़कियों और लड़कोंमें बड़ी चख-चख चल रही थी। एक दिन किसी लड़कीसे कालेजकी कोई वस्तु नष्ट हो गयी। लड़कियोंने एक मतसे उसकी जिम्मेवारी रामहरिपर थोप दी। अधिकारीने रामहरिको बुलाया और जब रामहरिने न उस अपराधको स्वीकार किया, न अस्वीकार, तब उसने उनपर पचास रुपया जुर्माना कर दिया। उन्होंने चुपचाप जुर्मानेकी रकम दाखिल कर दी। लड़कोंने इकट्ठा होकर रामहरिकी इस चुप्पीका विरोध किया और कहा कि 'तुम इसकी अपील करो। हमलोग यह बात प्रमाणित कर देंगे कि तुमने वह वस्तु नष्ट नहीं की थी, वह काम अमुक लड़कीका था। तुम्हारे रुपये वापस मिल जायँगे।' रामहरिने कहा—'आप लोगोंका कहना ठीक है। यदि दस-पाँच दिनतक प्रयत्न किया जाय, प्रमाण इकट्ठे हों, सोच-विचारकर काम हो तो मेरे पचास रुपये लौट सकते हैं। परन्तु पचास रुपयोंके लिये मैं अपने मनको इतने समयतक बेचैन नहीं रखना चाहता ? प्रमाणित करनेकी चिन्ता, तरह-तरहकी बन्दिशें और व्यर्थका उद्वेग मोल लेकर मैं पचास रुपये नहीं चाहता। जब लोग भोजनके लिये, वस्त्रके लिये, झूठमूठकी बनावट, शान-शौकत और आमोद-प्रमोदके लिये हजारों रुपये पानीकी तरह बहा देते हैं तब मैं अपने मनको बेचैन होनेसे बचानेके लिये पचास रुपयोंका त्याग कर दूँ; इसमें क्या बुरा है ? रुपये गये तो गये, मेरा मन तो शान्त रहेगा न ?' रामहरिकी इस बातका लड़कोंपर तो प्रभाव पड़ा ही, लड़कियाँ भी प्रभावित हुए बिना न रहीं। उन्होंने पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी, पचास रुपये लौटा दिये और उनका आपसका मन-मुटाव हमेशाके लिये मिट गया। इसका यह अर्थ नहीं कि धन कोई चीज ही नहीं है। वह एक उत्तम वस्तु है, परन्तु है मनकी शान्तिके लिये। मनको शान्त रखते हुए ही उसे कमाओ, भोगो और छोड़ दो। उसके कमाने, भोगने या त्यागनेमें मनकी शान्ति न खो बैठो। उसके द्वारा तुम्हारी सेवा होनी चाहिये, तुम उसके सेवक नहीं हो।'

मैंने पूछा—'बाबा, आप जो बात कह रहे हैं, वह धनियोंके लिये भले ही उपयोगी हो, उससे भला गरीबोंको क्या सन्तोष हो सकता है ?'

बाबाने कहा—'तुम तो पागलपनकी बात करते हो। गरीब कौन और धनी कौन ? गरीब और धनी शरीरके आसपास रुपयोंके ढेर रहने या न रहनेसे नहीं होते। भगवान्‌की वस्तुको भ्रमवश अपनी समझकर अभिमान कर बैठना 'धनी' होना है और भगवान्‌की वस्तुको

अपनी बनाकर अभिमानी बननेके लिये ललकते रहना 'गरीब' होना है। भगवान्‌के राज्यमें न कोई धनी है, न गरीब; सब उनके द्वारा निर्दिष्ट अभिनयको पूर्ण कर रहे हैं। धनको अपना मानना या अपना बनानेकी चेष्टा करना, यही भूल है। एक कथा सुनो।'

'एक था भिक्षुक। उसका यह नियम था कि जिस दिन जो कुछ मिल जाय, उसको उसी दिन खा, पी, पहनकर समाप्त कर देना। प्रायः उसे प्रतिदिन आवश्यकताके अनुसार भिक्षा मिल जाया करती थी। एक दिन उसे उसकी जरूरतसे ज्यादा एक पैसा मिल गया। वह सोचने लगा इसका क्या उपयोग करूँ? उसने उस पैसेको अपने चीथड़ेकी खूँटमें बाँध लिया और एक पण्डितके पास गया। भिक्षुकने पण्डितजीसे पूछा कि 'महाराज! मैं अपनी सम्पत्तिका क्या सदुपयोग करूँ?' पण्डितजीने पूछा कि 'तुम्हारे पास कितनी सम्पत्ति है?' उसने कहा—'एक पैसा!' पण्डितजी चिढ़ गये। उन्होंने कहा—'जा-जा, तू एक पैसेके लिये मुझे परेशान करने आया है।' सच पूछो तो वे उस पैसेका महत्त्व नहीं समझते थे। वह भिक्षुक निराश नहीं हुआ। कई पण्डितोंके पास गया। कहीं हँसी मिली तो कहीं दुत्कार! किसी सज्जनने बतलाया कि 'अजी, यह तो सीधी-सी बात है। किसी गरीबको दे डालो।' अब वह भिक्षुक गरीबकी तलाशमें चल पड़ा। उसने अनेक भिखारियोंसे यह प्रश्न किया कि 'क्यों जी! तुम गरीब हो?' परन्तु एक पैसेके लिये किसी भिखारीने गरीब बनना स्वीकार नहीं किया। जो मिलता उसीके पास दो-चार पैसेकी पूँजी इकट्ठी मिलती। भिक्षुक अभी गरीबकी खोजमें लगा ही हुआ था कि उसे कहीं मालूम हुआ अमुक देशके राजा अमुक देशपर चढ़ाई करने जा रहे हैं। उसने लोगोंसे पूछा 'वे क्यों चढ़ाई कर रहे हैं?' लोगोंने बताया धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये। भिक्षुक मन-ही-मन सोचने लगा—'अवश्य ही वह राजा बहुत गरीब होगा। तभी तो धन-सम्पत्तिके लिये मार-काट, लूट-पीट और बेईमानीकी परवा न करके धावा बोल रहा है! इसलिये मैं अपनी पूँजी उसे ही दे दूँ। जो धनके लिये दूसरेके साथ बेईमानी, छल, कपट, धोखा और बलात्कार कर सकता है, वास्तवमें वही सबसे बड़ा गरीब है।'

भिक्षुकने देखा—राजासाहबकी सेना सज-धजकर उनका जय-जयकार बोलती हुई आगे बढ़ रही है। राजासाहबकी सवारी भी बड़ी शानके साथ पीछे-पीछे चल रही है। पहाड़ी मार्ग था, भिक्षुक एक झाड़के नीचे दुबक गया। जिस समय राजासाहबकी सवारी उसके पाससे गुजरने लगी, वह खड़ा हो गया और झटपट अपने चीथड़ेमेंसे पैसा निकालकर राजासाहबके हाथपर डाल दिया। उसने कहा कि 'मुझे बहुत दिनोंसे एक गरीबकी तलाश थी। आज आपको पाकर मेरा मनोरथ पूरा हो गया। आप मेरी पूँजी सम्हालिये।' राजासाहबने अपनी सवारी रोकवा दी। फौजका आगे बढ़ना भी रोक दिया गया। राजासाहबके पूछनेपर भिक्षुकने अपनी कहानी, परेशानी और विचारकी बात कह सुनायी। राजासाहबपर भिक्षुककी कहानीका इतना असर पड़ा कि उन्होंने धावा बोलनेका इरादा बदल दिया और सारी फौजके सामने यह बात कबूल की कि किसीकी वस्तु बेईमानी, छल-कपट या बलात्कारसे लेना गरीबीका ही लक्षण है। नीतिकारोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः?

'गरीब वह है, जिसकी लालच बढ़ी-चढ़ी है। मन सन्तुष्ट हो तो धनी-गरीबका कोई भेद नहीं। महल चाहे जितना बड़ा हो, सोनेके लिये केवल साढ़े तीन हाथ ही जगह चाहिये।'

बाबाने कहा—तुमने सुना होगा कि एक गरीब भिखमंगा जाड़ेके दिनोंमें तीन हाथकी चद्दर ओढ़े ठिठुर रहा था। जब मुँह ढकता तो नंगे पैर हो जाते और पैर ढकता तो मुँह नंगा हो जाता। चद्दर बढ़ तो सकती नहीं, वह परेशान था। उधरसे एक मस्त महात्मा आ निकले। उन्होंने उसकी परेशानी देखकर कहा—'अरे मूर्ख ! अगर चद्दर नहीं बढ़ सकती तो क्या तू छोटा नहीं हो सकता ?' भिखमंगेकी समझमें बात आ गयी, उसने अपना पैर सिकोड़ लिया। अब उसका सारा बदन चद्दरके नीचे था। लालचको जितना बढ़ाओ उतना बढ़े, जितना घटाओ उतना घटे। जब तुम शारीरिक आरामके लिये इतना उद्योग करते हो तब क्या मानसिक सुख-शान्तिके लिये लालच भी नहीं छोड़ सकते ? इसीने तो गरीब और धनीका भेद पैदा किया है। इसके मिटते ही सब एक-से हो जाते हैं और सभी वस्तुओंको भगवान्‌की दी हुई समझकर उनका उपयोग करते समय परम सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं।

मैंने पूछा—'बाबा, जब कभी ऐसा जान पड़ता है कि मैं किसीका कृपापात्र बनकर उसकी दी हुई वस्तुओंका उपयोग कर रहा हूँ तब उपकारके भारसे दब जाता हूँ और ऐसे अवसरोंपर दबावके कारण उसके कहे बिना भी अपने मनके विपरीत काम करने लगता हूँ—यह समझकर कि इसीमें उसकी प्रसन्नता और भलाई है।'

बाबा हँसे। उन्होंने कहा—'जबतक मेरा-तेरा, इसका-उसका भेद बना है तबतक ऐसा ही होता है। यह सब मनकी खुराफात है, कमजोरी है। भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन कृपालु है। भगवान्‌के सिवा और किसने कौन-सी वस्तु दी है ? उसके उपकारके अतिरिक्त और किसका उपकार है ? मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ कि यदि तुम भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीकी कृपा स्वीकार करोगे, और किसीपर विश्वास करोगे तो दुःख पाओगे। आज नहीं तो दस दिन बाद सही, दर-दर ठोकर खाकर भगवान्‌की शरणमें आना ही पड़ेगा। तुम्हारे मनपर किसीका प्रभाव क्यों पड़ता है ? क्या भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई ऐसी शक्ति है, जो तुम्हारे मनपर दबाव डाल सकती है ?'

'परन्तु तुम्हारा कहना भी सच है। मनुष्य जिसके पास रहता है, जिसका खाता है, जिसके उपकारोंको स्वीकार करता है उसका कुछ-न-कुछ असर जरूर पड़ता है। परन्तु वह असर ही तो उसके असरसे बाहर निकालता है, भगवान्‌की शरणमें ले जाता है। सुनो ! मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ।'

'एक थे साधु। बड़े विरक्त, बड़े मस्त और बड़े मौजी। शायद वे पंजाबके रहनेवाले थे। वे जब मस्तीके साथ गाँवमें घूमनेके लिये निकलते तो कहते-फिरते 'कहीं कब्र है कब्र !' लोग उनका अभिप्राय नहीं समझते और बड़े आश्चर्यमें पड़ जाते कि ये महात्मा हर समय कब्र-कब्र क्यों रटा करते हैं ? उसी गाँवमें एक बड़े ज्ञानी और बुद्धिमान् सेठ रहते थे। एक दिन अचानक उनकी समझमें महात्माजीकी बात आ गयी। जिस समय महात्माजी 'कहीं कब्र है कब्र' कहते हुए रास्तेमें चल रहे थे, सेठजी आकर खड़े हो गये और मुसकराते हुए बोले—'कहीं मुर्दा है मुर्दा।' महात्माजीने अपने शरीरकी ओर सङ्केत किया और कहा यह मुर्दा है। सेठजीने अपने मकानकी ओर इशारा किया और कहा 'यह कब्र है !' महात्माजी मकानमें घुस गये और बारह वर्षतक उससे बाहर नहीं निकले। सेठने अपनी ओरसे उनकी सेवामें कोई कोर-कसर नहीं की।'

'तेरहवें वर्षमें सेठजीके घर डाका पड़ा। लुटेरोंने उनकी अधिकांश सम्पत्ति लूट ली और भाग चले। महात्माजीने सोचा कि 'मैंने बारह वर्षतक इस सेठका

अन्न खाया है। इसकी सेवा स्वीकार की है। इस समय कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे सेठका माल मिल जाय। उन्होंने लुटेरोंका पीछा किया। लुटेरोंने पुलिससे छिपानेके लिये सारा माल एक कूएँमें डाल दिया और अपने-अपने घर चले गये। महात्माजी-ने अपनी लँगोटी फाड़कर उस कूएँपर एक निशान बना दिया। पुलिसको खबर दे दी। सारा धन मिल गया। गाँवके लोग महात्माजीके इस कार्यकी प्रशंसा करने लगे। सेठजी बड़े विचारवान् पुरुष थे। उन्होंने सोचा कि जो महात्मा अपनेको मुर्दा समझकर कब्रमें रहनेके लिये आये थे, वे इस प्रकारका व्यवहार करें, यह कहाँतक उचित है? हो-न-हो, उनका वैराग्य कुछ ठंडा पड़ गया है। सेठजीने महात्माजीके पास जाकर बड़ी नम्रतासे पूछा—'भगवन्! मुर्दा सच्चा या कब्र सच्ची?' महात्माजीकी आँखें खुल गयीं। अपनी सारी स्थिति उनके सामने नाच गयी। उन्होंने देखा कि उपकारोंके भारसे मैं कितना दब गया हूँ। उन्होंने कहा—'भाई! कब्र सच्ची, मुर्दा झूठा।' इसके बाद महात्माजी वहाँसे चले गये और फिर जीवनभर उन्होंने कभी किसीके घर दो बार भिक्षा नहीं ली। वे एक गाँवमें भी दो दिन नहीं रहते थे। बाबाने आगे कहा—'भाई! यदि तुम्हें किसीका उपकार स्वीकार ही करना हो तो केवल भगवान्का करो। दूसरोंसे सम्बन्ध जोड़ते ही बँध जाना पड़ता है।'

मैंने पूछा—'बाबा, ऐसा दृढ़ निश्चय हो कैसे?'

बाबा—'दृढ़ निश्चयके लिये समय और अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। निश्चय तो केवल एक क्षणमें होता है। जबतक निश्चय होनेमें देर होती है तबतक यही समझना चाहिये कि तुम निश्चय करनेमें हिचकिचा रहे हो, वैसा करनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं है। इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें एक घटना सुनाता हूँ।'

'गङ्गातटपर मेरियाके पास ही एक बेसवाँ नामका ग्राम है। वहाँ एक ब्राह्मणदम्पति निवास करते थे। दोनों बड़े सदाचारी और भगवत्प्रेमी थे। वे संतों, शास्त्रों और भगवान्पर बड़ा विश्वास रखते थे। दोनोंके हृदयमें सत्सङ्गका संस्कार था। एक बार ब्राह्मण बीमार हुआ और ऐसा बीमार हुआ मानो उसकी मौत होनेवाली हो। ब्राह्मण-पत्नीने अपने पतिकी मरणासन्न स्थिति देखकर सोचा कि अब तो ये इस लोककी लीला समाप्त करनेवाले ही हैं। कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे इनका परलोक बने। उन दिनों उस गाँवमें एक दण्डी संन्यासी आये हुए थे। ब्राह्मण-पत्नीने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि आप मेरे पतिको आतुर संन्यास दे दीजिये, जिससे इनका कल्याण हो जाय। पहले तो स्वामीजीने बहुत मना किया, परन्तु फिर ब्राह्मणकी मरणासन्न दशा देखकर संन्यास दे दिया। उस समय ब्राह्मण बेहोश था, इसलिये उसे अपने संन्यास-ग्रहणकी बात मालूम नहीं हुई।'

'संयोगकी बात, कुछ ही दिनोंमें ब्राह्मण स्वस्थ हो गया। ब्राह्मणी शक्तिभर अपने पतिकी सेवा करती, परन्तु स्पर्श नहीं करती। अपनी पत्नीका यह ढंग देखकर ब्राह्मणने पूछा—'प्रिये! तुम इतने प्रेमसे मेरी सेवा करती हो, परन्तु अलग-अलग क्यों रहती हो?' पत्नीने कहा—'भगवन्! आपको मरणासन्न समझकर मैंने संन्यास-दीक्षा दिलवा दी। अब मैं आपके स्पर्शकी नहीं, केवल सेवाकी अधिकारिणी हूँ।' ब्राह्मणने कहा—'अच्छा तो मैं संन्यासी हो गया। अब एक घरमें रहना और काठकी बनी स्त्रीकी सेवा स्वीकार करना भी मेरे लिये पाप है।' वह ब्राह्मण उसी क्षण घरसे निकल पड़ा और विधिवत् संन्यास-दीक्षा लेकर वेदान्तके स्वाध्याय तथा ब्रह्मचिन्तनमें अपना समय व्यतीत करने लगा।'

'वर्षोंके बाद हरिद्वारमें कुम्भका मेला पड़ा। ब्राह्मण-पत्नी भी स्नान करनेके लिये वहाँ गयी। जब उसे मालूम

हुआ कि मेरे पतिदेव यहीं संन्यासीके वेषमें रहकर संन्यासियोंको वेदान्तका अध्यापन करते हैं तब वह भी कुछ स्त्रियोंके साथ उनका दर्शन करनेके लिये गयी। स्वामीजीका नाम था ज्ञानाश्रम, वे उस समय संन्यासियोंमें वेदान्तका प्रवचन कर रहे थे। उनके दोनों हाथ एक-दूसरेके नीचे बँधे हुए थे और सिर सीधा था। अपनी पत्नीको देखते ही उन्होंने कहा—'अरे, तू यहाँ आ गयी?' स्त्रीके मुँहसे अचानक निकल पड़ा—'स्वामीजी! क्या अबतक आप मुझे भूल नहीं सके?' उसी क्षण स्वामीजीका सिर नीचे झुक गया। हाथ बँधा-का-बँधा रह गया। उसके बाद स्वामी ज्ञानाश्रमजी तीस वर्षतक जीवित रहे। परन्तु न तो उनका सिर हिला और न तो हाथ खुले। शौच, स्नान, भोजन भी दूसरोंके करानेसे ही करते। उनके मुँहसे कभी एक शब्द भी नहीं निकला। एक बार विधर्मियोंने उनकी पीठमें बर्छी भोंक दिया, उनके गुह्य स्थानमें लकड़ी डाल दी, फिर भी वे ज्यों-के-त्यों रहे। जब वहाँके ताल्लुकेदारको इस बातका पता चला और उन्होंने विधर्मियोंके घर जलानेकी आज्ञा दे दी, तब उनके हाथोंका बन्धन खुला और उन्होंने हाथ उठाकर मना किया। परन्तु फिर उनका वह हाथ जीवनभर उठा ही रहा, गिरा नहीं। उनका एक क्षणका निश्चय जीवनपर्यन्त ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण रहा। बड़े-से-बड़े विघ्न और अड़चनें उन्हें उनके निश्चयसे विचलित नहीं कर सकीं।

निश्चय कैसे हो, यह प्रश्न मत करो। निश्चय करो। उस निश्चयके पीछे अपने जीवनको बलिदान कर दो। माना कि ऐसा निश्चय करनेसे तुम्हारे स्त्री-पुत्रोंको कष्ट हो सकता है, धन नष्ट हो सकता है और शरीरकी मृत्यु हो सकती है। परन्तु एक आध्यात्मिक जिज्ञासुके लिये इन वस्तुओंका कोई मूल्य नहीं है। इन वस्तुओंके बदलेमें तुम्हें अन्तःकरणकी अनन्त सम्पत्ति श्रद्धा, विश्वास, तितिक्षा, वैराग्य, समता, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होगी। क्या इस अन्तरङ्ग सम्पत्तिके लिये तुम बहिरङ्ग वस्तुओंका त्याग नहीं कर सकते? करना पड़ेगा और अवश्य करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक साधकका यही भाग्य है। जिसके जीवनमें कोई महानिश्चय नहीं है, जिसके जीवनकी शैली, साधना और साध्य सुनिश्चित नहीं है, वह साधक नहीं है, मनुष्य नहीं है और भगवत्प्राप्तिका अधिकारी भी नहीं है।'

मैंने पूछा—'बाबा तब करना क्या चाहिये?'

बाबाने हँसते हुए पूछा—'कब करनेके लिये पूछ रहे हो, आजके लिये, कलके लिये या दूसरे जन्मके लिये? यदि तुम्हें इस बातका पता नहीं कि तुम इस समय क्या कर रहे हो तब आगेके लिये कर्तव्यका ज्ञान तुम्हारे जीवनमें उतर भी सकेगा, इसका क्या प्रमाण है? देखो, इस समय तुम क्या कर रहे हो? जिस समय तुम्हारी दृष्टि इतनी पैनी हो जायगी कि अपने वर्तमान जीवनको, कर्मको और वृत्तियोंको देख सको, उसी समय तुम स्थूल शरीर और संसारकी उलझनोंसे ऊपर उठ जाओगे और सारा-का-सारा पसारा तुम्हारे एक सङ्कल्पके रूपमें माळूम पड़ेगा। तुम इस समय जैसे स्थूल शरीरकी प्रवृत्तियोंमें उलझ रहे हो, वैसे ही अपने आत्मिक जीवनकी पहेलियोंमें उलझ जाओ। शरीरके कर्तव्यकी नहीं, मनके कर्तव्यकी जाँच करो।'

एक बार प्रेम-भूमि श्रीवृन्दावनमें यमुनाजीके पवित्र तटपर कुछ साधु बैठे हुए थे। उनकी धूनी जल रही थी और वे अंडारे-भंडारेकी चर्चामें मग्न हो रहे थे। उसी समय एक अछूत वहाँ आया और साधुओंके सामनेवाले घाटपर ही स्नान करने लगा। साधुओंसे यह बात सहन न हुई। एकने उठकर जलती हुई लकड़ीसे उसपर प्रहार किया और बुरा-भला कहने लगा। अछूत कुछ बोला नहीं। यद्यपि वह एक बार स्नान कर चुका था, फिर भी वह वहाँसे थोड़ी दूर हटकर दुबारा स्नान करने लगा। उसका यह काम देखकर साधुओंके मुखियाको कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने जाकर पूछा—'क्यों भाई, तुम दुबारा स्नान क्यों कर रहे हो?' अछूतने कहा—

'महाराज, मैं शरीरसे तो अछूत हूँ ही, आप लोगोंके घाटपर स्नान करके मैंने अपराध भी किया। परन्तु मैं अपने मनको अछूतपनेसे अलग रखता हूँ। जिस साधुने मुझे मारा वह क्रोधावेशमें था, इसलिये उसका मन अछूत हो गया था। उसके अछूत मनका असर मेरे मनपर न पड़ जाय, इसलिये मैंने दुबारा स्नान किया है। क्योंकि क्रोध भी तो एक अछूत ही है न! साधुओंके मुखिया अवाक् रह गये, अपने अन्तर्जीवन-पर वह इतनी पैनी दृष्टि रखता है, यह जानकर उनकी उसपर बड़ी श्रद्धा हुई।'

'जो अपने जीवन, सङ्कल्प और कर्मोंपर वर्तमानमें ही दृष्टि रखता है, वह न केवल अपने जीवनको देखता है, बल्कि सम्पूर्ण जगत्के कर्म और उनके महाकर्ता भगवान्को भी देखने लगता है। यह जगत् एक लीला है और इसके लीलाधारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण। लीला और लीलाधारी दोनोंको देखते रहना, इस दर्शनके आनन्दमें मग्न रहना, यही भक्तका स्वरूप है। ज्ञानीका भी यही स्वरूप है। उसकी साक्षिता यहीं जाकर पूर्ण होती है। ज्ञानी और भक्त दोनों ही कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे अलग हैं और दोनोंकी दृष्टि महाकर्ता-महाभोक्ता भगवान्पर लगी रहती है। यह कोई परोक्ष विश्वास नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन है। तब क्या करना चाहिये, यह प्रश्न कहाँ बनता है! जो करना चाहिये, वह भगवान् कर रहे हैं। शरीरको, संसारको, व्यष्टि और समष्टि मनको, जो-कुछ वे कराते हैं, करने दो। तुम शान्तरूपसे उनकी लीलाकी तरङ्गोंको शुद्ध चिन्मयरूपमें देखा करो वे तुम्हारे लिये सब कुछ तो कर रहे हैं।'

वृन्दावनकी एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। एक ग्वालिन अपने बाखलसे गौओंका गोबर उठा-उठाकर बाहर ले जा रही थी। परन्तु कोई दूसरा आदमी न होनेके कारण वह अधिक परिमाणमें नहीं उठा पाती थी और इसके लिये चिन्तित हो रही थी कि कहीं इस काममें ज्यादा देर लग गयी तो मैं अपने प्यारे श्यामसुन्दरको समयसे नहीं देख पाऊँगी। वह चाहती थी कि कोई और आ जाय तो मैं अपने सिरपर अधिक-से-अधिक गोबर उठवाकर अपना काम झटपट खतम कर दूँ। उसी समय श्रीकृष्णने पहुँचकर कहा कि 'अरी गोपी, मुझे नेक माखन दे दे।' गोपीने कहा—'यहाँ बिना काम किये तो कुछ मिलनेका नहीं।' श्रीकृष्णने कहा—'क्या काम करूँ?' गोपीने कहा—'तुम गोबरकी खाँची उठाकर मेरे सिरपर रख दिया करो।' श्रीकृष्णने पूछा—'तब तू मुझे कितना माखन देगी?' गोपीने कहा—'जितनी खाँची उठा दोगे, उतने लौंदे।' श्रीकृष्णने कहा—'परन्तु ग्वालिन, इसका निर्णय कैसे होगा कि मैंने कितनी खाँचियाँ उठायीं?' गोपी बोली—'प्रत्येक खाँची उठानेपर गोबरकी एक बिंदी तुम्हारे मुँहपर लगा दिया करूँगी।' श्रीकृष्णने वैसा ही किया। उनका विशाल ललाट और सुकोमल कपोल गोबरकी बिन्दियोंसे भर गया। गोपीने उनकी अञ्जलि माखनके लौंदोंसे भर दी। श्रीकृष्णने कहा—'अरी ग्वालिन, नेक मिश्री तो दे दे।' गोपीने कहा—'कन्हैया, इसके लिये तुम्हें नाचना पड़ेगा।' श्रीकृष्ण नाचने लगे। स्वर्गके देवता आकाशमें स्थित होकर श्रीकृष्णकी यह प्रेम-परवशता देख रहे थे। उनकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। सचमुच श्रीकृष्ण प्रेम-परवश हैं। वे अपने प्रेमियोंके लिये छोटी-मोटी, ऊँची-नीची सब प्रकारकी लीलाएँ करते ही रहते हैं। तुम स्वर्गके देवता हो। तुम भगवान्के पार्षद, उनके निज जन हो। तुम अपनेको स्थूल शरीर मत समझो। अपने दिव्यरूपमें स्थित होकर आकाशमें स्थित दिव्य देवताओंके समान लीला और लीलाधारीको देखते रहो। तुम किसीके बन्धनमें नहीं हो, किसीके अधिकारमें नहीं हो, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप हो। जगत्का करुणक्रन्दन, यह चीख, यह आर्तनाद तुम्हारा स्पर्शतक नहीं कर सकता। सचमुच तुम्हारा ऐसा ही स्वरूप है। तुम ऐसे ही हो।

सती सुकला

(लेखक-श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गताङ्कसे आगे]

[५]

सुकला बोली-मैंने स्त्रीके धर्मका ऐसा ही रूप सुना है इसलिये मैं पतिसे विहीन होकर नाना प्रकारके इन भोगोंका उपभोग कैसे कर सकती हूँ ? पतिके बिना मै जीवन धारण नहीं करूँगी ।

भगवान् विष्णुने कहा—सुकलाके मुँहसे ऐसे सुन्दर पातिव्रतधर्मका वर्णन सुनकर सखियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे उसकी प्रशंसा करने लगीं । ब्राह्मण और देवता सभी उस पुण्यवती नारीका, पतिके प्रति उसका अनुराग देखकर, ध्यान करने लगे । उधर ईर्ष्या और स्वार्थपरतासे इन्द्रका मन भर गया । सुकला-की असाधारण दृढ़ता देखकर इन्द्रने सोचा—मैं इस स्त्रीका पतिप्रेम और धैर्य भङ्ग करूँगा । उन्होंने कामदेव-को बुलाया । कामदेव अपनी पत्नी रतिके साथ आये । इन्द्रने उनसे सुकलाको अपनी ओर आकर्षित करने और पतिप्रेमको शिथिल कर देनेका अनुरोध किया । कामदेवने कहा—'हे देवेश ! मैं आपकी पूरी सहायता करूँगा । मैं ऋषि-मुनि, देव-दानव सबको जीतनेकी शक्ति रखता हूँ । एक अबला नारीको जीतना मेरे लिये कौन-सी बात है ! मैं कामिनियोंके सर्वाङ्गमें निवास करता हूँ । देव ! नारी मेरा गृह है । मै सदा उसीमें रहता हूँ । वहाँ रहकर मैं समस्त पुरुषोंको नचाता हूँ । नारी स्वभावतः अबला है । वह मेरे बाण, मेरी प्रेरणासे सन्तप्त होकर पिता, भाई अथवा अन्य रूपवान् व्यक्तिको देखकर भी विचलित हो जाती है । उस समय वह परिणामका विचार नहीं करती । स्त्रियोंमें धैर्य नहीं होता । हे सुरेश ! मैं सुकलाका अवश्य नाश करूँगा ।'

इन्द्रने कहा—मैं रूपवान्, धनवान् पुरुष बनकर कौतुकके लिये उस स्त्रीको विचलित करूँगा । भाई ! मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, मोहके कारण ऐसा नहीं कर रहा हूँ—मैं केवल उसकी परीक्षा लेना चाहता हूँ कि उसका पातिव्रतधर्म कैसा है । मैं सुन्दर वेष धारण करके उसे अपनी ओर आकर्षित करूँगा । तुम इस काममें मेरी सहायता करना; उसके मनमें मेरे प्रति मोह उत्पन्न कर देना ।

कामदेवको आदेश देकर इन्द्रने मनमोहन रूप धारण किया । सुन्दर रूप, सुन्दर वस्त्र, सुन्दर आभूषण, मन्द-मन्द मुसकराहट, सुगन्धित पुष्प-मालाएँ धारण किये इन्द्र सुकलाके स्थानपर पहुँचे । पर उसने उनकी ओर ध्यान भी न दिया । सुकला जहाँ-जहाँ जाती, इन्द्र उसके पीछे लगे रहते । इतनेपर भी उन्हें कुछ सफलता न हुई । तब इन्द्रने एक स्त्रीको दूती बनाकर उसके पास भेजा । वह स्त्री एक दिन सुकलाके पास पहुँची और हँसती हुई बोली—'अहा ! कितना सत्य है ! कितना धैर्य है ! कितनी कान्ति है ! कितनी क्षमा है ! तुम्हारी-जैसी गुणवती और रूपवती नारी संसारमें नहीं है । हे कल्याणी ! तुम कौन हो, किसकी भार्या हो ? जिसकी तुम भार्या हो वह पुरुष इस पृथ्वीपर धन्य और भाग्यशाली है !'

उसकी बात सुनकर सुकला बोली—धर्मात्मा कृकल वैश्य-वंशमें उत्पन्न हुए हैं । उन्हीं सत्यव्रती पति-की मैं प्रिय भार्या हूँ । मेरे धर्मात्मा स्वामी तीर्थयात्राके लिये गये हुए हैं । उनको यात्रापर गये तीन वर्ष बीत गये हैं । उनके बिना मैं बड़ी दुखी हूँ । यही

मेरा परिचय है। अब तुम बोलो, कौन हो और क्यों मुझसे यह सब पूछ रही हो?

दूती बोली—भद्रे! तुम्हारा निर्दय पति तुम्हें छोड़कर चला गया है। उसने तुम्हारे प्रेमका अनादर किया है। तुम उसे लेकर क्या करोगी? वह पापी है; तुम साध्वी पत्नी हो। क्या मालूम वह कहाँ है, किस अवस्थामें है—मर गया है या जीता है। तुम अब उसके लिये व्यर्थ दुःख पा रही हो। तुम क्यों सोनेके समान दिव्य कान्तिवाली अपनी देहको मिट्टी कर रही हो? मनुष्य बचपनमें बालक्रीड़ाके सिवा और कोई सुख नहीं प्राप्त करता। बुढ़ापा दुःख भोगते बीतता है। बस, जवानीके दिन बच जाते हैं, जिनमें मनुष्य सुख भोगता है। जबतक जवानी है तभीतक मनुष्य मनमाना सुख भोग सकता है। जवानी बीत जानेपर सब सूना हो जायगा। बुढ़ापा आनेपर कोई काम नहीं बनता—आदमीका समय चिन्ताओंमें बीत जाता है; वह कभी सुख नहीं प्राप्त कर सकता। हे भद्रे! जिस प्रकार जलके सूख जानेपर पुल बाँधना बेकार है उसी प्रकार यौवन बीत जानेपर भोग-विलासका प्रयास करना बेकार है। इसलिये जबतक जवानी नहीं जाती तबतक सुख भोग कर लो। भद्रे! मदिराका स्वाद लो। कामके बाण तुम्हारा शरीर जला रहे हैं। वह देखो, वहाँ एक रूप-गुणशील पुरुष बैठे हैं। वह पुरुषोंमें श्रेष्ठ, ज्ञानवान्, गुणवान्, रूपवान् हैं। तुम्हारे प्रति प्रेमसे उनका हृदय भरा है।

सुकलाने कहा—जीवका बचपन, जवानी और बुढ़ापा नहीं होता। जीव स्वयं सिद्ध, अमर, अकाम और सब लोगोंमें आत्मरूपसे वर्तमान है। जैसे घरका एक आकार है, उसी तरह शरीरका भी एक रूप है। बढ़ई जिस तरह सूतसे स्थानको नापकर मन्दिर बनाता है, शरीर-रचनाको भी वैसा ही जानना चाहिये। अनेक प्रकारकी लकड़ियों, मिट्टी, पत्थर और जलसे घर बनता है। पीछे उसपर पलस्तर किया जाता है और रंग करनेवाले काठ और दीवारोंपर रंग करते हैं। वायुद्वारा प्रतिदिन धूल आदिसे घर मलिन होता रहता है। इसे घरका मध्यकाल कहते हैं। घरका रूप बिगड़नेपर घरका मालिक उसपर लेप कर देता है। गृहस्वामीकी इच्छासे गृह फिर रूप-सम्पन्न हो जाता है। हे दूती! इसीको तरुणाई या जवानी कहते हैं। बहुत दिनों बाद गृह जीर्ण हो जाता है। सब काठ स्थानभ्रष्ट होकर जड़से हिलने लगते हैं। उस समय घर लेपन और मरम्मतका बोझ भी सहन नहीं कर सकता। किसी तरह उसका ढाँचा-मात्र खड़ा रहता है। हे दूती! यही घरका बुढ़ापा है। उसके बाद गृहवासी घरको गिरता-गिरता देखकर छोड़ देता है और दूसरे घरमें रहने लगता है। मनुष्य-का बचपन, जवानी और बुढ़ापा भी इसी तरह घरके समान है। मनुष्य बचपनमें ज्ञानहीन होता है, फिर वस्त्र-आभूषणोंसे शरीरको सजाता है। चन्दन तथा अन्य सुगन्धित द्रव्योंके लेप और ताम्बूल (पान) इत्यादिके द्वारा शृङ्गारसम्पन्न शरीर रूपवान् बन जाता है। भीतर, बाहर सब रससे पुष्ट होता है। रसके पोषणसे ही मनुष्यका विकास होता है। मांस बढ़ता है और रसके संसर्गसे नवीन रूप धारण करता है। रस-सञ्चयसे सब अङ्ग अपने-अपने रूपको प्राप्त करते हैं। रस और मांस दोनोंके द्वारा देहकी वृद्धि होती है और इन दोनोंके द्वारा ही उसका स्वरूप बनता है। हे दूतिके! इसी स्वरूपद्वारा मरणशील रसबद्ध होता है। इस प्रकार जो नष्ट हो जाता है उसे किस तरह सुरूप कहा जाय और उससे क्यों प्रेम किया जाय? यह शरीर मल-मूत्रका आधार है। यह अपवित्र है, सदा ही क्षयको प्राप्त हो रहा है। यह पानीके बुलबुलेके समान है, तब उसके रूपका तुम क्या वर्णन करती हो? पचास वर्षतक ही देह दृढ़ रहती है। उसके

बाद वह शिथिल होने लगती है, दाँत कमजोर होने लगते हैं; मुँहसे लार टपकती है; आँखोंकी ज्योति कम हो जाती है; सुनायी कम पड़ता है। शरीर असमर्थ होने लगता है और बुढ़ापा छा जाता है। बार-बार रोगोंका आक्रमण होता है। वह रस सूखने लगता है। शरीरकी कोई शक्ति नहीं रह जाती। उस समय वह रूपकी लालसा नहीं करता। जिस तरह जीर्ण गृह नष्ट हो जाता है उसी तरह बुढ़ापेमें कलेवर नष्ट हो जाता है। मेरे अंदर रूप आया है; धीरे-धीरे चला जायगा। फिर मेरे रूपवती होनेका क्या अर्थ है ? हे दूतिके ! तुम मेरे पास आकर जिस पुरुषके लिये कह रही हो वह पुरुष कौन है ? तुमने मेरे अंदर कौन-सा रूप देखा है ? बोलो ! तुम्हारे उस पुरुषके अङ्गोंसे मेरे अङ्ग न अधिक हैं न कम हैं। जैसी तुम, वैसा वह और वैसी ही मैं हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं। बोलो तो इस भूतलपर किसके पास रूप नहीं है; कौन रूपवाला नहीं ? तुम देखोगी, इस संसारमें सब उन्नतियोंका पतन होता है। हे दूती ! सब चराचरमें एकमात्र आत्मा ही वास करता है। वह अरूप है, वही रूपवान् भी है। वह दिव्य है; वह सबमें समाया है; वह शुद्ध और पवित्र है। जिस तरह घड़ोंमें जल रहता है उसी तरह वह सबमें निवास करता है। जिस तरह घड़ोंके फूट जानेपर सब जल एक हो जाता है उसी तरह पिण्ड-समूहका नाश हो जानेपर आत्मा एकत्वको प्राप्त करता है। तुम इसे नहीं समझती किन्तु मुझे संसारियोंका एक ही रूप दिखायी पड़ता है। जिसके लिये तुम यहाँ आयी हो उसका परिचय मुझे दो। यदि वह भोगका इच्छुक है तो उस अपूर्व पुरुषको मुझे दिखाओ। रोगसे शिथिल इसी शरीरमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। जूँ और कीड़े पड़ जाते हैं। कीड़ोंसे फोड़ा और खुजली हो जाती है; जूँके कारण पीड़ा होती है जो धीरे-धीरे सारे शरीरमें फैल जाती है। नाखूनोंको रगड़नेसे खुजली शान्त हो जाती है। सुनो, रतिका कार्य भी वैसा ही है। नाशवान् व्यक्ति सुन्दर भोजन करते हैं; सुस्वादु रसोंका पान करते हैं। उनकी खायी-पीयी चीजें प्राणवायुके द्वारापाकस्थलीमें लायी जाती हैं। हे दूतिके ! प्राणियोंकी सब खायी-पीयी चीजें पाकस्थलीमें एकत्र होती हैं। वायुसे जल बाहर निकल जाता है। फिर सारभूत रस रक्तके रूपमें बदल जाता है। फिर वह रक्त शुद्ध वीर्य बनकर ब्रह्मरन्ध्रमें प्रयाण करता है। वहाँसे समानवायुद्वारा आकृष्ट होकर और लाया जाकर फिर कहीं स्थिर नहीं रहता। सर्वदा चञ्चल रहता है। प्राणियोंके कपालमें छः कीड़े विद्यमान हैं। दो कानोंकी जड़, नाकके अग्रभाग और नेत्रोंमें इनका स्थान है। इनका आकार छोटी अँगुलीके समान है। इनका रंग नवनीत (मक्खन) के समान है। इनमेंसे कुछकी पूँछ लाल और कुछकी काली है। कानकी जड़में जो कीड़े हैं उनके नाम पिंगली और शृंखली हैं। नाकके अगले भागमें स्थित कीड़ोंके नाम चपल और पिप्पल हैं। आँखोंके मध्यस्थित कीड़ोंके नाम शृंगली और जङ्गली हैं। प्राणिदेहमें इस प्रकार १५० कीड़े विद्यमान हैं। ललाट-के अंदर कुछ कीड़े हैं जो सरसोंके दानोंके समान हैं। ये देहधारियोंमें कपालरोग पैदा करते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे सन्तानोत्पत्तिवाले महाकीटाणु भी हैं। उनकी बात भी तुमसे कहती हूँ। उन कीड़ोंका आकार चावलके समान है; रंग भी चावलके समान है। उन कीड़ोंके मुखमें यदि दो रोयें हों तो वैसे कीड़ेवाले मनुष्य तुरंत नष्ट हो जाते हैं। अपने उपयुक्त स्थानमें स्थित प्राजापत्य (प्रजा अथवा सन्तान उत्पन्न करनेवाले) कीड़ोंके मुँहमें रसरूपमें वीर्यपात होता है। प्राजापत्य मुँहद्वारा उस वीर्यका पान करके उन्मत्त हो उठता है। तालुके भीतर वह वीर्य चञ्चल हो जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियाँ हैं। उस नाडी-जालके पञ्जरमें वीर्यके कारण सब प्राणियोंमें काम-

की खुजली उत्पन्न होती है। उससे पुरुष और स्त्रीको उत्तेजना होती है। उस समय स्त्री-पुरुष प्रमत्त होकर संग करते हैं। उससे क्षणमात्रके लिये सुख होता है। फिर कुछ समयके बाद वही खुजली उत्पन्न हो जाती है। हे दूती! सर्वत्र यही बात देखी जाती है। इसलिये तुम अपने घर लौट जाओ। तुम्हारे प्रस्तावमें कुछ भी अपूर्व बात नहीं है जिसको करनेका लोभ मुझे हो।

विष्णु बोले—सुकलाके पाससे निराश होकर दूती इन्द्रके पास लौट गयी और संक्षेपमें सब बातें सुना दीं। इन्द्रने सुकलाकी बातें सुनकर विचार किया कि पृथ्वीपर ऐसी योगयुक्त, सुसम्बद्ध और ज्ञानवर्द्धक बातें क्या कोई स्त्री कह सकती है? अवश्य यह महाभागा पवित्र और सत्यरूपा है। फिर इन्द्रने कन्दर्प (कामदेव) से कहा कि मैं तुम्हारे साथ कृकलकी पत्नी सुकला-को देखने चलूँगा।

अभिमानसे उन्मत्त होकर कामदेवने कहा—हे देवेश! आप उस स्त्रीके पास चलिये। मैं उसका मान, धैर्य और व्रत भङ्ग करूँगा। मेरे सामने वह स्त्री बेचारी क्या है?

इन्द्रने कहा—हे अनङ्ग! तुम व्यर्थ बहुत बकते हो। तुम उस स्त्रीको नहीं जानते। वह सत्यबलसे सुदृढ है; धर्ममें स्थिर है इसलिये अजेय है। वहाँ तुम्हारा किया कुछ न होगा।

कामदेवने चिढ़कर क्रोधमें कहा—मैंने देवों और ऋषियोंका बल नष्ट किया है। इस नारीका बल कितना है? आप मुझसे क्या कह रहे हैं? आपके सामने ही मैं उस नारीका नाश करूँगा। आगका तेज देखते ही जिस तरह मक्खन गल जाता है, उसी तरह अपने तेज और रूपसे मैं उसे द्रवीभूत करूँगा। आप मेरे त्रिलोकविमोहन तेजकी निन्दा क्यों करते हैं? जल्द चलिये और मेरा पराक्रम देखिये।

इन्द्र बोले—मैं तुम्हारी निन्दा नहीं करता। तुम्हारी शक्ति भी जानता हूँ फिर भी मुझे यह नारी तुम्हारे लिये अजेया मालूम पड़ती है। वह पुण्यकर्मा, पुण्यदेहा और धैर्यवती होनेके कारण डिगनेवाली नहीं है। पर जो हो, मैं तुम्हारे साथ चलकर तुम्हारा पौरुष और बल देखूँगा।

इसके बाद इन्द्र रति, काम और दूतीके साथ उस पतिव्रताके पास गये। सती सुकला अकेली घरके भीतर बैठी थी और पतिके चरणोंके ध्यानमें लगी थी। जिस तरह योगी अन्य सब कल्पनाओंको छोड़कर केवल ध्येयमें ही चित्तको स्थिर कर लेते हैं वैसे ही सुकला भी सब विषयोंसे ध्यान हटाकर पतिके चरणोंमें ध्यानस्थ थी। इन्द्र और कामदेव दोनों अपूर्व रूप और प्रभावसे सतीको अस्थिर और मोहित करनेकी चेष्टा करने लगे। पर सुकला विचलित न हुई। उसका ध्यान इनके रूप-पर नहीं गया। वह पतिव्रता और सत्यनिष्ठा नारी ऊँची मनोदशामें थी। सुकलाने इन लोगोंको देखा। फिर इन्द्रको देखकर सोचा—इसी व्यक्तिने पहले मेरे पास एक दूतीको भेजा था। यह दुष्टस्वभाव व्यक्ति मेरा कुसमय जानकर मेरे प्रति वासनामय हो रहा है। किन्तु सतीके आत्मभारसे मर्दित होकर रतिसमेत मन्मथ किस तरह जीवन धारण करेगा? मेरी यह देह इस समय शून्य, चेष्टाहीन और मृतप्राय हो गयी है। मेरा कामविकार नष्ट हो गया है। आँखोंके सामने नाचता हुआ हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति मर जानेपर जैसा मालूम पड़ता है, मुझे भोगनेकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति भी वैसा ही दिखायी देता है।

सती सुकला इस प्रकार विचारकर अपने चित्तको सत्यरूपी रस्सीसे बाँधकर घरके भीतर चली गयी।

विष्णुने कहा—इन्द्र सुकलाका मनोभाव समझकर कामदेवसे बोले—'सती सुकलाको जीतनेकी शक्ति तुममें नहीं। यह सती अपनी शक्तिमें विश्वास रखनेवाले

वीरकी भाँति धर्मरूप धनुष और ज्ञानरूप उत्तम बाण धारण करके इस समय युद्धमें अवतीर्ण हुई है। यह सती युद्धमें तुम्हें जीतनेमें समर्थ है। तुम अपने भविष्यकी चिन्ता करो। पहले तुम महात्मा शम्भुद्वारा जलाये गये थे। महात्माके साथ विरोध करनेके कारण तुम अनङ्ग हुए। पहले जो बुरा कर्म तुमने किया था उसका कड़ुआ फल पा रहे हो। अब इस साध्वीके साथ विरोध करनेपर निश्चय ही तुम कुत्सित योनि प्राप्त करोगे। जो लोग जान-बूझकर महात्माओंके साथ वैर करते हैं वे निश्चय ही हानि उठाते और दुःख भोगते हैं। इसलिये आओ, हमलोग इस सतीको छोड़कर चले चलें। देखो, मैंने पहले सतीके साथ दुष्कर्म करके बड़ा कष्ट पाया था। गौतमने मुझे शाप दिया था जिससे मेरे सारे अंगोंमें भग हो गये थे और मेरी बड़ी दुर्दशा हुई थी। उस समय तुम मुझे छोड़कर भाग गये थे। सतियोंके तेजका प्रभाव अतुलनीय है—सूर्य भगवान् भी उसे सहनेमें असमर्थ हैं। पुराने जमानेमें सती अनसूयाने मुनिके शापसे पीड़ित अपने कुरूप और कोढ़ी स्वामीकी रक्षा की थी। उन्होंने उदीयमान सूर्यको रोककर अपने पति कौण्डिनके प्रति माण्डव्यके शाप और अपने पतिकी मृत्युका निवारण किया था। अत्रिपत्नी पतिव्रता अनसूयाने अपने प्रभावसे क्या नहीं किया? सतियाँ सर्वदा सत्कारके योग्य हैं। सावित्री अपने मृत पति सत्यवानको यमके पाससे पुनः लौटा लायी थी। मैंने सतियोंका बड़ा माहात्म्य सुना है। कौन मूर्ख अग्निशिखाको स्पर्श करता है; कौन मूर्ख गलेमें पत्थर बाँधकर तैरता हुआ समुद्र पार करनेका प्रयास करता है? कौन मूढ़ वीतरागा सतीको वशमें कर सकता है?'

इन्द्रने इस प्रकार बहुत-सी नीतियुक्त बातें कहकर कामदेवको शिक्षा दी। पर कामदेवपर उनका कुछ असर नहीं हुआ। उसने कहा—मैं आपके ही आदेशसे यहाँ आया हूँ। अब आप बड़े भक्त बन रहे हैं किन्तु हे सुरेश! यदि मैं पीछे लौट जाऊँ तो संसारमें मेरी कीर्ति नष्ट हो जायगी; मेरा मान नष्ट हो जायगा। सब लोग कहेंगे—एक स्त्रीने इसे जीत लिया है। पहले जिन देवताओं, दानवों और तपोनिष्ठ मुनीन्द्रोंको मैंने जीता है वे मेरा उपहास करेंगे, कहेंगे—यह बड़ी शेखी मारता था पर एक साधारण स्त्रीसे डरकर भाग गया। इसलिये हे सुरेश! आप घबड़ाइये नहीं। चलिये, मैं उस स्त्रीका तेज, बल और धैर्य सब नष्ट करूँगा।

इसके बाद कामदेवने हाथमें पुष्पबाण और धनुष लेकर रतिसे कहा—हे प्रिये! तुम मायाका अवलम्बन करके यात्रा करो। वह जो धर्मनिष्ठा, गुणवती सुकला है उसके पास जाकर मेरी सहायता करो।

फिर कामदेवने प्रीतिको बुलाकर कहा—तुम मेरा काम बनाओ, सुकलाको स्नेहसे परिपूर्ण कर दो। तुम ऐसा कार्य करो कि इन्द्रको देखकर सुकला प्रसन्न हो और उनपर अनुरक्त हो जाय। उसे इन्द्रके वशीभूत कर दो।

इसके पश्चात् कामदेवने मकरन्दको बुलाया और कहा—जाओ सखे! जाकर नन्दनके समान एक मायामय फूल-फलसम्पन्न वन निर्मित करो। उस वनमें कोकिलाएँ कूजती हों, मधुकर मधुर रव करते हों।

फिर कामदेवने स्वादगुणयुक्त रसायनको भी अनिल इत्यादि चतुर सहचरोंके साथ भेज दिया। इस प्रकार कामदेवने त्रिलोकको मोहित करनेवाले वीर सैनिकोंको भेजकर स्वयं इन्द्रके साथ उस महासतीको नष्ट करनेके लिये प्रस्थान किया। (क्रमशः)

दानका आनन्द

(लेखक—श्रीलॉवेल फिल्मोर)

दानकी एक शृङ्खला, एक लड़ीका नाम है जीवन। दान जीवनका पर्यायवाची शब्द है। जो जितना ही देता है उसका जीवन उतना ही सार्थक है। कहा तो यहाँतक जा सकता है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड दानके आधारपर ही टिका हुआ है।

इस प्रकार, दानका अर्थ है जीवन और जीवनका अर्थ है दान। यह 'दान' ही आनन्दकी परमपावन पगडंडी है, परम सुरम्य राजपथ है। जो देना बंद कर देता है उसका जीना बंद हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है और गंदे पानीमें जिस प्रकार सड़ान होने लगती है उसी प्रकार उसके जीवन-तत्त्व मुरझाकर सड़ने लगते हैं। देना भगवत्सङ्कल्पमें योगदान करना है; क्योंकि भगवान्, जिनके सङ्कल्पमात्रसे सृष्टिका विन्यास होता है अपने-आपको पूर्णत: अपनी रचनामें ढालना चाहते हैं, अपने-आपको, पूरा-का-पूरा दे देना चाहते हैं। जिस प्रकार भगवान् अपनी समस्त सम्पदाको खुले हाथ लुटाते हैं उसी प्रकार हमें भी अपनी समस्त वस्तुओंको, अपने-आपको उन्मुक्त होकर लुटाते रहना चाहिये। यही है आत्मदानका पदार्थ-पाठ।

पानी बाढ़े नावमें घरमें बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥

जो परिग्रही है वही कृपण है; क्योंकि परिग्रहका अर्थ ही है कृपणता, आत्म-संकुचन और परिग्रह करनेवाला उस वस्तुका उपभोग भी कहाँ कर पाता है? सच्चा उपभोग तो दानमें है, दे देनेमें है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'। परिग्रही तो चोर है, परधनके लिये 'गृद्ध' है। इसीको कुछ दूसरे ढंगसे ईसामसीहने यों कहा है—

"Freely ye received, freely give."

"Whosoever would save his life shall lose it; but whosoever shall lose his life for my sake, the same shall save it."

युगोंसे हम किसी-न-किसी देश, किसी-न-किसी धर्म, किसी-न-किसी जाति और किसी-न-किसी दलके प्रति वफ़ादार होते आये हैं और हममेंसे कइयोंने इस वफ़ादारीको इतनी सचाईके साथ निबाहा है कि उसके लिये अपने जीवन, अपने धन और अपने कुटुम्बियोंको भी तिनकेके समान तुच्छ और अपदार्थ समझा है। जीवनके सामने जो लक्ष्य स्थिर हो गया उसके लिये कोई भी त्याग महान् नहीं है और उसकी वेदीपर अपना सर्वस्व चढ़ानेमें एक सुखानुभूति होती है।

परन्तु आँख खोलकर देखा जाय और हृदयपर हाथ रखकर विचारा जाय तो यह बात आइनेकी तरह साफ़ हो जायगी कि हमारी इस वफ़ादारीमें कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूपमें सङ्कीर्णता आ घुसी है। देश-विशेष या जाति या दलविशेषके प्रति जो हमारी आसक्तिपूर्ण निष्ठा है उसके मूलमें, बहुत गहरेमें हिंसा, प्रतिशोध, वैर, विरोध आदिके भाव छिपे पड़े हैं। हम उन्हें भले ही परख न सकें परन्तु वे हैं अवश्य। कई धर्मान्धोंने धर्मके नामपर दूसरे धर्मके माननेवालोंको अपने धर्ममें लानेके लिये क्या-क्या अत्याचार और जुल्म किये—इससे धर्मका इतिहास रक्तरञ्जित है। देशके प्रति समझी जानेवाली देशभक्तिकी ओटमें दूसरे देशोंके प्रति कितनी घृणा, वैर और द्वेषकी भावना छिपी है यह हम सभी जानते-समझते हैं। यही घृणा और वैर जब प्रचण्ड हो जाते हैं तो उसमेंसे संहारका ज्वालामुखी फट पड़ता है।

फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्यमात्र—वह पुरुष हो या स्त्री—किसी लक्ष्यविशेषके लिये आत्मदान

करनेमें महान् आनन्दका अनुभव करता है और इस आत्मदानमें संसारका कोई भी बन्धन या मोह उसे रोक नहीं सकता। अपने बाल-बच्चोंको बिलखते छोड़कर, स्वजन-परिजनोंको दुःखमें झुलसते छोड़कर कठोर-से-कठोर दण्ड पानेपर भी वह अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता और दुनियाका कोई लोभ उसे लुभा नहीं सकता, कोई आकर्षण अटका नहीं सकता, वह आत्माहुति करके ही दम लेता है।

यह आत्माहुति परम दिव्य वस्तु है परन्तु आवश्यकता इस बातकी है वह सही दिशामें हो, लोक-कल्याणके लिये हो, उसके पीछे घृणा, द्वेष, वैर, विरोधकी भावनाएँ न हों वरं प्रेम और आत्मीयताकी प्रेरणा हो। त्याग तो मनुष्यकी प्रकृतिमें ही है, त्याग किये बिना मनुष्य शान्ति या चैन पा नहीं सकता। मनुष्य तो चाहता ही है कि वह देता रहे, देता ही रहे—यहाँतक कि अपने-आपको दे डाले। इसीलिये तो सबसे महान् दान है आत्मदान।

एक आत्मदर्शी संतका वचन है कि पानेकी अपेक्षा देनेमें अधिक आनन्द है। जो भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको निवेदित कर देता है, भगवान् भी उसके हाथ बिक जाते हैं। कुछ लोग भगवान्के चरणोंमें अपनी आत्माको निवेदित करते हैं, कुछ लोग अपना जीवन, कुछ अपना कर्म और कुछ लोग अपनी धन-सम्पत्ति। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने-आपको अपने सब कुछके साथ भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर देते हैं—अपनी आत्मा, जीवन, कर्म, धन-सम्पत्ति—सब-का-सब वे भगवान्के चरणोंमें नैवेद्यके रूपमें चढ़ा देते हैं। यही है सच्चा आत्मदान, सही दिशामें आत्मदान। इस आत्मदानके बिना भगवान्को निवेदित की हुई किसी भी वस्तुका कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि महत्त्व पदार्थमें नहीं है उसके पीछे जुड़ी हुई भावनामें है। भावना जितनी दिव्य होगी दान उतना ही महान् होगा।

अस्तु, भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको अपने सर्वस्वके साथ निवेदित कर चुकनेपर मनुष्य सर्वथा और सर्वदाके लिये निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि अब उसके जीवनकी बागडोर भगवान्के हाथमें होती है और वह प्रभु उसे जैसे नचाता है वह वैसे ही नाचता है, आनन्दोल्लासके साथ। उसका सारा कार्य अब एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ होता है, उसमें किसी प्रकारका स्वार्थ या सङ्कोच नहीं होता क्योंकि अब 'अपनी' समझी जानेवाली कोई भी चीज उसकी नहीं होती और यों सब कुछ अपना ही होता है। वह और उसका सब कुछ अब भगवत्कार्यमें लगता है और इस प्रकार वह लोक-कल्याणके मङ्गलमय अनुष्ठानमें भगवान्के हाथका एक यन्त्रमात्र बनकर सारा कार्य भगवान्की प्रीति पानेके लिये निःस्पृह और अनासक्तभावसे करता रहता है। उसमें अब किसी प्रकारका 'अहं' या 'मम' नहीं है।

वह देता है, देता जाता है और देता ही रहता है; क्योंकि जीवनका सच्चा आनन्द देनेमें ही निहित है। भगवान् तो यह चाहते ही हैं कि हमारे हाथोंसे जो कुछ भी कर्म हो वह भगवत्सङ्कल्पके अनुरूप हो, भगवदनुकूल हो; हम जो कुछ भी सोचें-विचारें वह भगवत्कार्यमें सहायक हो और हमारे पास जो कुछ भी है उसका उपयोग एकमात्र भगवत्कार्यमें हो, लोक-मङ्गलके हितमें लगे। इसीलिये तो यह आवश्यक है कि हम अपने-आपको, अपनी सम्पूर्ण कला और प्रतिभाको, विचार और चिन्तनको, मन और बुद्धिको, हृदय और आत्माको अपनी ओरसे भगवान्को सौंप दें और उन्हें भगवान्के कार्यमें भगवदिच्छाके अनुसार भगवान्के मङ्गलविधानमें लगने दें।

इस आत्मदानमें किसी प्रकारके श्रम या प्रयासका बोध नहीं होना चाहिये प्रत्युत इसमें एक ऐसे आनन्द-

का अनुभव होना चाहिये जिसका वर्णन शब्दोंमें नहीं किया जा सकता। आत्मदान तभी सच्चा आत्मदान है जब वह आनन्दोल्लासके साथ हो। एक नन्हा-सा शिशु गुड़ियेसे खेलता है—इसलिये नहीं कि उसे किसी प्रकारके इनाम या पुरस्कारकी आशा है वरं इसलिये कि खेलमें उसे आनन्द आ रहा है। ठीक इसी प्रकारका आनन्द आत्मदानमें होना चाहिये; आत्मदान करके किसी प्रकारके 'लाभ' या 'प्राप्ति' की आशा करना आत्मदानकी पवित्र भावनाका संहार कर देनेके समान है। हम और हमारा सब कुछ भगवत्कार्यमें लग रहा है और उसे भगवान्ने स्वीकार कर लिया है इससे बढ़कर आनन्दकी बात हो भी क्या सकती है ? और इस आनन्दसे बढ़कर भी कोई 'लाभ' हो सकता है ?

हम तबतक अपनी शक्ति और क्षमताओंसे अपरिचित ही रहते हैं जबतक उसे भगवत्कार्यमें लगनेका अवसर नहीं प्रदान करते। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि यह भण्डार ऐसा है जो देनेसे ही बढ़ता है—जो जितना देता है उसका उतना ही बढ़ता है, जो जितना लुटाता है वह उतना ही पाता है। भगवत्कार्यमें हमारी शक्तियाँ जितनी लगती हैं उतनी ही वह शक्तिशालिनी होती जाती हैं, क्योंकि वहाँ किसी प्रकारका ह्रास या क्षय नहीं होता, वहाँ कोई चीज खुटती नहीं। हमारा जो कुछ भी है वह भगवान्का दिया हुआ है, भगवान्का दान है। हमारा यह धर्म होता है कि उसे हम भगवान्के कार्यमें लगा दें, भगवान्की सेवामें सौंप दें।

हम देखते हैं कि हमारे इर्द-गिर्द बहुत-से ऐसे प्राणी हैं जो दीन-हीन, कंगाल, अकिञ्चन और दरिद्र-से लगते हैं। इसका एकमात्र कारण कृपणता है। जो कृपण है वही दरिद्र है, जो कृपण है वही कंगाल है। जो अपनेको तथा 'अपनी' कही जानेवाली समस्त वस्तुओंको खुले हाथ लुटाता है, और भगवत्सेवामें निवेदित करता जाता है उसका भण्डार तो अटूट है। वहाँ कमी किस बातकी, अभाव काहेका ? देनेसे बढ़ता है और बचानेसे नष्ट होता है—यह न जाननेसे ही लोग कंगाल और अभावग्रस्त हो जाते हैं। इसलिये सदा याद रखने योग्य सूत्र यह है कि देते रहो, देते जाओ, देते ही जाओ—अपने-आपको और अपनी धन-दौलतको भगवत्सेवामें लगाते जाओ, लुटाते जाओ—सच्चे अर्थमें सम्पन्न और समृद्ध होनेका एकमात्र यही साधन है।

और ऐसे सम्पत्तिशाली भी देखे जाते हैं जो रात-दिन धनकी रक्षाके पीछे परेशान हैं, तबाह हैं। डरते रहते हैं कि कहीं हमारा धन चोरी न चला जाय, कोई उड़ा न ले जाय। वे दुखी हैं, आतुर हैं, चिन्तित हैं—किसी अभावके कारण नहीं, प्रत्युत समृद्धिके नाश हो जानेके भयसे। यह 'भय' आया क्यों और कहाँसे ? पता लगानेपर यही बात ठहरती है कि भगवान्ने जो वस्तु उन्हें दे रक्खी है उसका सदुपयोग न करनेके कारण ही पाप और उस पापसे भयका उदय होता है। भगवत्-सङ्कल्पकी निर्मल धाराको हम अपनी निजी इच्छाओं, वासनाओं और लालसाओंके द्वारा बाँधनेका जहाँ प्रयत्न करते हैं वहीं हम अवश्य ही दुखी, क्षुब्ध और अभावग्रस्त हो जाते हैं। भगवान्को अपना कार्य, अपना सङ्कल्प पूरा करनेमें हमें अपनी ओरसे किसी प्रकारकी भी रुकावट नहीं डालनी चाहिये। स्वार्थवश जहाँ भी हमने रुकावट डालनेकी चेष्टा की कि हम छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो जायँगे। भगवान्का सङ्कल्प तो पूरा होकर ही रहेगा, हमारी वक्रताके कारण उसे कुछ समय लगेगा, जब हम अपने-आपको और अपनी सभी वस्तुओंको भगवान्को निवेदित कर देते हैं तब हमें भय करनेकी आवश्यकता ही नहीं कि यह खो

जायगा, वह खो जायगा। तब तो हमें अपने जीवनको भी खो बैठनेका भय न रहेगा—क्योंकि हमारा जीवन और हमारी सारी धन-सम्पत्ति प्रभुके हाथमें सर्वदा सुरक्षित है। यह सब कुछ दर-असल है भगवान्का ही। हम उसके भोक्ता नहीं हैं, रक्षकमात्र हैं। धन, दौलत 'मालिक' की है, यह जीवन भी मालिकका है। इस प्रकार हमारा कुछ भी नहीं है और सब कुछ है। यह रहस्य कोई-कोई ही जानते हैं, और जो जानते हैं उनके जीवनमें चिन्ता, भय, शङ्का, विरोध, द्वन्द्व, कलहके लिये कोई स्थान नहीं। खोनेके लिये उनके पास कुछ भी नहीं है, पाने और लुटानेके लिये सब कुछ हैं—किसी वस्तुकी भी कमी है ही नहीं। उनके जीवनका एक-एक पल आनन्दोल्लाससे तरङ्गित रहता है, जैसे उनके हृदयको 'कोई' गुदगुदा रहा हो—कारण कि भगवान्की सेवामें उनका सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण मन, सम्पूर्ण बुद्धि और सम्पूर्ण शक्ति तल्लीन है।

अतः साधना होनी चाहिये देनेकी—न कि ग्रहण करनेकी। ग्रहणकी वृत्ति मनुष्यको, चाहे वह अमीर हो या गरीब, दीन-हीन और कंगाल बना देती है—ग्रहणकी ओर झुकते ही मनुष्य अपनी भगवत्तासे भटककर भिखारी बन जाता है। उसके भीतर भगवत्सङ्कल्प अवरुद्ध-सा हो जाता है।

सॉलमनने कहा है—

"There is that scattereth, and increaseth yet more;
And there is that withholdeth more than is meet, but it tendeth only to want."

भावार्थ संक्षेपमें यह है कि जो लुटाते रहते हैं और बिखरते जाते हैं उनका बराबर बढ़ता ही जाता है; और जो सँजोकर रखते हैं, परिग्रही हैं वे अधिकाधिक अभाव बढ़ा रहे हैं।

आजकी दुनियामें जब मनुष्य और राष्ट्र अपनी क्षुद्र सीमाओंमें घुट रहा है, तुच्छातितुच्छ स्वार्थको लेकर पशुताको लज्जित कर रहा है और संहारपर तुला हुआ है। इस बातकी और भी आवश्यकता है कि हम अपने भीतर दैवी विभूतियोंका—दान-दम-अभयका विकास करें और इस प्रकार विश्व-कल्याणमें अपना सच्चा और हार्दिक योग प्रदान करें। भयत्रस्त, आपद्ग्रस्त मानवताकी वास्तविक मुक्तिका एकमात्र यही मार्ग है। हममेंसे कुछके भीतर भी यदि इन दैवी गुणोंका सही-सही विकास हो सका तो उससे संसारकी काया पलट जायगी। मानवता—अभाव और कष्टोंसे घिरी मानवता एक बार खुली हवामें सुखकी साँस लेगी। सद्धर्मकी एक धारा-सी छूट पड़ेगी और उसमें हमारे भीतर जो कुछ भी खोटापन होगा, सङ्कीर्णता होगी, सब बह जायगा और संसारके परदेपर जो आज गर्दा जम गया है वह सब एक झटकेमें झड़ जायगा। इस प्रकार आत्माहुतिके साधकोंकी संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ेगी त्यों-त्यों संसारसे युद्धका नामोनिशाँ मिट जायगा; दुःख, अवसाद, अन्याय, उत्पीडन, पूँजीवादियोंके अत्याचार सब-के-सब सदाके लिये मिट जायँगे और फिर जेल और पागलखानोंकी जरूरत भी न रहेगी। परन्तु इस 'Utopia'—इस उच्च आदर्शकी प्राप्ति तबतक हो ही कैसे सकती है जबतक हममेंसे एक-एक अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवत्कार्य और भगवत्संकल्पको सिद्ध करनेमें होम न कर दे। समाजमें, परिवारमें एक व्यक्ति जहाँ इस शुभ योजनामें लग जायगा वहाँ संक्रामककी तरह यह चीज आसपासके व्यक्तियों और वातावरणको प्रभावित किये बिना न रहेगी। इसलिये समय और सुयोगकी प्रतीक्षा न कर हमें इस पवित्र अनुष्ठानमें अविलम्ब लग जाना

चाहिये—इसीमें हमारा और विश्वका वास्तविक कल्याण है।

संसार इस युद्धसे पीड़ित कराह रहा है। वह प्रेमकी एक बूँदके लिये तड़प रहा है। मानवता आज पशुताको भी लाँघ गयी है। क्या ऐसे समय हममेंसे कुछके भीतर भी वह 'देवत्व' जाग्रत् नहीं होगा जिसके बलपर हम इस अन्धकारका उच्छेद कर सकें और इस धरा-धामपर भगवान्‌का राज्य स्थापित कर सकें ?

"Thy kingdom come. Thy will be done, as in heaven, so on earth." (यूनिटी)

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

स्वच्छवायु-सेवन

पिता—बेटा केशव ! क्या तुम बतला सकते हो कि हमारे जीनेके लिये सबसे जरूरी चीज क्या है ?

केशव—जी हाँ, जीवनके लिये सबसे जरूरी चीज भोजन है, क्योंकि यदि भोजन न हो तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

पिता—हाँ, भोजन जीवनके लिये अवश्य एक बहुत जरूरी चीज है, किन्तु फिर भी पानीकी जरूरत तो भोजनसे ज़्यादा है, क्योंकि भोजनके बिना आदमी तीन-तीन महीनेतक जीवित रहते देखे गये हैं, किन्तु पानीके बिना तो तीन दिन भी जीवित रहना कठिन है।

केशव—ओह ! ठीक है। तब तो भोजन नहीं बल्कि पानी ही जीवनके लिये सबसे जरूरी चीज कहा जायगा।

पिता—नहीं, अभी एक चीज और है जो पानीसे भी ज़्यादा जरूरी है।

केशव—वह क्या ?

पिता—वह है हवा। भोजनके बिना आदमी तीन महीनेतक जीवित रह सकता है और पानीके बिना तीन दिनतक। किन्तु हवाके बिना तीन मिनट भी जीवित रहना कठिन है।

केशव—अँय ! क्या हवा भी हमारे जीवनके लिये कोई जरूरी चीज है ?

पिता—जरूरी ही नहीं, बल्कि सबसे जरूरी चीज है। इसीसे हमारे प्राचीन ऋषियोंने संस्कृतमें हवाका एक नाम 'प्राण' भी बतलाया है।

केशव—तो क्या हवा न मिले तो हम जीवित नहीं रह सकते ?

पिता—यह तो तुम्हें अभी मालूम हो सकता है। देखो, मैं तुम्हारी नाकको दबाकर उसके दोनों छेद बंद किये देता हूँ और तुम अपने मुँहको भी अच्छी तरह बंद रखना। बस, अब जरा इसी तरह कुछ देर बैठे तो रहो।

केशव—ओफ़ ! इससे तो जी घबड़ाता है और दम घुटने लगता है।

पिता—हाँ, क्योंकि तुम्हारे शरीरके अंदर हवाके जाने-आनेका रास्ता बिल्कुल रुक गया। नाकके रास्ते यह हवा हमारे अंदर दिन-रात चौबीसों घंटे उठते-बैठते, खेलने-खाते, सोते-जागते, जानकर या अनजानमें हर घड़ी और हर पल श्वासके साथ-ही-साथ बराबर जाया-आया करती है। यदि क्षणभरके लिये भी यह रास्ता बंद हो जाय तो हमारा जी घबड़ाने लगता है, और यदि देरतक जबर्दस्ती बंद रक्खा जाय तो फिर हम मर ही जायँ।

केशव—कितनी-कितनी देरमें यह हवा हमारे अंदर जाया-आया करती है।

पिता—यह तो तुम घड़ीको सामने रखकर और श्वासोंको गिनकर स्वयं जान सकते हो। साधारण तौरपर एक मिनटमें १५ से १७ बारतक यह हवा हमारे श्वासके साथ शरीरके अंदर जाया-आया करती है। किन्तु दौड़ने या कसरत करनेपर अथवा मनमें कोई उत्तेजना पैदा होनेपर इसकी चाल और तेज हो जाया करती है, जिससे हम हाँफने लगते हैं।

केशव—क्या यह हवा हमारे पेटके अंदर जाती है?

पिता—नहीं, पेटके अंदर तो हमारा खाया हुआ भोजन और पानी पहुँचता है। हवाके लिये दूसरे स्थान बने हैं। ये स्थान हमारी छातीकी गहराईमें दाहिने और बायें दोनों ओर मौजूद हैं। इन्हें फेफड़े कहते हैं। फेफड़ोंकी बनावट स्पंज या समुद्र-झागकी तरह छेददार होती है। जिस प्रकार स्पंजमें बहुत-से छोटे-छोटे छेद होते हैं, उसी प्रकार फेफड़ोंमें भी होते हैं, किन्तु फेफड़ोंके छेद इतने छोटे होते हैं कि बिना अणुवीक्षण यन्त्रकी सहायताके ये दिखायीतक नहीं पड़ते। इनके छोटेपनका अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि दोनों फेफड़ोंमें कुल मिलाकर सात करोड़ पचीस लाखतक छेद मौजूद रहते हैं। इन छेदोंको 'वायुकोष' या हवाकी कोठरी कहते हैं। जिस समय हम श्वासको अंदर खींचते हैं, तो बाहरकी हवा हमारे अंदर फेफड़ोंमें पहुँचकर इन्हीं वायुकोषोंमें घुस जाती है और उन्हें फुला देती है। और जब हम श्वासको छोड़ते हैं तो हवा बाहर लौट आती है और तमाम वायुकोष पिचक जाते हैं। इस प्रकार सारी उम्र हमारे फेफड़ोंमें हवाका जाना-आना और वायुकोषोंका फूलना-पिचकना लगा रहता है।

केशव—किन्तु जब यह हवा हमारे फेफड़ोंमें जा-जाकर फिर वापस चली आती है, तब उसके वहाँ जानेका मतलब ही क्या?

पिता—मतलब बहुत भारी है, क्योंकि जब यह हवा हमारे फेफड़ोंमें पहुँचती है तो अपनी एक बहुमूल्य वस्तु हमारे खूनको दे देती है और जिस समय वह बाहर आती है तब हमारे खूनका बहुत-सा ज़हर अपने साथ लेती आती है। इससे हमारा खून सदा साफ, शुद्ध और शक्तिदायक बना रहता है।

केशव—वह कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है, जिसे यह हवा हमारे खूनको दे आती है?

पिता—उस वस्तुका नाम 'आक्सिजन' है। यह एक प्रकारकी गैस या भाप है, जो हवामें मौजूद रहती है।

केशव—उससे हमें लाभ क्या होता है?

पिता—हमारे शरीरके अंदर एक प्रकारकी अग्नि धीमी-धीमी चालसे जला करती है और उसमें हमारे शरीरके तत्त्व हर समय जल-जलकर भस्म होते रहते हैं। यह काम बिना आक्सिजनकी सहायताके नहीं हो सकता, क्योंकि अग्निके जलनेके लिये आक्सिजनका होना जरूरी है। साथ ही आक्सिजनकी सहायतासे हमारे खाये हुए भोजनका रस भी शरीरमें सोखकर काम आ जाता है।

केशव—अरे! क्या हमारे शरीरके तत्त्व जल-जलकर भस्म होते रहते हैं?

पिता—हाँ, दिन-रात हर घड़ी और हर पल हमारे शरीरके तत्त्व जल-जलकर भस्म होते रहते हैं। जिस प्रकार रातको घरमें प्रकाश बनाये रखनेके लिये दीपकका जलते रहना जरूरी है, उसी प्रकार हमारे शरीरके अंदर भी जीवनका प्रकाश बनाये रखनेके लिये इन तत्त्वोंका जलते रहना आवश्यक है।

केशव—यह तो बड़े अचरजकी बात है। भला, यह शरीर यदि हर समय अपने तत्त्वोंको जला-जलाकर नष्ट करता रहता है तो अबतक टिका कैसे है?

पिता–जो तत्त्व जलकर नष्ट हो जाते हैं, उनकी जगहपर नये-नये तत्त्व बनते भी तो रहते हैं।

केशव–लेकिन पुराने तत्त्वोंके इस प्रकार जल-जलकर नष्ट होने और फिर उनकी जगह नये-नये तत्त्वोंके बननेसे मतलब क्या ?

पिता–इससे हमारे शरीरमें गरमी, स्फूर्ति तथा शक्ति पैदा होती है और साथ ही, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं—हमारे अंदर जीवनका प्रकाश बना रहता है।

केशव–समझ गया। अच्छा आपने जो पहले कहा था कि हवा हमारे श्वासके साथ बाहर निकलते समय हमारे खूनका बहुत-सा जहर अपने साथ ले्ती आती है, सो यह जहर हमारे खूनमें कहाँसे आ जाता है ?

पिता–तुम जानते हो कि जब कोई चीज़ जलती है तो उससे कुछ धुआँ और कुछ राख पैदा होती है। अस्तु, हमारे शरीरके तत्त्वोंके भी जलनेसे एक प्रकारका जहरीला धुआँ, जिसे 'कार्बोनिक एसिड' गैस कहते हैं और कुछ अन्य जहरीली चीजें हर समय पैदा होती रहती हैं। ये सब खूनके साथ मिलकर बहती हुई हमारे फेफड़ोंमें पहुँचती हैं और वहाँसे श्वासके साथ हवामें मिलकर बाहर निकल जाती हैं। साथ ही हवामें जो आक्सिजन मौजूद रहती है वह खूनमें जा मिलती है, जिसे लेकर खून सारे शरीरमें फिर चक्कर लगाने लगता है। इस प्रकार तुम देखते हो कि हवाका बहुमूल्य आक्सिजन खूनके साथ-साथ शरीरके हर एक भागमें बराबर पहुँचता रहता है और अंदरकी जहरीली वस्तुएँ फेफड़ोंमें आ-आकर हर समय बाहर निकलती रहती हैं। यह सारी क्रिया हमारे शरीरमें श्वासद्वारा हवाके आने-जानेसे ही हुआ करती है और जीवनपर्यन्त बराबर जारी रहती है। इसीसे हमारा जीवन भी सम्भव है।

केशव–परन्तु पिताजी ! एक बात यह बतलाइये कि जब पृथ्वीके तमाम मनुष्य और दूसरे प्राणी इस प्रकार दिन-रात हवामेंसे आक्सिजन गैस श्वासद्वारा ले-लेकर कार्बोनिक एसिड गैस उसमें मिलाते रहते हैं, तो हवाका सारा आक्सिजन अबतक चुक क्यों नहीं जाता और यह हवा कार्बोनिक एसिड गैससे भर क्यों नहीं उठती ?

पिता–शाबाश ! तुम्हारा यह प्रश्न सचमुच ही बहुत तर्कपूर्ण है। किन्तु परमात्माकी कारीगरीमें कहीं कोई अधूरापन नहीं दिखायी देता। उसने इसके लिये भी बड़ा अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा है। संसारमें ये जितने पेड़-पौधे दिखायी देते हैं, वे भी हवामें हमारी ही तरह श्वास लिया करते हैं। हम अपनी नाकके द्वारा श्वास लेते हैं और वे अपनी पत्तियोंके द्वारा। फिर भी उनकी श्वासक्रिया हमारी श्वासक्रियासे विपरीत ढंगकी होती है, अर्थात् हम तो अपने श्वासद्वारा आक्सिजन गैसको पीते हैं, किन्तु वे इसे सूर्यके प्रकाशमें बाहर उगलते रहते हैं। और हम कार्बोनिक एसिड गैसको श्वासद्वारा बाहर उगलते हैं, किन्तु वे उसे पिया करते हैं। इस प्रकार हमारी त्याग की हुई चीज उनके काममें और उनकी त्याग की हुई चीज हमारे काममें आ जाती है और इस तरह बस, दोनोंका काम बराबर चलता रहता है। साथ ही हवाकी शुद्धता भी नष्ट नहीं होने पाती।

केशव–वाह, यह प्रबन्ध तो सचमुच ही बड़ा बढ़िया है। किन्तु जहाँ पेड़-पौधे नहीं रहते वहाँकी हवाका क्या हाल होता है ?

पिता–हवा स्वभावसे ही एक स्थानसे दूसरे स्थानको बहनेवाली चीज है। अतएव तमाम ऐसी जगहोंमें जो चारों ओरसे खुली हुई हैं और जहाँ हवाके जाने-आनेमें कोई बाधा नहीं पहुँचती, हवा बराबर शुद्ध बनी रहती है। उदाहरणके तौरपर घनी आबादीवाले बड़े-बड़े नगरोंकी हवासे गाँवों और देहातोंकी हवा

ज़्यादा अच्छी होती है। और गाँवोंकी हवासे भी खेतों, बागीचों और जंगलोंकी हवा अच्छी होती है। समुद्रतट और पहाड़ोंकी हवा भी बहुत शुद्ध होती है। किन्तु ऊँचे-ऊँचे मकानोंसे घिरी हुई तंग गलियोंकी हवा अच्छी नहीं होती, क्योंकि वहाँ हवा स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा नहीं सकती। इसी प्रकार जिन मकानोंमें चौड़ा आँगन न हो, खुली हुई चौड़ी छतें न हों, हवादार खिड़कियों और दरवाजोंका प्रबन्ध न हो अथवा जो चारों ओरसे ऊँचे-ऊँचे मकानोंसे घिरे हुए हों या तंग गलियोंमें हों उनकी हवा भी अच्छी नहीं होती। नाट्यशालाओं और सिनेमाघरोंकी हवा तो बहुत ही खराब रहती है, क्योंकि चारों ओरसे बंद रहनेके कारण बाहरकी ताज़ी हवा वहाँतक पहुँच नहीं सकती और सैकड़ों आदमी घंटोंतक वहीं बैठकर तमाशा देखते हैं, जिससे सारा स्थान उनके श्वासद्वारा निकली हुई ज़हरीली हवासे भर जाता है और स्वास्थ्यको खराब करता है।

केशव—ऐसी हवासे हमारे स्वास्थ्यको किस प्रकारकी हानियाँ पहुँचती हैं?

पिता—इससे हमारा मन बिगड़ जाता है, सुस्ती और आलस्य घेरे रहते हैं, सिर दर्द करने लगता है तथा चक्कर आ जाता है, और यदि हवा बहुत ज़्यादा खराब हुई तो फिर बेहोशी या मृत्यु भी हो जाती है।

केशव—क्या ऐसी मृत्युके कोई उदाहरण देखनेमें आये हैं?

पिता—हाँ-हाँ, एक नहीं अनेक उदाहरण हैं और कभी-कभी समाचारपत्रोंमें नये उदाहरण छपते भी रहते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए मैंने स्वयं एक पत्रमें पढ़ा था कि एक देहाती स्त्री अपने तीन बच्चोंके साथ एक नन्ही-सी कोठरीमें दरवाजा बंद करके सो रही थी और अंदर एक मिट्टीके तेलका दिया जल रहा था। सवेरे देखा गया कि उसके तीन बच्चोंमेंसे दो छोटे बच्चे तो मर चुके थे और तीसरा बच्चा बेहोश था तथा स्त्रीकी हालत भी अच्छी नहीं थी। खदानोंके अंदर भी कभी-कभी हवा बहुत ही खराब हुआ करती है, और उससे भी कितने ही आदमियोंकी मृत्यु हो चुकी है! इसीसे अब किसी गहरे कुएँ या खदानमें उतरते समय उसके अंदर एक जलती हुई लालटेन लटकाकर देख लिया जाता है कि वहाँकी हवा ठीक है या नहीं। कोई भी लालटेन या दीपक आक्सिजनके न रहनेपर जल नहीं सकते। अतएव यदि नीचे जाते ही लालटेन बुझ जाती है तो समझ लेते हैं कि वहाँकी हवामें आक्सिजन गायब है और इसलिये वहाँ कोई आदमी जीवित नहीं रह सकता। यदि लालटेन जलती रही तो फिर नीचे उतरनेमें हर्ज नहीं समझा जाता। इटलीमें तो एक ऐसी गुफा मौजूद है जहाँ जमीनसे कमरकी ऊँचाईतक हवा बेहद ज़हरीली है, किन्तु उससे ऊपर अच्छी है। अतएव वहाँ मनुष्य तो बेखटके चल-फिर सकता है एवं खड़ा रह सकता है, किन्तु बिल्ली या कुत्ते वहाँ जाते ही मर जाते हैं।

केशव—तब तो बुरी हवासे हमें बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है।

पिता—अवश्य। हर एक स्वास्थ्यका सुख चाहनेवाले व्यक्तिको बुरी हवामें खड़ेतक न होना चाहिये। साथ ही ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ हम या दूसरे लोग रहते या उठते-बैठते हों वहाँकी हवा भरसक खराब न होने दें। बहुधा आलसी तथा गंदे लोगोंकी आदत होती है कि जहाँ बैठते हैं वहीं बीड़ी-सिगरेटका धुआँ उड़ाने लगते हैं, थूकते हैं, नाक साफ़ करते हैं अथवा आस-ही-पास मल-मूत्रतक त्याग देते हैं। इस प्रकारके दृश्य रेलके डब्बोंमें, धर्मशालाओंमें, थियेटर और सिनेमा-घरों तथा बड़े-बड़े मेलोंमें नित्य ही देखनेमें आते हैं। ऐसे लोग समाजके प्रति बहुत बड़े अपराधी हैं और दूसरोंका स्वास्थ्य खराब करनेके साथ-साथ अपने

स्वास्थ्यको भी बिगाड़ते रहते हैं। ध्यान रहे कि हवासे ही हमारा जीवन है और इसे लापरवाहीसे खराब करना स्वयं अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारना है।

केशव—सो तो है ही। मैं इसे जरूर ध्यानमें रक्खूँगा।

पिता—हाँ, और इसके साथ ही कुछ और भी थोड़ेसे श्वास-सम्बन्धी नियम हैं जिनपर हर एक स्वास्थ्य चाहनेवाले आदमीको सदा ध्यान रखनेकी ज़रूरत है।

केशव—वे क्या हैं?

पिता—पहला नियम तो यह है कि सदा अपनी नाकसे ही श्वास लो। मुँहसे श्वास कभी मत लो। ईश्वरने श्वास लेनेके लिये नाकको ही बनाया है, मुँहको नहीं। अतएव उसने नाकके अंदर इसके लिये कुछ विशेष प्रबन्ध भी कर रक्खा है, जिससे हवा शुद्ध होकर ठीक हालतमें अंदर जाय। नगरोंमें या बस्तीके अंदर जो हवा हम दिन-रात श्वासद्वारा अंदर लेते हैं, उसमें बहुत-सी ऊपरकी चीजें मिली रहती हैं जैसे धूल-के छोटे-छोटे कण, भूसा, नन्हे-नन्हे जीवाणु, मनुष्य या पशुके शरीरसे निकली हुई गंदी वस्तुएँ, रूई या सनके रेशे इत्यादि। नाकसे श्वास लेनेपर ये चीजें नाकके बालोंमें फँसकर बाहर रह जाती हैं और छनी हुई हवा ही अंदर प्रवेश करती है। अंदर जानेपर नाककी श्लैष्मिक झिल्लियोंद्वारा यह हवा कुछ और अधिक छन जाती है और साथ ही कुछ गरम और गीली भी हो जाती है। तब वह फेफड़ोंमें प्रवेश करती है। किन्तु मुँहसे श्वास लेनेपर हवाके साथ-साथ धूल-कण तथा अन्य वस्तुएँ बेरोक-टोक अंदर चली जाती हैं और गलेकी नाली, श्वास-नाली या फेफड़ेकी दीवारोंमें चिपककर प्रदाहजनित कितने ही प्रकारके रोगोंको जन्म देती हैं, जैसे खाँसी, दमा, इँफनी इत्यादि। अतएव मुँहसे श्वास लेना किसी समय भी उचित नहीं। कुछ लोगोंका मुँह सोते समय खुला रह जाता है और वे मुँहसे ही श्वास लिया करते हैं। इसी प्रकार दौड़ते या कसरत करते समय भी कितने ही लोग मुँहसे श्वास लेते हैं। ये आदतें ठीक नहीं।

केशव—समझ गया। दूसरा नियम क्या है?

पिता—दूसरा नियम यह है कि सोते समय मुँह और नाकको ढाँककर कभी मत रक्खो। सर्दी अधिक हो तो शरीरके साथ-साथ सिर और कानोंको ढाँक लो, परन्तु चेहरा तो हर समय खुला ही रक्खो, क्योंकि चेहरा ढाँक रखनेसे श्वासद्वारा निकली हुई गंदी हवा बाहर जा नहीं पाती और उसी गंदी हवामें बार-बार श्वास लेना पड़ता है। बहुधा देखा जाता है कि केवल मूर्ख और अपढ़ लोग ही नहीं, बहुत-से पढ़े-लिखे लोग भी अपना चेहरा ढाँककर ही सोते हैं और अपने श्वासद्वारा उगली हुई गंदी हवाको बार-बार पीते रहते हैं। यदि उनसे कहा जाय कि अपनी कै की हुई चीज़को फिरसे खा लो तो शायद वे घृणा और क्रोधसे पागल बन जायँगे, परन्तु आश्चर्य है कि अपनी कै की हुई गंदी हवाको बारंबार पीते रहनेपर भी उनका जी ज़रा नहीं घिनाता!

केशव—तीसरा नियम क्या है?

पिता—तीसरा नियम यह है कि जहाँतक हो सके खुली हुई ताजी और साफ हवामें ही रहनेका प्रयत्न करो। यदि हर समय नहीं, तो भरसक अधिक-से-अधिक समय ही खुली हुई हवामें बितानेका प्रयत्न करो। कमरेमें कितनी ही हवादार खिड़कियाँ और दरवाजे हों, किन्तु उसकी हवा खुले हुए मैदानकी हवाको नहीं पा सकती। अतएव यदि कमरेके अंदर बहुत देरतक बैठ-कर काम करनेकी आवश्यकता पड़े, तो भी समय-समय-पर पाँच-सात मिनटके लिये बाहर खुलेमें निकल जाओ और वहाँ गहरी साँस बार-बार खींचते और छोड़ते रहो। इस प्रकार शुद्ध वायुकी बहुत कुछ कसर पूरी

हो जायगी। सोनेके लिये जाड़ेके दिनोंमें दालान या बरामदेमें सोओ, अथवा यदि कमरे या कोठरीमें सोना पड़े तो उसकी खिड़कियाँ खुली रक्खो, जिससे हवा अंदर बराबर आती-जाती रहे। यदि सर्दी लगे तो ओढ़नेके लिये अधिक ले लो, परन्तु खिड़कियाँ न बंद करो। रेलगाड़ियोंमें बहुधा देखते हैं कि जाड़ेके दिनोंमें यात्री लोग रातमें तमाम खिड़कियाँ बंद कर देते हैं और फिर पचीसोंकी संख्यामें उन्हीं बंद डब्बोंके अंदर सोते रहते हैं। इससे अंदरकी सारी हवा जहरीली हो जाती है। इतना ही नहीं, बहुत-से लोग तो बंद डब्बोंमें बीड़ी और सिगरेटका धुआँ भी उड़ाया करते हैं, जिससे वहाँकी हवा और भी असहनीय हो उठती है। ये सब बातें स्वास्थ्यको बहुत हानि पहुँचानेवाली हैं।

केशव—मैं इस बातको भी याद रक्खूँगा। क्या कोई चौथा नियम भी है?

पिता—हाँ, चौथा नियम यह है कि सदैव दीर्घ और गहरी श्वास लेनेकी आदत डालो। हमारे फेफड़ोंके अंदर जितनी हवा समा सकती है, साधारण तौरपर उसका चौथाई हिस्सा भी हम अपने श्वासद्वारा अंदर नहीं लेते। और इसी प्रकार जितनी हवा बाहर निकल सकती है उसका बहुत थोड़ा भाग बाहर निकालते हैं। दीर्घ और गहरी साँस लेनेसे यह हवा हमारे अंदर अधिक परिमाणमें जाने-आने लगेगी, जिससे हमारे खूनको आक्सिजन अधिक मिलेगा और उसकी सफाई भी अधिक होगी। परिणाममें हमारे अंदर स्फूर्ति और शक्ति भी अधिक पैदा होगी और साथ ही आयुकी वृद्धि होगी।

केशव—लेकिन पिताजी, यह आदत डाली कैसे जाय? मेरे तो दो ही चार बार लंबी साँस खींचनेसे सिरमें दर्द हो उठता है और वह चक्कर खाने लगता है।

पिता—ये लक्षण फेफड़ोंकी दुर्बलता सूचित करते हैं। परन्तु मैं तुम्हें एक ऐसा सीधा-सा उपाय बतलाता हूँ, जिससे तुम्हारे फेफड़े कुछ ही दिनोंमें मजबूत हो जायँगे और तुम दीर्घ तथा गहरी साँस लेना बहुत जल्द सीख जाओगे।

केशव—कहिये, मैं सुन रहा हूँ।

पिता—देखो, सबेरे खूब तड़के उठो और शौच इत्यादिसे छुट्टी पाकर स्वच्छ खुली हुई वायुमें पैदल टहलनेके लिये निकल जाओ। चलते समय सिरको सीधा रक्खो, कंधे पीछेको रहें और छाती आगेको तनी रहे। इसी प्रकार ज़रा तेजीके साथ क़दम बढ़ाते हुए कुछ देर चलते रहो, किन्तु तुम्हारे क़दम सब सीधे और एक रास ही पड़ने चाहिये। अब अपनी श्वासको धीरे-धीरे खींचना आरम्भ करो और साथ ही अपने क़दमोंको भी मन-ही-मन गिनते जाओ। आरम्भमें जितनी श्वास बिल्कुल आसानीसे खींच सकते हो उतनी ही खींचो, अधिक नहीं। मान लो कि अभी तुम केवल दस कदमतक श्वासको खींच सकते हो, तो उतनी ही खींचो। फिर आगे दस क़दमतक उसी प्रकार उसे बाहर छोड़ो। इस प्रकार कुछ दूरतक बराबर करते जाओ। दूसरे दिन इसी प्रकार थोड़ी दूर और आगे जाओ। इस तरह दूरी क्रमशः बढ़ाते जाओ। एक सप्ताहके बाद दस क़दमके बजाय बारह क़दमतक श्वासको खींचना और छोड़ना आरम्भ करो। फिर पंद्रह क़दमतक और तत्पश्चात् अठारह या बीस क़दमतक यही क्रिया करो। इस प्रकार धीरे-धीरे दूरी तथा श्वासकी मात्रा बढ़ाते जाओ। एक महीनेके पश्चात् श्वासको खींचनेके बाद प्रत्येक बार ज़रा-सा अर्थात् दो या तीन क़दमतक रोककर तब छोड़ने और फिर दो या तीन क़दमतक रोककर तब खींचनेका भी अभ्यास करो और इसे भी थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते जाओ। सुननेमें ये सारी बातें बड़े झंझटकी मालूम होती हैं, किन्तु करनेमें बिल्कुल आसान हैं और कुछ ही समयके अभ्याससे फिर ऐसी आदत पड़ जाती है कि मनुष्य चलते समय आप-से-आप दीर्घ निःश्वास-प्रश्वास करने लग जाता है और उसे इस ओर ध्यान देनेकी ज़रूरत ही नहीं पड़ती। मैंने स्वयं इसका बहुत दिनोंतक अभ्यास किया है और बहुत काफ़ी लाभ उठाया है। इससे तुम्हारे फेफड़े खूब मजबूत हो जायँगे और सब प्रकारके श्वास-सम्बन्धी रोगोंसे बचाव रहेगा। हमारे प्राचीन ऋषियोंने इसी प्रकारकी, किन्तु इससे बहुत

पेंचीली और ऊँचे ढंगकी श्वासोंकी क़सरत लिखी है, जिसे प्राणायाम* कहते हैं। उसकी महिमा बहुत बड़ी गायी गयी है† और योगसाधनकी वह प्रथम सीढ़ी कही जाती है। किन्तु बिना गुरुके वह नहीं आ सकती। इसलिये उसकी उलझनोंमें तुम्हें यहाँ पड़नेकी जरूरत नहीं। साधारण तौरपर स्वास्थ्य और शक्ति प्राप्त करनेके लिये हमारी ऊपर बतलायी हुई स्वास्थ्यकी कसरत बहुत ही सीधी और सुन्दर है, तथा हमारी आज़मायी हुई भी है। इसे यदि तुम नियमपूर्वक करते रहोगे तो कुछ ही दिनोंमें आशातीत लाभ देखोगे।

केशव—मैं इसे कलहीसे आरम्भ कर दूँगा।

पिता—बस, फिर ईश्वर इसका शुभ फल भी तुम्हें देगा।

सच्ची सीख

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न)

तू यह जो कुछ देख रहा है
वह सब है कोरा सपना।
समझ-सोच तू, यहाँ नहीं है
कोई भी तेरा अपना॥
हे मेरे मन! फिर तू किसके
लिये इस तरह करता है।
तू पल भी मत भूल उसे जो
जन्म-मरणको हरता है॥ १॥

सब अपने झूठे मतलबमें
हैं पूरे उस्ताद यहाँ।
काम बनाने ही वे उससे
करते हैं फर्याद यहाँ॥
हे मेरे मन! तू तो उससे
इसी बातको चाह अभी—
तू अपनेको दे-दे मुझको
बता मिलनकी राह अभी॥ २॥

कोई सुरका, कोई नृपका,
कोई स्त्रीका दास यहाँ।
कोई और किसीका करता
है पूरा विश्वास यहाँ॥
हे मेरे मन! तू तो केवल
ले-ले उसकी शरण अभी।
उसकी तनिक कृपासे पलमें
मिलते हैं सुख-शान्ति सभी॥ ३॥

जो खुद बहके हुए आप हैं
वे तुझको बहकावेंगे!
चिकनी-चुपड़ी बात बनाकर
सब्ज़ बाग़ दिखलावेंगे॥
हे मेरे मन! तू मत होना
किसी वस्तुका भी कामी।
उसे चाहना हरदम जो है
सारे लोकोंका स्वामी॥ ४॥

धन-दौलतका, शान-मानका
तुझे प्रलोभन वे देंगे।
दिखलानेके लिये तुझे वे
अति प्रसन्न भी कर लेंगे॥
हे मेरे मन! सोच, तुझे है
यह तो उनका बहकाना।
मीठी-मीठी बातोंमें तू
आकर मत धोखा खाना॥ ५॥

यह दुनिया तो स्नेह-सूतके
फंदोंका है जाल बड़ा।
इसे बनाने और बिछाने-
वाला इससे दूर खड़ा॥
हे मेरे मन! इसमें फँसकर
तू मत उसको भूल कभी।
वह शिव-सुंदर-सत्य सदा है
यह है नश्वर-झूठ सभी॥ ६॥

---

* प्राणो वायुरिति ख्यात आयामस्तन्निरोधनम्। प्राणायाम इति ख्यातं योगिनां योगसाधनम्॥ (तन्त्रसार)

† प्राणायामात् परं तत्त्वं प्राणायामात् परं तपः। प्राणायामात् परं ज्ञानं प्राणायामात् परं पदम्॥
प्राणायामं विना यद्यत् साधनं निष्फलं भवेत्। प्राणायामं विना मन्त्रपूजने न हि योग्यता॥ (गौतमीये)
मानसं वाचिकं पापं कायिकं चापि यत् कृतम्। तत् सर्वं निर्दहेच्छीघ्रं प्राणायामत्रयेण तु॥ (कुलार्णवे)

योगसाधनाकी तैयारी

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीवैजनाथजी बी० ए०)

अध्यात्ममार्गकी कोई भी साधना क्यों न हो, सबकी बुनियाद ऊँचे-से-ऊँचा आचार, ऊँची-से-ऊँची सच्चरित्रता, पूर्ण निर्ममता, पूर्ण परोपकारभाव हैं। योगके यम-नियमोंमें इनका समावेश है। वेदान्तके साधन-चतुष्टयमें भी ये ही हैं; भक्तिशास्त्रमें, निष्काम कर्मयोगमें, इन सबकी आवश्यकता पड़ती है, पर साधक बहुधा इन सद्गुणोंकी आवश्यकता और महत्त्वको न समझ, उनको एक ओर छोड़कर, प्राणायामादि साधनोंमें लग जाते हैं। इसी कारण उनकी उन्नति नहीं होती। साधनचतुष्टय या यम-नियमोंके पूर्णरूपसे अपनेमें आ जानेसे अपना विकास आप-से-आप पूर्ण होकर, हमारी सोती हुई आध्यात्मिक शक्तियाँ आप-से-आप जग उठती हैं और बिना योगसाधनाके भी हम उच्च शिखरको पहुँच जाते हैं। इन प्रारम्भिक सद्गुणोंके बिना योगसिद्धि प्राप्त होनेपर भी अधःपतनकी संभावना रहती है।

सच्ची आध्यात्मिकता तो उस दशाकी पूर्ण प्राप्ति या पूर्ण अनुभव है, जिसमें साधक अपनेको सब प्राणियोंमें और सब प्राणियोंको अपनेमें देखता है अर्थात् अपने और दूसरोंमें एक ही आत्माका दर्शन करता है और उसमें द्वैतभाव थोड़ा भी बाकी नहीं रहता; जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता (अ० ६ श्लो० २९) में कहा है। इस दशामें साधक दूसरे भूखेकी भूखका, पतितके पापका, दुखीके दुःखका, स्वयं अनुभव करता है। योगसिद्धियोंका कोई माहात्म्य नहीं है। वे प्रकृतिके नियमोंके ज्ञानसे प्राप्त हो सकती हैं, पर आध्यात्मिकता प्रेमसे आती है। एक तत्त्वको जानना, उसकी चेतनाका बने रहना, उसका सदैव अनुभव होते रहना, यह आध्यात्मिकता है। कबीरने कहा है, 'न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़ें पियारेसे' यह अनुभव अध्यात्मके जिज्ञासुको होते रहना चाहिये। इसका अर्थ यही है कि उसको अपनेमें और दूसरेमें कोई भेद नहीं दीखता। श्रीशङ्कराचार्यसे एक कापालिकने उनका सिर माँगा, उन्होंने यही कहा कि 'इस समय तो मेरे शिष्य सिर देनेमें बाधा डालेंगे; पर यदि तुम आधी रात्रिको आओ तो सिर ले जा सकोगे।'

अध्यात्मज्ञानीके लिये कोई भेदभाव नहीं रह जाता। उसकी शुद्धिके प्रभावसे उसके आसपासके लोगोंमें भी शुद्धि फैल जाती है। उसकी मुक्तिका अर्थ यह है कि उसके साथ और लोग भी मुक्त होते हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिकता और सिद्धियोंमें बड़ा भेद है। दोनोंका उपयोग है और पूर्ण मनुष्यमें दोनों पायी जायँगी। आजकल दूसरोंके ऊपर अपना प्रभाव डालनेकी विधि बतलानेवाली बहुत-सी पुस्तकें छपती हैं। ये पीछे हटानेवाली मार्गसे च्युत करनेवाली हैं: क्योंकि शुद्ध दक्षिण मार्गमें कभी किसीकी स्वतन्त्र इच्छाशक्तिपर दबाव नहीं डाला जाता। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि वाममार्गकी पापभरी विधियाँ हैं, जिनका भारी कर्मविपाक उनके उपयोग करनेवालेको अवश्य गिरा देता है।

इसलिये आरम्भमें स्थूलशरीरकी और मनके भावोंकी शुद्धि अच्छी तरह हो चुकनी चाहिये। मांस, मदिरा, भाँग, गाँजा, तम्बाकू आदि मादक द्रव्य—ये योगीके लिये विष है। साधना आरम्भ करनेके कम-से-कम एक वर्ष पूर्वसे इनका त्याग हो जाना चाहिये। स्थूल-शरीरके हाथ, पैर, नाखून सब साफ रहें और सारा शरीर भी साफ हो। उसके पहिनने, बिछाने और ओढ़नेके कपड़े भी शुद्ध—साफ रहें। स्थूल शरीर और मनके भाव शान्तिमय हों। पूर्ण आरोग्यता हो। दवाइयोंका उपयोग जितना कम हो सके, उतना ही उत्तम है। उत्तेजक

और मादक द्रव्य योगाभ्यासमें परम बाधक हैं। पशुओंकी मांसग्रन्थि आदिसे बनी हुई दवाइयोंका उपयोग कभी न किया जाय; एक तो इनमें हिंसा होती है और दूसरे उनका प्रभाव साधकपर बहुत बुरा पड़ता है। शरीरको छिन्न-भिन्न या विकृत न होने देना चाहिये। जैसे तंग जूते पहनना, जो अपने पैरोंकी अँगुलियोंको विकृत कर देते हैं, योग-साधनामें बाधक होता है। भगवद्गीतामें कहा है कि 'युक्त आहार-विहार-वाले और कर्मोंमें युक्त दर्जेतक हो लगनेवालेको योग दुःख-हरण करनेवाला होता है। उसका सोना, जागना भी ठीक-ठीक होना चाहिये (गीता० ६। १७)

योगाभ्यासमें अपनी साधारण बुद्धिका उपयोग न छोड़ देना चाहिये। शरीरके विचार, श्वास या किसी अङ्गपर अधिक ध्यान लगानेमें जोखिम है। यदि जरा भी भारीपन, दर्द या सिरका घूमना या दबाव मालूम पड़े तो अभ्यासको रोक देना चाहिये; क्योंकि दर्द इस बातकी एक चेतावनी है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंपर बहुत अधिक दबाव डाला जाता है।

योगाभ्यासीके मनसे क्रोध, चिड़चिड़ापन और द्वेष तो बिल्कुल ही निकल जाना चाहिये। उसे उत्सुकता न सतावे। सब योगोंमें एकत्वकी प्राप्तिकी इच्छा रहनेसे, सेवाभाव, परोपकारभाव, जगत्के कल्याणकी भावना स्वाभाविक ही रहती है। यदि योगाभ्यासीमें कोई सोते दुर्गुण छिपे हैं तो वे योगाभ्याससे उत्तेजित होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं; इसलिये यम और नियम योगीमें अवश्य आरम्भसे ही होने चाहिये। अहिंसा (किसीको दुःख न पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (दूसरेकी वस्तु बिना दिये न लेना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अर्थात् वस्तुओंका संग्रह न करना ये 'यम' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (जप और सद्ग्रन्थोंका अध्ययन) और ईश्वरकी भक्ति—ये नियम हैं।

सच्चे योगमें रुपयोंका लेन-देन बिल्कुल नहीं हो सकता। वह बिकता नहीं है। जहाँ पैसा लेना-देना पड़ता है वहाँ सच्चा योग न मिल सकेगा। उसका विकृत रूप या झूठा योग कदाचित् बिकता मिल जावे !

गीतामें जो कहा है कि अज्ञानी कर्मरत मनुष्योंकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न न करना चाहिये। जो अपनी साधना-में लगा है, उसको उससे हटानेमें भारी कर्मविपाक होता है। हाँ, किसीको नीची साधनासे ऊँची साधनामें सावधान विचारपूर्वक उठा सकते हैं। हर एकके विकास-को बढ़ानेमें मदद देना कर्तव्य है, पर उसके आध्यात्मिक विकासमें उसे गिरा देनेका फल भारी कर्मविपाक है।

साधनामें—जिन साधारण सद्गुणोंकी आवश्यकता है, वे ये हैं—पवित्र जीवन, खुला मन, शुद्ध हृदय, उत्साहयुक्त विशुद्ध बुद्धि, खुली आध्यात्मिक दृष्टि, सबके प्रति भ्रातृभाव, सलाह और ज्ञान देने और लेनेके लिये सदैव तैयार रहना, गुरुके प्रति श्रद्धा, सत्यपालनमें तत्परता, अपने ऊपर अन्याय हो, उसे निर्भयतासे सहना, जो नियम हैं, उनके कहनेमें निर्भय तत्परता, जिनकी अयोग्य निन्दा होती हो, उनका हिम्मतसे बचाव करना और मनुष्य जातिकी उन्नति और पूर्णताके ध्येयको सदैव ध्यानमें रखना—ये वे सुवर्ण-सीढ़ियाँ हैं, जिनपर चढ़कर जिज्ञासु ब्रह्मज्ञानके मन्दिरमें सहज प्रवेश कर सकता है।

एक स्थानपर शुद्ध दक्षिणमार्गकी साधनाके कुछ नियम कुछ-कुछ इस प्रकार बतलाये हैं—

(१) योगसाधनाका और उपदेश पानेका स्थान शुद्ध शान्त हो और उपद्रवोंसे रहित हो। उसमें प्रभाव उत्पन्न करनेवाले पदार्थ रक्खे गये हों। उस स्थानमें कोई बुरी हानिकारक शक्तियाँ न हों।

उस स्थानमें दूसरा कोई कार्य न किया जाय। इसे, जब-तक अपनी साधना चालू रहे, तबतक, केवल योगसाधना और गुरूपदेशके लिये ही निश्चित कर लेना चाहिये। कलह, लड़ाई, बुरे भावोंकी छाप उस स्थानकी भुवर्लोककी प्रकृतिपर तुरंत पड़ जाती है अर्थात् वहाँका वातावरण दूषित हो जाता है। ये बुरे असर वहाँकी वायुमें भर जाते हैं।

(२) गुरु शिष्यको उपदेश दें, उसके पूर्व उस शिष्यको निश्चय कर लेना चाहिये कि उस (शिष्य) का मन पवित्र है और सबके प्रति उसके हृदयमें शान्ति है। सब शिष्योंके बीचमें पूर्ण शान्ति हो, नहीं तो सिद्धि न होगी। जिससे एक शिष्यका नुकसान होगा, उससे प्राय: सबका नुकसान होगा, सब शिष्योंका आपसका सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हाथकी उँगलियोंका। यदि एककी उन्नतिसे दूसरे शिष्यको आनन्द नहीं होगा तो आवश्यक तैयारी मौजूद नहीं है।

(३) जो सिद्धियाँ देनेवाले ज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें जीवनकी और जगत्‌की सब वासनाओंका त्याग करना पड़ता है।

(४) शिष्यको दूसरे जीवोंसे मनमें एकत्वका भाव रखते हुए अपने शरीरकी, उन दूसरोंके ओजस् या प्रभावोंसे रक्षा करनी पड़ती है; इसलिये उसके प्यालेसे किसी दूसरेको पीना न चाहिये, न वह किसी दूसरेका जूठा पिये या खावे। उसे दूसरे मनुष्योंके या पशुओंके शरीर न छूना चाहिये। वह कोई पालतू पशु न रक्खे। शिष्यको अकेले अपने ही वातावरणमें रहना चाहिये, ताकि वह वातावरण योगक्रियाओंके लिये सुरक्षित रहे।

(५) मन केवल प्रकृतिके सार्वभौम नियमोंको छोड़कर और बातोंकी ओर न जावे।

(६) मांसादिक पदार्थ साधक नहीं खा सकता। शराब, मदिरा, अफीम आदि मादक द्रव्य मना हैं। इनसे बुद्धि नष्ट हो जाती है।

पशुओंके मांसमें उनके मानसिक दोष भरे रहते हैं। शराब—आसवके बनानेमें जिन लोगोंने भाग लिया होगा, उनके ओजस् उनमें भर जाते हैं, ऐसा माना जाता है।

ध्यान, परहेज, कर्तव्यपालन, नम्र विचार, अच्छे कार्य और दयाभरे शब्द, सबके प्रति कल्याणभाव, और अहंकारपूर्ण त्याग—ये ज्ञानप्राप्तिके बहुत फलदायक उपाय हैं। इनसे ऊँचे ज्ञानको प्राप्त करनेकी तैयारी होती है। (देखिये H. P. Blavatsky का Practical Occultism; Indian Book Shop, Benares.) योगसाधना और मन्त्रजपके समय कपड़े मैले न हों, केश, मुखमें दुर्गन्ध न हो, सिरपर टोपी न हो, नीचांगका स्पर्श न हो, नग्न शरीर, छूटे बाल और अपवित्र दशा न हो।

जैसे मन्त्रीकी भूलका परिणाम राजाको भुगतना पड़ता है, वैसे ही शिष्यकी भूलोंका परिणाम गुरुको भुगतना पड़ता है। उत्तर भारतमें लोग गुरु करना बहुत आवश्यक समझते हैं और इस माँगके कारण नकली गुरु बहुत हो गये हैं। गुरुकी परीक्षामें खास कसौटी है कि जिसके संग, उपदेश और अनुकरणसे अन्त:करणके विकारोंका नाश, दैवी सम्पत्तिका विकास और अध्यात्मभावकी वृद्धि हो, उसे उपयुक्त गुरु और जिसके द्वारा इन सबका ह्रास होकर आसुरी सम्पत्ति बढ़ती हो, उसको अनुपयुक्त गुरु समझना चाहिये। शास्त्रमें कहा है कि यदि गुरुकी परीक्षा एक, दो वर्ष कर चुकनेपर कोई फल न प्राप्त हो तो उस गुरुके त्यागनेमें कोई पाप नहीं है। जैसे मधुमक्खी एक फूलसे काफ़ी शहद न पानेसे दूसरे फूलमें जाती है, वैसे ही एक अनभिज्ञ गुरुको त्यागकर दूसरे योग्यतर गुरुके पास जानेमें दोष नहीं है। जो दूसरेको शिष्य बनाकर उससे लाभ उठाता है, वह गुरु उस शिष्यका बोझा अपने ऊपर ले लेता है और जबतक उस शिष्यका बन्धनसे मोक्ष नहीं होता। तबतक वह गुरु उसी शिष्यके बन्धनसे बँधा रहेगा; मेरे देखनेमें तीन मृत गुरुओंके उदाहरण आये जो मरनेके पश्चात् भी अपने शिष्योंकी चिन्तासे चिन्तित थे; इसलिये जाने-समझे बिना गुरु बनना बड़ी भूलकी बात है। गुरु केवल ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त ही हो सकता है; उससे नीचेवाला नहीं। हाँ, आध्यात्मिक सहायता हर कोई अपनी योग्यतानुसार हर किसीको दे सकते हैं, पर गुरु न बनें।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

समतासे ब्रह्म-साक्षात्कार

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम् । स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥
न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः । यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् । कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
संयोज्य मनसात्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहिनीम् । त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥
यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम् । समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति । काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् । जीवितं मरणं चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

हृदयमें ही परमात्मा है । वह समस्त प्राणियोंमें समान रूपसे स्थित है । एकाग्रचित्तके द्वारा उसे स्वयं देखा जा सकता है । जिससे कोई भयभीत नहीं होता और जो स्वयं किसीसे भयभीत नहीं होता, जो न कुछ चाहता है और न किसीसे द्वेष करता है, वह ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है । जिस समय कर्म, मन और वाणीसे किसी भी प्राणीके प्रति दोषबुद्धि नहीं रहती, उस समय परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । जब मनको मोहमें डालनेवाली ईर्ष्याका त्याग करके जीव अपने काम और मोहसे रहित मनको आत्मामें लगा देता है, तब उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । जब यह समस्त सुने जानेवाले और देखे जानेवाले पदार्थों एवं प्राणियोंमें समदृष्टि करके निर्द्वन्द्व हो जाता है, तब ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है । जब जीव स्तुति-निन्दा, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय और जीवन-मरणको समदृष्टिसे देखने लगता है, तब उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है ।

(म० शा० अ० २२१)

कल्याण
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ६२१००]

वार्षिक [illegible]
भारतमें [illegible]
विदेशमें [illegible]
([illegible])

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur, U.P. (India).

श्रीहरिः

कल्याण

फरवरी सन् १९४२

की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—श्रीरामसे विनय [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ...	१४७७
२—पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके उपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	१४७८
३—प्रभुके चरण [कविता] (श्रीशशिप्रभा देवी) ...	१४७९
४—कुम्भ (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज) ...	१४८०
५—नमस्कारमात्रसे भगवत्प्राप्ति (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ...	१४८८
६—परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ...	१४९३
७—प्रार्थनामय जीवन (श्रीरिचर्ड व्हाइटवेल)	१४९६
८—उद्बोधन [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)	१४९९
९—आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर ('कश्चित्') ...	१५००
१०—कामके पत्र ...	१५०२
११—ज्ञानका जीवनपर प्रभाव (श्रीकृष्ण) ...	१५०५
१२—महाकवि तुलसीदासका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस (श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम० ए०, एल्-एल्० बी०) ...	१५१०
१३—कुम्भका आध्यात्मिक उपयोग (श्रीमुनिलालजी)	१५१५
१४—साधना और उसका उद्देश्य (श्रीआत्मारामजी देवकर) ...	१५२३
१५—पितृसेवा (पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ) ...	१५२४
१६—योग और उसकी व्यापकता (श्रीमती पिस्तादेवीजी 'विदुषी', साहित्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य) ...	१५२७
१७—सती मुकला (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ...	१५३०
१८—मैं और मेरा [कविता] (श्रीप्यारेलालजी ढहनगुरिया) ...	१५३५
१९—वर्णाश्रम-विवेक (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)	१५३७
२०—महा अमीरस [कविता] (श्रीदादूदयालजी) ...	१५४२
२१—व्रत-परिचय (पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) ...	१५४३
२२—ये हँसते हुए फूल! ...	१५५१
२३—बाल-प्रश्नोत्तरी (श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ...	१५५२

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—जब भक्त भगवत्प्रेममें मस्त होकर नाचने लगता है तो उसके प्रेमकी तरङ्गें त्रिलोकीमें फैल जाती हैं, जैसे कि भगवानकी वंशीध्वनि त्रिलोकीमें फैल जाती थी। भक्तके सच्चे भावसे किये हुए नृत्यका प्रभाव तीनों लोकोंपर पड़ता है।

२—जहां भगवान् हैं, वहां माया नहीं है और जहां माया है, वहां भगवान् नहीं हैं। माया किसी भी प्रकार भगवान्का स्पर्श नहीं कर सकती।

३—भक्तमें जबतक शक्ति रहती है, तबतक वह भगवान्को पुकारता है। और जब वह उन्हें पुकारते-पुकारते थक जाता है—उसमें उन्हें पुकारनेकी शक्ति नहीं रहती, तो भगवान् स्वयं उसे पुकारते हैं और उस भक्तपर बलिहारी जाने लगते हैं।

४—यदि कोई मनुष्य उच्च कुलमें उत्पन्न हुआ हो और ऊंची जातिका भी हो, किन्तु उसके हृदयमें अभिमान हो, तो प्रभु उससे बहुत दूर रहते हैं। परन्तु यदि कोई नीचे कुलमें उत्पन्न हुआ हो और नीची जातिका भी हो, किन्तु हो निरभिमान, तो उसे अवश्य प्रभुकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् स्वयं कहते हैं

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

५—यदि हमने अपना शरीर श्रीभगवान्को समर्पित कर दिया है तो हमें उसकी चिन्ता क्यों होगी। यदि शरीरकी चिन्ता होती है तो खाली कहना-ही-कहना है, वास्तविक समर्पण नहीं है। भक्तिमार्गमें तो सारी ही वस्तुएं श्रीभगवान्को समर्पित कर दी जाती हैं।

६—जबतक हम किसीको अपना समझते हैं, तभीतक अज्ञानवश पड़े पड़े समझना चाहिये। जब यह प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे कि हमारा कोई नहीं है, तभी समझना चाहिये कि काम बना।

७—साधन तो हो, किन्तु विश्राम न हो तो उससे कोई फल नहीं होता; अतः भजन भी होना चाहिये और विश्राम भी। भगवान्में विश्राम तभी होता है, जब मन संसारसे हट जाता है। याद रक्खो, जबतक मनोराज्यमें विचरते रहोगे तबतक भगवान्के राज्यमें प्रवेश नहीं होगा।

८—उच्च-से-उच्च और नीच-से-नीच—सभी भक्तिमार्गके अधिकारी हैं। अधिकारका विचार तो अन्य साधनोंमें ही है, भक्तिमें नहीं।

९—नाम कहो या भगवान्—दोनों एक ही हैं। जो शक्ति भगवानमें है, वही नाममें भी है। श्रीगौराङ्गदेव एक बार भी भगवान्का नाम लेते थे तो सभी मुग्ध हो जाते थे। नाम तो और सब भी लेते हैं, फिर उनके नामोच्चारणमें ही इतनी शक्ति क्यों थी? इसका कारण यही है कि जिसका जैसा हृदय होता है, उसके अनुसार ही नाम काम करता है।

१०—जबतक नामका रंग नहीं चढ़ेगा, तबतक विषयोंका रंग कैसे उतर सकता है। गुरुका अङ्ग, साधुका सङ्ग और नामका रंग—इनकी बड़ी जरूरत है। नामका रंग ऐसा चढ़ना चाहिये कि फिर उसे कोई उतार ही न सके। भले ही हमारा सर्वस्व नष्ट हो जाय और सब लोग हमारा साथ छोड़ दें, तब भी नामका रंग नहीं उतरना चाहिये।

११—हमारे हृदयमें यह अग्नि सुलगती रहे कि किसी प्रकार भगवान् मिलें।

१२—जिस प्रकार नाम और भगवान्में अभेद है, उसी प्रकार भगवान्का प्रसाद भी भगवद्रूप ही होता है। भगवत्प्रसादको कभी नहीं त्यागना चाहिये। मीराबाईने भगवान्का प्रसाद समझकर जहरका प्याला पी लिया था। वे जानती थीं कि यह विष है; किन्तु उन्हें उसे भगवान्का प्रसाद बताया गया, इसलिये उन्होंने उसका त्याग नहीं किया।

१३--भगवान्से सम्बन्ध जुड़ना ही कठिन है; उनसे किसी भी प्रकारका सम्बन्ध जुड़ जाय, उसीमें कल्याण हो जाता है। यहाँतक कि भगवान्से शत्रुता करनेवालोंका भी उद्धार हो गया, फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। अतः जैसे बने, उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये।

१४ ये मन और बुद्धि हमें भगवानसे ही मिले हैं, अतः इन्हें भगवान्के ही अर्पण कर देना चाहिये। मन-बुद्धिका अर्पण किस प्रकार किया जाता है--यह बात जान लेनेसे ही काम नहीं बनता, काम तो वैसे आचरण करनेसे बनता है। जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते, वे उतने अपराधी नहीं हैं; किन्तु जो जानकर भी ऐसा नहीं करते, उनसे तो बड़ा अपराध बन रहा है। यदि हम अपने मन और बुद्धिको एक बार भी भगवान् या गुरुके अर्पण कर दें तो ये शुद्ध हो जायँगे। एक बार समर्थ गुरु रामदासजी भिक्षा माँगते-माँगते छत्रपति शिवाजीके द्वारपर पहुँचे। शिवाजीने एक कागजपर अपने सारे राज्यका समर्पणपत्र लिखकर उनकी झोलीमें डाल दिया। समर्थने कहा, 'शिवा! यदि तू आटा देता तो रोटी बनाकर खा लेते, इस कागजको लेकर हम क्या करेंगे। हम तो साधु हैं, तेरे राज्यको लेकर हमें क्या करना है।' शिवाजीने कहा, 'महाराज! मैं तो दे चुका, अब इसे कैसे ले सकता हूँ।' तब समर्थने कहा, 'अच्छा, राज्य हमारा ही रहा; किन्तु इसका प्रबन्ध तू कर।' इसी तरह गुरु या भगवान्को अपना सर्वस्व समर्पण किये बिना आगेका मार्ग नहीं खुलता। अत्यन्त दीन होकर प्रार्थना करो कि 'भगवन्! इन मन-बुद्धिको आप स्वीकार करें।' बस, भगवान्के अर्पण होनेपर तुम्हारे मन-बुद्धि स्वच्छ हो जायँगे।

प्रभुके चरण

प्रभुके चरण मंगल-धाम।
कमल-कोमल, परम सुन्दर, नवल नीरद श्याम॥
कुलिश अंकुश केतु संयुत चक्र-चिह्न ललाम।
चन्द्रनख शुचि-श्वेत-शीतल, अरुण तल अभिराम॥
कनक-नूपुर सुभग शोभित, जटित मुक्ता-दाम।
रुचिर रज, नव रेख यावक ललित अति वसुयाम॥
कामप्रद, कलि-कलुष-नाशक, शान्तिकर गुणग्राम।
किये सेवा हरत भव-भय, देत 'शशि' विश्राम॥

—शशिप्रभा देवी

कुम्भ

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

(२)

चाँदीका कुम्भ-जैसे वेदमें अनेकों प्रकारके कर्म बताये हैं, उसी प्रकार अनेकों उपासनाएँ भी बतायी हैं। कर्म करनेमें विशेष द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है, परिश्रम भी बहुत होता है, बहुत-से समुदायकी भी जरूरत होती है और कर्मका फल भी गन्धर्वलोक, पितृलोक अथवा स्वर्गकी प्राप्ति है। किन्तु उपासनामें विशेष द्रव्यकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उपासना एक मानसिक क्रिया है। स्थूलसे सूक्ष्म विशेष व्यापक होता है, इसलिये उपासनाका फल स्वर्गसे भी ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति है। अश्वमेध यज्ञसे जो फल होता है, वही हिरण्यगर्भकी उपासनासे होता है। यानी दोनोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्ती राजा ही कर सकता है। *हिरण्यगर्भकी उपासना चारों वर्ण कर सकते हैं*; इसमें द्रव्यकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये इसे एक निर्धन मनुष्य भी कर सकता है। इसलिये कर्मसे उपासना श्रेष्ठ है। उपासनाका फल भी चिरस्थायी है। इसलिये भी उपासना श्रेष्ठ है। यहाँ कुछ थोड़ी-सी उपासनाएँ संक्षेपमें बतलाता हूँ। 'नाम' की ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला पुरुष समस्त वेद-शास्त्रोंका और समस्त भाषाओंका जाननेवाला हो जाता है। नाम सुनते ही ब्रह्माण्डभरकी वस्तुओंको जान जाता है। थोड़ा-सा पढ़ा हुआ भी यानी एकाध भाषाका पूर्ण ज्ञाता भी जब पृथ्वीपर पुजने लगता है, तो फिर सब भाषाओंका और वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता क्यों नहीं पुजेगा। इसलिये जिसको संसारभरमें पुजनेकी अभिलाषा हो, वह 'नाम' की उपासना ब्रह्मरूपसे करे!

'वाणी' की उपासना नामकी उपासनासे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि नामकी उपासना करनेवाला पुरुष तो सब शब्दोंको जान ही सकता है और 'वाणी' की ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला तो जाने हुएको सबके सामने कह भी सकता है। 'वाणी' की ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाला पुरुष अपनी वक्तृत्व-शक्तिसे करोड़ों मनुष्योंको व्याख्यान देकर वाणी-मात्रसे मोहित कर सकता है। बीरबलकी वाणी ही सिद्ध थी, यद्यपि पूर्णसिद्ध नहीं थी; फिर भी वह अकबर और अकबरकी सभाको मात कर देता था, यह बात सबपर प्रसिद्ध है। पाँचों आचार्योंकी वाणी ही सिद्ध थी, इसीलिये वे भारतभरमें प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हैं। बड़े-बड़े लेखक और कवि भी वाणीकी उपासना करनेसे ही विख्यात और पूजनीय हुए हैं।

भाइयो! वेदकी शिक्षाके 'गणेशाय नमः' का मैंने यह आपको दिग्दर्शन कराया है, इतनेसे ही जब मनुष्य पृथ्वीपर पूजनीय हो सकता है तो आगेकी एक-से-एक उत्तम उपासनाओंका तो कहना ही क्या है। वाणीके बाद मनकी उपासना है, मनका उपासक सबके मनको जान लेता है। सङ्कल्पका उपासक इससे भी श्रेष्ठ है, वह सङ्कल्पमात्रसे ऊँचे-से-ऊँचे लोकमें पहुँच जाता है। संकल्पसे चित्त, चित्तसे ध्यान, ध्यानसे विज्ञान, विज्ञानसे बल श्रेष्ठ है, इसी प्रकार इनके उपासक भी एक-से-एक श्रेष्ठ हैं। चित्तका उपासक सबके चित्तको जान सकता है, ध्यानका उपासक ध्यानमात्रसे चाहे जिस व्यक्तिको बुला सकता है, विज्ञानका उपासक हजारों मनुष्योंके मनकी बात एक साथ जान सकता है और बलका उपासक ब्रह्माण्डभरमें सबसे अधिक बलवान् हो जाता है; परन्तु भाइयो! तुम्हारा मन तो केवल

पाँचों विषयोंको ही पर्याप्त मानता है, फिर तुम इन उपासनाओंको जानने ही क्यों लगे। जानोगे ही नहीं, तब करोगे तो कहाँसे। भाई! आँखें खोलो! वेद-शास्त्र देखो, क्षणभङ्गुर मनुष्यशरीरमें बंद रहकर छोटे-से मत बने रहो, देवताओंके दिव्य भोग भोगो! यह पृथ्वी ही लोक नहीं है; गन्धर्वलोक, पितृलोक, देवलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक आदि अनेकों लोक हैं; उनकी सैर करो। वेदमें जो-जो उपासनाएँ बतायी हैं, उन्हें करो। न लड़नेका काम है, न झगड़नेका और न कौड़ी-पैसेका खर्च ही है; बस, मन लगानेका काम है! क्षणभर भी मन ठहरने लगा, तो त्रिलोकीके ऐश्वर्यपर लात मार दोगे! भाई! मन तुम्हारा है, तुम्हारे पास है; कहींसे लाना तो है ही नहीं। दुनियाभरको वशमें करनेकी चेष्टा मत करो, एक मनको ही वश कर लो; फिर तुम बादशाहोंके भी बादशाह हो जाओगे! मेरे कहनेमें रत्तीभर भी झूठ नहीं है; थोड़ी देरके लिये मनको ठहरा तो लो, फिर मेरे कहनेपर आपको विश्वास हो जायगा! मनके ठहरनेपर यदि तुम्हें मेरी बात झूठ जँचे तो मुझे चाँदीका कुम्भ नहीं, पीतलका या लोहेका कह देना। मैंने जितनी बातें कही हैं, वे मेरी मनगढ़ंत नहीं हैं; श्रुति, स्मृति सब इसमें प्रमाण हैं और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा और रुद्र साक्षी हैं। इतनोंका प्रमाण और साक्षी देनेपर भी यदि तुम्हें विश्वास न हो तो यही कहना होगा कि दैव ही बलवान् है। दैव जो कुछ चाहता है, वही करता है और वही होता है। भाई दैव बलवान् है, परन्तु तुम उससे भी बलवान् हो; यदि तुम पुरुषार्थ करो, तो तुम्हारा पुरुषार्थ ही दैव-बलमें बदल जायगा। खड़े हो जाओ, आलस्य मत करो; पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थसे सब कुछ मिलता है।

हे शिष्य! इसके बाद सबके अन्तमें सुवर्णका कुम्भ अपने अपूर्व जलकी इस प्रकार वर्षा करने लगा—

सुवर्णका कुम्भ—भाइयो! लोहेके कुम्भका जल तो मैले हौजका है, इसलिये छूने योग्य भी नहीं है; छूनेकी बात तो दूर रही, पास जाने योग्य भी नहीं है। उससे दूर ही रहना चाहिये। इसे छेड़ना भी नहीं चाहिये, क्योंकि हौजमें ईंट फेंकनेसे छींटे अपने ऊपर ही आते हैं; इसलिये लोहेका कुम्भ सर्वथा त्याज्य है। उसके अनुयायियोंकी तो यमराज खूब खबर लेंगे! पीतलके कुम्भका जल कूपका है, कूपका जल भी खारा और मीठा—दो प्रकारका होता है। यह जल तो खारा है, बर्तन माँजने योग्य है; मीठा जल न मिले तो भले ही स्नान भी कर लिया कीजिये; किन्तु पीने योग्य तो यह हरगिज नहीं है। ताँबेके कुम्भका जल यमुना-जल है और चाँदीके कुम्भका जल गङ्गाजल है। दोनों ही निर्मल हैं; स्पर्श, मज्जन और पानसे पापोंको हरनेवाले हैं। और मेरा जल तो अमृतरूप ही है, इसे पीनेवाला अजर-अमर हो जाता है। यद्यपि अपने मुखसे अपनी बड़ाई करना बड़ा दोष है, परन्तु जिसकी दृष्टिमें दूसरा हो ही नहीं, सब आप-ही-आप है, उसके लिये अपनी बड़ाई आप करना दूषणरूप नहीं, किन्तु भूषणरूप है। फिर यह मेरी बड़ाई भी नहीं है, बड़ाई जलकी है; इस कारण भी बड़ाई करनेमें दोष नहीं है। बिना गुण-अवगुण जाने किसी वस्तुका ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता; इसलिये दोष-गुण बतलानेकी आवश्यकता है।

कर्म ही यमुना-जल है; उसका पान करनेवाला अर्थात् कर्मकाण्डपरायण मनुष्य इस लोकमें सुख भोगता है और मरनेके बाद पितृलोक, चन्द्रलोकके दिव्य भोग भोगता है। उपासना गङ्गाजल है, उसका पान करनेवाला इन्द्रलोक और प्रजापतिलोकके अनुपम भोग भोगता है। दोनोंमेंसे देर-सबेर लौटना अवश्य पड़ता है, तथा लौटनेमें महान् कष्ट होता है। अधिक ऊँचे जाकर लौटनेमें अधिक कष्ट होता है, यह सबके अनुभवका विषय है। यहाँ भी देखनेमें आता है कि निर्धनको उतना कष्ट नहीं होता,

जितना कष्ट धनीको निर्धन हो जानेपर होता है; इसीलिये वेदवेत्ताओंने उपासनाको कर्मसे अधिक उत्तम कहा है। मेरा जल यमुना-गङ्गाके सङ्गम-रूप सरस्वतीमेंसे लाया हुआ है। यह जल दो वस्तुओंकी सन्धिमें ही मिलता है; इसीलिये जितने सन्धिकाल हैं, वे पुण्यरूप समझे जाते हैं। त्रिकाल-सन्ध्याका भी शास्त्रमें इसीलिये विधान है। वेदवेत्ता सन्ध्याका माहात्म्य इस प्रकार कहते हैं—

सन्ध्या-माहात्म्य—ब्राह्मणपन और मनुष्यपन तीनों सन्ध्याओंमें ही स्थित है, इसलिये श्रेयोऽभिलाषी मनुष्यको यथाकाल तीनों सन्ध्याएँ करनी चाहिये। सूर्यभगवान्‌को अर्घ्य देकर सन्ध्या करनी चाहिये। सन्ध्याहीन मनुष्य देखनेमात्रका ही मनुष्य है। जिस कालमें शिव और शक्तिका संयोग होता है, वह चरम सन्ध्या योगसे ही उत्पन्न होती है। समाधि-से उत्पन्न होनेवाली उस चरम सन्ध्याके लिये द्विज तीनों सन्ध्याओंका ध्यान करे। सन्ध्यासे विश्वनाथ की उपासना की जाती है, इसलिये सन्ध्या वन्दनीय है। द्विजका अर्थ द्विजाति है; यानी संस्कृत ब्राह्मण, संस्कृत क्षत्रिय, संस्कृत वैश्य—ये तीनों द्विज कहलाते हैं। जन्मसे ब्राह्मण और संस्कारसे द्विज कहलाता है, ऐसा स्मृति-वचन है। जाति, कुल, वृत्त, स्वाध्याय और श्रुत—इनसे जो युक्त होता है, वह द्विज कहलाता है। विचारकर देखा जाय तो जाति, कुल, स्वाध्याय और श्रुत—ये चारों मिलकर भी द्विजत्वके कारण नहीं हैं किन्तु एक वृत्त ही द्विजत्वका कारण है। इसलिये प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल—तीनों समय स्नान करके सन्ध्या करे। ज्ञान-भक्तिसे युक्त होकर गायत्रीका जप और स्मरण करे। जो सन्ध्या है वही गायत्री है, वही सावित्री है और वही सरस्वती है। गायन करनेसे उपासकको संसार-समुद्रसे तारती है, इसलिये वह 'गायत्री' कहलाती है। सविता—सूर्य-का बोधन करनेसे 'सावित्री' कहलाती है और वाणीरूपसे ब्रह्मतक ले जाती है, इसलिये 'सरस्वती' कहलाती है। पावन गायत्रीके जपसे और ज्ञानसे चरम गति प्राप्त होती है। गायत्रीहीनका न यहाँ कल्याण है और न परलोकमें है। इसलिये वेदमाता गायत्रीका सदा जप करना चाहिये। तीनों कालकी सन्ध्या करनेसे चौथी अरूपा सन्ध्या प्रकाशित होती है; वह सन्ध्या शिव-बोधस्वरूप है, इसलिये चरम कहलाती है।

भाइयो! इस अरूपा सन्ध्याके प्रकाशित होते ही उपासक चराचरमें शिवका ही दर्शन करता है; जहाँ देखता है, वहीं विष्णुभगवान्‌को ही देखता है। सूर्यरूपसे भगवान् सबको प्रकाश और उष्णता देते हुए दीखते हैं, चन्द्ररूपसे सब ओषधियोंका पालन-पोषण करते हुए दिखायी देते हैं। भगवान् ही आकाशमें व्याप्त होकर सबको अवकाश देते हुए नजर आते हैं, भगवान् ही वायुरूप होकर सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान् ही अग्निरूप होकर सबको तेजस्वी बनाते हुए दीखते हैं। गङ्गा-यमुना आदि नदियोंमें तथा समुद्रमें भगवान् ही दिखायी देते हैं और पृथ्वीमें रहकर भगवान् सबका पालन-पोषण करते हुए दीखते हैं। फलमें, फूलमें, पत्तोंमें, शाखाओंमें भगवान् ही नजर आते हैं; पशुओंमें, पक्षियोंमें भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं, तीनों कालमें, दसों दिशाओंमें सर्वत्र एकमात्र भगवान् ही परिपूर्ण देखनेमें आते हैं।

अबतक भगवान्‌को उपासक अपनेसे भिन्न जानता था, किन्तु अब उनको अपना और सबका आत्मारूप जानता है। कानोंसे भगवान् सुन रहे हैं, त्वचासे छू रहे हैं, आँखोंसे देख रहे हैं, जिह्वासे स्वाद ले रहे हैं और नासिकासे गन्ध ले रहे हैं। उपासकको प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव होता है, वाणीसे भगवान् बोल रहे हैं, हाथोंसे ग्रहण कर रहे हैं, पैरोंसे चल रहे हैं, उपस्थसे आनन्द ले रहे हैं और पायुसे त्याग रहे हैं—ऐसा उपासक अनुभव करता है। भगवान् प्राणसे भीतरकी वायुको बाहर छोड़ रहे हैं, अपानसे बाहरकी वायु भीतर ले रहे हैं,

व्यानसे समस्त शरीरकी नाड़ियोंमें घूम रहे हैं, समानसे खाये-पिये हुए अन्नको समान कर रहे हैं और उदानसे शरीरको पृथ्वीपरसे ऊपर नहीं जाने देकर पृथ्वीपर ही चलने-फिरने देते हैं, ऐसा उपासक जानता है। मनसे भगवान् मनन कर रहे हैं, चित्तसे चिन्तन कर रहे हैं, बुद्धिसे निश्चय कर रहे हैं और अहंकारसे अहंभाव कर रहे हैं— उपासकको ऐसा प्रतीति होती है।

इतना जाननेपर उपासककी भेद-बुद्धि दूर हो जाती है; वह सबमें भगवान्को और सबको भगवान्में देखता है, भगवान्को अपने आत्मारूपसे अनुभव करता है! इसलिये वह भगवान् या अपनेसे भिन्न और किसीको नहीं जानता! न किसीसे राग करता है, न किसीसे द्वेष करता है, सबमें समान दृष्टि रखता है; न किसीसे भय खाता है, न किसीको भय दिखलाता है, किन्तु प्राणीमात्रको अभय देता है! न शोक करता है, न मोह करता है, न लोभ करता है, यथालाभमें सन्तुष्ट रहता है! न अनुकूल प्राप्त होनेसे सुखी होता है, न प्रतिकूल प्राप्त होनेसे दुखी होता है, किन्तु सर्वदा शान्त रहता है! विशेष क्या कहें, जीते-जी ब्रह्मलोकके सुखका अनुभव करता है और अन्तमें अक्षय सुखस्वरूप ही हो जाता है! इसलिये हे भाइयो! अपना-अपना धर्म पालते हुए राग-द्वेषरहित होकर समभावसे बर्ताव करते हुए विश्वेशकी शरण लो और सर्वदाके लिये सुखी हो जाओ! इस मनुष्यशरीरमें ही परमात्माका ज्ञान हो सकता है, अन्य शरीरमें नहीं; इसलिये अमूल्य मनुष्य-शरीरको सार्थक कर लो और सुखी हो जाओ!

भाइयो! यह आनन्दस्वरूप आत्मा अक्षय सुखका सागर है, दुःखका इसमें लेश भी नहीं है; प्रकाशका भी प्रकाश है, अँधेरेका इसमें नामतक नहीं है; अविनाशी है, कभी इसका नाश नहीं होता, अखण्ड, एकरस, अव्यय, अविकारी है; परन्तु इसपर तीन भूत चढ़ बैठे हैं, इसलिये सुखका समुद्र होकर भी रोता-सा दीखता है। सूक्ष्मतासे अधिक सूक्ष्म होनेपर भी अंधा-सा बन जाता है, नित्य अविनाशी होनेपर भी विनाशशील-सा हो रहा है! इन तीनों भूतोंके आवेशसे विपर्यय देखने लगा है, इन भूतोंको उतार दो और सुखी हो जाओ!

तीन भूतोंका आवेश

जब स्थूलशरीररूप भूतका आवेश होता है, तब यह आनन्दस्वरूप आत्मा सबके सामने रोता फिरता है। कभी माताके सामने रो-रोकर दूध पीनेको माँगता है, पानी माँगता है, रोटी-दाल माँगता है, नये-नये खिलौने खेलनेको माँगता है, वस्त्र माँगता है, आभूषण माँगता है। यदि माता अभिलषित वस्तुएँ दे देती है, तब थोड़ी देरको रोना बंद कर देता है, फिर दूसरी वस्तुके लिये रोने लगता है। इस प्रकार माताके सामने रोता रहता है। कभी पिताके सामने रो-रोकर पैसे माँगता है, गाड़ी माँगता है, घोड़ा माँगता है, पुस्तकें माँगता है। यदि पिता दे देता है तो भली-भला; यदि पिता कृपण हुआ अथवा गरीब हुआ तो इसकी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। इच्छा पूर्ण हो गयी तो कुछ देरके लिये रोना बंद कर देता है, फिर थोड़ी देरमें रोने लगता है। इस प्रकार पिताके सामने रोता रहता है! बराबरवाले लड़कोंमें जाकर खेलता है तो कभी किसीको पीटता है, कभी पिटाता है; कभी हारता है, कभी जीतता है, कभी किसीसे कुछ छीन लेता है, कभी कोई इसकी वस्तु छीन लेता है; इस प्रकार रोता रहता है। पाठशालामें जाता है तो आचार्यके भयसे रोता है; दिन-दिनभर, रात-रातभर पाठ घोखा करता है। पाठ याद न हुआ तो गुरुजीकी कमचियाँ खा-खाकर रोता है, यदि पाठ याद हो गया तो दूसरा पाठ तैयार है; इस प्रकार पाठशालामें रोते-रोते ही बेचारेकी उमर बीतती है! पाठशाला छोड़नेपर यदि धनी हुआ तब तो वाह वा, नहीं तो धंधा करनेके लिये छोटे-बड़े, ऊँचे-नीचे, न मालूम किस-किसके सामने दीन होता हुआ रोता फिरता है! धंधा लगनेके बाद पेटमें खाया हुआ अन्न पचाना कठिन हो जाता है। विवाह

करनेकी सूझती है, किसी-किसीके मदरसेसे निकलनेके पहले ही दो-तीन बच्चे हो जाते हैं, धंधा न हुआ तो स्त्री-बच्चे खूब रुलाते हैं, धंधा करने लगा तो 'यह ला, वह ला' इत्यादि अनेक वस्तुएँ माँग-माँगकर स्त्री और बच्चे रुलाते हैं ! विवाह नहीं हुआ होता, तो दिन-रात विवाहकी चिन्ता रुलाती है ! विवाह हो गया तो पूर्वजन्मके बोहरे अथवा आसामी आ घेरते हैं ! बोहरोंको तो देखते ही आप रोता है और कुटुम्बको भी रुलाता है। यदि आसामी आये तो रोता नहीं, उलटा हँसता है, जाति-बिरादरीको बुलाता हुआ फिरता है; बाल-बच्चे हुए तो उनको जिमाता हुआ उन्हें हाथ जोड़ता है, कंगाल हुआ तो अपनेको असमर्थ, दरिद्री जानकर रोता है। जब आया हुआ आसामी चला जाता है, तब तो पेटभरके रोता है। लड़का अपने ही घर रहता है, यथासम्भव कर्जा चुकाता है, इसलिये उसको वृद्ध पुरुष आसामी कहते हैं। लड़की घरमें नहीं रहती, सेवा कराकर और धन लेकर दूसरे घर चली जाती है; इसलिये लड़कियोंको बड़े लोग बोहरा मानते हैं ! इस प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा जवानीमें स्त्रीके पीछे मर्कटके समान दौड़ता हुआ रोता रहता है। पश्चात् वृद्धावस्थामें तो शरीर हड्डियोंका पंजर हो जाता है, सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तृष्णा बढ़ जाती है, भोगका सामर्थ्य रहता नहीं, इसलिये खूब ही रोता है। बुढ़ापेमें जैसे-जैसे कष्ट पाकर यह प्राणी रोता और चिल्लाता है, उनका वर्णन करते हुए धीर-से-धीर पुरुषकी भी छाती फटने लगती है। इसलिये वृद्धावस्थाका रोना बहुत ही करुणाजनक है, बेचारा खाँसतकको तरसता है। पुरानी कहावत है कि 'दाँत गिरे अरु खुर घिसे, पीठ बोझ नहिं लेय। ऐसे बूढ़े बैलको कौन बाँध भुस देय ॥' यदि किसीने पूर्व जन्ममें बहुत ही पुण्य किया हो, तब तो वह थोड़ा रोता है; नहीं तो प्रायः सबको अधिक ही रोना पड़ता है। यह पुरुष-शरीरका वर्णन किया गया है; यदि दैवयोगसे स्त्री-शरीर मिला, तब तो आये दिन रोना ही बना रहता है, तीनों अवस्थाओंमें पराधीन रहना पड़ता है; यदि स्वतन्त्र होना चाहती है तो लोकमें निन्दा होती है और स्वतन्त्र हो भी गयी तो किसी पूर्व पुण्यसे भले ही कुमार्गी न हो, नहीं तो अवश्य भ्रष्ट हो जाती है, और लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लेती है। इस प्रकार पुरुष-शरीरसे स्त्री-शरीरमें अधिक रोना है। यहाँतक स्थूलशरीररूप भूतका दिग्दर्शनरूपसे वर्णन किया। अब सूक्ष्मशरीररूप भूतका वृत्तान्त सुनो —

सूक्ष्मशरीररूप भूतके आवेशसे यह आनन्दस्वरूप आत्मा स्वप्नमें शून्यस्थानमें वृक्ष लगा हुआ देखता है, वृक्षपर अच्छे-अच्छे फल लगे हुए देखता है, फलोंको देखकर उसके मुँहमें पानी भर आता है, फल तोड़नेको लपकता है इतनेहीमें वृक्ष हाथी अथवा सिंह बन जाता है, सिंहको देखकर आत्मा भयभीत होकर भागता है, पर्वतपर चढ़ने लगता है, पर लगे हुए पक्षीके समान दौड़ता है, फिर भी सिंह पीछा नहीं छोड़ता। डरके मारे बेचारा आत्मा पर्वतपरसे कूद पड़ता है, डरता-डरता जमीनपर आता है। जमीन नहीं दिखायी देती, समुद्र दिखायी देता है, समुद्रमें कूद पड़ता है। डूबता-उछलता चला जाता है। चलते-चलते थक जाता है, किनारेपर आना चाहता है। किनारा कोसोंतक दिखायी नहीं देता, घबड़ाता है। इतनेहीमें पूर्व पुण्यके प्रभावसे समुद्र सूख जाता है, महल दिखायी देता है। महल तो दिखायी देता है, परन्तु महलका दरवाजा दिखायी नहीं देता। चारों तरफ घूमता है, दरवाजा नहीं मिलनेसे रोता है; दरवाजा मिल गया तो घुसने लगता है। सिपाही रोकते हैं, खुशामद, दरामद करके भीतर जाता है; वहाँ चोर समझकर पकड़ लिया जाता है। कोई मारता है, कोई गालियाँ देता है, कोई बंदीखानेमें ले जाता है। बंदीखानेमें बेचारा अनेक कष्ट पाता है; भूख लगती है, भोजन नहीं मिलता। चाहे जिससे माँगता फिरता है। कोई टुकड़ा नहीं देता; व्याकुल होकर

कूपमें जा गिरता है। कूपमें भूतोंको, चुड़ैलोंको देखता है; वे सब 'हमारे घरमें क्यों घुस आया है ?' कहकर खूब मारते-पीटते हैं। मार खानेसे पूर्वपुण्यके प्रभावसे आँख खुल जाती है, तो कहने लगता है—'हाय ! हाय ! कैसा कष्ट पाया ! पिटा, भूखों मरा; न कुछ लेन था न देन, यों ही कष्ट उठाया ! अंधा हो गया था। अच्छा हुआ, आँख खुल गयी !' इस प्रकार सूक्ष्मशरीररूप भूतके आवेशसे जीव अंधा होकर अनेक कष्ट पाता है। अब कारण-शरीररूप भूतका वृत्तान्त सुनो—

कारण-शरीररूप भूतके आवेशसे जीवात्मा मरा हुआ-सा हो जाता है; न अपनेको जानता है न परायेको जानता है। न माता-पिताको जानता है, न शत्रु-मित्रको जानता है, न चोर-साहूकारको जानता है; न सूर्य-चन्द्रको जानता है, न पुण्य-पापको जानता है; न सुख-दुःखको जानता है, न हर्ष-शोकको जानता है ! जैसे कोई मदिरा पीकर बेहोश हो जाता है। मैले-कुचैले, मल-मूत्रके स्थानमें पड़ा रहता है; कुत्ते ऊपर आकर मूतते हैं, तो भी उसको कुछ खबर नहीं होती। उसी प्रकार कारण-शरीररूप भूतके आवेशसे आनन्दस्वरूप आत्मा मरा-सा हो जाता है, और अच्छे-बुरे किसीको नहीं जानता ! यद्यपि कारण-शरीररूप भूतके आवेशमें दुःखका अनुभव नहीं होता, तो भी इसके आवेशसे आनन्दस्वरूप आत्मा अपनेको और परायेको नहीं जानता, इसलिये मरेके समान है; और स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका बीजरूप होनेसे कारण-शरीर महा अनर्थका कारण है।

इस प्रकार इन तीनों शरीररूप भूतोंके आवेशसे जीवात्मा जाग्रत्में तो भूख-प्यास, आधि-व्याधि, प्रियसंयोग-वियोगके कारण रोता रहता है, स्वप्नमें कुछ-का-कुछ देखनेसे अन्धा-सा हो जाता है और सुषुप्तिमें बेहोश होनेसे मरा-सा हो जाता है। जबतक ये तीनों भूत नहीं उतरेंगे और आनन्दस्वरूप अपने स्वरूपमें स्थित न होगा, तबतक जीव सुखी नहीं हो सकता; इसलिये सब कार्य छोड़कर इन भूतोंको उतारनेका प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि आत्मा स्वभावसे स्वतन्त्र है, परन्तु इन भूतोंके आवेशसे परतन्त्र-सा जँचता है और स्वतन्त्र होनेके लिये अनेक उपाय करता है; परन्तु जितने उपाय करता है, उलटे करता है। भूतोंसहित स्वतन्त्र होना चाहता है, भूत स्वभावसे परतन्त्र और जड़ हैं; उन सहित कोई कभी भी स्वतन्त्र और सुखी नहीं हो सकता।

विचारकर देखा जाय तो आनन्दस्वरूप आत्माका इन शरीररूप तीनों भूतोंसे मेल ही नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है; आत्मा चेतनस्वरूप है, शरीर जड़रूप है; आत्मा आनन्दस्वरूप है, शरीर दुःखरूप है; तब ऐसे विलक्षण स्वभाववालोंका मेल होना असम्भव ही है। आनन्दस्वरूप आत्माने इनसे मेल न होते हुए भी अविचारसे मेल मान लिया है; अपनेको भूल गया है, उनको अपना स्वरूप मान लिया है ! जैसा संग, वैसा रंग ! असत्य, जड और दुःखरूप शरीरोंको अपना स्वरूप मानकर असत्य, जडरूप अपनेको मानकर दुःख भोग रहा है।

अविचारसे तीनों शरीर अपना स्वरूप भासते हैं—और विचारसे तीनों शरीरसे भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा भासता है। तीनों शरीररूप भूत जब उतर जाते हैं, तो संसारका कहीं पता नहीं चलता। जैसे स्वप्नसे जागनेपर स्वप्न मिथ्या हो जाता है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जानेपर यह सम्पूर्ण विश्व विलय हो जाता है और जो कुछ यह दृश्य है, सब-का-सब ब्रह्ममय भासने लगता है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे विश्व भासता है; किन्तु जैसे स्वप्नका अन्त होनेपर स्वप्न मृषा हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके नाश होनेपर सारा विश्व मृषा ज्ञात होता है। अज्ञानके प्रभावसे मिथ्या भी सत्य दिखायी देता है। अभ्याससे असत्यमें भी सत्यबुद्धि दृढ़ हो गयी है। संसारमें सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप—ये पाँच सभी वस्तुओंमें सर्वदा

देखनेमें आते हैं। उनमेंसे आदिके तीन सबमें समानरूपसे स्थित हैं और प्रत्येक द्रव्यके नाम और रूप भिन्न हैं। जो बुद्धिमान् प्रणिधानद्वारा इस प्रकार देखता है, वह एक अखण्ड सच्चिदानन्दमें नाम-रूप भिन्न-भिन्न देखता है। एक सच्चिदानन्द एकरसरूपसे बर्तता है और नाम-रूप सच्चिदानन्दमें भ्रमण करते रहते हैं। आनन्दस्वरूप आत्मा गम्भीरसे भी अति गम्भीर है, पारहीन है; इस पारहीन चेतन समुद्रमें नाम-रूपकी तरङ्गें निरन्तर नृत्य किया करती हैं। यह आनन्दस्वरूप आत्मा अनन्त है—देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित है, ज्योतिर्मय है, आकाशके समान व्यापक है; इस चेतनरूप आकाशमें नाम-रूप पक्षी दसों दिशाओंमें उड़ते रहते हैं। यह आनन्दस्वरूप आत्मा अचल है, क्षेम है, निर्विकार है, सनातन है; इस सनातन आत्मामें नाम-रूप चल, विकारी और नाशवाले हैं। यह अचल आत्मा ही सत्य है, चलरूप सब द्रव्य विकारी होनेसे नाशवाले हैं। सत्य सच्चिदानन्द, निष्कल, निरञ्जन आत्माको सदा ग्रहण करे और मिथ्या नाम-रूपका सर्वदा त्यागता रहे। प्राज्ञको चाहिये कि नाम-रूपके चित्रमें भ्रमण न करे किन्तु नाम-रूपमें लगे हुए मनको सर्वदा वहाँसे हटाता रहे। बुद्धिमान् सर्वदा इस प्रकार चिन्तन करे—'मैं एक, चेतनस्वरूप, सर्वत्र पूर्ण हूँ; मेरे सिवा अन्य कुछ भी कहीं भी नहीं है! मैं असङ्ग हूँ, निर्लेप हूँ, निर्मल हूँ, अमर हूँ, अजर हूँ, निर्मल, नित्य पवित्र परब्रह्म हूँ; संगहीन, रजोहीन, सत्त्वहीन हूँ, सम हूँ! निर्लेप-निराकार हूँ, जगदादिसे रहित हूँ; नाम-रूप और पञ्चभूतोंसे शून्य हूँ; न देह हूँ, न इन्द्रियाँ हूँ; न मन हूँ, न बुद्धि हूँ, न प्राण हूँ, न अहंकार हूँ; अव्यय, सत्तामात्र, चिदानन्द, अनामय हूँ। ऊर्ध्व, अध और मध्यसे रहित, निष्पाप हूँ; सर्वशून्य, गुणातीत, अच्युत, निरीह हूँ। प्रशान्त हूँ, अभय हूँ, नित्य हूँ, निष्कलङ्क हूँ, लक्षणरहित हूँ, तर्कसे पर, अविज्ञेय, मन-वाणीका अविषय हूँ। शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, अकथनीय हूँ, चिन्मात्र हूँ, स्वयंप्रभ हूँ, तृप्तिस्वरूप हूँ, चिदानन्द हूँ, द्वैतके भानसे रहित हूँ!' इस प्रकार भावना करनेसे वह सत्यस्वरूप ही हो जाता है। जब ध्यान करते-करते असत्य भी सत्य-सा हो गया है, तो सत्यका ध्यान करनेसे सत्यस्वरूप हो जानेमें संशय ही क्या है। कुछ भी संशय नहीं है! हे भाइयो! भोगकी भावना दृढ़ हो जानेसे बन्धन दृढ़ हो गया है और ध्यान-वैराग्यके योगसे नष्ट हो जाता है। इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। विधिपूर्वक शरण आये हुए शिष्यको एक दयालु गुरु इस प्रकार समझाते हैं—

यह कौन कहता है ?

(१)

यह कौन कहता है कि तू रज-वीर्य-युगसे जन्य है।
रज-वीर्य तेरे मैल हैं, रज-वीर्यसे तू भिन्न है॥
नहिं जन्मता है तू कभी, अव्यक्त नित्य अजन्य है।
आता नहीं, जाता नहीं; परिपूर्ण विभु चैतन्य है॥

(२)

यह कौन कहता है कि तू मल-मूत्रका भंडार है।
पावन, परम सुखरूप, निर्मल सारका भी सार है॥
है विश्व सारी कल्पना, तू विश्वका आधार है।
आकार तुझमें दीखते, तेरा नहीं आकार है॥

(३)

यह कौन कहता है कि तू तो मांस-हड्डी-चाम है।
तुझमें नहीं है मांस, हड्डी, चामका कहिं नाम है॥
तीनों गुणोंसे है परे, तू शुद्ध आत्माराम है।
निर्लेप है, निस्संग है, निष्पाप है, निष्काम है॥

(४)

यह कौन कहता है कि तू तो कालके है गालमें।
है कालका भी काल तू, मौजूद तीनों कालमें॥
मरता नहीं है तू कभी, फँसता नहीं जंजालमें।
अध्यस्त तुझमें काल है, तू एक-सा हर हालमें॥

(५)

यह कौन कहता है कि तू है चक्षु आदिक इन्द्रियाँ।
तू चक्षुका भी चक्षु है, तुझमें नहीं ज्ञानेन्द्रियाँ॥
तू वाक्यका भी वाक्य है, तुझमें कहाँ कर्मेन्द्रियाँ।
है प्राणका भी प्राण तू, नहिं हो सके प्राणेन्द्रियाँ॥

(६)

यह कौन कहता है कि तू मन है तथा विज्ञान है।
तू मन नहीं, विज्ञान नहिं, विज्ञान-मनकी जान है॥
मन करण है, विज्ञान कर्ता, तू सदा अक्रिय है।
कर्ता नहीं, नहिं तू करण, केवल परम निष्क्रिय है॥

(७)

यह कौन कहता है कि तुझमें आ गया अज्ञान है।
अज्ञान तुझमें हो कहाँ, तू ज्ञानघन प्रज्ञान है॥
कारण नहीं, नहिं कार्य, कारण-कार्यहीन अनंत है।
नहिं आदि है, नहिं मध्य है, होता न तेरा अंत है॥

(८)

तुझमें न तीनों देह हैं, तीनों अवस्था हैं नहीं।
नहिं पिंड, नहिं ब्रह्मांड ही, माया न तुझमें है कहीं॥
अभिमान होता है जहाँ पर, दृश्य-द्रष्टा हैं वहीं।
अभिमानको दे छोड़, फिर तू दृश्य-द्रष्टा है नहीं॥

(९)

तेरा न कोई रूप है, कोई न तेरा नाम है।
वाणी तथा मनसे परे है, नामका क्या काम है॥
आकाश सम [illegible] भर रहा सर्वत्र ही भरपूर है।
आत्मा स्वयं है आप तू, नहिं पास है, नहिं दूर है॥

(१०)

हे [illegible] सबका छोड़ प्यारे! आप भज तू आपको।
[illegible] नाशक एक रस त्रैलोक्यका, त्रैतापको॥
जो तू भजेगा असत्‌को तो तू असत् हो जायगा।
आत्मा भजन कर सत्यका, साम्राज्य सच्चा पायगा॥

प्यारे भाइयो! एक परब्रह्म परमात्मा ही सच्चा और सुखरूप है, शेष सब संसार भ्रममात्र है और दुःखरूप है। जो कुछ भी कर्म करो, परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही करो। तीर्थ करो, व्रत करो; जप करो, तप करो; दान करो, धर्म करो; गंगास्नान करो, यमुनास्नान करो; होली करो, दिवाली करो; गीता पढ़ो, भागवतका पाठ करो, रामायणकी आवृत्ति करो—जो कुछ करो सब भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही करो। स्वधर्मपर आरूढ़ रहो, राग-द्वेष किसीसे न करो; राग-द्वेष ही अनर्थका कारण है। भगवान् समान हैं, समदर्शीपर शीघ्र अनुग्रह करनेवाले हैं, सब दुःख दूर करके सुखी करते हैं; उनका ही भजन करके, उनको ही प्राप्त होकर सर्वदाके लिये सुखी हो जाओ! श्रुति भगवती कहती है कि अल्पमें सुख नहीं है, परिपूर्ण अपरिच्छिन्न परमात्मामें ही सुख है! शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे शिष्य! जो धीर पुरुष सुवर्ण-कुम्भके इस अमृतरूपी जलका पान करता है, उसका घट अवश्य फूट जाता है और वह सर्वदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होता है! बोल! अब तो मेरे-तेरे वाक्यकी सङ्गति मिल गयी। या अब भी कुछ कसर है? शिष्य गुरुका अपूर्व व्याख्यान सुनकर अपनी तृप्ति दिखलाता हुआ उछल-उछलकर नीचेके पद गाता है।

ज्ञानीका अनुभव (तृप्ति)

(१)

अहाहा! अहाहा! भला कुंभ टूटा।
हुआ ठोस पक्का, न टूटा न फूटा॥
हुआ सारका सार, संसार छूटा।
सभीमें भरा एक मैं हूँ अनूठा॥

(२)

नहीं देह मेरा, नहीं गेह मेरा।
नहीं द्वेष मेरा, नहीं स्नेह मेरा॥
नहीं रूप मेरा, नहीं नाम मेरा।
नहीं देश मेरा, नहीं ग्राम मेरा॥

(३)

यहाँ हूँ, वहाँ हूँ; कहाँ मैं नहीं हूँ?
नहीं और कोई, जहाँ मैं नहीं हूँ॥
सभी देशमें हूँ, सभी कालमें हूँ;
सभी वस्तुओंमें, सभी हालमें हूँ॥

(४)

न आऊँ न जाऊँ, सभीमें रमा हूँ।
बड़ा हूँ न छोटा, सदा एक-सा हूँ॥
नहीं जन्म लीन्हा, नहीं मैं मरा हूँ।
न खोटा हुआ मैं, सदा ही खरा हूँ॥

(५)

पढ़ूँ वेद-वेदाङ्ग, तो वाह-वा है।
करूँ योग अष्टाङ्ग, तो वाह-वा है॥
जपूँ नित्य ओंकार, तो भी भला है।
हिलाऊँ नहीं जीभ, तो हानि क्या है॥

(६)

सुनूँ नित्य गीता, सुनूँ मैं नहीं हूँ।
पढ़ूँ भागवत मैं, पढ़ूँ मैं नहीं हूँ॥
अनोखे लिखूँ लेख, नाहीं लिखूँ हूँ।
शिखा-सूत्र राखूँ न तो भी रखूँ हूँ॥

(७)

सभी स्वाद लेऊँ, नहीं स्वाद लेऊँ।
करूँ दान, तो भी नहीं दान देऊँ॥
रचूँ गद्य भी, पद्य भी मैं बनाऊँ।
कथाएँ सुनाऊँ, न तो भी सुनाऊँ॥

(८)

करूँ राज्य तो भी, नहीं लाभ कोई।
सदा भीख माँगूँ, नहीं हानि होई॥
चढ़ूँ हाथियोंपर भले, वाह-वा है।
फिरूँ पैर नंगे भले, हानि क्या है॥

(९)

नहीं संत हूँ मैं, न ज्ञानी अमानी।
न भोगी न योगी, नहीं ब्रह्मध्यानी॥
नहीं प्राज्ञ हूँ मैं, न तत्त्वज्ञ ही हूँ।
न अल्पज्ञ हूँ मैं, न सर्वज्ञ ही हूँ॥

(१०)

नहीं एक-दो हूँ, न ना हूँ न हाँ मैं।
सदा हूँ, सदा हूँ, सदा हूँ सदा मैं॥
सयाना न भोला, न विक्षिप्त हूँ मैं।
सदा तृप्त हूँ, तृप्त हूँ, तृप्त हूँ मैं॥

दो०—कुंभ-कथा हरिजन पढ़ें, छाँड़ि कपट-छल-दंभ।
भोला! हरि-हर-कृपा ते, शातकुंभ हो कुंभ॥

सकल चराचरानुचर भोला।

शिष्यको कृतार्थ हुआ देखकर श्रीगुरु मनमें फूले नहीं समाये हैं; गुरु-शिष्य दोनों आनन्दसे निर्भय होकर भूमण्डलको पवित्र करते हुए विचरने लगे हैं।

नमस्कारमात्रसे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुबिहारीजी द्विवेदी)

नर्मदाका पावन तट। भाद्रशुक्लीन सन्ध्या-वन्दनके पश्चात्‌का समय। नर्मदाकी लहरोंमें चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियोंका कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति महात्मा तटके पास ही एक शिलाखण्डपर बैठकर ध्यान-मग्न हो रहे हैं। शान्तिका साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासुने आकर उनके चरणोंका स्पर्श किया। महात्माजीकी आँखें खुल गयीं, मुखपर मन्द मन्द मुसकराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा, शान्तिसे बैठ जाओ।' युवकने आज्ञापालन किया।

क्षणभर ठहरकर महात्माजीने कहा—'बेटा! बोलो, क्या पूछना चाहते हो?'

जिज्ञासु—भगवन्! मैं आपकी आज्ञाओंके अतिरिक्त और जानता ही क्या हूँ कि प्रश्न करूँ। मेरे तो लोक-परलोक, ईश्वर-परमेश्वर—सब आप ही हैं। आप सबके सम्मान, सबकी पूजाका उपदेश करते हैं, इसलिये करता हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्वके आप ही परम प्रमाण हैं। आप जो उचित समझिये, उपदेश कीजिये।

महात्माजी—बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। फिर भी जब साधक साधनामें लगता है तब उसके सामने कितनी ही कठिनाइयाँ आती हैं, कितनी ही स्थितियाँ प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। मनको एकाग्र करनेकी चेष्टा करते ही उसके सामने अनेक प्रकारके लुभावने दृश्य उपस्थित होते हैं। उनके सम्बन्धमें प्रश्न किये बिना काम नहीं चलता। प्रश्नसे मालूम हो जाता है कि यह साधक अन्तर्मुख हो रहा है या नहीं, अथवा इसकी अन्तर्मुखता किस श्रेणीकी है। इसके प्रश्नमें विवाद, कौतूहल, जिज्ञासा अथवा श्रद्धाका भाव है, इस बातका पता चल जाता है। यदि अधिकारका पता चले बिना ही कोई बात कही जाती है तो वह साधकके चित्तपर बैठती नहीं। ऊँचे अधिकारकी बात वह ग्रहण नहीं

कर सकेगा और नीचे अधिकारकी बातमें रुचि नहीं होगी। इसीसे शास्त्रमें निषेध है कि 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'—'बिना पूछे किसीको न बतलाये।' आजकल लोग वर्षोंतक अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, पढ़ते हैं और कहते हैं; परन्तु अधिकारके अनुरूप न होनेके कारण उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारके प्रकाशके लिये अपने हृदयकी बात अवश्य पूछनी चाहिये।'

जिज्ञासु—'भगवन्, महात्मालोग तो स्वयं ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होते हैं। वे बिना पूछे भी सब कुछ जानकर अधिकारके अनुसार उपदेश कर देते हैं।'

महात्माजी—'वैसे तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु परमात्मा सबके हृदयमें ही बैठे हुए हैं; परन्तु उनसे भी प्रार्थना करनी पड़ती है, हाथ जोड़कर उनके सामने आत्मनिवेदन करना पड़ता है। यद्यपि वे सबको स्वीकार किये हुए हैं, फिर भी उस स्वीकृतिसे न जीवके दुःखकी निवृत्ति होती है और न तो सुख-शान्तिका अनुभव ही होता है। 'उन्होंने स्वीकार कर लिया'—इस बातका अनुभव आत्मनिवेदन करनेके पश्चात् ही होता है। इसी प्रकार यद्यपि महात्मा पुरुष सबके कल्याणका ही उपदेश किया करते हैं; फिर भी यह उपदेश मेरे लिये है, इस बातका निश्चय प्रश्नसे ही होता है। यदि बिना पूछे ही किसी उपदेशको ऐसा मान लिया जाय कि यह मेरे लिये है तो आगे चलकर यह शङ्का हो सकती है कि 'शायद वह उपदेश मेरे लिये रहा हो या न रहा हो।' अपने मनकी मान्यतापर विश्वास कर लेना खतरेसे खाली नहीं है। क्योंकि मनकी गति अनिश्चित है। इसलिये अपने सम्बन्धमें प्रश्न करके सर्वदाके लिये पक्का निश्चय कर लेना चाहिये। देखो, शास्त्रमें यह बात स्पष्टरूपसे आती है कि एक बार भगवन्नामके उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरणसे परम पदकी प्राप्ति हो जाती है। यथा—

यन्नामैकं कर्णमूलं प्रविष्टं
वाचाक्लिष्टं चेतनासु स्मृतं वा।
दग्ध्वा पापं शुद्धसत्त्वात्तदेहं
कृत्वा साक्षात् संविधत्तेऽनवद्यम्॥

(सात्वततन्त्र, नवम पटल श्लो० ५८)

'भगवान्‌के एक नामके श्रवण, उच्चारण अथवा स्मरणसे समस्त पाप भस्म हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, केवल नामके सम्बन्धमें ही नहीं, नमस्कारके सम्बन्धमें भी ऐसी बात आती है कि जिसने एक बार भी भगवान्‌को नमस्कार कर लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वेदान्त-शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा जाता है कि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है, बन्धन एक भ्रम है। यद्यपि मुक्ति इतनी सरल, सुगम और नित्य प्राप्त है, फिर भी उसके सम्बन्धमें निश्चय न होनेके कारण जीव भगवद्विमुख और विषयपरायण हो रहा है। यह उसके निश्चयकी न्यूनता है। यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। किसी दूसरेके लिये कोई दूसरा निश्चय कर दे, ऐसा नहीं हो सकता। इतना ही साधकका पुरुषार्थ है। फिर तो उसके जीवनसे साधनाकी धारा फूट पड़ती है; उसका चलना-फिरना, हँसना-बोलना—सब साधनस्वरूप हो जाता है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, आपने अभी नाम और नमस्कारकी महिमा बतलायी है। नामकी महिमा तो कई बार सुननेको मिलती है। आप कृपा करके 'नमः' की महिमा बतलाइये।'

महात्माजी—'वास्तवमें नाम और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द 'नम् प्रह्वत्वे' धातुसे बनते हैं। 'प्रणाम' शब्दमें तो 'प्र' उपसर्गयुक्त 'नाम' ही है। और वास्तवमें 'नाम' और 'नमः' दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। साधकोंकी तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं-एक तो वह जो भगवान्‌से अर्थ, भोग अथवा मोक्षकी

प्रार्थना करता है । उसके लिये भगवान् साधन हैं और अर्थादि वस्तु साध्य हैं । दूसरी श्रेणीके वे हैं जो अर्थ, धर्म, क्रिया, मोक्ष आदि वस्तुओंके द्वारा भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं । उनकी दृष्टिमें अन्य सब कुछ साधन है और भगवान् साध्य हैं । ये पहली श्रेणीके साधकोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं । तीसरी श्रेणीके साधक वे हैं, जो साधन और साध्य दोनों ही रूपोंमें भगवान्के दर्शनकी चेष्टा करते हैं और दर्शन करते हैं । ये साधक तो भगवद्रूप ही हैं । इनमें श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि श्रेणियोंका भेद नहीं है । इन्हें शरणागत, भगवत्प्रपन्न आदि नामोंसे कहा जाता है । वास्तवमें भगवान्के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; इसलिये यह साधना, यह भाव, यह स्थिति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है । इसीसे 'नाम' और 'नमः' दोनों भगवद्रूप हैं । इस स्थितिमें नमस्कर्ता, नमस्कार्य, नमः-शब्द, नमः-क्रिया, नमः-भाव और नमःका ज्ञान एक ही पदार्थ है । और नमस्कारकी यही सर्वोत्तम स्थिति है ।'

जिज्ञासु—'भगवन् , नमस्कारका स्वरूप क्या है ?'

महात्माजी—'प्रत्येक शब्दके तीन भाव होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर । जहाँ वह शब्द कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रयुक्त होता है अथवा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा क्रियामें उतरता है, वहाँ उसका स्थूल भाव है । जैसे वाणीसे 'नमस्कार' कहना, शरीरसे दण्डवत् करना । इस क्रियासे अपनी नम्रता प्रकट होती है । जिसको नमस्कार किया जा रहा है वह अवस्थासे, जातिसे, गुणसे श्रेष्ठ है; उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठताकी स्वीकृति ही नमस्कार-क्रियाका स्थूल अर्थ है । इस क्रियाके साथ भावनाकी मात्रा बनी रहती है—'यह माता है, पिता है, गुरु हैं' इत्यादि । जहाँ यह क्रिया भगवान्के प्रति प्रयुक्त होती है, वहाँ उनकी असीम श्रेष्ठता मनमें आती है । इससे नियोज्य-नियोजकभावकी स्फूर्ति होती है । शरीर, मन और वाणीसे उनकी आज्ञाका पालन हो; मेरा रोम-रोम उनके इशारेपर नाचता रहे, उनके अनुकूल क्रिया हो, उनकी सेवा हो, उनके प्रतिकूल अथवा सेवासे रहित कोई भी क्रिया न हो । इस प्रकार नमस्कार-क्रियाके द्वारा अनुकूलताका सङ्कल्प और प्रतिकूलताके वर्जनका भाव दृढ़ होता है । अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिता और अल्पसुखताका भान होता है और भगवान्के पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण सुखका चिन्तन होने लगता है । इस समय यही निश्चय होता है कि वे अंशी हैं, मैं अंश; वे शेषी हैं, मैं शेष; वे सेव्य हैं, मैं सेवक। वे ही मेरे रक्षक हैं, हमेशासे रक्षा करते आये हैं और करेंगे । मैं उनकी शरणमें हूँ, उनका हूँ । इस प्रकारके भावका उदय 'नमः' शब्दका सूक्ष्म अर्थ है ।

'भैया ! जीव अज्ञानके कारण अनादिकालीन वासना-से विजड़ित होकर क्रिया, भावनाकी प्रवृत्ति-निवृत्ति आदिमें अपनेको स्वतन्त्र मानने लगता है और स्थिति, भाव, क्रिया एवं पदार्थोंपर ममता कर बैठता है । इसकी निवृत्तिसे ही अर्थात् अहङ्कारमूलक स्वातन्त्र्य और ममताके नाशसे ही भगवत्प्राप्ति होती है । 'नमः' पदमें ममता और अहङ्कारकी निवृत्ति ही भरी हुई है । ये अहङ्कार और ममता मेरे नहीं हैं, इस प्रकारकी वृत्तिका उदय होनेपर 'नमः' पदके सूक्ष्म अर्थका साक्षात्कार होता है । 'म' का अर्थ है अहङ्कार और ममता, 'न' का अर्थ है उनका अभाव । नमस्कारका सीधा अर्थ है—'हे प्रभो ! जिन वस्तुओंको भूलसे मैं अपनी मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ ।' शास्त्र कहते हैं—

> **अनादिवासनाजातैर्बोधैर्नैर्नैर्विकल्पितैः ।**
> **रूपितं यद्दृढं चित्तं स्यातन्त्र्यस्वत्वधीमयम्॥**
> **तत्तद्वैष्णवसार्वात्म्यप्रतिबोधसमुत्थया ।**
> **नम इत्यनया वाचा नन्त्रा स्वस्मादपोह्यते ॥**
> (अहिर्बुध्न्यसंहिता ५२ । ३०-३१)

अनादिकालीन वासनाओंसे भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यावहारिक ज्ञानोंका उदय हुआ करता है । उनके दृढ़

संस्कारसे चित्तमें अपनी स्वतन्त्रता और स्वत्वका भाव जम जाता है। जब सब कुछ भगवान्का ही है—इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञानका विरोधी पारमार्थिक ज्ञान उदय होता है, तब उसी भावको लेकर 'नमः' इस पदका उच्चारण होता है। इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने पूर्वोक्त दोनों भावोंको निकाल फेंकता है। तब नमस्कार-का अर्थ क्या है?—अहङ्कार और ममताको निकाल फेंकना। इनके निकलते ही भगवद्भावकी अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोमसे उसका अनुभव होने लगता है। तब अपना अन्तःकरण, शरीर एवं सारा जगत् भगवान्का और भगवन्मय दीखता है। यह 'नमः' पदकी स्थिति है और यही उसका परम अर्थ है। तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जीवका जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूपरूपसे स्फुरित होने लगता है। भगवान्की कृपाकी, प्रेमकी, तत्त्वज्ञानकी और समाधिकी यही स्थिति है। यह 'नमः' पदके उच्चारणमात्रसे प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, इसके सम्बन्धमें कोई अनुभव सुनाइये?'

महात्माजी—एक बार मैं अपने गुरुदेवके सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थना की—गुरुदेव, आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है? वही करवा दीजिये न। गुरुदेवने कहा—अच्छी बात, करो। संसारकी सभी वस्तुएँ भगवान्के चरणोंमें अर्पित हैं। वे सदासे अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान्की हैं, इस ज्ञानसे वह अज्ञान निवृत्त हो गया न? मैंने कहा—निवृत्त हो गया। उन्होंने पूछा—अच्छा, यह शरीर किसका? मैंने कहा—उनका। गुरुदेवने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी? मैंने कहा—मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अबतक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा—इतनेसे ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। 'मैंने समर्पण किया' यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता। समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित और अगृहीत वस्तुके सम्बन्धमें होते हैं। भगवान्के लिये ऐसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मनमें जो असमर्पित, अगृहीतकी भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुम स्वयं अपने-आपको समर्पित करो। मैंने कहा—यह मैंने अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित किया। गुरुदेवने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावनाका कर्ता कौन है? मैंने कहा—मैं। उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ? तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावना-को बदल भी सकते हो? इसलिये 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञानकी अभी पूर्णतः निवृत्ति नहीं हुई। देखो! तुम, मैं और सब कुछ—जो कुछ था, है और होगा—सब भगवान्को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। समर्पण-क्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावनाके कर्तृत्वको मिटा दो। वास्तवमें मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है। देखो, देखो, तुम्हारा देखना भी तो नहीं है। गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थितिमें प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुखका समुद्र देखा, शान्तिका साम्राज्य देखा और ज्ञानका असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञानका नाम तो इस समयकी दृष्टिसे है। वस्तुतः परमात्माके स्वरूपमें सुख-शान्ति और ज्ञान कहनेके लिये भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मासे

एक हो गया। वह नमस्कारकी वास्तविक स्थिति थी।'

जिज्ञासु—'फिर आपकी वह स्थिति बदली या नहीं? वहाँसे उठनेपर गुरुदेवने क्या आदेश दिया?'

महात्माजी—वह स्थिति तो एकरस है। वह स्मृति-विस्मृति, जीवन-मरण, सबमें एक-सी रहती है। उसमें विक्षेप और समाधि एक हैं। वह कुछ भी नहीं है और वही सब कुछ है। थोड़ी देरके बाद जब मुझे बाह्य ज्ञान हुआ, तब गुरुदेवने कहा—जाओ; अब तुम अपने जीवनके द्वारा, मन, वाणी और शरीरके द्वारा निरन्तर भगवान्की आराधना, उनके नामका जप करते रहो। भगवान्की आराधना क्या है?

> रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
> हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम् ॥
> (प्रपन्नपारिजात)

'अन्तःकरणमें राग-द्वेष न हो; वाणीमें असत्य, कटुता आदि न हो और शरीरसे हिंसा आदि न हो। यही भगवान्की आराधना है।' मैं तभीसे भगवान्की इच्छाके अनुसार नर्मदातटपर रहता हूँ, उनके इच्छानुसार कृष्ण-कृष्णका जप करता रहता हूँ। सब ओर भगवान्के ही तो दर्शन हो रहे हैं।'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणोंमें ही नमस्कार करता हूँ। आपके श्रीचरणोंकी प्राप्ति ही मेरे लिये भगवत्-प्राप्ति है।' नर्मदाजी अनवरत बह रही थीं, चन्द्रमा आकाशके मध्यभागकी ओर आ रहे थे, लहरें लहरा रही थीं, हवा चल रही थी और जिज्ञासु महात्माजीके चरणोंपर गिरकर भगवत्स्पर्शका आनन्द ले रहा था।

बोलो, अब तो कुछ बोलो !

युग-युगकी साधें तुम्हारे चरणोंमें आज मनुहार कर रही हैं—प्यारे! कुछ भी तो बोलो! मैं सदासे अपनी ही सुनाता आया—तुम चुपचाप सुनते रहे। आज प्यारे! इस हृदयकी भूख है कि तुम कुछ बोलो। अरे, यह तुम्हारा मौन कितना बोझिल होकर मेरे प्राणोंपर अपना भार डाल रहा है। आज प्यारे, उपास्य और उपासकका आवरण हटने दो, आज देवता और पुजारीका द्वैत मिटने दो और आज मुझे यह भूल जाने दो कि हम-तुम सदा हम-तुम ही रहे। आज, अपने भक्तकी सुनो! कुछ बोलो, कुछ अपनी सुनाओ। मैं सुनूँ कि तुम्हारा भी हृदय है और उसमें भी किसीके लिये व्यथा है, किसीके लिये आग्रह है, किसीके लिये अनुरोध है। आज मेरा हृदय तुम्हारा हृदय निरखनेके लिये मचल रहा है। आज प्रार्थना, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, जप, तप—मुझसे कुछ भी न होगा। मैं देख रहा हूँ इन साधनोंने सदा तुम्हें मुझसे दूर-ही-दूर रखा—तुम-हम एक न हो पाये। आज इन सबका सहारा छोड़कर, तुम्हारे कंधेपर हाथ रखकर, तुम्हारी ठुड्डियोंको छूकर मनुहार करके तुमसे बार-बार यही कह रहा हूँ कि तुम कुछ बोलो। बोलो, अब तो कुछ बोलो।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

प्रेमसहित राम राम । आपका साधन किस तरह चलता है ? काम, क्रोध, लोभ, मोहका वेग कम होकर श्रीपरमात्मादेवमें जल्दी अनन्य प्रेम होना चाहिये । आपको हर समय विचारते रहना चाहिये कि जल्दी कल्याण किस तरह हो । यदि ऐसा मौका भी बिना भगवत्प्राप्तिके चला जायगा तो फिर ऐसी तजवीज बैठनी बहुत मुश्किल है । आपने अपने उद्धारकी चेष्टाके लिये आफिसका काम छोड़ा था किन्तु अभीतक आपका ऐसा तेज साधन नहीं हुआ जिसके बलसे आपको जल्दी भगवत्प्राप्ति हो जाय । आपका साधन ढीला तो होना ही नहीं चाहिये बल्कि दिन-पर-दिन अधिक तेज होना चाहिये । आपको किस बातकी जरूरत है ? आपका साधन तेज होनेमें किसलिये रुकावट हो रही है ? भगवत्प्राप्तिके लिये आपकी उत्कण्ठा जोरसे क्यों नहीं होती ? यदि इसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कितनी हानि है ? प्राण चले जानेके बाद आपका क्या उपाय रह जायगा ? आपको इन बातोंपर विचार करना चाहिये और बहुत जल्दी कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये । अभी नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे ? दिन तो बीत जा रहे हैं । गये हुए दिन वापस थोड़े ही आवेंगे !

(२)

प्रेमसहित राम राम बँचना । आपने लिखा कि आपकी मायाको आप ही जानें, सो इस तरह नहीं लिखना चाहिये । आपने पूछा कि श्रीसच्चिदानन्दघन भगवान्का ध्यान करते हुए श्रीसच्चिदानन्दमय ही हो जाऊँ, शरीर तथा संसारका कुछ भी ज्ञान न रहे—ऐसा ध्यान कब होगा, सो ठीक है । जब श्रीपरमात्मादेवके नामका जप करते-करते रोमाञ्च और अश्रुपात होने लग जायँगे, भगवान्में पूर्ण प्रेम हो जायगा, उस दिन आपके लिखे मुताबिक श्रीपरमात्मादेवका ध्यान होना कुछ भी बड़ी बात नहीं है । इस प्रकारके ध्यान रहनेका उपाय पूछा सो सत्सङ्ग और भजनकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये तथा शास्त्रोंका विचार भी करना चाहिये । हो सके तो श्रीगीताजी अर्थसहित कण्ठस्थ कर लेनी चाहिये । और काम करते समय भी भगवान्के प्रेममें मग्न होते हुए उनके नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये । इस भाँति अभ्यास तेज होनेपर ध्यान अटल हो सकता है । फिर श्रीसच्चिदानन्दका ध्यान कभी छूट सकता नहीं । जबतक ध्यान अच्छी तरह नहीं होता है तभीतक ध्यानका साधन कुछ कठिन मालूम देता है ।

आपने लिखा कि बहुत बार ध्यानकी बातें सुनी जाती हैं; किन्तु बड़े पश्चात्तापकी बात है कि अभीतक ऐसा ध्यान हुआ नहीं, सो ठीक है । अभ्यास करना चाहिये । अभ्यास करनेसे हो सकता है । ध्यानकी बातें सुननेके समय एकाग्रचित्त होकर सुनना चाहिये और उसके बाद ध्यानमें मग्न रहते हुए ही मार्गपर चलना चाहिये । चाहे जो कुछ हो, ध्यान नहीं छूटना चाहिये । इस तरहकी स्थिति नित्य अभ्यास करनेसे हो सकती है ।

किसी समय थोड़ी चेष्टासे भी ध्यान हो जाता है और किसी समय अधिक चेष्टा करनेपर भी नहीं होता, सो ठीक ही है, जब वृत्तियाँ सात्त्विक होती हैं तब तो थोड़ी चेष्टासे भी ध्यान हो जाता है किन्तु जब राजसी होती हैं तब अधिक चेष्टा करनी पड़ती है और जब तामसी वृत्तियाँ होती हैं उस समय तो भगवान्का ध्यान होना ही मुश्किल है । इसलिये वृत्तियोंको निरन्तर सात्त्विक रखनेके लिये सात्त्विक कर्म तथा पूजा-पाठ, भजन-सत्सङ्ग आदि करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

उत्तम काममें वृत्तियाँ शीघ्र ही सात्त्विक हो सकती हैं इसके सिवा इसका और कोई उपाय है नहीं ।

जपकी चेष्टा होती लिखी, सो ठीक है । किसी समय आनन्दमयका ध्यान बहुत उत्तम होता है सो वह भजन-सत्सङ्गका ही प्रताप है । आपने लिखा कि मेरे आचरण बहुत खराब हैं किन्तु भगवान् पतित-पावन हैं, इसीलिये धीरज है, सो आनन्दकी बात है । पत्रमें मेरी बड़ाई नहीं लिखनी चाहिये, आपको इसके लिये पहले भी मनाही की थी ।

(३)

× × × तुम्हारे अब ऐसा क्या काम है, जिसके कारण तुम भगवत्प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर नहीं लगते हो । भाई ! यदि इस समय शरीर छूट जाय तो ? तुम विचार करो । तुम्हारे ऐसा कौन-सा साधन बन गया है जिसके कारण तुम्हारी चेष्टा ढीली है । तुम किसके भरोसे निश्चिन्त-से हो रहे हो ? यदि कहो कि भरोसा तो श्रीपरमात्माहीका है सो भाई ! यह तुम्हारी समझकी भूल है । तुमने श्रीपरमात्माकी बातें तो कुछ भी सुनी नहीं तब फिर यह कहनेमात्रका भरोसा कैसे मान रक्खा है ? इसको विचार करना चाहिये । भाई ! तुमने मनुष्यका शरीर लेकर क्या किया ? संसारमें लोग कहते हैं, ये इनके मित्र हैं; पर भाई ! हमारा मित्रपना भगवान्के, भजनमें बाधा देनेवाला थोड़े ही है ! तुम हमारे मित्र हो तो फिर मित्रकी बात तो माननी चाहिये । तुम्हें कई बार लिख दिया कि श्रीगीताजी पढ़नी चाहिये । भाई ! यदि रोज दो श्लोक अर्थसहित कण्ठस्थ कर लिये जायँ और इस प्रकार बारह महीनेमें पूरी गीता अर्थ-सहित कण्ठस्थ करनेका नियम कर लिया जाय तो क्या तुम गीताजी याद नहीं कर सकते हो ? परन्तु हो कैसे, इस तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको छोड़ो तब न ! भाई ! तुममें इतनी कायरता कहाँसे आयी ? तुम्हें यह कायरता शोभा नहीं देती । तुमने किसलिये इतनी कमजोरी धारण कर ली है । साधनके लिये तुम्हें अपने मनमें उत्तेजना क्यों नहीं होती है ? तथा सत्सङ्गमें पहलेसे अधिक प्रेम होना चाहिये सो क्यों नहीं होता ? सत्सङ्गका प्रभाव फिर कब जानोगे ? समय तो बीता जा रहा है । जल्दी चेतना चाहिये ।

(४)

········की बातें सुननेसे उनकी बहुत ऊँची कोटि अनुमान की जाती है । ······से आपका साधन भी तेज समझा जाता है परन्तु अब ढीला नहीं होना चाहिये । बहुत समय हो गया । समय तो बीतता ही जा रहा है । गया हुआ समय फिर आता नहीं । इसलिये अब तो कटिबद्ध होकर ऊँचे-से-ऊँचे साधनके परायण हो जाना चाहिये, एक पलक भी नीचे साधनमें नहीं बिताना चाहिये । ········के मुताबिक साधन होना चाहिये । सम्पूर्ण बल साधनपर लगा देना चाहिये । ध्यानमें ऐसा मस्त हो जाना चाहिये कि भले ही कोई शरीरका नाश कर दे पर कुछ भी मालूम न हो । श्रीसच्चिदानन्दघनके स्वरूपमें ऐसी मग्नता होनी चाहिये कि फिर इस शरीरकी कुछ भी सुध-बुध न रहे । सारे संसारको नाशवान, क्षणभङ्गुर और अनित्य समझकर उस नित्य बोधस्वरूप परमानन्दमें मग्न हो रहना चाहिये।

(५)

आप किसलिये कटिबद्ध होकर साधनमें नहीं लग रहे हैं ? इस शरीरसे उत्तम लाभ न लेकर मिथ्या सांसारिक भोगोंके तुच्छ आनन्दमें किसलिये अपने अमूल्य जन्मको धूलमें मिला रहे हैं ? आपका शरीर भी आपके साथ नहीं जायगा, फिर और चीजें तो जा ही कैसे सकती हैं ? उसके बाद आपके ये रुपये किस काम आवेंगे ? एक भगवान्के सिवा आपकी और कोई भी सहायता करेगा नहीं । यदि आप तुच्छ सांसारिक आराममें फँसकर अपने पारलौकिक आनन्दको धूलमें मिला देंगे तो पीछे बहुत पश्चात्ताप करना पड़ेगा । अब आपको चेतकर चलना चाहिये । ऐसा समय पुनः मिलना बहुत ही कठिन है । आप उस परम आनन्दके

मर्मको नहीं जानते, नहीं तो इस शरीरके तुच्छ भोगोंमें कभी नहीं रमते ।

(६)

संसार और शरीरको नाशवान् देखनेसे भगवान् बुखारमें अधिक याद रह सकते हैं । भगवान्के साथ प्रेम हुए बिना बहुत ही दुर्गति हुआ करती है—इस तरह समझकर भगवान्में प्रेम करना चाहिये । नहीं तो बहुत ही मुश्किल है । शरीर बीत जायगा तब वह तुम्हारे किस काम आवेगा । शरीर तो जरूर नाश होगा ही । इसको बचा रखनेका कोई उपाय नहीं है । इसलिये जबतक यह मिट्टीमें नहीं मिल जाता तबतक इससे जो कुछ लाभ लेना हो सो तुरंत ले लेना चाहिये । इस प्रकार विचार करनेसे भजन अधिक हो सकता है । जो कुछ लाभ इस शरीरसे उठाना हो वह प्राण निकले उससे पहले ही उठा लेना चाहिये । यह शरीर तो मिट्टी ही है, अतः तुरंत मिट्टीमें मिलनेवाला है । जल्दी चेष्टा कर लेंगे तो काम बन जायगा, नहीं तो मुश्किल ही है ।

(७)

आपने इतना समय बिता दिया ! लगभग पूरी आयु ही बीत गयी । आपको मनुष्य-शरीर पाकर कुछ विचार करना चाहिये था । पर जो हुआ सो हुआ; अब भी चेतना चाहिये । आप जिस कामके लिये आये थे, उस काममें आपको तत्पर होना चाहिये । अब भी यदि नहीं चेतेंगे तो फिर कब चेतेंगे ? एक भगवानके सिवा कोई भी आपका नहीं है । शरीर भी आपका नहीं है । संसारमें मनुष्य-शरीर पाकर भी यदि भगवद्दर्शन हुए बिना चले जायेंगे तो बहुत ही पश्चात्ताप करना होगा और फिर पश्चात्ताप करनेसे कुछ भी गरज सरेगी नहीं । अतः अब तो इस शरीरको एकदम ही भगवान्के अर्पण कर देना चाहिये । अब तो इस शरीरसे परम लाभ उठाना चाहिये । मनुष्य-जन्मका फल पाना चाहिये । आप किसलिये नहीं चेतते हैं ? एक पलक भी दूसरे काममें क्यों बिताते हैं ? किसलिये फालतू बातोंमें समय बिताते हैं ? श्रीभगवान्के भजन, ध्यान, सत्सङ्गके सिवा जो कुछ भी बात की जाती है, वही फालतू बात है और भगवान्की प्राप्तिके सिवा जो कुछ भी समय बिताया जाता है, वही फालतू समय है । फालतू समय बिताया हुआ आपके किस काम आवेगा ?—ऐसा विचार कर अब तो बहुत ही जल्दी चेतना चाहिये ।

(८)

प्रेमकी बात·······की चिट्ठीमें लिखी है, सो देख सकते हैं । और आपको विचारना चाहिये ! मैं कौन हूँ ? किसलिये यहाँ आया हूँ ? मुझे क्या करना चाहिये ? और मैं क्या कर रहा हूँ ? आपका इस तरह पेट भरनेके लिये ही यहाँ नहीं आना हुआ है । आपने मनुष्य-जन्म पाकर क्या किया ? जब मृत्यु आकर प्राप्त होगी, उस समय आप क्या करेंगे ? उस समय आपके रुपया, स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्बी लोग क्या काम आवेंगे ? शरीर भी तो आपके साथ नहीं जायगा ! उस समय कोई भी सहायता नहीं दे सकेगा—कोई भी काम नहीं आवेगा । केवल भगवान्का भजन किया हुआ होगा तो वही काम आवेगा; आप तो सब जवाब दे देंगे । क्योंकि और किसीकी वहाँ चलती भी नहीं है । फिर आप भोगोंमें पड़कर किसलिये इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंके लिये रात-दिन मारे-मारे फिर रहे हैं ? रुपये एकत्र करनेमें इतनी उम्र तो बिता दी है, फिर भी बिता रहे हैं ! आप कुछ विचार नहीं कर रहे हैं कि ये रुपये पीछे क्या सहायता करेंगे ! क्या आपके पास कोई अमरपट्टा है ? क्या मृत्यु और यमराजके साथ आपकी दोस्ती है ? क्या इन सब चीजों-को किसी भी प्रकार अपने साथ ले जानेका कोई उपाय है ? यदि नहीं तो फिर इस नाशवान् अनित्य संसारके पदार्थोंसे प्रेम हटाकर एकमात्र सच्चे निष्कामप्रेमी प्यारे मनमोहनसे ही निष्कामभावसे अनन्य प्रेम क्यों नहीं कर लेना चाहिये ? फिर कब चेतेंगे ? जल्दी चेतना चाहिये । बहुत-सा समय चला गया । ढील किसलिये कर रहे हैं ? किसके भरोसे निश्चिन्तता-सी हो रहे हैं ?

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीरिचर्ड ह्वाइटवेल)

Love is thine, Peace is thine;
Thou mayest know the Life divine,
And mayest feel thy being thrill
In the wonder of God's Will!
Thou hast thine own true place for evermore
No less than the stars of heaven!
It awaits thine entry!
As thou art true, all things will conspire to set thee there!
As thou dost love,
A movement arises from the Heart of Love that
Will float thee there!
When thou dost find thyself, thou art there!

—*The Cloud and the Fire.*

प्रेम तुम्हारा है, शान्ति तुम्हारी है, दिव्य जीवनका आस्वादन तुम कर सकते हो, भगवान्‌की प्रेरणा तुम्हें पुलकित करती रहेगी। जिस प्रकार आकाशमें सितारे हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर तुम हो—'प्रवेश' करनेकी देर है। हृदयमें सचाईकी सुरभि है इसलिये तुम 'अंदर' जरूर जाने पाओगे। सब कुछ उसी 'अंदर' के लिये इशारा कर रहा है, प्रेरणा दे रहा है; क्योंकि तुम अपने परम प्रेमास्पदकी प्रीतिमें घुल रहे हो। सच मानो, उस प्रीतिमें ही एक ऐसी लहर उठेगी कि तुम्हें उड़ा ले जायगी उस प्यारेके देशमें और तुम्हारी आँखें खुलेंगी तो तुम देखोगे कि 'तुम' और 'वह' एकमेक हो रहे हो।

मानवजीवनमें प्रार्थना वैसी ही है जैसा मरुभूमिमें निर्झर। सूखनेसे, तपनेसे, तड़पनेसे हृदयपर प्रार्थनाका दिव्य अमृतप्रवाह जब कल-कल ध्वनिसे फूट बहता है तो युग-युगकी, जन्म-जन्मकी सारी लहलहा उठती है। और यह प्रवाह है अनन्त एवं चिर नवीन, चिर सुन्दर। हृदयमें प्रेमका दरिया जब उमड़ता है तो हृदय और हृदयेश एक हो जाते हैं, हृदय अपने 'प्यारे' को छू लेता है। प्रेममयी प्रार्थना! यही तो है समस्त अध्यात्मका सार तत्त्व। मानवके हृदयमें अपने 'देवता' के लिये जो प्यारभरी ललक उठती है, उसीका नाम है प्रार्थना—सच्ची प्रार्थना—जिसमें हृदय हृदयसे, प्राण प्राणसे कुछ अपनी कहता और कुछ 'उस' की सुनता है। जीव और परमात्माके परस्पर प्रेमालापका ही नाम है प्रार्थना।

प्रेमी चाहे जहाँ हो और जिस काममें लगा हो उसका दिल लगा रहता है प्रेमास्पदमें ही। ठीक इसी प्रकार प्रभुका प्रेमी भी शरीरसे चाहे जहाँ हो और जो कुछ भी कर रहा हो दिलके अंदर 'दिलवर' की ही माधुरीका रसपान करता रहता है। उस 'दिलवर' की सौन्दर्य-श्री और आकर्षणका क्या कहना! हृदयमें मिश्री घुलती रहती है और मधुपान होता रहता है। तर्क बेचारा लाचार होकर इस प्रेम-साम्राज्यके बाहर ही रह जाता है। वह अंदर जा ही नहीं सकता। 'मैं हूँ मेरे प्यारेका, और प्यारा मेरा है सदा' 'My Beloved is mine, and I am His' यह है हृदयमें छिड़नेवाली रागिनी। हृदयकी धड़कनमें भी वही प्रणय-बाँसुरी बजती रहती है। जिस प्रकार सूर्यसे प्रकाश उसी प्रकार इस प्रेमसे ही प्रेमलोककी दिव्य उन्मादना। प्रेमी बोलकर कुछ नहीं माँगता, उसके ओठ प्रार्थनामें हिलतेतक नहीं—वहाँ सम्भवतः भाषा चलती ही नहीं। वहाँ तो हृदय हृदयसे बोलता है, प्राण प्राणसे, आत्मा आत्मासे—एक दिव्य किलोल, एक अपूर्व सम्मिलन, एक लोकोत्तर रंगरेली।

संतोंने कहा है—वह प्रार्थना क्या जिसमें विराम हो। ऐसी प्रार्थना प्रेमियोंकी ही तो होती है; क्योंकि जहाँ प्रेम है वहाँ 'श्रम' है ही कहाँ? हृदयमें जब मधुकी धार छलकाती हुई बह रही हो, उस समय वाणीका विलास कैसा? और ऊपर-ऊपरसे हिलते हुए ओठों और जोड़े हुए हाथोंसे जो प्रार्थना होती है वह तो प्रार्थनाका एक स्वाँग है। परन्तु बहुतोंके लिये तो प्रार्थनाका यही स्वीकृत स्वरूप है। कोशमें 'प्रार्थना' के

जो अर्थ एवं पर्यायवाची शब्द मिलते हैं उनसे तो हाथ जोड़ लेनेमात्रसे प्रार्थना हो चुकती है परन्तु सच्ची प्रार्थना तो कुछ और ही होती है और वह हृदयकी गहराईमें, रसमें भीनी, आत्माकी आवाजमें होती है, हृदयकी भाषामें, प्राणोंकी बोलीमें होती है। यह प्रार्थना ही है प्रेमका क, ख, ग। प्रार्थनाकी भाषा प्रेमकी होती है —'Prayer is the very alphabet of Love.' 'Love is the language of Prayer.'

सन्त महात्मा कहते हैं कि अपने बंद कमरेमें अपने प्रभुसे एकान्तमें मिलो और उनसे दिल मिलकर बातें करो। परन्तु सच्चा एकान्त जिसमें प्रभुके साथ लोकान्त किया जाता है—वह है हृदयकी कोठरी। इसी कोठरीमें प्यारेका दीदार मिलता है—यही है प्रेमी और प्रेमास्पदके मिलनका संकेत-स्थल। यही है प्रेमदेवका लीला-निकेतन। यही है वह मन्दिर जिसमें हम अपने परम प्रियतम प्रभुसे सर्वथा एकान्तमें मिलते हैं, कुछ अपनी कहते हैं, कुछ उनकी सुनते हैं। यहीं उस एकान्तमें प्रेमका आदान-प्रदान होता है।

दो दिलके परस्पर संलापका नाम है प्रार्थना—इसलिये इसमें कहीं बनावटकी या वाग्जालकी गुंजाइश ही नहीं है। प्रार्थना जितनी सरल और सच्ची होगी वह उतना ही भगवान्‌का हृदय छू सकेगी। भगवान्‌के सामने हमें अपने दुःखोंका रजिस्टर खोलकर नहीं बैठ जाना चाहिये। वह दयामय सुनते तो सब कुछ हैं। भगवान्‌से यह कहना कि मेरे लिये यह कर दो, वह कर दो—उनकी सर्वशक्तिमत्ता एवं करुणावत्सलतापर शङ्का करना है—हालाँकि जब भी हम कुछ प्रभुसे कहनेको उद्यत हैं अपने दुःखोंका रोना ही शुरू करते हैं। भगवान जो कुछ भी हमारे लिये करते हैं उसे दामन पसारकर ग्रहण करनेकी कला हमें जानना चाहिये, न कि यह और वह माँगनेकी। भगवान् तो अपने-आपको ही हमारे हृदयमें उँडेल देना चाहते हैं, हमें अपना हृदय खोलकर उस रसधाराको पूरा-पूरा बरसने देना चाहिये। भगवान्‌के प्रेमके प्रति हमारा शरीर-मन-प्राण सदा उन्मुख रहे, सदा उसे ग्रहण करता रहे, सदा आस्वादन करता रहे।

सच्ची प्रार्थनामें हृदय बोलता है, मस्तिष्क मूक हो जाता है। प्रायः हम जिसे 'प्रार्थना' कहते हैं वह दिमागसे निकली हुई चीज होती है। प्रार्थना तो हृदयकी सच्ची पुकार और कसमसाहटका नाम है। एक अबोध शिशु जिस सरलतासे बातें करता है उसी सरलताके साथ प्रार्थना की जाती है। हमारा हृदय जितना ही भगवान्‌के हृदयके समीप पहुँचने लगता है उतना ही वह शिशुकी तरह सरल हो जाता है और यह सरलता यहाँतक पहुँचती है कि वाणी मूक हो जाती है, आँखें झप जाती हैं, मस्तक पृथ्वीपर टिक जाता है और अन्तरकी खिड़की खुल जाती है; फिर जो कुछ होता है उसे शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता, उसका इशारा भी नहीं हो सकता।

प्रार्थना तो आत्माका अभिसार है अपने प्राणपतिके पथमें। प्रार्थना श्रद्धाका, आत्मसमर्पणका एक दूसरा नाम है। हृदय ज्यों-ज्यों प्रार्थनामय होता जाता है अन्तरमें श्रद्धाकी सुस्मित किरणें फैलती जाती हैं और हृदय उस दिव्य आलोकसे आलोकित हो जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक किरणमें सूर्य विद्यमान है उसी प्रकार हमारे प्रत्येक प्रणाममें हमारा इष्टदेव है। यह प्रणाम ही भगवत्सान्निध्यका साकार स्वरूप है। प्रणाममें हम अपने आराध्यदेवका साक्षात्कार करते हैं। प्रणामको ही दूसरे शब्दोंमें कहते हैं भगवान्‌के चरणोंमें आत्म-निवेदन; यही है सच्ची उपासना।

भगवान्‌का दिव्य संगीत हम अपनी आत्माके भीतर सुनने लगते हैं—ऐसी भी शुभ घड़ी साधकके जीवनमें आती है। इस आनन्दको हम भीतर ही-भीतर पीते हैं, बाहर इसे शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता। भीतर-ही-भीतर हम 'कुछ' सुनते हैं, भीतर-ही-भीतर 'कुछ' देखते हैं, भीतर-ही-भीतर 'कुछ' स्पर्श करते हैं। मनुष्य जब भगवान्‌से प्रीति करने लगता है तो भक्त और भगवान् दोनोंका परस्पर प्रणय-संलाप एक क्षणके लिये भी रुकता

नहीं । वहाँ दोनों एक-दूसरेके लिये प्यासे-से रहते हैं, खोये-से रहते है। यही है हृदयका परस्पर आदान-प्रदान । और यही है सच्ची प्रार्थना ।

संत पॉलने कहा है—'Be filled with the Spirit ....making melody in your heart to the Lord, giving thanks *always* for all things'—आत्मामें आनन्दोल्लाससे भरकर भगवान्‌के प्रति हृदयका राग छिड़ने दो और भगवान्‌के समस्त अनुग्रहोंके लिये सदैव नतमस्तक होकर कृतज्ञता प्रकट करो। संत पॉलने एक और स्थानपर कहा है "Rejoice in the Lord *always*; and again I say, Rejoice"—भगवान्‌में सदा आनन्दविहार करो, मैं फिर कहता हूँ आनन्द-विहार करो। हृदयसे निकली हुई प्रार्थनाका प्रवाह कभी रुकता नहीं, कहीं थमता नहीं क्योंकि वह निकलता है प्रेमोद्वेलित हृदयसे। यहाँ मनुष्य भगवान्‌का प्रेमी भी है, प्रेमास्पद भी। हृदयकी एक-एक धड़कनमें प्यारेका प्यारा नाम स्वयं उच्चरित होता रहता है। अंदरका चिराग बराबर जलता ही रहता है।

अस्तु, प्रार्थना हृदयकी वस्तु है न कि वाणीकी। बाहरके शब्द तो भीतरकी आवाजकी पोशाक है। हृदयमें जब स्नेह भर होता है, वाणीमें भी वही फूट उठता है। इस प्रकार वाणीका सुन्दर उपयोग भी तो प्रार्थनामें ही होता है। उसका भी संयोग और अवसर होता है। परन्तु जब प्रार्थना हृदयसे उठती है तो वह तार-तारको हिला देती है, रोम-रोमको रससे आर्द्र कर देती है—और यह पलभरके लिये भी रुकती नहीं। अंदरकी प्रार्थनाके लिये बाहरका प्रयास कुछ काम नहीं देता, उसके लिये तो अंदर-ही-अंदर प्रयास होना चाहिये। यह प्रयास फिर स्वतः स्वभाव बन जाता है और इस प्रकार अखण्ड प्रार्थना चलती है। हृदय भगवान्‌की ओर सदाके लिये खुल जाता है।

इसके लिये कई सहायक साधन हैं। भारतवर्षमें मन्त्रका अभ्यास किया जाता है और भक्तलोग बड़ी प्रीति और निष्ठाके साथ नामका स्मरण करते हैं। मन्त्रमें देवविशेषका नाम तथा उनके लिये नमस्कारका शब्द होता है। वह थोड़े शब्दोंका होता है जिसकी बार-बार आवृत्ति सुखपूर्वक हो सके। नियम यह है कि मन्त्रकी बार-बार आवृत्ति की जाय और चित्तको उसपर स्थिरतासे जमाया जाय। यह एक सर्वथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसकी चलन केवल भारतवर्षमें ही नहीं अपि तु समस्त धार्मिक तथा आध्यात्मिक सङ्घोंमें है—मुसलमानोंमें भी, ईसाइयोंमें भी तथा अन्य विभिन्न धर्मावलम्बियोंमें भी। यह केवल चित्तको स्थिर करनेके लिये साधनमात्र ही नहीं है अपि तु इससे शान्ति, तुष्टि, पुष्टि भी प्राप्त होती है, और इधर-उधरकी उधेड़-बुनसे मन हटकर एकान्तमें स्थिर होना सीखता है। यह भगवच्चिन्तनमें परम सहायक है। सफलता तो तब माननी चाहिये जब हमारी समग्र चेतना एकमात्र भगवान्‌में केन्द्रीभूत हो जाय।

एक रहस्यवादी संतने इस सम्बन्धमें कहा है—

"And therefore must we pray in the height and the depth, in the length and the breadth of our Spirit. And that not in many words but in a little word of one syllable."—इसलिये हम अपने हृदयकी पूरी ऊँचाई और गहराई तथा पूरे विस्तारमें—समस्त, सम्पूर्ण हृदयसे भगवान्‌की प्रार्थना करें। उसके लिये बहुत-से शब्दोंकी आवश्यकता नहीं—शब्द तो कम ही हों और वाक्य छोटा-सा हो। अन्तमें जाकर प्रार्थना सत्वतः जितनी व्यापक होती जाती है शब्दतः वह उतनी छोटी होती जाती है और मूकतामें लीन हो जाती है। वाणी मौन हो जाती है—हम स्नेह और श्रद्धाकी दृष्टिसे भगवान्‌की ओर देखते होते हैं क्योंकि भगवान्‌के साथ जीवका प्रणयपाशमें 'ग्रन्थिबन्धन' हो जाता है और वह भगवान्‌में ही खो-सा जाता है।

अब तो जीवनके समस्त व्यापार प्रार्थनाका रूप हो जाते हैं—हम जहाँ चलते हैं वही पवित्र भूमि हो जाती है और जीवनका प्रत्येक दिन एक पर्वदिन हो जाता है। हमारी समस्त क्रियाएँ भगवान्की सेवा बन जाती हैं और हम अनुभव करते हैं कि सेवा ही सच्ची उपासना है—"to labour is to pray" इससे बढ़कर कोई प्रार्थना भगवान्को प्रसन्न करनेवाली है भी नहीं। इस प्रार्थनाकी चरम परिणति है नित्य निरन्तर भगवत्सान्निध्यकी दिव्य अनुभूति।

(*Science of Thought Review*)

उद्बोधन

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकिजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आन हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥ १॥

सुनु कान दिएँ, नित नेमु लिएँ, रघुनाथहिके गुनगाथहि रे।
सुखमंदिर सुंदर रूपु सदा उर आनि धरें धनु-भाथहि रे॥
रसना निसि-बासर सादर सों तुलसी! जपु जानकिनाथहि रे।
करु संग सुसील सुसंतन सों, तजि कूर, कुपंथ, कुसाथहि रे॥ २॥

सुत, दार, अगारु, सखा परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे।
सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभाँ न बिराजहि रे॥
नरदेह कहा, करि देखु बिचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे॥ ३॥

बिषया परनारि निसा-तरुनाई सो पाइ पर्‌यो अनुरागहि रे।
जमके पहरू दुख, रोग, बियोग बिलोकत हू न बिरागहि रे॥
ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोरु, महा भय भागहि रे।
जरठाइ-दिसाँ, रबिकालु उग्यो, अजहूँ जड़ जीव! न जागहि रे॥ ४॥

—गोस्वामी तुलसीदास

आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर

(लेखक—'कश्चित्')

महाकवि गेटेने एक प्रसङ्गमें कहा है—

"What you can do, or think you can,
—Begin it!
Boldness hath genius, power and magic in it.
Only engage—and then the mind grows heated:
Begin!—and soon your task will be completed."

जो कुछ भी तुम कर सकते हो, या सोचते हो कि तुम कर सकते हो—शुरू कर दो। अध्यवसायमें एक ऐसा बल होता है कि समस्त प्रतिभा और योग्यता जादूकी तरह काम करने लग जाती है। कार्यमें अपनेको लगा दो। इस प्रकार लगा देनेसे ही तुम्हारी बुद्धिमें एक प्रकारकी उष्णता—एक प्रकारकी गर्माहट भर आयेगी। इसलिये शुरू कर दो और तुरंत ही देखोगे कि तुम्हारा चिन्तित कार्य पूरा होते देर न लगी, बात-की-बातमें उसे कर लिया।

प्रायः अधिकांश कार्योंमें हम असफल इसीलिये होते हैं कि उसे शुरू ही नहीं कर पाते। कुछ भी यदि हमें पूरा करना है तो उसे शुरू तो करना ही होगा और आरम्भके इस प्रयत्नका तिरस्कार करके हम कुछ भी कर ही कैसे पायेंगे? मान लीजिये, आप एक मकान बनवाना चाहते हैं, उसके विषयमें राय-मशविरा लेते हैं, उसके लिये नक़शा भी बनवाते हैं परन्तु यह सब कुछ स्वप्न-ही-स्वप्न है जबतक मकानकी नींव न खोदी जाने लगे। और इसमें सन्देह नहीं कि कार्य शुरू होते ही आपको प्रसन्नता होगी।

गेटेके उपर्युक्त शब्द जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें लागू होते हैं—अध्यात्मके क्षेत्रमें तो विशेषरूपसे। हम ग्रन्थोंमें साधनाकी बातें पढ़ सकते हैं, संतोंसे उसके सम्बन्धमें सुन सकते हैं और इस पथमें साधकको कैसा-कैसा आनन्द मिलता है, किस-किस प्रकारकी अनुभूतियाँ होती हैं आदि बातोंका किताबी ज्ञान हमें खूब हो सकता है। परन्तु जबतक हम साधनामें लगें नहीं तबतक उन किताबी बातोंके कोरे ज्ञानसे हमारा क्या लाभ हो सकता है? हमें तो अध्यात्मके पथमें चल देना चाहिये और फिर राहके खट्टे-मीठे अनुभवोंका आस्वादन करते जाना चाहिये, आगे बढ़ते जाना चाहिये। फिर जो हमारा लक्ष्य है उसके ज्यों-ज्यों पास हम पहुँचेंगे त्यों-त्यों हमें आनन्दकी अधिकाधिक उपलब्धि होती जायगी और कविके शब्द सत्य प्रतीत होंगे—

"What you can do, or think you can,
—Begin it!"

केवल पढ़ते रहने या जान लेनेसे काम चलनेका नहीं—करना चाहिये। संतोंने बार-बार करनेपर जोर दिया है। कोरी कथनी कौड़ी-कामकी नहीं। एक जो बराबर पढ़कर ही या जानकर ही संतोष कर लेता है, अध्यात्मके वास्तविक आनन्दसे अपरिचित ही रहता है परन्तु जो पुरुष अपनी थोड़ी-सी जानकारी-पर इस पथमें चल पड़ता है उसे सच्चे आनन्दकी अनुभूति होती है क्योंकि 'साधना' सुनने या पढ़नेकी वस्तु नहीं है, करनेकी वस्तु है। कितने ही लोगोंको 'सत्संग सुनने' का मर्ज है—वे सुनते जाते हैं—बस, सुनते ही जाते हैं—करना-धरना तेरह-बाईस। ऐसे लोग वञ्चनाका जीवन बिताते हैं क्योंकि करते तो कुछ नहीं, केवल सुनते हैं और प्रमाद-आलस्यका पोषण करते हैं।

आध्यात्मिक जीवनमें अल्पारम्भ ही क्षेमकर है। क्योंकि इस पथमें हम ज्यों-ज्यों ऊँचे चढ़ते जाते हैं हमारे सामने विशाल व्यापक क्षेत्र अपने पूरे विस्तारके साथ खुलता जाता है और यहाँतक कि एक ऐसे स्थान-पर हम पहुँचते हैं जहाँ सब कुछ भीतर-बाहर अनन्त प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यके समुद्रमें डूबता-सा नजर आता है—

बेहिज़ाबी यह कि हर ज़र्रेमें जलवा आशकम् ।
और परदा यों कि सूरत आजतक देखी नहीं ॥

अध्यात्मके पथमें छोटी-से-छोटी क्रियाका भी महान् फल होता है। क्रोधको प्रेममें, क्षोभको क्षमामें, घृणाको करुणामें बदलनेके लिये महीने और साल नहीं लगते—यह एक क्षणका कार्य है परन्तु इस एक ही क्षणमें साधकको महान् फल—महान् आध्यात्मिक लाभ हो जाता है—वह बात-की-बातमें साधनाकी अनेक सीढ़ियाँ एक छलाँगमें पार कर जाता है और उसी एक क्षणमें वह अशान्तिके केन्द्रसे उठकर शान्तिके केन्द्रमें, नरकके केन्द्रसे उठकर स्वर्गके केन्द्रमें जा पहुँचता है।

आकाशमें रातमें सितारे चमकते होते हैं परन्तु यदि हम अपना सिर न उठायें तो उन्हें कैसे देख सकते हैं? और ये वृक्ष जो अपने हाथ सदा प्रार्थनामें जोड़े हुए होते हैं—इनकी सुषमा भी हम कहाँ देख पाते हैं? इन पक्षियोंके मीठे गीत हम कैसे सुन पायेंगे, जबतक जगत्‌के तुमुलकोलाहलसे अपने कानोंको मूँद न लें। और इसी प्रकार, हमें अपने जीवनमें भी आध्यात्मिक आनन्दकी उपलब्धि तबतक नहीं हो सकती जबतक हम अपने नित्यके जीवनमें छोटी छोटी बातोंमें अध्यात्मकी ओर उन्मुख न हों।

भगवान्‌के सान्निध्यमें एक क्षणकी शान्ति सारे जीवनको सुरभित कर देती है। प्रार्थनामें, हृदयसे उठी हुई सच्ची कातर प्रार्थनामें जीवनको सहसा पलट देनेकी अमोघ शक्ति है। हमारा विचार, हमारा कार्य, हमारी इच्छाएँ—सब-की-सब जगत्‌की ओरसे मुड़कर भगवान्‌की ओर उन्मुख हो जाती है। क्योंकि जब हम प्रभुकी प्रीति पानेके लिये उत्सुक हो उठते हैं उसी क्षण प्रभु अपनी शान्तिके कुछ कण हमारे हृदयपर बिखेर देते हैं—भगवान् तो प्रीति बरसानेके लिये सदा ही तैयार हैं—हम ग्रहण करनेकी स्थितिमें हों—यही आवश्यक है। यदि हमें आध्यात्मिक उन्नति वाञ्छनीय है तो हमें अपने जीवनमें उस दिव्य शक्तिको उतारना होगा जो मानवी शक्तिसे परे है, उस शान्तिको लाना पड़ेगा जो समस्त प्रकृतिके मूलमें है और उस समतामें स्थित होना पड़ेगा जिसमें ये नक्षत्र स्थित हैं और जिसमें सम्पूर्ण हलचल होते हुए भी स्थिरता और शान्ति है। हम ऐसी शक्ति, ऐसी शान्ति और ऐसी समताको अपनेमें पूरा-पूरा उतार सकें, उसके पहले यह आवश्यक है कि हम क्षणभरके लिये शान्त, स्तब्ध, स्थिर होना सीखें, जिसमें न किसी प्रकारकी लालसाकी लहर ही हो न चिन्तनका उभार ही। चिन्तनको पारकर भावनाके क्षेत्रमें हम प्रवेश करते हैं—जो आत्मदेवके साक्षात्कार-का क्षेत्र है—जहाँ सम्पूर्ण पवित्रता और शक्तिका उत्स है। यहीं है प्रेमका साम्राज्य, वह प्रेम जो पक्षियोंके हृदयमें सुमधुर संगीत उठाता है, वह प्रेम जो फूलोंकी मुसकानपर मँडराता रहता है, वह प्रेम जो मेघोंकी रिमझिममें फुहियाँ बरसाता है, हवामें तरङ्गित होता रहता है, और जो समस्त चर-अचरके पर्देमेंसे झाँकता रहता है—और जिसका स्पर्शमात्र पाकर सब कुछ 'सुन्दरमय' बन जाता है। यह प्रेम जड़को स्पर्श कर चेतन, मानवको स्पर्श कर 'देव' बना देता है। यदि हम अपने मन-प्राणको शान्त और स्थिर कर सकें—तो क्षणभरमें ही अन्तरिक्षसे झरते हुए प्रेम-की इस रिमझिममें हमारा मन-प्राण नहाने लगे! ठीक जैसे रातमें चुपके-से ओस घासकी पत्तियोंको नहला देती है। कितना मधुर हो जाय हमारा जीवन, कितना सुन्दर, कितना पवित्र!

तो फिर क्या यह स्वप्न सदा स्वप्न ही रह जायगा? नहीं, क्षणभर चित्तमें उठनेवाले कोलाहलको शान्त कर अपने चित्तको भगवान्‌के चित्तमें लीन कर दें। इसलिये भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको झुका दो, अपनी सारी चिन्ताएँ प्रभुको सौंप दो—भगवान् तुम्हें अपनी छाती-से लगाकर ऊपर उठा लेंगे, तुम्हारे हृदयके जख्मपर अपनी प्रीतिका मरहम लगा देंगे। तुम निहाल हो जाओगे।

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास

जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक नित्य नये जालोंमें फँसना ही रहता है। हमलोग अनन्त जन्मोंसे यही करते आ रहे हैं। परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि 'उबरनेकी कोई सूरत ही नहीं है।' तुम्हें भगवान्‌पर श्रद्धा रखनी चाहिये कि वे उबारनेवाले हैं, उनकी शरण लेते ही सारे जाल सदाके लिये कट जाते हैं। घबड़ाओ नहीं, 'अटकी नाव' भगवत्कृपाके अनुभवरूपी अनुकूल वायुका एक झोंका लगते ही चल पड़ेगी। भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करो। जो दुःख, कष्ट और विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें भगवत्कृपाका आशीर्वाद समझो और प्रत्येक कष्टके रूपमें कृष्ण-कन्हैयाके दर्शन कर उन्हें अपनी सारी सत्ता समर्पण करनेकी चेष्टा करो, कष्टोंको कृष्णरूपमें वरण करो, सिर चढ़ाओ, आलिङ्गन करो। परन्तु उनसे छूटनेके लिये कभी भूलकर भी कुमार्गपर चलनेकी कायरताके वश मत होओ; लड़ते रहो—मनकी बुरी वृत्तियोंसे—ऐसा करोगे तो श्रीकृष्णकृपासे तुम्हारी एक दिन अवश्य विजय होगी, तुम सुखी होओगे। मैं भी चाहता हूँ तुमसे मिलना हो। परन्तु संयोग ईश्वराधीन है। मेरे दिलको तुम अपने साथ समझो। तुम्हारी स्मृति मुझे बार-बार होती है। तुम हर हालतमें मेरे प्रिय हो और रहोगे। शरीर और मनसे प्रसन्न रहनेकी निरन्तर चेष्टा करते रहो। भगवान्‌के नामका जप सदा करते रहो और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाओ।

(२)

आत्माकी नित्य आनन्दरूपता

सदैव बीमारीका द्रष्टा बनकर रहना चाहिये। वास्तवमें रोग आपको है भी नहीं। आप पाञ्चभौतिक क्षयशील शरीरसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीरके क्षय-वृद्धि, बुद्धिके सुख-दुःख या प्राणोंकी क्षुधा-पिपासासे असलमें आपका कोई यथार्थ सम्बन्ध नहीं है—भ्रमसे तादात्म्य हो गया है। इसीसे दृश्य-पदार्थोंके विकार आपको अपने शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त एकरस आनन्दस्वरूपमें भास रहे हैं। अपने यथार्थ स्वरूपको पहचानकर सदा निर्भय, निश्चिन्त रहना चाहिये। हो सके तो वाणी या मनसे 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करना चाहिये। हरिके साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही वास्तविक 'हरिशरण' है। इस मन्त्रजापसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका कल्याण होता है। इस बातका दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि रोग या मृत्युकी तो बात ही क्या है, महाप्रलय भी आपके कूटस्थ स्वरूपको नहीं हिला सकता।

मायाके खेल बनते और बिगड़ते हैं। इससे आपमें कुछ भी परिवर्तन कभी नहीं होता। मायाका स्वामी महामायावी प्रभु ही इस खेलको खेल रहा है। उसीने अपने रूपका एक खिलौना बना रक्खा है, जो अभी इस नामोपाधिसे युक्त है। वही खेलता है, वही खिलौना है और वही इस खेलको देख भी रहा है। फिर खिलौना अपनेको अलग समझकर चिन्ता क्यों करे? यदि थोड़ी देरके लिये अलग मान भी लिया जाय तो भी यह है तो खिलाड़ीके हाथोंमें ही, उसके हाथसे कभी हट नहीं सकता। इसलिये सदा प्रसन्न--प्रफुल्लित रहकर अपने नित्य आनन्दमें निमग्न रहना चाहिये। उपाधिसे व्यक्त होनेवाले भावोंमें भी आनन्दका ही प्रवाह बहना चाहिये।

(३)

भक्तकी सच्चे हृदयकी पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं

आपने एक पत्रमें लिखा था कि अच्छी स्थितिमें भी भगवानपर भरोसा नहीं होता तब साधनकी शिथिलतामें तो हो ही कहाँसे, परन्तु अब ज्यादा निराशा नहीं होती। सो भगवान्पर भरोसा तो अच्छी, बुरी सभी स्थितियोंमें रखना चाहिये। इसके सिवा और सहारा ही क्या है? बलवान् और निर्बल सभीके बल एक भगवान् ही हैं, परन्तु अपनेको वास्तवमें निर्बल मानकर भगवान्के बलपर भरोसा रखनेवालेका बल तो भगवान् है ही। इस भगवान्के बलको पाकर वह अति निर्बल भी महान् बलवान् हो सकता है---'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्' प्रसिद्ध है।

भगवान्को पुकारनेभरकी देर है। बीमार बच्चा बाहर बैठी हुई माँको पुकारे तो क्या माँ उसकी पुकार नहीं सुनती या कातर पुकार सुनकर भी आनेमें कभी देर करती है? अवश्य ही यह बात होनी चाहिये कि माँ बाहर मौजूद हो और बच्चेकी सच्ची कातर पुकार हो। माँ मौजूद नहीं होगी तो बिना सुने कैसे आयगी और बच्चेकी पुकार केवल बनावटी और विनोदभरी होगी तो माँ सुनकर भी अपनी आवश्यकता न समझकर नहीं आयगी। परन्तु कातर पुकार सुननेपर तो माँसे रहा ही नहीं जायगा। जब माँकी यह बात है तब सारे माताओंका एकत्र केन्द्रीभूत स्नेह जिस भगवान्के स्नेहसागरकी एक बूँद भी नहीं है, वह भगवान्रूपी माँ दुःखी जीव-सन्तानकी कातर पुकार सुनकर कैसे रह सकेगी। जीव एक तो उसे अपने पास मौजूद मानता ही नहीं, दूसरे उसकी पुकार बनावटी और लोग-दिखाऊ होती है। यदि जीव यह माने कि भगवान् यहाँ मौजूद हैं (जो वे वास्तवमें हैं ही, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं) और वे बड़े दयालु हैं तथा यों मानकर उन्हें कातर स्वरसे पुकारे तो फिर उनके आनेमें देर नहीं होती। द्रौपदीकी पुकारपर चीर बढ़ाना और द्वारकासे तुरंत वनमें पहुँचकर पाण्डवोंको दुर्वासाके शापसे बचाना प्रसिद्ध ही है।

नियमोंका पालन प्रेम और अति दृढ़ताके साथ करते रहें। कृपा तो भगवान्की है ही। उस कृपाका अनुभव करते ही मनुष्य भगवदभिमुखी हो सकता है। सदा प्रसन्न रहिये और भगवान्की कृपाका दृढ़ भरोसा रखिये। भगवान्को नित्य अपने साथ मानिये, फिर पाप-ताप समीप भी नहीं आ सकते। × × × × निराश तो जरा भी न होइये। भगवान्के बलका भरोसा करनेपर निराशा कैसी?

(४)

भगवत्साक्षात्कारके उपाय

प्रश्नोंके उत्तर—

(१) उत्तम लेखोंके संग्रह करनेवाले तथा उत्तम लेख लिखनेवालोंको ईश्वरसाक्षात्कार होना ही चाहिये, यह कोई बात नहीं है। लेख संग्रह करना और लिखना तो परिश्रम, दक्षता, अध्ययन, अभ्यास तथा विद्यासे भी हो सकता है। प्रभुका साक्षात्कार तो प्रेम---सच्चे प्रभु-प्रेमसे होता है। वहाँ विद्या, यज्ञ, दान, कर्म, तप आदिका इतना महत्त्व नहीं है जितना प्रेमका है। वास्तवमें सत्य प्रेम ही प्रभुका स्वरूप है—

> प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेमस्वरूप।
> एकहि है द्वैमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

प्रभु-प्रेम सर्वथा अनन्य और अव्यभिचारी हुआ करता है। उस प्रेमका भाग दूसरे किसीको किञ्चित् भी नहीं मिलता।

मैं अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखना चाहता। इतना ही लिखता हूँ कि मैं अपने ऊपर भगवान्की बड़ी

कृपा समझता हूँ और पद-पदपर उस परम कृपाका अनुभव करता हूँ।

(२) इस कलिकालमें भगवान्का साक्षात्कार अवश्य हो सकता है। भगवान् नित्य हैं तो उनका साक्षात्कार भी सर्वकालमें नित्य है। भगवान्के साक्षात्कारका पहला उपाय तो साक्षात्कारकी अति तीव्र और एकमात्र इच्छाका होना है। भगवान्की माधुरी मूरतिके दर्शनके लिये प्राणोंमें व्याकुलता, मनमें वेदना और अन्य सारी अभिलाषाओंका त्याग हो जाना चाहिये। परन्तु यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि अपने पुरुषार्थके बलसे भगवान्के दर्शन नहीं हो सकते। उस वस्तुकी कोई कीमत नहीं है, जिसके बदलेमें वह मिल जाय। व्याकुलता, वेदना और अन्य सारी आकाङ्क्षाओंका त्याग कोई साधन नहीं है। ये तो प्रेम-विरहीके लक्षण हैं। भगवान्के दर्शन तो उन्हींकी कृपासे होते हैं। आप जिस स्वरूपके दर्शन चाहते हैं, उसीके दर्शन हो सकते हैं। परन्तु इसमें किसी मनुष्यकी सहायता क्या काम दे सकती है। आपका और आपके प्रभुका बड़ा ही निकटका सम्बन्ध है; वे आपमें हैं और आप उनमें हैं, वे आपके हैं और आप उनके हैं। इस सीधे सम्बन्धको पहचानकर, पहचाननेमें न आवे तो विश्वास करके ही उन्हें सच्चे हृदयसे पुकारिये। आपकी व्याकुल पुकारसे बड़ा काम हो सकता है। भगवान् सब स्थानोंमें सब कालमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। पुकार सुनते ही उत्तर देते हैं। बच्चा छटपटाता हो और माँ बाहर बैठी हो तो क्या वह बच्चेकी पुकार सुनकर कभी उसके पास आये बिना रह सकती है? पुकार बनावटी हो या माँ न हो तो दूसरी बात है। यहाँ न होनेका तो सवाल ही नहीं है क्योंकि भगवान् तो सर्वत्र सर्वकालमें हैं ही। अब आवश्यकता केवल सच्ची पुकारकी है। भगवान् यहाँपर हैं, मेरे एकमात्र प्रेमास्पद हैं। इस विश्वास और निश्चयपर दृढ़तासे आरूढ़ होकर जो भगवान्को पुकारा जाता है, वही सच्ची पुकार है। दो बातें होनी चाहिये—एक भगवान्के यहाँ होनेमें दृढ़ विश्वास और दूसरी उन्हींको एकमात्र अपना परम प्रेमपात्र समझना। बस, ऐसा समझकर तीव्र इच्छा और प्राणोंकी व्याकुलतासे जिस किसीने उनको पुकारा है उसीने उनकी दिव्य झाँकीका दर्शन प्राप्त किया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भगवान्के शृङ्गारकी जैसी आप ठीक समझें वैसी ही भावना करें। दर्शन होनेपर असलीका पता आप ही लग सकता है। नामका जप जो नाम आपको प्रिय लगे उसीका करें। परन्तु श्रीकृष्णभगवान्के उपासकोंके लिये 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'श्रीराम कृष्ण हरि' अथवा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' ये मन्त्र बहुत उपादेय हैं। भगवान्को जल्दी आकर्षण करनेका उपाय तो प्रेम है अनन्य प्रेम है। सारी इन्द्रियाँ उन्हींकी सेवामें लग जानी चाहिये, आरम्भमें नियमपूर्वक नाम-जप, सदा नाम जपते हुए ही कार्य करनेका अभ्यास, नियमित ध्यान करनेकी चेष्टा, ध्यानकी चेष्टा रखते हुए ही कार्य करनेका अभ्यास, असत्य, दम्भ और अभिमानका त्याग, दीनता, नम्रता, प्रेम, मैत्री आदिका ग्रहण करना—ये ही उपाय हैं।

भगवान्की कृपाका भरोसा रखना—'उनकी कृपासे मेरा अवश्य उद्धार होगा, भगवान् मुझे जरूर दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे' ऐसा निश्चय रखना; 'भगवान सदा मेरे साथ हैं, मैं उनके शरणागत हूँ, उनका वरद हाथ मेरे मस्तकपर है, मेरे कृतकार्य होनेमें कोई सन्देह नहीं, पाप मेरे पास नहीं आ सकते।' इस प्रकारकी दृढ़ भावना करना बहुत लाभकारी है।
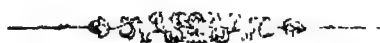
ज्ञानका जीवनपर प्रभाव

(लेखक—श्रीकृष्ण)

ज्ञान यानी साक्षात्कारयुक्त ज्ञान–अनुभवयुक्त ज्ञानका शरीर, इन्द्रिय और मनरूप साधनोंपर और स्वयं जीवपर क्या प्रभाव होता है और वह किस-किस तरहसे होता है तथा साधकका जीवन कैसा और पूर्ण ज्ञानीका कैसा होता है—इन बातोंका हम यहाँ विचार करना चाहते हैं। यहाँ यह कभी न भूलना चाहिये कि जीव स्वयं पूर्ण आनन्दस्वरूप है, अतः उसे अधिक आनन्द-प्राप्तिके लिये कोई विशेष चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं है और न उसे आनन्दप्राप्तिके लिये किसी अन्य वस्तुकी अपेक्षा ही है– इन दोनों बातोंको कभी न भूलना चाहिये।

'मैं पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ' ऐसी भावना बनी रहनेसे साधक सर्वदा आनन्दमें रहता है, उसकी शान्ति हमेशा बनी रहती है। अपने स्वरूपके ज्ञानको विवेक और मननसे खूब दृढ़ करना चाहिये। यह ज्ञान जितना दृढ़ होता जायगा उतनी ही उसके आनन्दके घटनेकी सम्भावना कम रहेगी। अपने नित्यप्रतिके जीवनके अनुभवसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्णतया दृढ़ होता है। संशयरहित ज्ञान ही दृढ़ ज्ञान है, उससे कभी कोई नया संस्कार उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं होती और न कभी उससे कोई वासना ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार वासनाहीन हो जानेसे जीव सदाके लिये दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

स्वयं आनन्दस्वरूप होनेके कारण ज्ञानीको किसी भी बाह्य विषयके भोग अथवा किसी कार्यविशेषकी इच्छा कभी नहीं होती। स्त्री, पुत्र और धन——जो सांसारिक सुखके साधन माने जाते हैं, ज्ञानीको अपने सुखके लिये उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। उनके लाभ-हानिसे भी उसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसीसे उसे उनके लाभसे हर्ष और हानिसे शोक नहीं होता। ज्ञानीको न तो उनकी प्राप्तिका आग्रह होता है और न त्यागका आग्रह। वह उनकी प्राप्ति और नाश दोनोंसे निरपेक्ष रहता है। इससे उसको कोई भी चिन्ता नहीं रहती और न किसीके प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलताका प्रश्न ही रहता है। इसलिये इससे होनेवाले राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, भय और मद-मत्सर आदि विकार भी नहीं होते।

ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया है, उसकी एक बातपर मुख्यरूपसे ध्यान देना चाहिये। वह यह कि ज्ञानी किसी वस्तु या कार्यविशेषकी इच्छा नहीं करता और न उसे कोई आग्रह ही रहता है। वैसे ही वह किसी भी वस्तु या कार्यके त्यागका भी आग्रह नहीं करता। वह प्रत्येक वस्तु या कार्यसे निरपेक्ष रहता है। वस्तुके लाभ या हानिमें तथा किसी कार्यके होने न होनेमें उसे किसी सुख-दुःखकी सम्भावना नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं आनन्दस्वरूप है। इससे यह निश्चय होता है कि प्रवाहपतित संयोगसे जो वस्तु या कार्य उसके सामने आता है, उसका वह त्याग नहीं करता और किसी नयी वस्तु या कार्यको पानेका आग्रह भी नहीं रखता।

यहाँ प्रवाहपतित संयोगका तात्पर्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। ज्ञानी अपनी परिस्थिति और वातावरणके अनुसार ही किसी वस्तु या कार्यका ग्रहण और त्याग करता है, स्वार्थ या मोहसे नहीं। शास्त्र और रूढ़ि—इन दोनोंको विचारमें रखते हुए वह स्वार्थ और मोहको छोड़कर जो निर्णय करता है, उसीके

अनुसार व्यवहार भी करता है। फिर चाहे किसीकी दृष्टिमें वह कार्य योग्य हो या अयोग्य। सब लोग किसी एक दृष्टिपर सहमत नहीं होते और उनके अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार अलग-अलग मत होते हैं। परन्तु जिस कार्य या वस्तुको शास्त्र और समाज अनुचित मानता है, उसको तो वही क्यों स्वीकार करेगा? क्योंकि उसे किसी बातका विशेष आग्रह तो है नहीं। उदाहरणके लिये वह व्यभिचार, चोरी और झूठका—जिन्हें सभी दूषित मानते हैं—कभी आचरण नहीं करेगा। वह घरके सब कामकाज करेगा, नौकरी या व्यापार जो कुछ वह करता होगा, सब करेगा और इन सबको यथायोग्य यानी जैसा करना चाहिये वैसा ही करेगा। इन्हें करनेमें उसके उत्साह या प्रयत्नमें कमी दिखायी नहीं देगी, क्योंकि वह अनुत्साह और आलस्यको बुरा समझकर उनसे सदा बचेगा। भेद केवल इतना ही होगा कि सब कुछ करते हुए भी यदि उसे कोई फल न मिले तो वह दुःखी नहीं होगा। ज्ञानी दूसरोंके साथ व्यवहार करते हुए प्रत्येक क्रियामें एक समान न्याय करता है। व्यवहारमें उसकी अपने लिये एक और दूसरोंके लिये दूसरी दृष्टि नहीं होती। अपने लिये उसका जो न्याय होता है वही दूसरोंके लिये भी होता है। उसकी सभी क्रियाएँ पक्षपातरहित और शुद्ध होती हैं। शुद्ध क्रियाओंसे जैसे स्वयं कर्ताको लाभ होता है, वैसे ही दूसरे लोगोंको भी बड़ा लाभ पहुँचता है। उसकी प्रत्येक क्रिया केवल क्रियाके लिये ही होती है। उस क्रियाके पीछे कोई और हेतु नहीं रहता; क्योंकि वह स्वयं पूर्ण आनन्दरूप है, इसलिये उसकी क्रियामें कोई स्वार्थ नहीं रहता। दूसरे लोग अपनी-अपनी परिस्थिति, संस्कार और विचारके अनुसार भाँति-भाँतिके कार्य करते हैं वैसे ही ज्ञानी भी नौकरी, धंधा, सार्वजनिक कार्य, उपदेश और शास्त्रावलोकनादि करता है और कभी बिल्कुल एकान्तमें भी रहता है।

ज्ञानी किसी वस्तु या कार्यका आग्रह नहीं रखता अर्थात् उसे कोई वासना नहीं होती। उसका शरीर बना हुआ है, इसलिये उसे प्रारब्धानुरूप भोगकी इच्छा अवश्य होती है, परन्तु उसका उसे आग्रह नहीं होता। ज्ञानीको ऐसी वासना कभी नहीं होती कि उसे अमुक विषय मिलना ही चाहिये—उसके मिलनेसे ही उसे सुख मिलेगा, नहीं तो नहीं। अमुक विषय न मिलनेसे उसे दुःख होगा—ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वह निरपेक्ष रहता है। वासनाका दबा रहना—दूसरी बात है और उसका क्षय हो जाना दूसरी। जिस समय एक वासना बहुत तीव्र होती है उस समय दूसरी दबी रहती है। उसके अनुरूप परिस्थिति पैदा होनेपर वह जाग्रत् हो जाती है। मजनूँ जब लैलाके पीछे पागल हो गया था, तब उसके हृदयमें लैलाको पानेकी इच्छाके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी इच्छा नहीं थी। उसे किसी भी वस्तुमें रस नहीं जान पड़ता था तथा सारा संसार नीरस और फीका मालूम होता था। उस समय उसे सारे संसारसे वैराग्य हो रहा था; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसे फिर कभी किसी वस्तुमें राग उत्पन्न होता ही नहीं, कभी किसी वस्तुकी वासना होती ही नहीं। लैलाकी प्राप्ति होते ही उसकी वह वासना शान्त हो जाती और उसका ध्यान दूसरी वस्तुओंकी ओर जाता, फिर धीरे-धीरे उनमें उसे रस मिलने लगता। इस प्रकार दूसरी वासनाएँ उत्पन्न हो जातीं। जैसे अभीष्ट वस्तु मिलनेसे वासना शान्त हो जाती है वैसे ही दूसरी वस्तुकी वासना जाग्रत होनेसे पहली वस्तु धीरे-धीरे भूलमें पड़ जाती है और उसकी वासना दब जाती है। यदि वासनाएँ दबी रहें, प्रकट न हों तो उनसे पैदा होनेवाले काम-क्रोधादि विकार भी दिखायी न दें। परन्तु जो वासनाएँ प्रत्यक्ष रहती हैं, उनसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधादि विकार भी अवश्य दिखायी देते हैं। तात्पर्य यह है कि जबतक वासना

पूर्णरूपसे क्षीण नहीं हो जाती, तबतक काम-क्रोधादि विकारोंका भी नाश नहीं होता, भले ही कोई उत्तेजक निमित्त न होनेसे वे दिखायी न दें। परन्तु कारण उपस्थित होनेपर वे अवश्य प्रकट हो जाते हैं। यदि कोई पण्डितजी शास्त्रावलोकनमें इतने निमग्न रहते हैं और उनकी शास्त्रवासना इतनी तीव्र होती है कि उन्हें संसारकी और किसी वस्तुमें रस नहीं जान पड़ता तो इसीसे लोग समझ बैठते हैं कि इन्हें और किसी बातकी वासना नहीं है। उस समय वासनाएँ दबी रहनेके कारण काम-क्रोधादि विकार भी दिखायी नहीं देते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि पण्डितजी या मजनूं ज्ञानी अथवा पूर्ण हैं, क्योंकि समय आनेपर उनकी वासनाएँ फिर उभर सकती हैं। ज्ञानीमें किसी भी समय वासनाका उन्मेष होनेकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसे अपने आनन्दस्वरूपका ज्ञान हो जाता है। इसीसे उसे कल्पित सुखके लिये कभी किसी वस्तुकी वासना नहीं हो सकती।

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि किसी प्रकारके हानि लाभ और किसी कार्यकी सिद्धि-असिद्धिसे ज्ञानीको हर्ष-शोक या काम-क्रोधादि कोई भी विकार नहीं होते, परन्तु इन विकारोंकी उत्पत्तिके हेतु केवल यही नहीं हैं किन्तु और भी कारण हैं, जिनका अब विचार किया जायगा। शरीर और मनपर होनेवाले नये-नये बाहरी आघात और उनसे होनेवाली विकृति जैसे स्वाभाविक हैं, वैसे ही इनमें विकार पैदा करनेवाले कारणोंसे जो कि पहलेसे ही वर्तमान हैं, इनमें विकृति होनी भी स्वाभाविक है। इस बातपर भी विचार करना चाहिये, इसके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है, जिससे ज्ञानीको विकार होना सम्भव हो।

इसका विचार करनेसे पहले एक सिद्धान्तकी बात और भी है, जिसपर विशेष ध्यान देना चाहिये। वह यह है कि सुख-दुःखका भोग किसको होता है? भोक्ता तो जीव ही है। अच्छा, यह जीव क्या है? जीवका स्वरूप है अन्तःकरणविशिष्ट चेतन। स्वयं चेतनको तो आनन्दस्वरूप होनेके कारण दुःखका स्पर्श ही नहीं हो सकता। अब रहा केवल अन्तःकरण। इसमें ही सुख-दुःखका भोग होता है। जीव अर्थात् अन्तःकरणयुक्त चेतन अन्तःकरणके द्वारा ही सुख-दुःखका भोग करता है। यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि अन्तःकरणमें पुराना संस्कार-समुदाय होता है और जो भोग सुख-दुःखका कारण है, वह इस संस्कार-समूहको ही प्राप्त होता है। यदि अन्तःकरण चेतनमें लग जाय तो उसे आनन्दका ही भान होगा। आनन्दके सिवा वहाँ दुःख तो है ही नहीं। यहाँ अन्तःकरणकी स्थिरता जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक आनन्दका भान होगा। पूर्ण स्थिरता (समाधि) में आनन्दका भान बहुत ही अधिक होता है। यदि अन्तः-करणको चेतनमें न लगाकर बाह्य विषयोंमें लगाया जाय तो उसे अपने संस्कारोंके अनुसार वहाँका सुख-दुःख प्राप्त होता है।

जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति है—यह ज्ञान हो या न हो, उसका सम्बन्ध होते ही ताप अवश्य मिलेगा। वैसे ही चेतन आनन्दरूप है—यह ज्ञान हो या न हो, उससे अन्तःकरणका सम्बन्ध होते ही आनन्दका भान अवश्य होगा। यदि अन्तःकरणको चेतनसे हटाकर विषयोंकी ओर ले जाया जाय तो उनसे संस्कारोंके अनुसार सुख-दुःखका भान होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखके भानसे ज्ञानका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान न होते हुए भी यदि अन्तःकरणको चेतनमें लगाया जाय तो जितने समयतक वह उसमें लगा रहेगा उतनी देरतक आनन्द-का भान होता ही रहेगा। इसीसे सदैव समाधिमें रहने-

वाले योगी, चाहे वे ज्ञानी न हों तो भी, सदैव आनन्दका अनुभव करते रहते हैं। आनन्दका भान होना अन्तःकरणपर निर्भर है। ज्ञान होनेपर भी यदि अन्तःकरणका सम्बन्ध विषयोंसे हो तो उसे दुःखका भान हो सकता है। जैसे यदि किसी ज्ञानीके शरीरमें काँटा चुभ जाय, चाकू लग जाय, उसके पेटमें दर्द होने लगे या दाढ़में पीड़ा हो तो ज्ञान होनेपर भी उसके अन्तःकरणमें दुःखका भान होना सम्भव है। यहाँ 'सम्भव है' कहनेका कारण यह है कि शरीरमें जो पीड़ा होती है, वह उसके सूक्ष्म ज्ञान-तन्तुओंपर अवलम्बित है। तन्तुओंको जैसा अभ्यास हो, उनपर जैसे संस्कार पड़े हों और उनके कारण वे जैसे बन गये हों वैसे ही दुःख भी कम या अधिक होगा। ज्ञानतन्तु अधिक सहिष्णु हों तो यह भी हो सकता है कि कष्ट हो ही नहीं। ठंडे देशके रहनेवालोंको अमुक प्रमाणकी ठंडकसे कम होनेपर दुःख प्रतीत होता है और गर्म देशके रहनेवालोंको उसी प्रमाणकी ठंडकसे अधिक दुःख होता है। शहरके लोग सदैव जूते पहनते रहते हैं, इसलिये यदि उनके कोमल पाँवमें काँटा लग जाय तो उन्हें अधिक दुःख होता है, भले ही वे ज्ञानी हों। किन्तु गाँवके रहनेवाले सदैव बिना जूते नंगे पैरों घूमते रहते हैं, अतः यदि उनके पैरमें काँटा लगे तो उन्हें बहुत कम दुःख होता है। किन्हीं लोगोंके पाँवके तन्तु तो ऐसे अभ्यस्त होते हैं कि उन्हें कुछ भी दुःख नहीं होता, भले ही वे अज्ञानी हों। इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीरमें होनेवाले आघातसे और उससे उत्पन्न हुई व्याधिसे दुःख अधिक हो, कम हो या बिलकुल भी न हो, उससे ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो शरीरके उन भागोंके ज्ञानतन्तुओंके अभ्यास और संस्कारोंपर अवलम्बित है। हाँ, इतना सम्बन्ध ज्ञानका भी जरूर है कि ज्ञान उत्पन्न होनेपर चिन्ता, शोक, काम, क्रोध आदि सब विकार दूर हो जाते हैं; इसलिये इनसे उत्पन्न होनेवाली या बढ़नेवाली व्याधियाँ भी अवश्य कम हो जाती हैं। ज्ञानी शान्त प्रकृतिका होता है; इसलिये उसके चाकू लगने आदिकी सम्भावना कम होती है और जो आघात या व्याधि आदि होते भी हैं, उनका दुःख वह शान्तिसे सहन कर लेता है, उसे विशेष बेचैनी नहीं होती। यानी दुःख होते हुए भी ज्ञानीकी शान्ति बनी ही रहती है। इसी प्रकार ज्ञानी केवल शरीर-पोषणके लिये ही आहार ग्रहण करता है; अतः शुद्ध और परिमित भोजन करनेसे उसे व्याधियोंका होना कम सम्भव है। प्रारब्धवश ज्ञानीको भी रोगादि अवश्य होंगे, किन्तु उनको दूर करनेका प्रयत्न करते हुए भी उनसे जो कष्ट होगा उसे वह शान्तिसे सहन कर लेगा। यह तो शारीरिक आघात और व्याधियोंके विषयमें विचार हुआ, अब मानसिक आघात और व्याधियोंके विषयमें विचार किया जाता है।

व्यवहारमें प्रतिदिन ऐसे कितने ही कृत्य होते हैं जिनमें गुप्त रीतिसे कुछ-न-कुछ काम, भय, लोभ, अन्याय, हिंसा और स्तेय इत्यादि रह सकते हैं। ये इतनी सूक्ष्ममात्रामें रहते हैं कि बहुत गहरा विचार किये बिना दिखायी नहीं पड़ते। साधारणतः विकारोंके ये सूक्ष्मरूप ध्यानमें नहीं आते। अपने ही छोटे बालकोंका चुम्बन निर्दोष माना जाता है, तो भी इसमें सूक्ष्मतया काम रह सकता है। प्रतिदिनके ऐसे कितने ही व्यवहार होते हैं, जिनपर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो न्यायकी असमानता दिखायी देगी। घरमें ताला लगानेमें भय, आसक्ति और लोभकी छाया अवश्य है। ऐसे अनेक कृत्य हैं जिनमें सूक्ष्म कामादि विकार रहते हैं तो भी इसका निश्चय होना कठिन होता है कि सचमुच ये विकार हैं या नहीं। एक ही काम विकारसहित भी हो सकता है और विकाररहित भी। ज्ञानी अपने कृत्यमें विकार है या नहीं—इसका निर्णय स्वयं कर सकता है। दूसरे लोग इसका निर्णय

नहीं कर सकते। केवल ताला लगानेसे ही यह सिद्ध नहीं होता कि कर्तामें भय आदि विकार होने ही चाहिये। ताला लगाते हुए भी अज्ञानीको भयकी वृत्ति बनी रहती है, किन्तु ज्ञानीको नहीं। ताला टूटनेपर, भीतरकी वस्तुएँ चली जानेपर लोभ और आसक्तिकी वृत्ति है या नहीं--यह बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। ज्ञानीको ये विकार नहीं होते। इस प्रकार पहले-के अभ्यास या संस्कारोंके अनुसार यदि स्वाभाविक रीतिसे ज्ञानी कोई कार्य करे तो उससे नये संस्कार नहीं बनते। जैसे असाधारण शारीरिक शक्ति ज्ञानीका लक्षण नहीं है, वैसे ही असाधारण मानसिक सामर्थ्य भी उसका लक्षण नहीं है। अधिक दूरीपर क्या हो रहा है--यह देख लेना अथवा दूसरेके मनमें क्या है--यह जान लेना मानसिक शक्तियाँ ही हैं। भूत या भविष्य बातोंका जानना भी ज्ञानीका लक्षण नहीं है। इसी तरह अणिमा, लघिमा इत्यादि अष्ट महासिद्धि भी मनकी असाधारण शक्तियाँ ही हैं। इनसे ज्ञानका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इतना सम्बन्ध अवश्य है कि ये शक्तियाँ मनकी शुद्धि, शान्ति, एकाग्रता और इच्छा-शक्तिपर निर्भर हैं। ये मानसिक तपसे ही बढ़ती हैं। ज्ञानसे मनकी शुद्धि और शान्ति होती ही है, अतः इतने अंशमें इनका ज्ञानसे सम्बन्ध है भी। मनकी एकाग्रताके हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, भावयोग इत्यादि अनेकों उपाय हैं। मनकी एकाग्रतासे शान्ति प्राप्त होती है परन्तु यह शान्ति एकाग्रताके अभ्यासपर निर्भर है। यदि यह अभ्यास बिल्कुल बंद कर दिया जाय तो वह शान्ति नहीं रहेगी। परन्तु ज्ञानसे प्राप्त हुई शान्ति सदाके लिये रहती है, उसका कभी नाश नहीं होता; क्योंकि ज्ञानका कभी नाश नहीं होता। इच्छा-शक्तिपर भी एकाग्रताका बड़ा प्रभाव पड़ता है।

मौन और सत्यसे वाणीकी सिद्धि होती है। ऐसा पुरुष जो कुछ बोलेगा वही सत्य हो जायगा। अहिंसा-वृत्तिसे हिंसक प्राणियोंतकका हिंसाभाव चला जाता है। व्याघ्र, सिंह, सर्प उनके पास आते हैं; परन्तु उनको किसी प्रकारका कष्ट पहुँचानेकी उनकी वृत्ति नहीं होती। अस्तेयकी पूर्णता होनेसे सब प्रकारकी वस्तुएँ प्राप्त होने लगती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्रत और तपोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञान न होनेपर भी इन व्रत और तपोंका आचरण हो ही सकता है और ये सब सिद्धियाँ भी प्राप्त हो ही सकती हैं। इन सिद्धियोंमेंसे यदि कोई एक भी प्राप्त हो जाय तो वह सिद्ध पुरुष कहा जा सकता है परन्तु उसे ज्ञानी संत नहीं कह सकते। ज्ञानी संत तो वह तभी कहा जा सकता है, जब उसमें ऊपर बताये हुए ज्ञानीके लक्षण हों--जिसे कोई वासना न हो, जिसके नये संस्कार बनने बंद हो गये हों और जिसका मन काम-क्रोधादि विकारोंसे रहित हो गया हो।

जैसे शारीरिक और मानसिक असाधारण शक्तियाँ ज्ञानीके लक्षण नहीं हैं, वैसे ही असाधारण बौद्धिक सामर्थ्य भी उसका लक्षण नहीं है। छहों दर्शनोंका उत्तम अभ्यास, गीता और भागवत आदिका उत्कृष्ट ज्ञान, अप्रतिम ऊहा और तर्कशक्ति, उत्तम वक्तृत्वशक्ति, सुमधुर वाणी, उत्तम गायनशक्ति-- इनमेंसे किसीसे भी ज्ञानी संत नहीं पहचाना जा सकता। वैसे ही कोई अपने अन्तःकरणके असाधारण प्रेम या भावशक्तिसे भी ज्ञानी संत नहीं हो सकता। वासना-क्षय और नये संस्कारोंका अभाव अथवा काम-क्रोधादि विकारोंका अभाव— ये गुण ज्ञानी संतमें अवश्य होने चाहिये। यों तो उसमें प्रेम भी सर्वथा शुद्ध और निःसीम होता है।

महाकवि तुलसीदासका नाटकीय महाकाव्य—रामचरितमानस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

[पृष्ठ १३५५ से आगे]

[२]

अवतार - क्यों, किस हेतुसे और किस प्रकार ?

हम देख चुके हैं कि मानसिक जीवविज्ञान (metabiology) भी हमें इसी सिद्धान्तकी ओर ले जाता है कि आत्माकी स्थायी तरंग जहाँ भी प्रकृतिके शुद्ध रूपमें मिलती है, वहाँ एक ग्रंथि (भँवर) बन जाती है और उसीको व्यक्तित्व कहते हैं। पश्चिमी जगत्के लिये वैसे सिद्धान्तको मानना योग्य ही है। कारण, वहाँ प्रकृतिपर ही अधिक जोर दिया जाता है। सांख्य-शास्त्रमें भी असंख्य जीव तथा परमाणु माने जाते हैं। इसीसे तो पश्चिमी भू-खण्डका विज्ञान उस शास्त्रसे बहुत मिलता है। वेदान्त-दर्शन इससे आगे बढ़कर यथार्थ ही कहता है कि असीम सत्ता एक ही हो सकता है। कारण, जहाँ दो हुए, वहाँ दोनों एक-दूसरेको सीमित करेंगे और दोनों नश्वर हो जायँगे। परन्तु यह एक असीम सत्ताका ही संकल्प है—'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ।' इसी संकल्पके परिणामस्वरूप हमें अनन्त जीव दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान्‌की इसी अनेक हो जानेकी शक्तिका नाम 'माया' है। पर याद रहे कि ईश्वरकी मायाका कोई भी विवेचन केवल अनुमान ही होगा, क्योंकि हम सब भी तो उसी मायाके भीतर हैं। इसीलिये तो दृष्टान्त-रूपमें कहा जाता है कि गूलरके भीतर रहनेवाले जीव बाह्य परिस्थितियोंको क्या जानें। अस्तु, जितना ही ईश्वरीय सत्तासे अन्तर बढ़ता जाता है, उतना ही जीव मायाके वश होता जाता है और अपनी वास्तविक सत्ताको नहीं समझ पाता। तुलसीदासजीने इसी सिद्धान्तको यों व्यक्त किया है—

> माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।

और—

> 'माया प्रेरक सीव।'

गीताके पुरुषोत्तम अध्यायमें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि पुरुष और प्रकृति दोनों पुरुषके ही रूपान्तर हैं और पुरुषोत्तम उनसे उत्तम है।

दूसरी ओर तुलसीदासजीने लंकाकाण्डके शुरूमें ही उस आदि सत्ता (राम) के सम्बन्धमें लिखा है—

> लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड।
> भजसि न मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड॥

अब प्रश्न यह होता है कि फिर अवतारकी आवश्यकता ही क्या है। उस आदि सत्ताका एक इशारा ही रावण-वधके लिये अलं होता। विश्वकवि श्रीरवीन्द्रने तो कुछ ऐसे ही प्रश्नका उत्तर देते हुए लिखा है कि शतरंज खेलनेकी कुशलता ही यह है कि उसके नियमोंके अंदरसे ही विजय प्राप्त की जाय, नहीं तो मनमानी चालोंमें खेल ही क्या और उसका आनन्द ही क्या। एक उर्दू-कविने भी लिखा है—

> गर ख़ुदा चाहे तो है असबाबकी तासीर छीन,
> लेकिन उस क़ैयूम बेहमताकी यह आदत नहीं।

यदि ईश्वर चाहे तो वह कारणोंके परिणामको नष्ट कर सकता है; पर उसने निष्पक्ष होकर ही सृष्टिकी रचना और धारणा की है, अतः उसका यह स्वभाव नहीं है।

तुलसीदासजीने भी इस सम्बन्धमें बड़ा सुन्दर प्रसंग दिखाया है। समुद्रके सामने जब भगवान् राम प्रार्थी होकर बैठे और उसने कई दिन बीत जानेपर भी उन्हें मार्ग न दिया तो रामजीको क्रोध आ गया और वे अपने बाणोंद्वारा समुद्रको ताड़ना देनेपर उतारू हो गये। उस समय समुद्रने बड़े मज़ेकी बात कही कि ''मर्यादाएँ तो सब आपकी ही बनायी हुई हैं; यदि आप उन सबको भंग कर मुझे सुखायें तो बात ही क्या, मैं सूख जाऊँगा। पर मज़ा तो जब है कि आप उद्योगद्वारा 'सेतु' की रचना करें, जिसमें यथाशक्ति मैं भी सहायता दूँगा।'' इसीलिये मर्यादाओंकी रक्षा करते हुए ही भगवान्‌ने सब कुछ किया और इसीलिये वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहलाते हैं।

वेदोंमें भगवान्‌का एक नाम 'कवि' भी है और वहाँ यह भी कहा है कि उस आदि सत्ताका सङ्कल्प और तद्द्वारा सृष्टि-निर्माण आनन्दपूर्ण ही है। यह भी याद रहे कि आनन्दका पूर्ण विकास मर्यादा-भङ्गमें नहीं होता, बल्कि मर्यादाओंके भीतर कार्य करनेमें ही होता है। जैसे कविताका पूर्ण विकास पिङ्गलकी मर्यादाका अनादर नहीं, बल्कि तद्द्वारा ही प्रतिभाका विकास है। शतरंज खेलनेवालेका इसमें आनन्द नहीं कि 'घोड़े'से हाथीकी चाल चला दे बल्कि आनन्द इसमें आता है कि

सारे नियमोंके अन्तर्गत खेलते हुए भी प्रतिद्वन्द्वीको मात दे दे। इस विवेचनसे तो स्पष्ट हो गया कि हमारा वह प्रश्न कि अवतारकी क्या आवश्यकता है उतना ही सही या उतना ही गलत है, जितना यह प्रश्न कि सृष्टिकी उत्पत्तिकी क्या आवश्यकता है या शतरंजमें 'घोड़े'को ढाई घर चलानेका ही क्या प्रयोजन है। और उत्तर भी वही ठीक है कि वैसा आदि सत्ताके आनन्दपूर्ण संकल्पसे ही होता है। हाँ, उसने संसारमें मर्यादा-स्थापनार्थ—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

एक बार जब जीवका व्यक्तित्व बन गया और उसे मर्यादित स्वतन्त्रता मिल गयी तो भगवान् कर्मकी मर्यादाओंको निभाते हुए ही सब कुछ करते और कराते हैं।

साहित्य-मर्मज्ञोंको यही बात यों समझनी चाहिये। वेदमें भगवान्‌को रसरूप भी कहा गया है। रस अनेक प्रकारके होते हैं, इसमें सन्देह ही क्या है। पर साहित्यमें रसका जो रूप है, वह भी विचारणीय है। सबसे पहली बात तो यही है कि रस वही है, जिसका आस्वादन हो सके और आस्वादनके साथ ही कुछ-न-कुछ हर्षका होना स्वाभाविक है। रस नौ माने गये हैं— जिनमें 'बीभत्स', 'भयानक' तथा 'करुण' भी हैं। जब हम शेक्सपियरका अध्ययन करते हैं तो हमें अनुभव होने लगता है कि उसने हैमलेट-जैसे सकरुण चरित्रका निर्माण कुछ वैसे ही कलापूर्ण आस्वादनके साथ किया है, जिसके साथ उसने पोर्शिया और वाइला-जैसे माधुर्यपूर्ण चरित्रोंका। बात भी ठीक है। यदि बीभत्स, भयानक तथा करुण रसोंमें कुछ आस्वादन न हो तो दुःखान्त नाटक एवं काव्यको पढ़े ही कौन। फिर भाव-मर्मज्ञ तथा नैतिक व्यवस्थापकजन यह भी जानते हैं कि बहुधा दुःख या तो तपरूप होता है या प्रेम आदिकी कसौटीरूप। इस अनुमान-शैलीसे हमें तो यही ज्ञात होता है कि इस संसाररूपी रङ्गमञ्चपर भगवान् अपनी ही इच्छासे उसी प्रकार अभिनय करनेके हेतु आते हैं, जिस प्रकार रङ्गमञ्चका स्वामी कभी-कभी उस अभिनयके हेतु स्वयं आता है, जो कठिन होनेके कारण किसी औरसे नहीं बन पड़ता। इसी कारण ऋषि भरद्वाजने भी वनवासमें भगवान् रामसे कहा है—

'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।'

और तुलसीने बालकाण्डमें वे सारे आधिदैविक रहस्य खोल दिये हैं, जिनके कारण एक विशेष समयपर रामावताररूपी लीलाभिनय हुआ। उपर्युक्त दोहा भी लङ्काकाण्डके प्रारम्भमें ही आया है, जिसके चित्रणमें तुलसीदासजी मिल्टन-जैसे महाकाव्य-कलाकारसे भी बढ़ जाते हैं। उनका चित्रपट भी इतना विशद है कि उसकी कल्पनासे ही मानवीय मस्तिष्क घूमने लगता है। चित्र भी देवासुर-संग्रामके हैं, जिन्हें सङ्कुचित मानवीय कल्पना असम्भव-सा समझती है। आलोचना करते हुए इस देवासुर-संग्राममें भगवान् श्रीरामके अभिनयके सम्बन्धमें स्वयं शिवजी यों कहते हैं—

उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥

....

भगवान्‌के जन्म एवं कर्म दोनों गीताके कथनानुसार दिव्य हैं। वे वस्तुतः न जन्म लेते और न मरते हैं। इसीलिये उनके कर्मोंको 'लीला', जन्मको 'प्रकट होना' और लीला-संवरणको 'विश्राम' कहा जाता है। राम-जन्मके समय भी कविने लिखा है—

'भए प्रगट कृपाला दीन दयाला······।'

—और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पहले चतुर्भुजरूप था, और फिर नर-लीलाके हेतु बालरूप पीछे धारण किया। यहाँ लङ्काकाण्डमें भी इसीलिये शङ्करजीकी उपर्युक्त आलोचना है कि राम और राक्षसोंका युद्ध ठीक वैसा ही अभिनय है, जैसा गरुड़ और सर्पका खेलका युद्ध। भगवान्‌के प्रकट होनेके बारेमें भी तुलसीदासजीने अग्निकी उपमा देकर यह बतलाया है कि यों तो अग्नि हर जगह गुप्तरूपमें व्यापक है, परन्तु जहाँ कहीं किसी विशेष प्रयोगसे प्रत्यक्षतः प्रकट होती है वहीं 'अग्नि' कही जाती है। शिवजीने उस प्रयोगके विषयमें, जिससे भगवान् प्रकट होते हैं, अपना सिद्धान्त यही बताया है कि-

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

सच है, भक्तका प्रेम ही भगवान्‌के अवतारका मुख्य कारण है। वह असीम सत्ता मनु और शतरूपाके प्रेम एवं तपके कारण उन्हींके दूसरे जन्ममें, जब वे दशरथ और कौसल्यारूप हुए, उनके पुत्ररूपमें प्रकट हुई।

कुछ तो लीला और कर्मका अन्तर ऊपर दिखाया जा चुका है, परन्तु वर्तमान युगमें उससे कुछ अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता प्रतीत होती है। 'कर्म' हमारे बन्धनका कारण बनता है, परन्तु 'लीला'से वैसा नहीं होता। बात भी ठीक है। नाटकका अभिनेता चाहे जितना सकरुण

अभिनय करे, परन्तु रङ्ग-मञ्चसे उतरनेके बाद अपने मित्रोंके साथ हँसता ही रहता है। अभिनयमात्रवाले दुःखका उसके वास्तविक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि उसका वास्तविक जीवन एक समुद्र समझा जाय तो अभिनयवाला दुःख केवल ऊपरी लहरोंके समान है। यह तो अनुमान करनेके लिये मानवीय नाटक-अभिनेताओंकी बात हुई, राम तो 'अखिल लोक विश्राम' तथा 'सकल लोक सुखधाम', सदा आनन्द-रसपूर्ण महासागर हैं। देखिये न, वनवासके समय भी उनकी और भरतकी अवस्थाका वैभिन्न्य दिखाते हुए एक सखीने भरतको देख यों कहा—

नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होत एहिं भेदा॥

गुप्त रहस्योंके सम्बन्धमें बाइबिल और कुरानमें भी यही धारणा है कि उनका वास्तविक प्रकटीकरण हो नहीं सकता। हाँ, दृष्टान्तोंद्वारा कुछ अनुमान कराया जा सकता है। इसीलिये हम भी अनेकानेक दृष्टान्तोंसे ही वैसे रहस्यों-की ओर संकेत करते हैं, और ऐसा करना आवश्यक भी है। कारण, हमारे यहाँ महाकाव्य-कलाका क्षेत्र वैसा सङ्कुचित नहीं जैसा पाश्चात्त्य देशोंमें रहा है। वहाँ तो यूनानी साहित्य-की धारणाके अनुसार किसी महान् घटनाको विस्तारसहित ओजस्वी भाषामें लिख देना ही काफ़ी समझा जाता है। हमारे यहाँ इससे कहीं आगे बढ़कर महाकाव्य-कलाकारका कर्तव्य यह माना गया है कि वह उन घटनाओंके आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्योंको भी खोल दे। इतना ही नहीं, बल्कि इनके स्पष्टीकरणके बिना तो महाकाव्य महाकाव्य ही नहीं माना जाता।

अवतारका विषय इतना गूढ़ है कि अनेक दृष्टान्तोंके बिना उसके रहस्यका प्रकटीकरण कठिन ही है और बिना वैसे प्रकटीकरणके तुलसीदासकी महाकाव्य-कलाका समझना असम्भव। यह बात और है कि कोई तुलसीदासजीसे सहमत न हो, परन्तु उनके विचारोंको समझ लेना उनकी कलाके आलोचनार्थ अनिवार्य है। इसीलिये अपने अंगरेजी पढ़े भाइयोंके लिये एक दृष्टान्त और देता हूँ। न्यूमैन महोदयने एक विश्वविद्यालयके शिक्षित और एक अशिक्षित कारीगरकी विभिन्नता दिखानेके हेतु जो विचार लिखे हैं, उनसे हमें बड़ी सहायता मिल सकती है। वह पुस्तक पढ़े मुझे बहुत दिन हुए, अतः स्मृतिसे उसका सिद्धान्त-अंश ही लेता हूँ। उदाहरण अपना है। यदि हम एक वैसे शिक्षित और दूसरे अशिक्षित बढ़ईको दो मेज़ें अलग अलग बनाते देखें तो उनके बाहरी काममें बहुत फर्क नहीं जान पड़ेगा। कभी-कभी तो अशिक्षित बढ़ईका काम अधिक अच्छा दीखेगा। प्रश्न यह है कि फिर अन्तर क्या हुआ। उत्तर यही है कि एक कर्मको केवल यन्त्रवत् करता है और उसका रहस्य नहीं जानता, और दूसरेका ज्ञान रहस्यके प्रकटीकरण-में भी समर्थ है। यदि आप अशिक्षित बढ़ईसे यह पूछ बैठें कि 'भाई! तुम्हारा बसूला कुछ टेढ़ा क्यों बना है और तुम उसे एक विशेष प्रकारसे ही क्यों चलाते हो?' तो वह केवल यही उत्तर देगा कि मैंने केवल वैसा ही परम्परासे देखा है और वही सुविधाजनक है। परन्तु शिक्षित बढ़ई आपको विज्ञान-द्वारा सारे रहस्योंको भी समझा देगा। इसीलिये शिक्षित बढ़ई आविष्कार करनेमें अधिक समर्थ होगा और दूसरेको शिक्षा भी दे सकेगा, और अशिक्षित बढ़ई सदा लकीरका फ़कीर ही बना रहेगा।

अब इस दृष्टान्तके कुछ आभासको अवतारसम्बन्धी विवेचनामें यों देखिये। भगवान् रामको सीता-वियोगमें विलाप करते देख पार्वतीजीको मोह उत्पन्न हुआ, यद्यपि शङ्करजीने 'सच्चिदानन्द परधामा' कहकर उन्हें आदरसे प्रणाम किया था। उनके मोहका कारण यही था कि उनकी तर्कपूर्ण बुद्धिने उस विलापको सीता-वियोगके कारण समझ रागपूर्ण ही समझा। शङ्करजीके समझानेपर भी उन्हें बोध न हुआ। तब परीक्षाके हेतु वे सीताका रूप धारण कर राम-लक्ष्मणके सामने गयीं। मानो हमारे उपर्युक्त दृष्टान्तमें यदि रामको शिक्षित बढ़ई समझा जाय तो यह परीक्षा एक प्रकारका प्रश्न ही है कि "यदि आप 'सच्चिदानन्द परधाम' हैं तो विलाप कैसा; देखें, आप मेरी मायासे मोहित हो जाते हैं या सचमुच आप त्रिदेवोंसे बड़े हैं।" रामजी ताड़ गये और पार्वतीजीको चारों ओर राम, लक्ष्मण और सीता दीखने लगे; फिर रामजीने बड़े ही सरल स्वभावसे पूछा कि 'शिवजी कहाँ हैं? और आप अकेली क्यों आयीं?' पार्वतीजी लज्जित हो गयीं। उन्होंने भगवानको प्रणाम किया और पश्चात्तापके सागरमें पड़ गयीं। महाकाव्यकलाकुशल कविने इस रहस्यको बालकाण्डमें खोल दिया है और सीताहरणके पहले ही एक छोटे-से दृश्यमें यह बता दिया है कि सीताको अग्निमें वास करा दिया था और केवल सीताका मायिक प्रतिबिम्ब सीताहरणरूपी अभिनयमें काम करता रहा। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि देवासुर-संग्राम दैवी और राक्षसी मायाके संघर्षसे ही प्रारम्भ हुआ। राक्षस अन्ततक इस मायाके रहस्यको समझ

न पाये। सच है, राम और सीताके सम्बन्धमें कविने पहले ही लिख दिया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

तो फिर वहाँ वियोग कहाँ। सीताहरण इत्यादि केवल लीलामात्र हैं।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अवतारका हेतु बताते हुए कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

'जब-जब ग्लानि धर्मकी होती और पापका बढ़े प्रचार,
हे भारत! तब-तब मैं आकर स्वयं लिया करता अवतार॥'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

साधुजनोंकी रक्षा करने, दुष्टोंका करने संहार,
युग-युगमें पैदा होता हूँ, स्थित करनेको धर्माचार॥*

तुलसीदासजी शिवजीद्वारा इसी विषयको यों व्यक्त कराते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

परन्तु भगवान् शिवने भी, जिनके मुखसे ही उपर्युक्त सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं, अन्ततः यही माना है कि वस्तुतः उस असीम सत्ताके अवतारके कारण और हेतु जाननेमें नहीं आते—

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥

भक्तोंके लिये तो सबसे सुन्दर कारण वही है, जिसे सर मुहम्मद इक़बाल-जैसे मुस्लिम कविने भी यों व्यक्त किया है—

कभी ऐ हक़ीक़ते मुंतज़र नज़र आ लिबासे मजाज़ में।
कि हजारों सजदे तड़प रहे हैं मेरी जबीने-नमाज़ में॥

'ऐ प्रतीक्षित सत्ता! कभी तो भौतिक आवरणमें दृष्टिगत हो, क्योंकि मेरे श्रद्धालु ललाटमें सहस्रों दण्डवतें तड़प रही हैं।' भक्तकी इस इच्छामें कितना आकर्षण है और प्रेमका सिद्धान्त ही यह है कि उसका प्रत्युत्तर अवश्य ही मिलता है। तुलसीदासजीने सीताके मुखसे इस सिद्धान्तका प्रकटीकरण यों कराया है—

जेहि पर जेहि कर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

और इसी बातको एक उर्दू-कविने बड़े मज़ेके साथ यों कहा है—

कच्चे धागेमें चले आयेंगे सरकार बँधे।

प्रेममें कितना भरोसा है और कितना ज़ोर। यदि भगवान् प्रेमरूप हैं तो कहाँतक आकर्षित न होंगे। हाँ, हमारी भौतिक आँखें उनके दिव्य रूपको देख नहीं सकतीं और इसीलिये हज़रत मूसाको जवाब मिला था 'लनतरानी', अर्थात् 'तू मुझे न देख सकेगा।' परन्तु भक्त क्यों मानने लगा? इसीलिये किसी-न-किसी तरह भगवान्‌को दर्शन देना ही पड़ा, फिर चाहे वह उस दिव्य रूपकी एक छटारूपी किरण ही क्यों न हो। इसीसे तो कविवर इक़बालकी प्रार्थना है कि 'भौतिक आवरण धारण कर सरकार सामने आयें, ताकि हमारे नमस्कार आपके चरणोंपर निछावर हो सकें।' इक़बालने भक्तिके लिये बिलकुल ठीक लिखा है—

शक्ती भी शान्ती भी भक्तोंके गीतमें है,
धरतीके बासियोंकी मुक्ती प्रीतमें है।

तुलसीदासजीने मनु और शतरूपाके प्रेमवाली अभिलाषाके सम्बन्धमें लिखा है—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

सच है, श्रुतिमें भगवान्‌के विभूतिरूपमें भक्त-प्रेमके कारण प्रकट होनेके अनेक मन्त्र आये हैं। उदाहरणार्थ सामवेद पृष्ठ ६८० (पं० श्रीजयदेवशर्माकृत भाष्य) देखिये—'हे (चित्रभानो) उपास्य, कान्तिसम्पन्न, विचित्र रश्मियोंसे युक्त, नाना प्रकारके सूर्योंके स्वामिन्! जिस प्रकार (सिन्धोः) विशाल नदीके (उपाके) समीपमें (ऊर्मी) छोटी-छोटी नहरें काट लेते हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूति-

* हिंदी-अनुवाद पुरोहित रामप्रतापजीके गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा प्रकाशित अनुवादसे लिया गया है। —लेखक

प्रवाहमेंसे (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तके प्रति (*विभक्तासि*) विविध प्रकारसे *नाना विभूतियाँ* बाँट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) अभिमत आनन्द-रस बहा देते हैं ।' गीतामें भी श्रीकृष्णभगवान्‌ने अपने विभूति-वर्णनमें कहा ही है कि 'शस्त्रधारियोंमें राम मैं हूँ ।' तुलसीदासजीने इन्हीं सिद्धान्तोंको यों लिखा है—

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती ॥
... ...

अग जगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥

तुलसीदासजीकी प्रेमकथामें 'ल्नतरानी' नहीं । वहाँ तो भगवान् भक्तको मोहित करनेवाले रूपमें ही प्रकट होते हैं । कारण, दैवी सत्ता केवल सत्यरूप तथा कल्याणरूप ही नहीं प्रत्युत सुन्दर भी है । देखिये, मनु-शतरूपाके सामने लावण्य-निधि कितने सुन्दररूपमें प्रकट होते हैं—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥

सारा प्रकरण ही पठनके योग्य है पर विस्तारभयसे नहीं दिया जाता ।

तुलसीदासजीने अवतारके निमित्त लिखा है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ।

'नेति-नेति' का अर्थ एक ओर नकारात्मक अवश्य है कि कोई भी गुण उस असीम सत्ताका वर्णन नहीं कर सकता । वह गुणोंसे परे है, पर उसका अर्थ शून्यता नहीं बल्कि सर्वगुणसम्पन्नता ही है; और इसी हेतु तुलसीदासजीका सिद्धान्त है कि निर्गुण और सगुण रूपोंमें भेद नहीं, अपितु वे चित्रके दो पट ही हैं । 'मसनवी मौलाना रूम' में भी कहा है—

बनामे आँकि ऊ नामे न दारद । ब हर नामे कि ख्वानी सर बरारद ॥

'मैं उस प्रभुके नामसे शुरू करता हूँ, जिसका कोई नाम नहीं । परन्तु भक्त उसे जिस नामसे पुकारते हैं, उसीसे वह प्रकट होता है ।' मुझे तो यह उस सिद्धान्तका रूपान्तर ही दीखता है, जिसमें कहा गया है कि सत्य ही देवता है ।

सामवेदकी एक प्रार्थना देखिये—

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषानां
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ।

'हे परमेश्वर ! आप विद्वानों, प्राणों और सब सूर्य-चन्द्रादिक पदार्थोंके भीतर निवास करनेवाली प्रजाओंके सामने, *मनन करनेवाले प्राणियोंके सम्मुख और द्युलोक, आनन्दमय* मोक्षके दर्शन करानेके निमित्त समस्त संसारके प्रति उदयको प्राप्त होते हैं ।'

—श्रीजयदेव विद्यालङ्कारकृत भाष्य

यदि यह प्रार्थना स्वीकृत हो तो किसी दिव्य साकार रूपमें एक प्रकारका अवतार ही तो होगा । अब दूसरी ओरसे उसी सामवेदभाष्यके पृष्ठ ५६८–७० पर देखिये—

एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
हरिः पवित्रे अर्षति ॥

(एषः) वह (देवः) प्रकाशमान (सुतः) सम्यक्-*मार्गमें निष्ठित होकर (हरिः) सब दुःखों या बन्धनोंका* काटनेवाला आत्मा (देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषोंके निमित्त (प्रत्नेन) पुराने, परिपक्व (जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्मद्वारा (पवित्रे) परम पावन परमात्मामें (अर्षति) जा लगता है ।

मुझे तो 'जय जय सुरनायक' इत्यादिवाली देवोंके प्रतिनिधिरूप ब्रह्माजीकी प्रार्थना देश, काल और परिस्थितिके अनुसार ऊपरकी सामवेदवाली प्रार्थनाका सकरुण रूपान्तर ही जान पड़ती है और इसीलिये आकाशवाणीवाला उत्तर भी उतना ही सरस एवं आशाप्रद है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहउँ दिनकर बंस उदारा ॥
... ...

नारद बचन सत्य सब करिहउँ । परम सक्ति समेत अवतरिहउँ ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई ॥

यह तो सभी जानते हैं कि भगवान् और भक्तका सम्बन्ध पूर्णतः यों प्रकट किया जाता है—'हे भगवन् ! आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, आप ही सखा हैं, आप ही द्रव्य हैं, आप ही विद्या हैं और सर्वस्व भी आप ही हैं ।' इतना ही नहीं; वेदोंके उपासनाकाण्डमें १६००० दृष्टिकोणोंसे ऋषियोंने भक्त और भगवान्‌के सम्बन्धको व्यक्त करनेवाली उपासनाके मन्त्र लिखे, पर अन्तमें 'नेति-नेति' ही कहना पड़ा । भक्तोंके सिद्धान्तानुसार उन्हीं हजारों श्रुतियोंने श्रीकृष्णावतारमें गोपियोंका रूप धारण कर भगवान्‌के साथ 'रास' किया, पर वास्तविक रहस्यको पूर्णतः किसीने न जाना । कारण, बात वही है जो तुलसीदासजीने कही है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

हाँ, जो कुछ हम होना चाहते हैं और जिसके निमित्त हम उद्योग करते हैं, वही हम हो जाते हैं—यह दर्शनोंका सिद्धान्त है, जिसे हास्य-रूपमें अकबर इलाहाबादीने यों लिखा है—

कहा मंसूरने खुदा हूँ मैं, डारविन बोला बूजना हूँ मैं ॥
सुनके कहने लगे मेरे इक दोस्त, 'फिक्र हर कस बकद्रे हिम्मते ओस्त ।'

[मंसूर कहता था, मैं 'ब्रह्म हूँ' और डारविन महोदय कहते हैं कि हम बंदरके ही रूपान्तर हैं । यह सुनकर मेरे एक मित्रने कहा कि भाई ! हर आदमीकी उड़ान उसके साहसानुसार ही हुआ करती है ।]

कुम्भका आध्यात्मिक उपयोग

(लेखक—श्रीमुनिलालजी)

(१)

'क्यों दादा ! आज मुकुन्दजीके साथ क्या सलाह हो रही है ?'

'कुछ नहीं मोहन ! मेरा विचार कुम्भस्नानके लिये प्रयाग जानेका था, सो सुना है ४ जनवरीके बाद रेलवेने इलाहाबादका टिकट न देनेकी सूचना निकाल दी है ।'

'अच्छा तो है, इस कड़ाकेकी सर्दीमें आप वहाँ जाकर क्या करेंगे ? यों भी वहाँ रहने-सहनेकी कोई सुविधा मिलनी कठिन है । आजकल तो जबतक घंटा-भर दिन नहीं चढ़ जाता, हाथ-मुँह धोनेसे भी टाँट बँधने लगती है । ऐसी अवस्थामें रेतीमें पड़ना और सूर्योदयसे भी पहले बर्फ-जैसे जलमें डुबकी लगाना—मेरी समझमें तो नहीं आता । इसमें न जाने काहेका पुण्य है । मनुष्य सचाईका व्यवहार करे, पाप करनेसे बचे और किसीका अहित न करे--यह तो ठीक है; और सब तो पण्डित और पण्डोंका कमाई करनेका ढकोसला ही जान पड़ता है ।'

'मोहन ! तुम बहुत बातें कह गये । तुम्हारा मेरे प्रति सहज स्नेह है, इसलिये मेरी सुविधाकी चिन्ता होनी तो स्वाभाविक ही है; किन्तु उसका इतना मोह तो नहीं होना चाहिये कि उसके कारण अपने धर्म-कर्मके प्रति भी तिरस्कारका भाव हो जाय । देखो, प्रत्येक धार्मिक समाजमें—चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, कोई भी हो—धर्मके तीन रूप रहते हैं—सामान्य-धर्म, विशेषधर्म और सिद्धान्त । तुमने जिन सत्य, अहिंसा आदिको वास्तविक धर्मरूपसे स्वीकार किया है, वे सामान्य धर्म हैं । इन्हें प्रकारभेदसे सभी मतवादी स्वीकार करते हैं, ऐसा कोई भी सम्प्रदाय नहीं है जो इन्हें न मानता हो; इसीलिये मैं इन्हें 'सामान्यधर्म' कहता हूँ । विशेष-धर्म और सिद्धान्तोंमें ही विभिन्न सम्प्रदायोंका मतभेद होता है । इनमें भी सिद्धान्तको समझनेवाले तो सब लोग नहीं होते, वह केवल विद्वानोंकी ही चीज है । सामान्य पुरुषोंकी दृष्टिमें जो उनके धर्मका स्वरूप है, वह 'विशेषधर्म' ही है । विशेषधर्मको लेकर ही मनुष्य साधनमार्गमें प्रवृत्त होता है और अपनेको किसी सम्प्र-दायविशेषमें दीक्षित मानता है । जो अपने सम्प्रदायके विशेषधर्ममें श्रद्धा नहीं रखता, उसमें स्वधर्मप्रेम भी नहीं होता ।'

'दादा ! आपने जो बात कही, वह बहुत ठीक है । परन्तु मैं तो ऐसा समझता हूँ कि इस स्वधर्मप्रेमसे लाभके बदले हानि ही होती है । आज जितने साम्प्रदायिक झगड़े होते हैं, उनके मूलमें यही तो रहता है । स्वधर्म और परधर्मसे क्या लेना है । यदि हम साम्प्रदायिक मतभेदको छोड़कर केवल सामान्यधर्मोंका ही पालन करें तो फिर संघर्षका कोई कारण ही नहीं रहता और हमारा जीवन खूब आनन्दसे कट सकता है ।'

'भैया ! झगड़ोंकी जड़ स्वधर्मप्रेम नहीं, परधर्म-

विद्वेष है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ किसी अन्यके प्रति भी द्वेषका भाव नहीं होता। प्रेममें संकोच नहीं होता, प्रेम तो प्रभुका स्वरूप ही है। प्रेम तो एक ही बात सिखाता है—वह है प्यार करना। क्या कोई स्नेहमयी जननी किसी दूसरेके बालकसे द्वेष करती है? द्वेषका मूल तो प्रेम नहीं, अभिमान है। अभिमानसे मनुष्य अंधा हो जाता है और वह अपने आगे किसीको कुछ नहीं गिनता। बस, ऐसी अवस्थामें जब वह कोई बात अपने मनके प्रतिकूल देखता है तो उसकी विद्वेषाग्नि प्रज्वलित हो जाती है और वह सिर फोड़नेको तैयार हो जाता है।'

'ठीक है दादा! फिर भी यदि वह साम्प्रदायिक भेद न रहे तो क्या हानि है?'

'साम्प्रदायिक भेदका मिटाना है साधनमार्गको मिटा देना। सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके धर्मोंका उद्देश्य है परमतत्त्वकी अनुभूति। वह परमतत्त्व ही सारे सम्प्रदायोंका सिद्धान्त है। मानव-प्रकृतिके भेदके कारण उस एक ही तत्त्वकी विभिन्न प्रकारसे अनुभूति होती है; किन्तु सभी सम्प्रदायोंके तत्त्वदर्शी इस गूढ़तम रहस्यसे अनभिज्ञ नहीं रहते कि उन सारी विभिन्नताओंकी तहमें एक ही अभिन्न तत्त्व खेल रहा है। उसकी झाँकी किसी-न-किसी प्रकारके पर्देकी ओटमें ही होती है—यही उसका स्वभाव है। इसलिये सिद्धान्तोंके भेदमें भी उन्हें अभेद ही दिखायी देता है। उसके इन विभिन्न रूपोंमेंसे किसीकी भी ठीक-ठीक झाँकी होनेके लिये एक विशेष साधनमार्गकी आवश्यकता होती है, और वह साधनमार्ग ही विशेष-धर्म या सम्प्रदाय है। बताओ, यदि सम्प्रदाय न रहेगा तो साधक किस साधनमार्गसे अपने साध्यतक पहुँचेगा।'

'क्या केवल सामान्यधर्मके पालनसे उस तत्त्वकी अनुभूति नहीं हो सकती?'

'भैया! जीवका स्वभाव सामान्य-विशेषात्मक ही है। स्वरूपतः सभी जीव समान हैं, किन्तु जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कारोंके कारण उनमें विशेषता भी आ गयी है। देखो! सबके स्वभाव, रुचि, संस्कार और वासनाएँ एक तो नहीं होते। अजी, जब हमारे ये स्थूलशरीर ही समान नहीं हैं तो स्वभाव कैसे समान हो सकते हैं। इसलिये जीवोंके लिये सामान्य-विशेषात्मक साधनकी ही आवश्यकता है और उसीके द्वारा वह उस परमतत्त्वकी अनुभूति कर सकता है, जो सामान्य और विशेषरूपसे ही अनुभूत होनेपर भी वस्तुतः इन दोनों रूपोंसे रहित है।'

'दादा! आजकी बात तो बहुत गम्भीरताकी ओर चली गयी। आपकी बातें युक्तियुक्त तो जान पड़ती हैं, परन्तु उनतक मेरी पहुँच नहीं है। इसलिये इस गहराईसे निकलकर आप मुझे यह समझानेकी कृपा करें कि इस कुम्भपर्वका तत्त्वोपलब्धिमें क्या उपयोग…………।'

मोहनकी बात समाप्त भी न हो पायी थी कि मुकुन्द भी झटसे बोल उठा, 'भैया माधव! तुम्हारी बातें तो बड़े तत्त्वदर्शियोंकी-सी हैं। परन्तु यह बात मेरी समझमे भी नहीं आती कि तत्त्वकी उपलब्धिमें इन तीर्थ-व्रत आदिका भी कोई उपयोग है। तुम जानते हो हो मैं तो फिलॉसफीका विद्यार्थी हूँ और यह मेरा एम० ए० का अन्तिम वर्ष है। परन्तु मैंने किसी भी पूर्वीय या पाश्चात्य दर्शनमें इसका कोई उपयोग नहीं देखा। तुम भी मेरे साथी ही हो और हम दोनों आगरा-युनिवर्सिटीके ही छात्र हैं। अवश्य तुमने संस्कृत ले रक्खी है; परन्तु दर्शनशास्त्रमें तो तुम्हारा ज्ञान मुझसे बढ़कर नहीं है। तुम्हारा भाई मोहन तो बी० कॉम्० का स्टूडेंट है। यह तो कुछ अर्थशास्त्रकी बातें ही समझ सकता है, इसलिये इसकी समझमें ये बातें न आयें तो न सही। मेरी पहुँच तो इनतक होनी ही चाहिये।'

माधवने कहा, 'मुकुन्दजी! आप तो हमारे साथी ही हैं। आपसे अधिक मैं क्या जानता हूँ। मोहनने जो बात पूछी, उसका जैसा मेरी समझमें आया उलटा-सीधा उत्तर दे दिया। आजकल यहाँसे थोड़ी दूर

कैलासमें मेरे गुरु स्वामी तपोधनजी महाराज आये हुए हैं। क्रिसमसकी छुट्टियाँ हैं ही। कल उन्हींके पास चलें। वे बड़े विद्वान् और अनुभवी महात्मा हैं। उनसे अवश्य आपकी इस शंकाका समाधान हो जायगा। आप कल भोजनके पश्चात् राजाकी मंडीमें मेरे घरपर आ जायँ। फिर आप, मैं और मोहन—तीनों एक ही ताँगेपर वहाँ चलेंगे।'

मुकुन्द—बहुत ठीक! अच्छा, अब बहुत देर हो गयी है; हमलोग चले।

इसके पश्चात् मुकुन्द तो सीधा वेश्यहाउसकी ओर चल दिया तथा माधव और मोहन यमुनातटसे किनारी-बाजार होते हुए अपने घर चले आये।

(२)

आगरेसे प्रायः आठ-दस मीलकी दूरीपर कैलास नामका एक बड़ा ही शान्त और रमणीक स्थान है। वहाँ भगवान् शंकरका एक प्राचीन मन्दिर है और साधु-महात्माओंके ठहरनेके लिये कई कुटियाँ हैं। तरह-तरहके वृक्षोंकी सघन छायामें भाँति-भाँतिके पक्षियोंका सुमधुर कलरव होता रहता है। पास ही कलिन्दकन्याकी कमनीय धारा शान्त और मन्द गतिसे प्रवाहित हो रही है। मानो यहाँ रहनेवाले मुनिजनोंके ध्यानमें विघ्न पड़नेके भयसे ही उसने अपनी चपल गति त्याग दी है।

इसी स्थानपर एक वृक्षके नीचे ऊँची वेदीपर एक तेजस्वी महात्मा विराजमान हैं। उनकी गौर कान्ति उज्ज्वल काषायवस्त्रोंसे और भी दिप उठी है। महात्माजीकी आयु यद्यपि साठको लाँघ चुकी है, तो भी कुछ सफेद बालोंके सिवा उनमें वृद्धावस्थाका कोई चिह्न नहीं है। दोपहरके प्रायः दो बजेका समय है। भगवान् भास्कर मध्याकाशसे कुछ पश्चिमकी ओर ढुलक गये हैं। यों भी शीतकाल होनेके कारण वे कुछ दक्षिणावर्त्त रहकर ही अपनी यात्रा पूरी करते हैं। इसी सुहावने समयमें हमारे पूर्वपरिचित तीनों युवक वहाँ पहुँचे और बड़े विनम्रभावसे महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके बैठ गये। माधव तो स्वामीजीका सेवक ही था। उसीने उनके पूछनेपर अपने साथियोंका परिचय दिया। कुछ देर कुशलप्रश्न और साधनसम्बन्धी बात होनेके पश्चात् माधवने कहा, 'भगवन्! कल हमलोगोंमें आपसमें कुम्भके विषयमें कुछ बातचीत हुई थी। किन्तु मैं इनका पूरा समाधान नहीं कर सका। इसलिये ऐसा विचार हुआ कि इस विषयमें श्रीमुखसे ही कुछ सुना जाय।'

महात्माजी—(मुसकराकर) ठीक है; पूछो न, क्या बात है?

माधव—(मुकुन्दसे) मुकुन्दजी! आप श्रीमहाराज-जीसे अपने प्रश्नका निर्णय करा लीजिये।

मुकुन्द—भगवन्! मैं दर्शनशास्त्रका विद्यार्थी हूँ। मैंने थोड़ा-बहुत पूर्वीय और पाश्चात्त्य दोनों प्रकारके दर्शनोंको देखा है। माधवजी कहते हैं कि तीर्थ, व्रत और उपवासादि जो हिंदुओंके विशेषधर्म हैं उनका भी तत्त्वसाक्षात्कारमें बड़ा उपयोग है। परन्तु जो तत्त्वदर्शी दार्शनिक हैं, उनके ग्रन्थोंमें मैंने ऐसा कोई उल्लेख नहीं देखा। मैं तो यही समझता हूँ कि इनका उपासनामें भले ही कोई उपयोग हो। तत्त्व तो स्वतःसिद्ध वस्तु है, उसके साक्षात्कारके लिये तो एकमात्र सूक्ष्म बुद्धिकी ही आवश्यकता है। देखिये श्रुति भी कहती है—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥' (कठ० १। ३। १२) सो इसमें आपका क्या मत है?

महात्माजी—पाश्चात्त्य दर्शनोंकी बात तो मैं विशेष नहीं जानता; किन्तु पूर्वीय दर्शन तो ऐसे नहीं हैं। देखो, पूर्वमीमांसा तो केवल कर्मका ही प्रतिपादन करता है। बौद्ध और जैन-दर्शनोंमें भी तपकी थोड़ी महिमा नहीं गायी है। योगदर्शन कहता है—'तपःस्वाध्यायेश्वर-

प्रणिधानानि क्रियायोगः' (२ । १) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये क्रियायोग हैं। तपका लक्षण बताते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'तपः द्वन्द्वसहनम्' अर्थात् भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहना तप है। इसके पश्चात् क्रियायोगका उद्देश्य इस सूत्रद्वारा बताया गया है—'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (योग० २। २) अर्थात् यह क्रियायोग समाधिकी प्राप्तिके लिये और अविद्यादि क्लेशोंके क्षयके लिये है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक और अवैदिक सभी दर्शनोंमें तपकी खूब महिमा गायी है।

मुकुन्द—मेरा आशय तत्त्वज्ञानसम्बन्धी दर्शनोंसे है। मीमांसा तो कर्मशास्त्र है, योगका प्रधान लक्ष्य मनोवृत्तियोंका निरोध है। जैन और बौद्धोंके भी जो साधनसम्बन्धी ग्रन्थ हैं उन्हींमें तपका महत्त्व है, सिद्धान्तग्रन्थोंमें नहीं।

महात्माजी—ठीक है, परन्तु यह तो बताओ कि बिना साधनके साध्यकी प्राप्ति कैसे होगी।

मुकुन्द—शंकर तो तत्त्वको साध्य नहीं मानते। उनके विचारसे तो वह स्वतःसिद्ध, अपना-आप ही है।

महात्माजी—ठीक, किन्तु तुमने तो सभी दर्शनोंकी बात कही थी न। इसलिये मुझे यह सब कहना पड़ा। अब यह तो निश्चय हो गया कि जिन दर्शनोंमें किसी साध्य-तत्त्वका प्रतिपादन है, वहाँ तपको उसका प्रधान साधन माना गया है। रही भगवान् शंकराचार्यकी बात, सो उन्होंने जो तत्त्वको साध्यरूपसे स्वीकार नहीं किया इसका तात्पर्य यही है कि साधनके द्वारा तत्त्वमें कोई विशेषता नहीं आती; किन्तु उसकी उपलब्धिके लिये अपने अन्तःकरणकी शुद्धिकी आवश्यकता तो उन्होंने भी मानी ही है। इस दृष्टिसे उन्होंने भी जिज्ञासासे पूर्व साधनचतुष्टयकी बड़ी आवश्यकता बतायी है—यहाँतक कि साधनचतुष्टयके बिना तो वे वेदान्त-श्रवणका अधिकार ही नहीं मानते। उस साधनचतुष्टयका ही एक अङ्ग तितिक्षा भी है। सो ये तीर्थ, व्रत और उपवासादि क्या तितिक्षाके अन्तर्गत नहीं आ जाते?

मुकुन्द—यह तो ठीक है भगवन्! परन्तु इस प्रकार परम्परासे ये भले ही उसके साधन हो जायँ, उसके साक्षात् साधन तो नहीं हो सकते।

महात्माजी—चलो, परम्परासे ही सही; साधन तो हैं। किन्तु देखो उपनिषद्में तो साधन नहीं, स्वयं तपको ही साध्य बताया है।

मुकुन्द—साध्य बताया है? सो कैसे, भगवन्?

महात्माजी—क्या तुम्हें तैत्तिरीयोपनिषद्की भृगुवल्लीमें कही हुई वरुण और भृगुकी कथा स्मरण नहीं है? वहाँ भृगुके बार-बार पूछनेपर वरुणने एक ही उत्तर दिया है—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्म' (तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है)। देखो, यहाँ स्पष्ट ही तपको ब्रह्म बताया है।

मुकुन्द—महाराजजी! तप ब्रह्म कैसे हो सकता है? मेरे विचारसे तो जैसे 'अन्नं ब्रह्म', 'मनो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंमें ब्रह्मके प्रतीक होनेसे अन्न और मनको ब्रह्म कहा है, उसी प्रकार ब्रह्मकी अनुभूतिका प्रधान साधन होनेसे ही यहाँ तपको ब्रह्म कहा है।

महात्माजी—अच्छा, अब तो तुम्हारे मतसे भी तप ब्रह्मानुभूतिका प्रधान साधन सिद्ध हो गया।

मुकुन्द—किन्तु यहाँ तपका अर्थ व्रत-उपवासादि नहीं, विचार या चित्तकी एकाग्रता है।

महात्माजी—यह तो ठीक है। किन्तु जिसका चित्त व्रत, उपवासादिके द्वारा शुद्ध नहीं हुआ है, उससे विचार या चित्तकी एकाग्रता होगी कैसे? असलमें अधिकारीके अनुसार तीर्थ, व्रत और उपवासादिसे लेकर समाधिपर्यन्त सभी साधन तत्त्वसाक्षात्कारमें उपयोगी हैं और सभीको तप कहा जा सकता है। एक जगह तो श्रुतिने

स्पष्ट ही कहा है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।' (बृह० ४।४।२२) यहाँ वेदानुवचन अर्थात् गुरुमुखसे वेदान्तोंके श्रवण, यज्ञ, दान, तप और उपवास—सभीको ब्रह्मकी उपलब्धिका कारण बताया है। इनमें श्रवण तो तत्त्वसाक्षात्कारका प्रधान साधन प्रसिद्ध ही है। महाराज पृथु और निमिने यज्ञके द्वारा ही भगवान् सनत्कुमार और नव योगेश्वरोंसे ज्ञान प्राप्त किया था। जानश्रुति और जनकने दानके द्वारा ही रैक्व और याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी तथा ध्रुवने तप और उपवास करके ही साक्षात् श्रीभगवान्‌से भगवत्तत्त्वका ज्ञान और ध्रुवपद प्राप्त किये थे। इसलिये किसी भी साधनको छोटा या हेय नहीं कह सकते; अपने-अपने स्थानपर सभीका बड़ा भारी उपयोग है।

मुकुन्द—भगवन्! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह बहुत युक्तियुक्त जान पड़ता है और मुझे अपने विचारोंमें भूल भी दिखायी देती है। परन्तु जहाँतक मैंने समझा है, शाङ्करदर्शनकी दृष्टिमें तो यह सारा जगत् कल्पित और मिथ्या ही है। यही नहीं, कर्म और उपासनासे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग और ब्रह्मलोकादि भी केवल हमारे मनकी ही भावनाएँ हैं। तीर्थादिका जो तीर्थत्व है, वह भी हमारा ही आरोप किया हुआ है। ऐसी अवस्थामें इनकी ओर चित्तवृत्तिको लगाना व्यर्थ अज्ञानको ही बढ़ाना है। मैं नहीं जानता बड़े-बड़े एकान्तसेवी और विरक्त महात्मा भी अपनी एकान्त कुटियोंको छोड़कर क्यों ऐसी भीड़भाड़में जाते हैं।

महात्माजी—वत्स! इस लोकके महात्मा ही नहीं; ऐसे अवसरोंपर तो समस्त तीर्थ, सिद्धलोकके संतजन और स्वयं भगवान् शंकर भी वहाँ पधारते हैं। भला, जहाँ पुण्यतोया भागीरथी और कृष्णप्रिया कालिन्दीके सितासित अङ्गोंका मधुर मिलन होता है उन तीर्थराजकी महिमा कौन कह सकता है। तीर्थराजको स्वभावतः ही समस्त तीर्थोंका आधिपत्य प्राप्त है। उनकी पवित्र रजके सेवन और दिव्यलोकके भगवदीय महानुभावोंके दिव्य प्रभावसे जैसी चित्तशुद्धि होती है, वैसी वर्षोंके एकान्तसेवनसे भी नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा होता तभी है, जब पूर्ण श्रद्धा हो; फिर भी उनके अपने प्रभावसे कुछ तो संस्कार अवश्य होता है।

मुकुन्द—भगवन्! इस दिव्य जगत्‌का क्या कार्य है?

महात्माजी—देखो, जिस प्रकार हमारे पाँच शरीर हैं उसी प्रकार इस सृष्टिके भी कई स्तर हैं। साधारण लोग तो एकमात्र अन्नमय कोशको ही शरीर मानते हैं; परन्तु तुम तो दर्शनशास्त्रके विद्यार्थी हो, तुम जानते ही होगे कि हमारे पाँच कोश हैं। उनमें सबसे स्थूल यह अन्नमय कोश है; शेष चार कोश इसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और उत्कृष्टतर हैं। यही नहीं, जो जिसकी अपेक्षा सूक्ष्म है वह उसका नियामक और प्रेरक भी है। इसी प्रकार विश्वात्माके भी कई कोश हैं, जो क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोकोंके नामसे प्रसिद्ध हैं। हमें जो सृष्टि दीख रही है, यह भूर्लोक है। शेष छः लोक इसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर और उत्कृष्टतर हैं तथा परम्परासे इसके नियामक भी हैं। उन लोकोंमें भी भूर्लोकके समान ही सृष्टि है और वहाँके अधिवासी अपनेसे निम्न स्तरके लोकोंके नियामक हैं। इस प्रकार हमारा यह भूर्लोक उस दिव्य जगत्‌का नियम्य है और वहाँके निवासी देवता एवं सिद्धगण हमारी प्रवृत्तियोंका नियमन करते हैं। देवता हमारे भोगके नियामक हैं और सिद्धगण मोक्ष यानी मोक्षसाधनके।

मुकुन्द—ये सब बातें केवल भावनामात्र ही हैं या किसीको इनका अनुभव भी होता है?

महात्माजी—भावना? मैं नहीं जानता तुम किसे भावना कहते हो और किसे अनुभव। भैया, जरा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करो। क्या कोई भी अनुभव

भावनाशून्य होता है ? मन और बुद्धिकी जहाँतक गति है, वह सब भावना ही तो है; और तुम्हारा अनुभव क्या मन-बुद्धिको छोड़कर होता है ? कैसी विचित्र बात है ! जिन चीजोंको तुम नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंसे देखते हो, उन्हें तो सत्य माननेको तैयार हो; किन्तु जो उनकी अपेक्षा कहीं सूक्ष्म और श्रेष्ठतर भावनेत्रोंसे दिखायी देती हैं, उन्हें केवल कल्पना मानते हो। जरा सोचो तो सही, भावनाको छोड़कर क्या तुम एक क्षण भी रह सकते हो ? भावना ही तो जीवका जीवत्व है। अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, ग्राह्य-त्याज्य—ये सब भावना ही तो हैं और जिसके द्वारा इनका त्याग किया जाता है—जिसे तुम तत्त्वदृष्टि कहते हो, वह क्या भावना नहीं है ? दृष्टिमात्र भावना है और दृष्टिके सिवा जीवन-मरण भी क्या है ? अच्छा बताओ तो, जीवन और मरणको छोड़कर भी व्यवहारका कोई स्वरूप है क्या ? इस भावनाका अधिष्ठान तो तत्त्व ही है; किन्तु बिना भावनाके तत्त्वकी उपलब्धि हो सकती है क्या ? जिस तत्त्वदृष्टिसे उसकी उपलब्धि होती है, वह भी तो भावना ही है और अधिष्ठान-अव्यक्त भाव क्या भावनासे भिन्न है ? असली बात यह है कि भावदृष्टिसे तो तत्त्वदृष्टि भी एक भावना ही है और तत्त्वदृष्टिसे भाव भी तत्त्व ही है। अतः सच्चे तत्त्वदर्शी कभी भावका निरादर नहीं करते।

रही अनुभवकी बात, सो इसके लिये अधिकारकी आवश्यकता है। आजकल लोगोंकी दृष्टिमें जड़ता आ गयी है, वे प्रत्यक्षवादी हो गये हैं; इसलिये उन्हें उसीका अनुभव होता है जो जड है और बाह्य इन्द्रियोंका विषय है। दिव्य जगत्को देखनेके लिये तो दिव्य-दृष्टिकी आवश्यकता है। भगवत्कृपासे जिन बड़भागियोंकी यह दृष्टि खुल जाती है, उन्हें उसका अनुभव होता ही है। उन्हें तो उस दिव्यलोककी अपेक्षा यह स्थूल जगत् सर्वथा तुच्छ और हेय दिखायी देता है, और उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इसकी सत्ता और प्रवृत्ति पूर्णतया दिव्य जगत्के ही अधीन है।

मुकुन्द—तो भगवान् शंकरने जो सबको असत् और भ्रमरूप बताया है, वह बात ठीक नहीं है क्या ? कृपया इस रहस्यको खोलकर समझाइये।

महात्माजी—भैया ! आचार्योंका कथन मिथ्या नहीं होता। भिन्न सम्प्रदायोंके प्रवर्त्तक जो-जो भी आचार्य हो गये हैं, उन्होंने परमार्थका ही निरूपण किया है। जो कुछ त्रुटि है, वह हमारी समझकी ही है। तुम्हारी बुद्धि अच्छी जान पड़ती है। इसलिये जो गूढ़ रहस्य मैं बताना चाहता हूँ, सम्भवतः तुम उसे हृदयङ्गम कर सकोगे। देखो, यह तो तुम जानते ही हो कि परमार्थ-तत्त्व पूर्ण है। इसलिये यदि तुम किसीको सत् और किसीको असत् समझोगे तो उसमें अपूर्णता आ जायगी। जीवोंकी बुद्धिमें असत्का ही विशेष अभिनिवेश है। इसलिये सत्का वास्तविक स्वरूप समझनेके लिये ही आचार्योंने साधनरूपसे सदसद्विवेकको स्वीकार किया है। ऐसा करके वे बुद्धिकी विवेकशक्तिको जाग्रत् करना चाहते हैं, जिससे वह परमार्थ-तत्त्वका ठीक-ठीक आकलन कर सके। वास्तवमें तो केवल सन्मात्र ही है। उस सत्की ही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—तीन प्रकारसे अनुभूति होती है। जितना कुछ जडवर्ग है, वह अधिभूत है। भूगोल, खगोल, आयुर्वेद और रसायनशास्त्र आदि सारी भौतिक विद्याओंका सम्बन्ध इस अधिभूतसे ही है। आज पश्चिममें जिस विज्ञानका चमत्कार दिखायी दे रहा है, वह आधिभौतिक ही है। अध्यात्म सबका अधिष्ठान है। जिस प्रकार सारा प्रपञ्च आकाशमें है, उसी प्रकार अध्यात्म ही अधिभूत और अधिदैवका आधार है और वह आकाशके समान ही निर्विशेष और निश्चल है। अद्वैतवेदान्त परम तत्त्वको इस अध्यात्मरूपमें ही देखता है। इन दोनोंसे विलक्षण जो तीसरा तत्त्व है, वह अधिदैव है। यह अधिदैव

ही सम्पूर्ण अधिभूतका प्रेरक और नियामक है। संसारमें जितनी भी क्रियाशीलता दिखायी देती है, वह अधिदैवका ही प्रसाद है। वही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका भी अधिष्ठाता है। हम जो कुछ कर्म करते हैं, उनका प्रेरक और फल देनेवाला भी वही है। अधिभूत और अध्यात्मके समान वह भी पूर्ण ही है। पूर्णके तो सभी रूप, सभी भाव और सभी अङ्ग पूर्ण ही होते हैं। यही पूर्णताका स्वरूप है। श्रुति भी कहती है--

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अधिभूतके समान अधिदैवकी भी समष्टि-व्यष्टिरूपसे अनेकों विभूतियाँ हैं। समष्टि अधिदैव ही श्रीभगवान् हैं। उनके सिवा जितने भी नदी, पर्वत, तीर्थ और लोक-लोकान्तरोंके अधिष्ठातृ देव हैं वे सब भी उन्हींकी विभूतियाँ हैं। उपासना और कर्मशास्त्रका सम्बन्ध इस अधिदैवसे ही है। उपासनाके लक्ष्य स्वयं भगवान् हैं और कर्मके देवगण। अधिदैवके कारण ही विभिन्न सम्प्रदायों और पुण्य-पाप आदिकी व्यवस्था हुई है। वास्तवमें यही जगत्‌का जीवन है और यही ज्ञान और अज्ञानका भी नियामक है। इसलिये इसकी उपेक्षा करनेपर तो तत्त्वकी ठीक-ठीक अनुभूति होनी प्रायः असम्भव ही है। इस प्रकार दृष्टिभेदसे तीन होनेपर भी वास्तवमें तो ये एक ही हैं, क्योंकि तीनों ही पूर्ण हैं और तीनों ही अनुभवगम्य हैं। पूर्णमें अनेकता नहीं होती; यहाँ जो अनेकता या त्रिविधताका भान होता है, वह केवल दृष्टिभेदसे है। अतः इस भेदमें भी अभेद है, इसलिये यही भेदाभेदवादका लक्ष्य है। एक अभिन्न तत्त्वमें ही ये तीनों पक्ष हैं, इसलिये यही विशिष्टाद्वैतवादका सिद्धान्त है। वह स्वयं ही यह तीन है, इसलिये यही शुद्धाद्वैतवादका ब्रह्म है। अनुभव होनेपर भी इस भेदाभेदका ठीक-ठीक निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिये यही अचिन्त्य भेदाभेदका लक्ष्य है। भेद स्पष्ट ही है, इसलिये इसीका प्रतिपादन द्वैतवाद करता है। तथा वास्तवमें वह एक ही है, तीन केवल प्रतीतिमात्र और व्यवहारकी व्यवस्थाके लिये ही हैं; इसलिये यही अद्वैतवादका प्रतिपाद्य है। बताओ तो, अब तुम इसे कौन वाद कहोगे? सारे वाद तो इसीके किसी-न-किसी रूपका प्रतिपादन करते हैं। वे रूप इसीके हैं, इसलिये सभी वाद ठीक हैं और यह स्वयं किसीका भी विषय नहीं होता, इसलिये किसी भी वादकी इसतक गति नहीं हो सकती। इस परमार्थ-तत्त्वका कैसे वर्णन किया जाय। यह तो अवाच्य पद है। किन्तु जिसका वर्णन किया जाता है, वह भी तो इसीकी झलक है और जिन मन-बुद्धियोंसे हम अनुभव करते चले हैं, वे भी इसीके चमत्कार हैं; अतः रूप कोई भी हो, उनमें अनुभव तो इसीका होता है--सब रूपोंमें यही तो खेल रहा है। अतः जो सच्चे तत्त्वदर्शी होते हैं, वे सर्वत्र तत्त्वका ही साक्षात्कार करते हैं। उनकी दृष्टिमें अतत्त्व है ही नहीं। यह जो कुछ दिखायी देता है, वह क्या जड है? नहीं-नहीं, यह सभी दिव्य है--अजी स्वयं श्यामसुन्दर ही है। गङ्गा-यमुना क्या जड जलमात्र हैं? हरे! हरे! ये तो साक्षात् ब्रह्मद्रव और भक्तिरस हैं। प्रयागराज क्या साधारण नगर है? नहीं-नहीं, वे स्वयं तीर्थराज हैं। बड़े-बड़े देवता और मुनिजन भी इनके पावन रजका सेवन करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। जडबुद्धि तो जड जीवोंकी होती है। जो सच्चे विवेकी और तत्त्वदर्शी होते हैं, वे तो सबको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' ही देखते हैं। अतः जहां भी दृष्टि पड़े, अपने इष्टकी ही झाँकी करो।

महात्माजीकी बात सुनते-सुनते मुकुन्दकी समाधि-सी लग गयी। उसकी सारी शङ्काएँ दूर हो गयीं और चित्त निस्पन्द होकर एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करने लगा। धीरे-धीरे उसकी वृत्तिका उत्थान हुआ।

उसका मुख प्रसन्नतासे खिल गया और नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छलक आये। अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझकर उसने स्वामीजीके चरण पकड़ लिये और गद्गद कण्ठसे कहा, 'गुरुदेव! आज मैं निहाल हो गया। मैं तो कुछ दार्शनिक पुस्तकें देखकर ही अपनेको आत्मज्ञानी मान बैठा था। परन्तु अब मालूम हुआ कि बिना महापुरुषों-की कृपाके कुछ भी हाथ नहीं लगता। मैंने दस वर्षतक पुस्तकें पढ़कर जो कुछ सीखा था, आज आपके कुछ क्षणोंके सत्सङ्गसे ही उससे अनन्तगुना पा लिया। उससे तो मुझे व्यर्थ अभिमान ही हाथ लगा था। आज आपने मुझे अमरपदपर बैठा दिया। अब मेरे हृदयके सारे विरोध निकल गये और मुझे निश्चय हो गया कि महापुरुषोंने जो कुछ कहा है, वह सभी ठीक है। उनकी बतायी हुई हेयोपादेय-दृष्टि भी एक विशेष निष्ठा या साधनकी पुष्टिके लिये ही है। उनके शब्दोंको पढ़कर ही कोई उनके हृदयको नहीं समझ सकता, वह तो गुरुकृपासे ही समझमें आता है।

महात्माजी—ठीक है, वत्स! अब तुम्हारी दृष्टि शुद्ध हो गयी है। यह दृष्टि बड़े भाग्यसे ही प्राप्त होती है। अधिकांश साधक तो मताग्रहमें पड़कर ही अपनी गतिको कुण्ठित कर देते हैं। जाओ, अब सूर्यास्त होनेवाला है। इस विचारपर खूब मनन करना और यथासम्भव सत्पुरुषोंका सङ्ग करते रहना।

इसके बाद तीनों नवयुवक स्वामीजीके चरणोंमें सिर रखकर वहाँसे विदा हुए।

(३)

पौष शुक्ला एकादशीका दिन है। इस पुण्यपर्वपर स्नान करनेके लिये आये हुए अनेकों नर-नारियोंकी भीड़ यमुनातटपर दिखायी देती है। इन्हींमें एक पक्के घाटकी बुर्जीपर बैठे हुए माधव, मोहन और मुकुन्द भी कुछ बातचीत कर रहे हैं। आज मुकुन्द विशेष गम्भीर है। उसने माधवका हाथ पकड़कर कहा—'भैया! यह तुम्हारी ही कृपाका फल है कि भगवान्‌ने मेरे हृदयसे एक भीषण चोर निकाल दिया।'

माधव—कैसा चोर, भैया?

मुकुन्द—दार्शनिकताका अभिमान। अजी, इसने तो मेरी सारी विवेक-बुद्धि हरनी चाही थी। किन्तु तुम ले गये मुझे मेरे गुरुदेवके पास। मुझे तो पता भी नहीं था कि मेरा धन इस प्रकार लुट रहा है। पर उन्होंने देखते ही चोरको ताड़ लिया और ऐसा तीर मारा कि बेचारेको भगते ही बना। अच्छा तो, अब मैं भी प्रयागराजके चरणोंमें कुछ श्रद्धाके फूल चढ़ाना चाहता हूँ। इस पुण्यपर्वपर सितासित नीरमें इस अधम शरीरको धोकर पवित्र कर दूँ। बताओ, कब चलोगे।

माधव—अधम नहीं, अब तो यह भी दिव्य हो गया। पारसका सङ्ग मिले और लोहा लोहा ही रह जाय, यह कैसे हो सकता है।

मुकुन्द—जाने दो इन बातोंको, अब चलनेकी तारीख निश्चय करो।

माधव—पहली जनवरीतक तो कालेजकी छुट्टी है। इसलिये दूसरीको हाजिरी देकर उसी दिन रातकी गाड़ीसे चलना ठीक होगा। यों तो दूसरीको पूर्णिमा है, इसलिये उस दिन त्रिवेणी-स्नान करना ही अच्छा था; किन्तु ऐसा करनेसे क्रिसमसकी छुट्टियाँ भी अनुपस्थितिमें ही गिन ली जायँगी, इसलिये एक दिन कालेज अटेंड करके ही चलना चाहिये।

मुकुन्द—ठीक है, फिर लौटोगे कब?

माधव—१३ जनवरीको एकादशी है और १४ को मकरसंक्रान्ति। कम-से-कम इन दो पर्वोंको तो वहाँ रहना ही चाहिये। अधिक रहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पढ़ाईका भी विचार रखना है। इसलिये १५ को वहाँसे चल देंगे।

मुकुन्द—अच्छा तो, पंद्रह दिनकी छुट्टी ले लेनी चाहिये।

माधव—हाँ ! (मोहनकी ओर देखकर) कहो, तुम्हारा क्या विचार है ?

मोहन—मुकुन्दजीको तो प्रयागराजने यहीं अपना प्रसाद भेज दिया। ये तो उसकी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये ही वहाँ जा रहे हैं। मुझे तो उनसे अभी बहुत कुछ लेना है। आप भी साथ रहेंगे तो कुछ सिफारिश भी हो ही जायगी। इसलिये मैं कब इस अवसरको चूकनेवाला हूँ।

माधव—अच्छा, तो तुम भी चलो।

साधना और उसका उद्देश्य

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

सम्भव है, विद्वान् लोग शास्त्र और पुराणोंके वाक्य उद्धृत करके इस विषयपर विस्तृत लेख लिखें और योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत एवं तीर्थाटनादिको हृदयकी शुद्धिका साधन बतानेका प्रयत्न करें। वास्तवमें इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि ये सब पवित्र कार्य मानसिक रोगोंको निर्मूल करनेके उपचार हैं। पर आजकल समय ऐसा है कि उनसे किसीको वास्तविक लाभ होनेकी सम्भावना बहुत ही कम है। बहुत लोग तो इन साधनोंको करके अभिमानी और आडम्बरप्रिय बन जाते हैं। हमारे ऋषि-मुनि त्रिकालदर्शी, परोपकारी और सच्चा मार्ग दिखानेवाले थे; इसलिये उनके बताये हुए साधन कण्टकाकीर्ण और भ्रान्तिमूलक नहीं हो सकते—यह माननेके लिये हम तैयार हैं; पर आजकलकी दुर्बल आत्माओंने उन सरल और निर्दोष मार्गोंमें भी काँटे बिछा दिये हैं। कोई विरला ही उनसे सच्चा लाभ उठा पाता है।

आजकलके लोगोंमें अपने गुण दिखाकर लोकप्रिय बननेकी इच्छा बहुत ही बलवती है। इसीसे उपर्युक्त शुभ साधन बहुत जल्द अहम्मन्यतामें परिणत हो जाते हैं, और इस प्रकार अपने उद्देश्यकी पूर्ति न करके उलटे बाधक बन जाते हैं। जो साधना मनके विकारोंको दूर न करे वह तो साधना नहीं, विडम्बना ही है। आजकलके अल्पायु, अल्पज्ञ और सत्सङ्गहीन जीवोंका सच्चा कल्याण करनेमें जो सफलता गोसाईं तुलसीदास-जीको मिली है वह और किन्हीं महापुरुषको कदाचित् ही मिली होगी। उनका भी मत है—

> नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
> भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥
> मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए ॥
> जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
> बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे ॥

मन शरीरका राजा है। इन्द्रियाँ उसका अनुवर्तन करनेवाली हैं। मनके स्वभावके अनुसार ही इन्द्रियोंके सारे व्यापार हुआ करते हैं। वह तभी शुद्ध हो सकता है जब मन अपने दोषोंको देखे और उनको दूर करनेका प्रयत्न करे। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि दिया-तले अँधेरेके समान किसीको भी अपने दोष दिखायी नहीं देते। शिक्षा तो हमें सर्वत्र मिल सकती है; पर उससे सच्चा लाभ तो तभी हो सकता है, जब हम क्षीर-नीरके पृथक्करणवाली नीतिका आश्रय लें। जब हमें गुण-दोषकी पहचान ही नहीं है तो ग्राह्य और त्याज्यका निर्णय कैसे हो ? इसलिये हमारे विचारसे तो एक ही ऐसी साधना है, जिसपर सारी साधनाएँ निर्भर हैं। वह है 'निश्चयात्मिका बुद्धिका सदुपयोग'। मनुष्यमात्रके अन्तःकरणमें एक ऐसी शक्ति है, जो सत् और असत्का ज्ञान कराती है। जीवका उत्थान इसीपर

अवलम्बित है। मन यदि अपने कार्यक्रमको इस दैवी संकेतके अनुसार बना ले तो थोड़े ही समयमें वह धुले हुए दर्पणके समान उज्ज्वल हो सकता है। सम्भव है, आरम्भमें इस साधनामें भी भूलें रहें; किन्तु उन्हें अनुतापकी अग्निद्वारा दूर किया जा सकता है। शर्त केवल यही है कि निश्चयात्मिका बुद्धिके आदेशकी कभी अवहेलना न होने पाये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मनकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी, और वह हाथीके समान अंकुश खा-खाकर सीधे मार्गपर चलने लगेगा। इस निश्चयात्मिका बुद्धिके अस्तित्वको माननेके लिये तो संसारका प्रत्येक मनुष्य बाध्य है।

गोसाईं तुलसीदासजीने प्रेम और भक्तिके द्वारा मनके मलको दूर करनेका आदेश दिया है। इसका कारण यही है कि भक्ति अर्थात् भजन अन्य सब साधनोंकी अपेक्षा सुलभ है। परन्तु सत्सङ्गके बिना तो विश्वास नहीं हो सकता और विश्वासके बिना प्रेमका होना सम्भव नहीं है। जो भक्ति प्रेमके बिना की जाती है, वह तो पाखण्डमें परिणत हो जाती है। और इस साधनाका मूल जो सत्सङ्ग है, वह बहुत दुर्लभ है। गोसाईंजीने तो इसके लिये अपने इष्टदेव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामका आश्रय लिया है; सो ठीक ही है, उनकी कृपासे क्या नहीं हो सकता। किन्तु वह कृपा Special favour अर्थात् अनन्य उदारता ही है। जैसे कि कहा है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई॥

किन्तु वह अति हरिकृपा या भगवान्की अनन्य उदारता प्राप्त कैसे हो? उसके लिये भी तो हृदयकी निर्मलताकी ही अपेक्षा है, यथा—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

और यह हृदयकी निर्मलता ही कठिन काम है। इसके लिये हमारी समझसे तो निर्णयात्मिका बुद्धिका अनुसरण ही एकमात्र निरापद साधन है।

इस प्रकार साधनाके विषयमें हमने अपना मत प्रकट कर दिया। आशा है, विद्वान्लोग क्षमा करेंगे।

पितृसेवा

(लेखक— पं० श्रीनेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

रक्षणार्थक 'पा' धातुके आगे 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०' इत्यादि औणादिक सूत्रसे 'तृच्' प्रत्यय लगाने तथा आकारको 'इत्व' का निपातन करनेसे 'पितृ' शब्दकी निष्पत्ति होती है। अनन्तर 'पितृ' शब्दसे प्रातिपदिक संज्ञा करनेपर 'सु' विभक्ति आती है, पश्चात् 'अनङ्' और 'दीर्घ' करनेपर 'पिता' रूप बनता है।

अब हम कतिपय शब्दोंमें 'पिता' शब्दका निर्वचन करते हैं। यथा—

(१) पाति धर्मान् बोधयति—शिक्षयति चाधर्मान्निवर्तयति पुत्रमिति पिता।

(२) पाति पाठयति विद्यां व्यञ्जयति लौकिकव्यवहारानिति पिता।

(३) पाति क्षमतेऽपत्यकृतानपराधानाकलय्य सुखसाधनानीति पिता।

(४) पाति ददाति स्वोपार्जितधनधान्यादीनि यः स पिता।

(५) पाति गृह्णाति सदपत्यप्रत्तजलाञ्जल्यादिकमिति पिता।

(६) पाति गच्छति सदपत्योत्पादनाय स्वदारानिति पिता।

(७) पाति प्रार्थयते भगवन्तं स्वापत्यरक्षणाय यः स पिता।

(८) पाति प्रयोजयति सत्कार्येषु यः स पिता।

(९) पाति लभतेऽपत्यकृतां शुश्रूषामिति पिता।

(१०) पाति पिबति सकलावगुणरसान् पतनकारिणो लोकविद्विष्टान् स्वापत्यकृतान् यः स पिता।

(११) पाति रक्षति दोषेभ्यः शत्रुभ्यो वेति पिता।

(१२) पाति रक्षयतीति पिता।

'जो धर्मकी शिक्षा देता हुआ अधर्मसे निवृत्त करे, जो विद्या पढ़ाये तथा लोकव्यवहारमें कुशल बनाये, जो सुख-साधनोंको उपस्थित करे तथा पुत्रकी गलतीसे किये हुए अपराधोंको क्षमा करे, जो अपनी पैदा की हुई समस्त सम्पत्ति पुत्रको दे, जो अपने पुत्रद्वारा दी हुई जलाञ्जलिको ग्रहण करे, जो उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेके लिये अपनी धर्मपत्नीसे समागम करे, जो अपनी सन्तानकी रक्षाके लिये भगवान्से प्रार्थना करे, जो अच्छे कार्योंमें प्रेरित करे, जो पुत्रद्वारा की गयी सेवाको स्वीकार करे, जो पतनके गर्तमें गिरानेवाले समस्त लोकविरुद्ध अवगुणोंका पान कर अपने पुत्रसे अनुराग (प्रेम) करे, जो दोषोंसे तथा शत्रुओंसे बचाये, जो नौकर-चाकर आदिके द्वारा पुत्रकी रक्षाका प्रबन्ध करे, उसे 'पिता' कहते हैं।' (यह संक्षिप्तार्थ है)

हमारे पुराणोंके आचार्य श्रीव्यासजीने ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणमें क्रमशः सात और पाँच प्रकारके 'पिता' का उल्लेख किया है—

कन्यादाताऽन्नदाता च ज्ञानदाताभयप्रदः ।
जन्मदो मन्त्रदो ज्येष्ठभ्राता च पितरः स्मृताः ॥*
(कृष्णजन्मखण्ड ३५ । ५७)

अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातस्तथैव च ।
विद्यादाता जन्मदाता पञ्चैते पितरो नृणाम् ॥
(ब्रह्मखण्ड १० । १५३)

उशनःसंहितामें सात प्रकारके पिता बतलाये गये हैं।

चाणक्यनीतिमें पाँच प्रकारके 'पिता' का उल्लेख मिलता है। यथा—

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥*
(५ । २२)

उपर्युक्त पिताओंमें शास्त्रज्ञोंने जन्म देनेवाले पिताको ही सबसे श्रेष्ठ और पूज्य बतलाया है। धर्मशास्त्रादि सद्ग्रन्थोंका सिद्धान्त तो यह है कि—

'सर्वेषामपि पितॄणां जन्मदाता परो मतः ।'

'दुर्लभो मानुषो देहः' के अनुसार मानव-देह अत्यन्त दुर्लभ है, उस अप्राप्य शरीरको प्रदान करनेका समस्त श्रेय केवल 'पिता' को ही है। पिताके ही कृपा-कटाक्षसे प्राणी मानव-शरीरद्वारा संसारमें अवतीर्ण होकर कल्याण-साधनके योग्य बनता है। अतः संसारमें पितासे बढ़कर पुत्रके लिये और कोई मान्य नहीं है। जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणपतिखण्डमें स्पष्ट कहा है—

मान्यः पूज्यश्च सर्वेभ्यः सर्वेषां जनको भवेत् ।
अहो यस्य प्रसादेन सर्वान् पश्यति मानवः ॥
जनको जन्मदानाच्च रक्षणाच्च पिता नृणाम् ।
ततो विस्तारकरणात् कलया स प्रजापतिः ॥
(४४ । ५९-६०)

'जिस पिताके प्रसादसे मनुष्य इहलोक तथा परलोकके समस्त सुखोंका भाजन बन जाता है, वह सर्वथा सबका पूजनीय होता है। जन्म देनेसे पिताकी 'जनक' संज्ञा, रक्षा करनेसे 'पिता' संज्ञा तथा सृष्टिका विस्तार करनेके कारण एक अंशसे 'प्रजापति' संज्ञा होती है।'

पाठकवृन्द ! इस संसारमें बन्धु-बान्धव, मित्र आदि जितने भी लोग हैं वे अपनेसे अधिक अन्य किसी मनुष्यको उन्नतिशाली देखना-सुनना नहीं चाहते; किन्तु इस स्वाभाविक इच्छाका अभाव सिर्फ एक 'पिता' कहलानेवाले व्यक्तिविशेषमें ही पाया जाता है, जो

* कन्या देनेवाला (श्वशुर), भरण-पोषण करनेवाला, ज्ञान देनेवाला, आपत्तिसे उबारनेवाला, जन्म देनेवाला, मन्त्र देनेवाला और बड़ा भाई—ये सात प्रकारके पिता शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

* जन्मदाता, गायत्रीका उपदेश देनेवाला, विद्या पढ़ानेवाला, भरण-पोषण करनेवाला और विपत्तिमें रक्षा करनेवाला—ये पाँच प्रकारके पिता शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

सर्वदा अपने पुत्रको अपनेसे सर्वतोभावेन उन्नत देखना चाहता है। इसीलिये 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' कहा गया है। प्रत्येक पिता अपनी-अपनी सन्तानके लिये अनेक प्रकारके कष्ट सहन करता है, पद-पदपर लोगोंकी जी-हुजूरी करता है, अर्थात् अपने पुत्रको सुयोग्य बनानेके लिये यथाशक्ति मानव-साध्य कोई बात उठा नहीं रखता। अधिक क्या, वह अपने पुत्रके सुख-दुःखमें ही अपना सुख-दुःख समझता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पुत्रके लिये अहैतुक कल्याण चाहनेवाला पितासे बढ़कर और कोई नहीं है। अतः पुत्र अपने पितासे जन्म-जन्मान्तरमें भी कदापि उऋण नहीं हो सकता, अर्थात् पुत्रद्वारा पिताके उपकारोंका बदला कभी नहीं चुकाया जा सकता। यदि कुछ हो सकता है तो इतना ही कि वह अपने पिताकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जीवनपर्यन्त सेवा-शुश्रूषा करता रहे। पितृसेवाका महत्त्व पद्मपुराणके भूमिखण्ड (६३ । १३) में इस प्रकार लिखा है -

मखानामेव सर्वेषां यत् फलं प्राप्यते बुधैः ।
तत् फलं प्राप्यते पुत्रैः पितुः शुश्रूषणादपि ॥*

और भी—

देवास्तस्यापि तुष्यन्ति ऋषयः पुण्यवत्सलाः ।
त्रयो लोकाश्च तुष्यन्ति पितुः शुश्रूषणादिह ॥†
(पद्मपु० भूमिख० ६२ । ७३)

पुत्रके लिये पिता सर्वस्व हैं। अर्थात् वही धर्म, कर्म, स्वर्ग, तीर्थ, जप, तप, पूजा-पाठ आदि हैं; उससे बढ़कर और कोई देवता नहीं है। लिखा भी है—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥

और भी—

नास्ति तातसमो देवो नास्ति तातसमो गुरुः ।
नास्ति तातसमो बन्धुर्नास्ति तातसमः क्वचित् ॥

तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें—

नास्ति पितृसमो गुरुः । (उशनःसंहिता १ । ३५)
न च मित्रं पितुः परम् । (ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड ११ । १८)
मातापित्रोः परं तीर्थम् । (व्याससंहिता ४ । १२)
पिता देवो जनार्दनः । (चाणक्यनीति १० । १४)
पितृदेवो भव । (तैत्ति० श्रुति ७ । ११ । १ । ४)

जिस पिताने जन्म प्रदान कर हमें मनुष्य बनाया, जिसने सत्-शिक्षा देकर लोकव्यवहारमें कुशल बनाया, जिसने तन-मन-धनसे लालन-पालन किया, जिसने सुयोग्य बनानेके लिये यथाशक्ति कोई कर्तव्य नहीं छोड़ा, आज हम उसकी अहैतुकी कृपाके बलसे सुयोग्य बन जानेपर उसके उपकारोंको भूल बैठे, उससे विद्वेष करने लग गये, उससे बोलने-चालनेतकका नाता तोड़ चुके - इससे बढ़कर हमारे लिये दुःख और शोककी बात क्या होगी।

जिस समय इस पवित्र भारत-भूमिमें पितृभक्त बालक विराजमान थे, उस समय यह देश सब प्रकारके सुख-वैभवसे समृद्ध था और समस्त प्राणी सुख-शान्तिसे जीवन-यापन करते थे। अब भी पितृभक्ति एवं पितृसेवाके प्रभावसे भावी सन्तान सदाचारी और पितृभक्त हो सकती है। पितृभक्त बालकोंसे देशका सदा कल्याण होता रहा है और होता रहेगा।

प्राचीन इतिहासोंको देखिये—भगवान् रामचन्द्र, पितामह भीष्म और वीरवर परशुराम-जैसे अनेक पितृ-भक्त पुत्र उत्पन्न हो चुके हैं, जिनकी अटल कीर्ति आज भी अजर-अमर है। इसी प्रकार अनेक ऋषि-मुनि, राजा-महाराजाओंकी पितृभक्ति प्रसिद्ध है, जिससे हमें भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

आज भी ऐसे अनेक पितृभक्त विद्यमान हैं, जो पितृसेवाद्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक उन्नति प्राप्त कर रहे हैं। अतएव हमें भी अपने परमाराध्य पितृदेवकी सेवाद्वारा अपने सर्वविध कल्याणका साधन सुगम करना चाहिये।

* विद्वानोंको सब प्रकारके यज्ञोंका जो भी फल प्राप्त होता है, वही फल पुत्रोंको पिताकी सेवासे मिल जाता है।

† पिताकी सेवासे देवता, ऋषि तथा तीनों लोकोंकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

योग और उसकी व्यापकता

(लेखिका—श्रीमती पिस्तादेवीजी 'विदुषी', साहित्यरत्न, आयुर्वेदाचार्य)

इसके पहले कि इस विषयपर कुछ लिखूँ, मैं यह बतला देना चाहती हूँ कि जबसे मैंने होश सँभाला है, कई सामाजिक कारणोंसे मेरा जीवन बेसिलसिले या अनियमित रहा है। इसलिये मेरा लेख, या जो कुछ भी मैं करती हूँ, बेसिलसिले ही होता है। पर उसीमें मुझे एक विशेष प्रकारके अपनेपनका अनुभव होता है। आजसे ६ वर्ष पहले ईश्वर और पुनर्जन्ममें अविश्वास एवं सन्देह हो जानेके कारण अपनी शंकाओंका समाधान करानेके लिये जिन योगाश्रमोंका मुझे परिचय मिला, उनकी मैं सदस्या बनी और उन लोगोंका सत्सङ्ग भी प्राप्त किया, जो उन प्रश्नोंको नियमानुसार शास्त्रोंके प्रमाणोंद्वारा हल करना चाहते थे। मैंने प्रकृतिसे कुछ उदाहरणसहित प्रमाण चाहे। पर सब ओरसे मुझे निराशा ही मिली; कारण, सब लोग मेरी ही तरह बेसिलसिले तो थे ही नहीं। खैर, एक लंबे समयतक नास्तिक रहनेके बाद मेरे बेसिलसिले मनने मुझे सहायता दी, और अब मैं नास्तिक नहीं हूँ—पर जीवनकी अस्त-व्यस्तताके कारण आज भी मेरा सब कुछ बेसिलसिले ही है।

जीवनमें योगका बड़ा महत्त्व है। योगका साधारण अर्थ होता है—जोड़। इस दृश्य संसारकी रचना छोटे-छोटे अणु-परमाणुओंके योगसे हुई है, जिनमें चेतनता और आकार या स्थूलता दोनों ही हैं। इस प्रकार सृष्टि-रचनामें भी योगकी ही प्रमुखता है। आज 'योग' शब्दके कहनेसे विद्वानों और योगके सच्चे अर्थ जानने-वालोंके अतिरिक्त जनसाधारणमें उसका अर्थ ध्यानयोग ही समझा जाता है। योगी आत्मा और परमात्माके योगकी ही साधना करता है। परन्तु प्रकृतिकी प्रत्येक वस्तु हमें यह बतलाती है कि इस संसारका छोटे-से-छोटा काम भी योगके बिना नहीं चल सकता; क्योंकि इसकी रचनाका मूल कारण ही प्रकृति और पुरुषका योग है। जब कारण ही दोका योग है तो उसके कार्यमें द्वन्द्व और त्रिपुटी तो क्या, छःपुटी, दसपुटी और इससे भी अधिक हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँपर अद्वैतवादियोंको आपत्ति हो सकती है; पर मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि किसी नियमविशेषको न मानकर जो कुछ मुझे सत्य दिखायी पड़ता है, उसीके अनुसार मैं सोचती हूँ और जो सोचती हूँ, वही लिखती भी हूँ।

जब हम अपने शरीरकी ओर ध्यान देते हैं तो इसमें भी हमें जड और चेतनका योग ही दिखायी देता है। चेतनके निकल जानेपर यह शरीर ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी हिल-डुल नहीं सकता। मनुष्यके शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनमेंसे किसीका काम बिना योगके नहीं चल सकता। आँख और रूपके योगसे सब दृश्य वस्तुएँ सार्थक होती हैं। विषय है, आँख नहीं, तो विषय व्यर्थ; और आँख है, विषय नहीं, तो दृष्टि व्यर्थ। इसी प्रकार कान, नाक, जीभ, त्वचा—इन चारों ज्ञानेन्द्रियोंका भी हाल है। मैं लिख रही हूँ—इसमें भी कागज, स्याही, कलम, कर्मेन्द्रिय हाथ और मेरा मन—जब इतनी चीजोंका योग हुआ, तब इसका यह स्वरूप प्रकट हुआ। कुर्सी, मेज, कलम, दावात, पलंग, बर्तन, स्याही, कपड़ा अर्थात् छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीज जो भी हम देखते हैं, बिना योगके कोई नहीं बनी और न बन ही सकती है। प्राकृतिक वस्तुओंमें भी जड और चेतनका योग निहित है। पुराणोंमें लिखा है कि भगवान्के दो रूप हैं—एक विराट् और दूसरा सूक्ष्म। और जीव परमात्माका अंश है; अतएव उसके भी दो ही स्वरूप हैं—विराट् और सूक्ष्म। विराट् यह स्थूलशरीर है और सूक्ष्म इसके

अंदरका चेतन। बिना इन दोनोंके योगके दोनों ही निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार परमात्माका सूक्ष्मरूप विश्वके कण-कणमें परिवर्तनशीलताके रूपमें प्रत्येक जड-चेतनमें कार्य करता है। और उसका विराट्रूप ये सारी प्रकृतिकी दृश्य वस्तुएँ हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारा खाना-पीना, उठना-बैठना, पलक मारना, बोलना-चालना और सारे छोटे-से-छोटे कार्योंमें एक भी ऐसा नहीं, जो बिना योगके हो सके।

हाँ तो, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, प्रकृति और पुरुषके योगसे ही सारी जड-चेतन सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। उसीके प्रमाणस्वरूप स्त्री-पुरुषके योगसे परिवारकी सृष्टि होती है और इसी नियमसे वनस्पति, पशु-पक्षी आदि सभी बँधे हैं। एक-दूसरेके योगसे ही सृष्टि होती है। इस सिद्धान्तको आस्तिक और नास्तिक सभी मानते हैं। और यह स्वयंसिद्ध बात है कि जहाँ जड-चेतनका योग है, वहीं गति आ जाती है। हम रेलगाड़ी देखते हैं, जो हमें कुछ ही घंटोंमें कहीं-से-कहीं पहुँचा देती है; पर जब इसपर हम विचार करते हैं कि यह बिना किसी जीवधारीके संयोगके ही कैसे चलती है तो मालूम होता है कि लोहे और लकड़ीके योगसे इसका कलेवर बना है और अग्नि-जलके योगसे इसका अंजन चलता है, जिसको संयमित गति देनेके लिये ड्राइवरकी आवश्यकता होती है।

विज्ञान बतलाता है कि कुछ चीजोंके ठीक-ठीक अनुपातके योगका फल ही आज हमें रेडियो, टैलीविजन, तार, मोटर, ट्राम, बिजली आदिके रूपमें प्राप्त होता है। इस तरह यह प्रमाणित हो गया कि हमारा छोटे-से-छोटा काम योगसे ही होता है। बिना योगके हमारे मुँहसे बात भी नहीं निकल सकती। बड़ी-बड़ी सभा-सोसाइटियाँ, कंपनियाँ, कारखाने और परिवार—सभी कुछ व्यक्तियोंके योगके परिणाम हैं। ये तो हुए बाह्य या सांसारिक योग, या जिन्हें स्थूल संसार या स्थूलशरीरोंके योग कह सकते हैं। इस प्रकार जब इन प्राकृतिक योगोंद्वारा ऐसे चमत्कारी और सुखदायी परिणाम निकल सकते हैं, इन जड वस्तुओंके योगका ही ऐसा परिणाम हो सकता है, तो चेतन और चेतनके योगका तो कहना ही क्या है।

हाँ, तो हमारे शरीर और संसारमें हमें दो ही वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं—एक जड और दूसरी चेतन। चेतनके अलग हो जानेपर देह जडमात्र रह जाता है। यही दशा पेड़-पौधों और अन्य वस्तुओंकी भी है, जिनमें चेतना है अर्थात् जो बढ़ती हैं। इस प्रकार जड-चेतनके योगका पर्याप्त वर्णन हो चुका। अब चेतन और चेतनके योगपर, जैसा कि मैं समझ सकी हूँ, लिखनेका प्रयत्न करूँगी।

जिस तरह एक लोटा जल नदीके जलसे मिलकर शक्तिशाली हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा—जो परमात्माका अंश है—उस परमात्मासे योग होनेपर शक्तिशाली हो जाता है। उसकी चेतना-शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह एक स्थानपर बैठा-बैठा विश्वभरकी खबर रखता है; जैसे कि बिजलीके पावरहाउसका कनेक्शन सारे शहर और दूर-दूरके स्थानोंसे होता है, और उसके द्वारा जितने काम होते हैं, उन सबका केन्द्र पावरहाउस ही होता है। यह स्वयंसिद्ध बात है कि जितना ही जिस वस्तुका सूक्ष्मरूप होता है, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ी हुई होती है। इसलिये स्थूल वस्तुओंसे तो उसकी उपमा दी ही नहीं जा सकती—पर समझानेके लिये यह सब करना पड़ता है।

जितने चमत्कारपूर्ण कार्य या मैस्मेरिज़्म आदिके प्रयोग हम देखते हैं, उनमेंसे कुछ तो हस्तलाघव या हाथकी सफाई हैं और शेष जिनमें कि वास्तवमें सचाई है, वे सब इस योगके ही तुच्छ अङ्ग हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा आदि आठ महासिद्धियोंके अन्तर्गत ही सारी सिद्धियाँ आ जाती हैं। यह उसी योगका एक तुच्छ-सा अंश है, जिसकी शक्ति पाकर मनुष्य अन्य साधारण मनुष्योंको आश्चर्यमें डाल देता है। फिर जिसका

उसमें विशेष प्रवेश हो जाता है, उसका तो कहना ही क्या; क्योंकि जितनी भी दृश्य वस्तुएँ हैं, वे सब चेतनके ही योगसे अपना अस्तित्व रखती हैं। इसलिये योगी बात-की-बातमें उन्हें जैसा चाहे वैसा बदल सकता है। यह बात उसके लिये हँसी-खेल-सी हो जाती है। प्राचीन समयके ऋषि-मुनि इसी शक्तिसे सम्पन्न थे; इसलिये वे जो कह देते थे, वही हो जाता था। उनके कहे वचन कभी व्यर्थ नहीं होते थे। शृङ्गी ऋषिने राजा परीक्षित्‌को, दुर्वासाने शकुन्तलाको, नारदने महादेवजीके गणोंको जो शाप दिये वे पूरे होकर ही रहे। इसी प्रकार उन लोगोंके दिये हुए वर भी पूरे होते ही थे। शास्त्र इन प्रमाणोंसे भरे पड़े हैं। पर अब भी इन बातोंका अभाव नहीं है। अब भी लोग योगमें थोड़ी-बहुत सिद्धि प्राप्त कर ही लेते हैं; यद्यपि वे प्रायः उसका दुरुपयोग कर, उसके द्वारा जीविका-पालन या प्रसिद्धि पानेका ही उद्योग करते हैं, और तरह-तरहके आश्चर्यमय कार्य करके लोगोंको चकित कर देनेकी फिराकमें रहते हैं। 'योग' शब्द इतना व्यापक है कि व्यावहारिक या आध्यात्मिक—कोई भी जगत् इसके बिना सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। सदासे ही प्राणिमात्रकी इच्छा अधिक-से-अधिक शक्ति सम्पादन करनेकी रही है। उसे सफल करनेके लिये पहले आन्तरिक शक्तिका योग होना परम आवश्यक है। कविगण इसी आन्तरिक शक्तिकी सहायतासे काव्यमें वे चमत्कार पैदा कर देते हैं, जिन्हें बड़े-बड़े विद्वान् अनेकानेक युक्तियोंद्वारा भी सुलझानेमें समर्थ नहीं हो पाते।

उदाहरणके लिये जिस समय राजा मानसिंहने लंकापर चढ़ाई करनेका विचार किया था और अपनी सेनाको उस ओर बढ़नेकी आज्ञा दे दी थी, उस समय उनके प्रधान मन्त्री तथा बड़े-बड़े विद्वानोंके सम्मुख यह विकट समस्या उपस्थित हो गयी कि राजाकी उस हठधर्मीका निवारण कैसे किया जाय; क्योंकि लंकातक तो पहुँचते-पहुँचते ही सारी सैन्यशक्ति नष्टप्राय हो जाती। अतः विजय तो दूर रही, जीवित लौट आनेमें भी लेनेके देने पड़ जाते। ऐसी परिस्थितिमें कवि-प्रतिभाका ही ऐसा चमत्कार था, जिसने दो शब्दोंमें ही राजाके विचार बदल दिये। उस प्रसिद्ध दोहेको पाठकोंके सम्मुख उपस्थित करना अनुपयुक्त न होगा। वह था—

रघुपति कीन्हौं दान, बिप्र बिभीषन जानि कै।
मान महीपति मान, दियौ दान किमि लीजिये॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगकी सहायतासे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार रावणको जब युद्धमें सफलता न मिल सकी तो वह इसी योगके लिये एकान्तमें गया। तब विभीषणने भगवान् रामसे यही कहा कि रावणका यह यज्ञ यदि निर्विघ्न समाप्त हो गया तो वह अजेय हो जायगा। तब श्रीरामचन्द्रजीने भी तुरंत ही यज्ञमें विघ्न डालनेका प्रबन्ध किया।

नैपोलियन बोनापार्ट जब कभी कठिनाइयोंमें पड़ जाता था तो किसी पहाड़पर जाकर आन्तरिक शक्तियोंके योगसे ही उन कठिन समस्याओंको हल करता था। कहनेका उद्देश्य यह है कि इस संसारकी रचनाके अनुसार बिना योग कुछ भी नहीं हो सकता, चाहे वह कार्य बाह्य प्रकृतिका हो चाहे आन्तरिकका। जो व्यक्ति प्रभाव या प्रसिद्धि लाभ करनेको उत्सुक हैं, उन्हें पहले अपनी आन्तरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये।

घट-घटमें उन प्रकाशमय भगवान्‌का प्रतिबिम्ब ही विराजमान है, जिसे हमने मैले-कुचैले, मिथ्या व्यवहारों और व्यभिचारोंद्वारा पापकी गर्दसे ढक दिया है। इसी कारण वह हमें उस गर्द-गुब्बारके पर्देकी तहसे दिखायी नहीं देता। जिस समय हम यम-नियमोंद्वारा इन आवरणोंको हटा देंगे, हमें उस प्रकाशस्वरूप आत्मा या परमात्माके रूपका ज्ञान हो जायगा, हमारी आन्तरिक शक्ति बढ़ जायगी या यों कहिये कि आन्तरिक योग हो जायगा और संसारका कोई भी कार्य असम्भव न रहेगा।

सती सुकला

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

[गताङ्कसे आगे]

[६]

विष्णु बोले--सुकलाके सत्यानाशके लिये इन्द्रके साथ कामदेवके प्रस्थान करनेपर सत्यने धर्मसे कहा--हे महाप्राज्ञ धर्म ! कामदेवका कार्य देखो। मैंने तुम्हारे, अपने तथा महात्मा पुण्यके लिये सती सुप्रिया और सुदेवा नामक उत्तम गृहकी सृष्टि की है। प्रमत्तबुद्धि काम जाकर उसका नाश करेगा। यह दुष्टात्मा काम हमलोगोंका शत्रु है, इसमें सन्देह नहीं। हे धर्म ! तपोधन विप्र, सुमति पतिव्रता और नीतिमान् राजा—ये तीन मेरे घर हैं। जहाँ मेरी वृद्धि और पुष्टि होती है, वहाँ तुम्हारा भी वास होता है। श्रद्धासहित पुण्य भी वहाँ जाकर क्रीड़ा करते हैं। शान्तिके साथ क्षमा भी मेरे घर निवास करती है। जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ दान, दया, प्रज्ञा, लोभहीनता, सौहार्द आदि वर्तमान रहते हैं। वहीं पवित्र स्वभाव रहता है। ये सब मेरे बहन-भाई हैं। हे धर्मराज ! सुनो। अस्तेय, अहिंसा, तितिक्षा और अभ्युदय मेरे घरपर ही धन्य होते हैं। गुरुसेवा, लक्ष्मी-सहित विष्णु, अग्नि आदि देवता और मोक्षके मार्गको प्रकाशित करनेवाला उज्ज्वल ज्ञान मेरे घर आते हैं। सतियाँ और धर्मपरायण साधुजन मेरे गृहस्वरूप हैं; उपर्युक्त कुटुम्बियों और तुम्हारे साथ मैं इन घरोंमें वास करता हूँ। पार्वतीयुक्त शिव भी मेरे निवासस्थान हैं। मेरा वह शंकर नामक घर भी एक बार कामदेवके द्वारा नष्ट किया गया था। महात्मा विश्वामित्र कठोर तप करते थे, उनको भी मेनकाकी सहायता लेकर काम पहले जीत चुका है। गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या सती और पतिव्रता थीं, दुरात्मा कामने उन्हें भी सत्यसे विचलित किया था। जगत्में कितने ही महात्मालोग और पतिव्रता नारियाँ कामके कारण अपने मार्गसे भ्रष्ट हुई हैं। दुष्ट काम मेरे पीछे पड़ा है। अब मैं कहाँ रहूँगा ? वह मुझे यहाँ जानकर ही धनुष-बाण लेकर आया है। वह पापात्मा अपने बाणानलसे मेरा घर नष्ट करेगा। क्रूर, पाखण्डी और दूसरोंका अहित करनेवाले तथा असत्य इत्यादि सेनापति सब कामके सहायक हैं। पापी काम अपने दुरात्मा सेनापतियोंकी सहायतासे मेरा घर गिरा रहा है। वह मुझे भी भगा देगा। उसके तेजसे दग्ध होकर मैं नष्ट हो जाऊँगा। मैं स्त्रीजातिके पातिव्रतरूपी नये घरमें रहना चाहता था। पुण्यात्मा कृकलकी प्रिय पत्नी सुकला ही मेरा यह घर है। पापिष्ठ मेरा यह घर भी नष्ट करनेपर उतारू है। बलवान् इन्द्र इस कार्यमें उसकी सहायता कर रहे हैं। वह कामदेवद्वारा किये पुराने कार्योंको भूल रहे हैं—इसके फेरमें पड़कर वह पहले कैसे कष्ट उठा चुके हैं ! सतीके साथ व्यभिचार करनेका परिणाम क्या होता है—इसे अहल्या-प्रकरणमें वह देख चुके हैं, फिर भी आज पुण्यचारिणी सुकला-का नाश करनेको उद्यत हुए हैं। हे धर्मराज ! ऐसा करो कि यह कामदेव इन्द्रके साथ न आये।

धर्मराजने कहा—'मैं कामका तेज नष्ट करनेका, यहाँतक कि उसकी मृत्युका भी, प्रबन्ध करूँगा। मैंने जो उपाय सोचा है, उसे सुन लो। प्रज्ञा शकुनका रूप धारण कर आकाशमार्गसे जाकर सुकलाको पतिके शुभागमनका संवाद सुनायें। पतिके आगमनकी बात जानकर स्वस्थचित्तवाली सुकला अवश्य दुष्टोंकी चेष्टासे नष्ट न होगी।' यह कहकर उन्होंने प्रज्ञाको भेजा। प्रज्ञा सुकलाके घरके ऊपर भविष्य जाननेवालेकी तरह महाशब्द करती हुई दिखायी पड़ी। तत्काल सुकलाने धूपदान आदिके द्वारा उसकी पूजा और सम्मान किया।

फिर सुकलाने योग्य ब्राह्मणको बुलाकर पूछा—यह शकुन (पक्षी) क्या कहता है? ब्राह्मणने कहा—'हे शुभे! यह तुम्हारे पतिके शुभागमनका संवाद सुना रहा है। तुम स्थिर हो, सात दिनके भीतर तुम्हारे पति आयेंगे।' यह मंगलमय वाक्य सुनकर सुकला बड़ी प्रसन्न हुई।

अब उधर कामदेव और इन्द्रने जो किया, वह सुनिये। मायानिर्मित नन्दनवनके प्रस्तुत हो जानेके पश्चात् कामने क्रीड़ाको मूर्तिमती करके और परम सुन्दरी बनाकर सुकलाके घर भेजा। सुकला इस षड्यन्त्रको क्या जानती थी। उसने क्रीड़ाका स्वागत, आदर-सम्मान किया। क्रीड़ाने सुकलाकी विश्वासपात्री बननेके उद्देश्यसे कहा—'देवि! मेरे पति गुणवान्, बलवान्, विद्वान्, चतुर, अत्यन्त पुण्यात्मा और पुण्यकीर्ति हैं। पर मैं मन्दभागिनी हूँ; वह मुझे छोड़कर चले गये हैं।' सुकलाने उसकी बातोंपर विश्वास करके उसे अपने समान ही दुःखिता और सती समझा, और सहानुभूतिसे उसका हृदय भर गया। सुकलाने पूछा—'हे सुन्दरि! तुम्हारे नाथ तुम्हें छोड़कर किसलिये चले गये? तुम सब बातें मुझे बताओ। तुम मेरे समान ही दुखी हो; तुम मेरी सखी हो।'

क्रीड़ाने कहा—'सुनो बहन! मैं अपने पतिके चरित्रका वर्णन ठीक-ठीक करती हूँ। जिनकी मैं प्रिया हूँ, उनका मैं सदा अनुगमन करती थी। वह जो इच्छा करते, उसकी पूर्ति करके मैं उन्हें सन्तुष्ट करती थी। उनकी आज्ञाका पालन करनेमें सदा तत्पर रहती थी। किन्तु इस समय मेरा ऐसा दुर्भाग्य उपस्थित हुआ है कि पति मुझ मन्दभागिनीको छोड़कर चले गये हैं। हे सखि! अब मैं जीवन धारण न करूँगी। पतिविहीना स्त्रियाँ किस प्रकार जीवन धारण कर सकती हैं! पति ही नारीके रूप, शृंगार, सौभाग्य, सुख और सम्पत्ति हैं; यही शास्त्रोंका कथन है।' क्रीड़ाकी इन बातोंसे सुकलाको उसपर पूर्ण विश्वास हो गया। उसने उसकी सब बातोंको सच समझ लिया। तब सुकलाने हृदय खोलकर अपनी सारी बातें संक्षेपमें उसे बतायीं। क्रीड़ाने आश्वासन देते हुए कहा—'हे मनस्विनी! सत्यसे परिपूर्ण आत्मदुःख भी तपस्या ही है। तुम तो तपस्विनी हो, तपस्या कर रही हो।'

इस तरह दोनोंको एक साथ घुल-मिलकर रहते जब कई दिन बीत गये और क्रीड़ाने समझ लिया कि सुकला उसपर पूर्ण विश्वास करती है, तब एक दिन उसने सुकलासे कहा—'सखि! यहाँ निकट ही एक सुन्दर और मनोरम वन है। उसमें नाना प्रकारकी लताएँ और वृक्ष हैं। सुन्दर, सुगन्धित फूलोंकी बहार देखने लायक है। वहाँ परम पवित्र पापनाशन तीर्थ है। चलो, हमलोग भी उस वनमें पुण्य-सञ्चय करने चलें।'

सुकला राजी हो गयी। दोनोंने उस दिव्य वनमें जाकर देखा—चारों ओर फूल खिले हैं, कोकिल बोल रहे हैं, भौंरे गूँज रहे हैं, मीठी बोलीवाले पक्षी नाचते और फुदकते हैं—सर्वत्र अनुपम सौन्दर्य है। यह वही मायानिर्मित वन था, जो सुकलाको मोहित करनेके लिये रचा गया था। जब सुकला क्रीड़ाके साथ वहाँ घूम रही थी, तभी इन्द्र उस दूतीके साथ दिव्य रूप धारण कर वहाँ उपस्थित हुए। काम भी आ गया। इन्द्रने वासनाविह्वल होकर कामदेवसे कहा—'यह देखो, सुकला आ रही है। तुम उसपर अपना बाण चलाओ। क्रीड़ा माया रचकर बड़े कौशलसे इसे यहाँ लायी है। अब तुम्हारी परीक्षाका अवसर आया है। तुममें पौरुष हो तो उसे दिखाओ।' कामदेवने कहा—'आप लीला करते हुए अपना मनोहर रूप इसे दिखाइये, तब उसकी सहायतासे मैं इसपर प्रहार करूँगा।' इन्द्रने [illegible]—'मूढ़! जिसके द्वारा तुम लोगोंको पराजित करते हो, [illegible] वह पौरुष आज कहाँ है? तुम मेरा अवलम्ब लेकर इस समय युद्ध करना चाहते हो!'

काम बोला—'देवादिदेव महादेवने पहले ही मेरा रूप हरण कर लिया है। मेरा कोई रूप नहीं है। जब मैं किसी स्त्रीको घायल करना चाहता हूँ तो पुरुष-देहका आश्रय लेकर अपनेको प्रकट करता हूँ। और जब पुरुषको आहत करनेकी इच्छा होती है, तब नारी-देहका आश्रय लेता हूँ। पुरुष जिस रूपवती नारीको देखता है, उसीकी चिन्ता करता है। जब पुरुष बार-बार नारी-रूपका चिन्तन करता है, तब मैं अदृश्यभावसे उसे पागल बना देता हूँ। हे इन्द्र! स्मरणरूप होनेके कारण ही मेरा नाम 'स्मर' पड़ गया है। मैं नारीरूपका आश्रय लेकर धीर पुरुषको भी मोहित करता हूँ और पुरुषका आश्रय लेकर सती नारीको भी विचलित करता हूँ। हे इन्द्र! मैं रूपहीन हूँ, इसीसे रूपका आश्रय लिया करता हूँ। इस समय आपके रूपका आश्रय लेकर मैं उस नारीको आपकी अनुरागिणी बनाऊँगा।'

इतनी बात कहकर कामदेवने इन्द्रके रूपका आश्रय लिया और साध्वी सुकलाको आहत करनेके लिये उसकी देहको अपने बाणका लक्ष्य बनाकर बैठ गया।

विष्णुभगवान्ने कहा—क्रीडाके साथ सुन्दरी सती सुकलाने उस रम्य वनमें प्रवेश कर सब जगह घूम-घूमकर देखा। फिर अपनी सङ्गिनी सखीसे पूछा—'हे सखि! यह सुन्दर फल-फूलोंसे लदा वन किसका है? यह समस्त सुख-भोगोंसे सम्पन्न है।'

क्रीडाने उत्तर दिया—'यह जो दिव्य वन देख रही हो, यह मकरध्वजका वन है।'

सुकलाने दुरात्मा कामकी चेष्टा देखकर पुष्पोंका गन्ध नहीं लिया। कामका यह बाण निष्फल गया। उस सतीने सु-रसोंका भी आस्वादन नहीं किया। कामका सखा सुरस भी उससे हार गया। वह लज्जित होकर बूँद-बूँद पृथ्वीपर चू गया। सुकलाद्वारा हराये जानेपर रस पके हुए फलों और पुष्प-मंजरियोंसे थोड़ा-थोड़ा करके पृथ्वीपर गिरने लगा।

उस समय प्रीतिके साथ कामपत्नी रतिने सुकलाके समीप आकर मुसकराते हुए कहा—'भद्रे! तुम्हारा शुभागमन हो, मंगल हो; तुम प्रेमपूर्वक नयनाभिराम इन्द्रके साथ रमण करो। अगर तुम्हारी राय हो तो मैं उन्हें बुला लाऊँ।'

रति और प्रीतिको देखकर और उनकी बातें सुनकर सुकलाने कहा—'मेरे धर्मात्मा पति मेरी रति लेकर विदेश चले गये हैं। मेरे पति जहाँपर हैं, मैं वहीं पतिके साथ वर्तमान हूँ। मेरा काम और प्रीति दोनों पतिके निकट है। यह जो तुम देख रही हो, मेरी छायामात्र है। मेरा यह कलेवर निराश्रय है।

सुकलाकी बातोंसे रति और प्रीति दोनों लज्जित हुईं। वे लज्जित हो कामके पास गयीं और उन्होंने इन्द्रकी देहमें आश्रय लिये और धनुष खींचे हुए कामदेवसे कहा—'यह नारी हरायी नहीं जा सकती। वह सर्वदा पतिव्रता और पतिकामा है। आप अपना दुराग्रह छोड़िये।'

कामने कहा—'देवियो! घबड़ाओ नहीं। सुकला जिस समय इन्द्रका रूप देखेगी, उस समय मैं उसे आहत करूँगा।'

तब सुरपति इन्द्र सुन्दर रूप और वेष धारण कर रतिके पीछे-पीछे चले और उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ वह पतिव्रता सुकला थी। उन्होंने सुकलासे कहा—भद्रे! मैंने प्रीतिके साथ तुम्हारे पास एक दूती भेजी थी, तुम मुझे क्यों अस्वीकार करती हो? सुकलाने कहा—'तुम्हारा मङ्गल हो; मैं महात्मा पुत्रोंसे सुरक्षित हूँ। मैं अकेली नहीं हूँ; सहायता मेरे साथ है। मैं किससे डरूँ? शूरगण सर्वत्र मेरी रक्षा करते हैं। तुम्हारे प्रस्तावका उत्तर क्या हो सकता है? मैं केवल अपने

पतिका काम करनेके लिये व्यग्र रहती हूँ। आप मेरे साथ रमण करनेके लिये उद्यत हैं, इसके लिये आपको लज्जा नहीं आती ? आप कौन हैं, जो मृत्युसे भी निर्भय होकर यहाँ आये हुए हैं ?'

इन्द्रने कहा—'मै तो केवल तुमको इस वनमें देखता हूँ, किन्तु तुम और लोगों तथा वीर पुत्रोंकी बातें करती हो ! मैं उन्हें कैसे देख सकता हूँ ? तुम मुझे दिखाओ।'

सुकलाने कहा—'जिन्होंने धृति, मति, गति और बुद्धि आदिके सहित सत्यको अपने आत्मीय जनोंके अधिपतिरूपसे प्रतिष्ठित किया है, जिनके सब धर्म अविचल हैं, जो स्थिरचित्त, आत्मनिष्ठ और महात्मा हैं, उन्हीं शम-दमादिसे युक्त मेरे धर्मात्मा पतिने सर्वदा मेरी रक्षा की है। धर्म इन्द्रियदमन और पवित्रताके रूपमें मेरी रक्षा कर रहा है। वह देखो, शान्ति और क्षमाके साथ सत्य सर्वदा मेरे समीप उपस्थित है। महाबल बोध मेरा कभी त्याग नहीं करते। अपने गुणोंसे उत्पन्न दृढ़ बन्धनमें मैं सर्वदा बँधी हूँ। सत्य इत्यादि समस्त धर्मोंकी रक्षा मैंने की है। वे सर्वदा मेरी रक्षा करते हैं। धर्म-लाभ, दम, बुद्धि, पराक्रम—सब मेरी रक्षा करते हैं। तुम क्या मेरे साथ बलात्कार करना चाहते हो ? तुम कौन हो, जो निर्भय होकर दूतीके साथ आये हो ? मेरे पतिके सत्य, धर्म, पुण्य और ज्ञान आदि प्रबल सहायक ही घरमें मेरी रक्षा करते हैं। इन्द्र भी मुझे जीतनेमें समर्थ नहीं हैं। यदि साक्षात् कामदेव भी आ जायँ तो सदा सत्यधर्मसे सुसज्जित मेरे शरीरपर उनके बाण व्यर्थ हो जायँगे। धर्मादि महाभट तुम्हारा ही विनाश करेंगे। इसलिये दूर रहो, भागो; यहाँ न रहो। यदि मेरे मना करनेपर भी तुम यहाँ रहोगे तो जलकर राख हो जाओगे। तुम परपुरुष होकर मेरा रूप निरीक्षण करते हो ! जिस तरह आग काठको जला देती है, उसी तरह मैं तुम्हें जला दूँगी।'

सुकलाकी ये बातें सुनकर इन्द्रने मन्मथ-कामदेवसे कहा—'इस नारीका पौरुष देखो। तुम बढ़-बढ़कर बातें करते थे। अब इसके साथ अपने पौरुषसे युद्ध करो।'

पर कामकी भी हिम्मत न पड़ी। इन्द्र, काम आदि सब शापके भयसे अपना-सा मुँह लेकर लौट गये। उन सबके चले जानेपर पतिव्रता, पुण्यशीला सुकला पतिका ध्यान करती हुई अपने घर चली आयी।

विष्णु बोले—इधर सुकलाने अपनी धर्मनिष्ठासे इन्द्र और कामपर विजय प्राप्त की, उधर उसके पति कृकलने तीर्थाटनका सम्पूर्ण कार्यक्रम सकुशल समाप्त करके, अपने मित्रोंके साथ, घरके लिये प्रस्थान किया। वह मन-ही-मन विचार करने लगे कि मैंने अपने तीर्थाटन इत्यादि पुण्यकार्योंसे अपना जन्म सफल किया और पितरोंको भी सन्तोष दिया। वह अपनी कल्पनामें डूबे हुए थे कि इसी बीच उन्होंने देखा, एक दिव्य रूपधारी विशाल पुरुष प्रकट होकर उनके पितामहोंको बाँधे हुए कह रहे हैं—'कृकल, तुम्हारा पुण्य उत्तम नहीं। तुम्हें तीर्थफल नहीं मिला है। तुमने व्यर्थ इतना श्रम किया।'

वैश्य कृकल यह दृश्य देखकर और ये बातें सुनकर चकराये। उनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने पूछा—'आप क्यों ऐसा कह रहे हैं ? आप कौन हैं और क्यों, किस दोषके कारण आपने मेरे पितामहोंको बाँध रक्खा है ? मुझे तीर्थफल क्यों प्राप्त न होगा और क्यों मेरी यात्रा निष्फल हुई ? कृपापूर्वक विस्तारसे, समझाकर सब बातें मुझसे कहिये।'

धर्मने कहा—'हे कृकल ! सुनना चाहते हो तो सुनो ! जो व्यक्ति पवित्र पत्नीको छोड़कर चला जाता है, उसके सब पुण्यफल व्यर्थ हो जाते हैं। जो पत्नी धर्माचार-परायणा, पुण्यशीला और पतिव्रता है उसे छोड़कर जो व्यक्ति धर्मकार्य करनेके लिये चला जाता है, उसका किया हुआ सब धर्म व्यर्थ हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं। जो नारी सदाचारिणी है, धर्ममें तत्पर है, सर्वदा

पतिकी सेवा करनेवाली है, ऐसी गुणवती सती भार्या जिस पुरुषकी पत्नी है उसके घरमें सदा तेजस्वी देवगण निवास करते हैं; पितृगण घरके बीच रहकर उसके श्रेयकी कामना करते हैं। गङ्गादि पवित्र नदियाँ उसीके घरमें हैं। जिसके घर सत्यनिष्ठा, पुण्यशीला सती विराजमान हो वहाँपर यज्ञ, गौ और ऋषिगण सदा विराजते हैं। वहाँ सब तीर्थोंका वास होता है। पत्नीके संसर्गमें ही इन सब पुण्योंकी प्रतिष्ठा होती है। पतिव्रता भार्याके सहयोगसे ही गृहस्थ-धर्म सिद्ध होता है। और पृथ्वीपर गार्हस्थ्य-धर्मसे बढ़कर कोई धर्म नहीं। गृहस्थका घर पुण्य और सत्यमय है; वह सर्वतीर्थमय और सब देवताओंसे परिपूर्ण है। गार्हस्थ्यका आश्रय लेकर ही समस्त जीव जीवन धारण करते हैं। इसके समान दूसरा कोई आश्रम नहीं। जिस पुरुषके घरमें मन्त्र, अग्निहोत्र, देवता, सनातन धर्म और तरह-तरहके दान आदि सदाचार रहते हैं वही पुण्यात्मा है। जो मनुष्य भार्याविहीन है, उसका घर जंगलके समान है। उसके यज्ञादि सिद्ध नहीं होते। धर्मसाधनके लिये भार्याके समान तीर्थ नहीं है। तुम सुनो, तीनों जगत्में गृहस्थका दूसरा धर्म नहीं। जहाँपर भार्या हो, वहाँ ही पुरुषका घर है। गाँवमें हो या जंगलमें, जहाँ भार्या रहती है वहाँपर ही उसके सब धर्म साधित होते हैं। भार्याके समान कोई तीर्थ नहीं; भार्याके समान सुख नहीं; भार्याके समान पुण्य नहीं। तुम सदाचारिणी, सती भार्याको छोड़कर चले गये। गृहधर्मको छोड़कर कहाँपर तुम्हारे लिये धर्मफल है? तुमने जो भार्याके बिना तीर्थोंमें श्राद्ध-दानादि किया है, उसी दोषसे तुम्हारे पितरोंको मैंने बाँधा है। तुम चोर हो और तुम्हारे ये श्राद्धभोजी लोभी पितामहगण भी चोर हैं। तुमने पत्नीके बिना जो श्राद्धान्न दिया है, वह व्यर्थ हो गया। पत्नी ही गार्हस्थ्यधर्मकी स्वामिनी है, किन्तु तुमने अपनी पत्नीको छोड़ दिया है। तुम मूर्ख हो; तुम्हारा सब कर्म चोरीके समान है। तुम्हारे ये पितामह भी चोर हैं। क्योंकि इन्होंने तुम्हारी भार्याके अतिरिक्त दूसरेका तैयार किया हुआ अन्न भोजन किया है। भार्या अपने हाथोंसे जो अन्न पकाती है, वह अमृतके समान है; पितृगण प्रसन्न होकर वही अन्न भोजन किया करते हैं, उसी अन्नसे वे तृप्त होते हैं। पत्नीके बिना पुरुषकी धर्मसिद्धि नहीं होती। पत्नी पुरुषको सुगति देनेवाला तीर्थ है। पत्नीके बिना जो धर्म-कर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है।'

कृकलने प्रणाम करके पूछा—'हे धर्मराज! आप कृपापूर्वक मुझे बताइये कि अब किस प्रकार मेरा कार्य सफल होगा और मेरे पितृगण कैसे मुक्त होंगे।'

धर्मने कहा 'तुम घर जाओ। तुम्हारे बिना तुम्हारी गृहिणी दुःख उठा रही है। घर जाकर उसके हाथसे श्राद्ध करो—सब तीर्थोंका स्मरण करके उत्तम देवताओंकी पूजा करो। उसीसे तुम्हारी तीर्थयात्रा सिद्ध होगी। संसारमें भार्याके बिना जो पुरुष धर्माचरण करनेकी इच्छा करता है, वह गार्हस्थ्यका नाश करके अकेले ही वनमें विचरण करता है, संसारमें वह कृतार्थ नहीं होता। गृहिणीके घरमें रहनेपर ही यज्ञकी सिद्धि होती है। मनुष्य अकेला धर्म करनेमें समर्थ नहीं होता।'

धर्मराज वैश्यसे यह कहकर यथास्थान चले गये। कृकल अपने घर पहुँचे और अपनी पतिव्रता पत्नीको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। सुकलाने पतिको घर आया देखकर मंगलाचरण किया। उपयुक्त समयपर कृकलने अपनी यात्रा और अपने कार्योंका वर्णन सुकलासे किया। सुकला उन्हें सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। इसके बाद कृकलने मन्दिरमें बैठकर अपनी पत्नीके साथ श्रद्धापूर्वक श्राद्धकर्म किया। उस समय पितर, देव और गन्धर्व—सबने दोनोंका जयजयकार किया। इन्द्रने सुकलाका सम्पूर्ण चरित सुनाया और कहा कि यह सती महाभागा सुकला परम मंगलमयी है; इसके सत्यबलसे सन्तुष्ट होकर हमलोग तुम्हें वर देने आये हैं।'

कृकल अपनी पत्नीकी पुण्यगाथा सुनकर आनन्दसे भर गये। पति-पत्नी दोनोंकी आँखोंमें प्रसन्नतासे जल भर आया। कृकलने सबको प्रणाम कर कहा—'यदि आपलोग हमपर प्रसन्न हुए हैं तो कृपापूर्वक आशीर्वाद

दीजिये कि प्रत्येक जन्ममें धर्म, सत्य और देवोंके प्रति हमारी निष्ठा अचल रहे और अन्तमें मैं भार्या तथा पितामहोंके साथ विष्णुलोकको प्राप्त करूँ।

देवताओंने एक स्वरसे कहा—'ऐसा ही होगा।'

फिर देवगण सतीकी स्तुति करते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये। हे राजन्! तुमको मैंने सम्पूर्ण कथा सुना दी। यह सतीका पुण्य चरित है। जो इसे श्रद्धापूर्वक सुनेगा, उसका सदैव कल्याण होगा। *(समाप्त)*

मैं और मेरा

आनन्द-बागमें अपने मैं बैठा चैन उड़ाता।
सुख-शान्ति-सुरभिकी अपनी छबि देख-देख मुसकाता॥
बन मेरी भाव-तरङ्गें फैलाती हैं हरियाली।
पत्तियाँ प्रेमकी विकसी, कैसी हैं निपट निराली॥
कितनोंमें कलियाँ फूटीं, कितनोंमें दिखती लाली।
कितनोंकी कली खिली हैं, फल रही अनेकों डाली॥
मेरा मन मुझे लुभाता, बज रही हृदयकी ताली।
आकृतिमें प्रकृति मिली है, यह जीवनकी उजियाली॥
तालोंकी तरल तरङ्गें, तलमला रही हैं जैसी।
मन थिरक-थिरककर मेरा पलटाता गतियाँ वैसी॥
गानेकी इच्छा होती, मैं अपने गीत बनाता।
गीतोंकी तान सुरीली अपने विनोदमें गाता॥
बन राग-रागिनी कितनी, मनका मनोज विकसातीं।
अनुराग-भावनाएँ आ, जीवनको सरस बनातीं॥
मैं बना स्वयं सुख अपना, मेरा है रंग रँगीला।
बनता है छैल छबीला, मेरा ही भाव रसीला॥
प्यारी इच्छाएँ मेरी कल्पना-बागमें फूलीं।
मेरी ही भाव-उमंगें, अनुराग-झकोरे झूलीं॥
मैं अपनी अकथ कहानी गा-गाकर नहीं अघाता।
जीवन-अनुराग-तरङ्गें, मन मेरा सदा उठाता॥
मेरी सत्ताके भीतर क्या नहीं, सभी सचराचर।
थक गये वेद-श्रुति, ऋषि-मुनि, गुण-लीलाएँ गा-गाकर
मैं निरी कल्पनाद्वारा आशाके फूल खिलाता।
मैं अपनी ही इच्छासे मनका मनोज विकसाता॥
आदित्य दीप्त है मुझसे, मेरी ही प्रतिभा फैली।
होती है कभी न खाली, ऐसी निर्गुणकी थैली॥

आकार न मेरा कोई, साकार भाव बन जाते।
इच्छाएँ मेरी ऐसी, फल मुझको प्रकट दिखाते॥
सुस्थिर है शान्ति सदा ही, केवल विनोद भयकारी।
जीवन-विनोद ही लीला, मैं अचल और अविकारी॥
मैं अक्षर ब्रह्म सनातन, हूँ नित्ययुक्त मैं योगी।
भव और विभव मुझसे हैं, अपने भावोंका भोगी॥
मैं सदा एकरस रहता, जल ज्यों तरङ्ग बन जाती।
दिखलाकर रूप अनेकों, अपनेमें आप समाती॥
जब जैसी इच्छा होती, मैं हो जाता हूँ वैसा।
नित नये-नये रच रूपक, रहता जैसाका तैसा॥
अविनाशी सर्वव्यापी, मैं आदि अनन्त अगोचर।
मायाका रूपक बनकर, हूँ सचराचरमें गोचर॥
मैं निराकार निर्गुण हूँ, मैं ही हूँ घट-घटवासी।
चैतन्य भावनावाला मैं अज अव्यय अविनाशी॥
है पंच महाभूतोंमय, त्रिगुणात्मक माया मेरी।
हो प्रकृति अष्टधा करती जीवनकी ज्योति घनेरी॥
सब भूत भूतमें मिलते, गुण गुणमें सभी समाते।
ये सब मेरे अन्तरगत, मुझमें ही आश्रय पाते॥
मैं सूक्ष्म भावनाकारी, हूँ विश्व-विराट-विहारी।
हूँ कोमलकी कोमलता, उद्भटका बल बलकारी॥
मैं सदा-सर्वदा सबमें रहता हूँ रमा-रमाया।
यह जीवन-राग रसीला मेरी रग-रगमें छाया॥
जो कुछ भी देख रहे हो, है यह सब मेरा वैभव।
कल्पना-तरङ्गें मेरी सब यह उद्भवकारी भव॥
मेरी विचार-धारासे निकली हैं सभी तरङ्गें।
यह मायाकारी रचना मेरी ही भाव-उमङ्गें॥

मैं आत्मभाव अविकारी, भव मायाकारी रचना।
कैसा विराट आयोजन, यह एक अनेकों बनना॥
ये पंच महाभूतात्मक गुणमय सब जीवनधारी।
दिखलाते विलग पराये बन अहंकार साकारी॥
यह भूलभुलैयाँवाला मेरी मायाका घेरा।
मनकी विनोद-लीलाका सविकारी रूपक मेरा॥
मैं एक अनेकों होकर यह खेल खेलता रहता।
माया-प्रपंच-धारामें मेरा विनोद ही बहता॥
सब अच्छा और बुरा या मेरा ही किया-कराया।
तुम स्वार्थ-भावना रखते, मुझमें न स्वार्थकी छाया॥
सुख-दुख जो तुममें आते, केवल तरंग हैं मनकी।
नश्वरता यही जगतकी, गति ऐसी ही जीवनकी॥
आकाश शून्यकारी है, यह वायु कहाँसे आती।
तूफान-तूल बन-बनकर कहिये फिर कहाँ समाती॥
लय दीपककी लौ होती आकाश-शून्यमें जैसी।
ज्योत्स्नाएँ भी जीवनकी मुझमें मिल जातीं वैसी॥
कल्पना-किलोलोंमें मैं जिस ओर बहाता धारा।
क्या अच्छा और बुरा है, मेरा विनोद ही प्यारा॥
तुम अहंकारके रूपक बन-बन करके इठलाते।
मनके मदपूर्ण भँवरमें, उन्मादी भी बन जाते॥
मन द्वैत-कल्पनाकारी, अद्वैत भाव है मेरा।
इच्छाएँ मेरी फलतीं, माया-भ्रम मेरा-तेरा॥
तुम जान न सकते खुदको, जीवन-अनुराग हरा है।
भूले हो रूपक अपना, मादकता-मान भरा है॥
जल-बिन्दु सिन्धुमें जाकर तल्लीन उसीमें होता।
वह आप गर्वका रूपक, क्षणभरहीमें सब खोता॥
यह मायाकारी घेरा, अपने प्रकाशको पाकर।
हो जाता बिन्दु जरा-सा, क्षणभरहीमें रत्नाकर॥
तुम देखो अब अपनापन कितना है बढ़ा, कहाँतक।
अपना स्वरूप ही दिखता, जाती है दृष्टि जहाँतक॥
आनन्द-उमंगोंमें तुम कल्पना करोगे प्यारी।
आ-आकर नयी उमंगें देंगी विनोद ही भारी॥
है एक तन्तु ही केवल, कपड़े अनगिनतों बनते।
है एक तत्त्व ही केवल, आकार अनेकों रचते॥

कल्पना फेंकती रहती अपने विनोदका पाशा।
छलछला रही है देखो, सबके जीवनमें आशा॥
मैं ही प्रकाशकी प्रतिभा, मैं ही प्रकाश हूँ अपना।
बनता रहता हूँ मैं ही, फैलाकर रूपक अपना॥
है शून्यभाव यह ऐसा, जोड़ो या उससे घटाओ।
चाहे जितनी संख्या लो; बस, शून्य सदा ही पाओ॥
मन यह विनोदकारी है, भावना-भाव ही आशा।
वासना बढ़ाती मनको, है सुन्दर-शान्त निराशा॥
ज्यों शून्य भित्तिपर रचता रहता है चित्र चितेरा।
रचता रहता है प्यारी माया-कृतियाँ मन मेरा॥
मैं कभी नहीं थकता हूँ, मैं सतत विनोद-विहारी।
लय और प्रलय भी मेरी मानो तुम इच्छा-कारी॥
मैं कभी नहीं सोता हूँ, मैं नहीं कभी भी सोया।
जीवन-तरंगिणी माया मेरा ही भाव बिलोया॥
जब जैसी इच्छा होती, रूपक बन जाता वैसा।
मायाकारी रचना रच, रहता जैसेका तैसा॥
तुम नाम-रूपको छोड़ो, देखो क्या कहाँ-कहाँ है।
यह नश्वरपना मिटाओ, अविनाशी भाव यहाँ है॥
अपने निश्चयपनमेंसे, सब दृश्य भाव अलगाओ।
कल्पना-तरंगें छूटीं द्रष्टा तुम ही बन जाओ॥
मैं बीज कल्पनाका रख, तद्रूप सृष्टि उपजाता।
उसको फिर वहीं ढहाकर, केवल विनोद ही पाता॥
माया-भ्रम बना-बना मैं उलझाता रहता उलझन।
सुख-शान्ति सदा पाता यों, कल्पना-विनोदी यह मन॥
मैं सदा फेरता रहता, अपने विनोदकी माला।
कल्पना-किलोलें रचता भवकारी भाव निराला॥
है त्यागी मन विज्ञानी, ज्ञानी हो अनुभवकारी।
समताकी दृष्टि बनाकर जीवन बनता सुखकारी॥
लय सब ही मुझमें होते, फैली है मेरी माया।
आनन्द-उमंगोंमें मैं अपनेमें आप समाया॥
मैं अकथ भावको अपने, कबतक गाऊँगा गीता।
मैं निर्विकार अविकारी, आनन्द-सुधा-रस पीता॥

—प्यारेलाल टहनगुरिया

वर्णाश्रम-विवेक

(लेखक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८स्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी यति महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

वर्ण-कर्म वा वर्ण-धर्म

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

(गीता १८ । ४१)

'हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके समस्त कर्म सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा विशेषरूपसे व्यवस्थित हुए हैं।'

ये चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करके परम कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। महर्षि गौतम वर्णधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानम् । १ । ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। २ । सर्वेषु नियमस्तु । ३ । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ।७। न्याय्यदण्डत्वम् ।८। वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदम् ।४९। शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः ।५०। तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् ।५१। आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमित्येके ।५२। श्राद्धकर्म ।५३। भृत्यभरणम् ।५४। स्वदारवृत्तिः ।५५। परिचर्या चोत्तरेषाम् ।५६। (दशमोऽध्यायः) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति हैं; एवं वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्म और दान—ये तीन द्विजातियोंके साधारण धर्म हैं ॥१॥ वेदोंका अध्यापन, याजन (यज्ञ कराना) और प्रतिग्रह (दान लेना)—*ये तीन ब्राह्मणोंके जीविकार्थ विशेष धर्म हैं* ॥२॥ पूर्वोक्त अध्ययनादि तीन सामान्य धर्म, तथा प्राणिवर्गकी रक्षा और नीतिपूर्वक दुष्टोंको दण्ड देना क्षत्रियका धर्म है ॥३, ७, ८॥ पूर्वोक्त अध्ययनादि द्विजातियोंके साधारण तीन धर्म, और कृषि, वाणिज्य, गौ आदि पशुओंका पालन और रक्षा, धनवृद्धिके लिये धनको ब्याजपर लगाना—ये वैश्यके धर्म हैं ॥४९॥ चौथा वर्ण शूद्र एक जातिविशेष है, उसके भी सत्य, अक्रोध, शौच (पवित्रता तथा ईमानदारी), आचमनार्थ पाणि-पाद-प्रक्षालन (हाथ-पैर धोना), *पिता-माता-पितामह आदिका श्राद्ध*, आश्रितोंका भरण-पोषण, एक अपनी स्त्रीमें ही अनुराग, तथा परस्त्रीको माताके समान देखना, एवं द्विजातिवर्णोंकी सेवा करना इत्यादि धर्म हैं ॥५०—५६॥ सत्त्वादि गुणभेदसे इस प्रकार *वर्णभेद और वर्णधर्म वेदमें तथा मन्वादि स्मृतिशास्त्रोंमें** एवं वेदसम्मत पुराण, इतिहास और तन्त्रादि शास्त्रोंमें भी सर्वत्र कथित हैं।

आश्रम-धर्म

महर्षि हारीत कहते हैं—

वर्णाश्चत्वारो राजेन्द्र चत्वारश्चापि आश्रमाः॥

'हे राजेन्द्र! वर्ण चार प्रकारके हैं, और आश्रम भी चार प्रकारके हैं।'

'वर्ण' कहनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार जातियोंका बोध होता है तथा 'आश्रम' कहनेसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमों या अवस्थाओंका बोध होता है।

वामनपुराणमें लिखा है—

चत्वार आश्रमाश्चैव ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः।
गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयो मताः॥
क्षत्रियस्यापि कथिता आश्रमास्त्रय एव हि।
ब्रह्मचर्यं च गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशाम्॥
गार्हस्थ्यमुचितन्त्वेकं शूद्रस्य क्षणमाचरेत्।

अर्थात् ब्राह्मणके लिये चार आश्रम कहे गये हैं; क्षत्रियके लिये ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—ये तीन ही आश्रम

* त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान् धर्मान् मनुराह प्रजापतिः॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(मनुसंहिता १० । ७७-७८; १ । ८८—९०)

माने गये हैं। वैश्यके लिये ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, ये दो आश्रम हैं। तथा शूद्रके सम्बन्धमें सभी युगोंमें गार्हस्थ्यके अतिरिक्त अन्य आश्रमोंका अनुमोदन शास्त्र नहीं करते।

नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है कि किसी समयमे वेदाध्ययनसम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें परम निष्ठावान्, ज्ञान और वैराग्ययुक्त शौनकप्रभृति महर्षिगण नैमिषारण्यमे द्वादशवार्षिक सत्रयागके अनुष्ठानमें निरत थे। परिव्राजकशिरोमणि, जीवन्मुक्त, ब्रह्मपुत्र भगवान् नारद स्वर्गादि तीनों लोकोंमें घूमते-घूमते उस समय वहाँ आ उपस्थित हुए। उन्हें आया हुआ देख शौनकादि महर्षिगणने उठकर नमस्कार तथा यथोचित आतिथ्य-सत्कार करके उन्हें उत्तम यथोचित आसनपर बैठाया। पश्चात् विनयपूर्वक ब्रह्माके पुत्र देवर्षि नारदसे पूछा—"भो भगवन् ब्रह्मपुत्र! कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यः।" (प्रथमोपदेशः)—हे भगवन् ब्रह्मपुत्र! हमें कृपा करके बतलाइये कि मुक्तिका उपाय क्या है।१। "इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः।" शौनकादि ऋषियोंके इस प्रकार पूछनेपर ब्रह्मपुत्र नारदने उनसे कहा—

"सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षं शुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य—चतुर्विधब्रह्मचर्यम्, षड्विधगार्हस्थ्यं चतुर्विधवानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। इत्युपनिषत्॥"

(प्रथमोपदेशः)

सद्वंशमे उत्पन्न व्यक्ति यथाकाल उपनीत होकर, शास्त्रोक्तविधिके अनुसार क्रमशः ४४ संस्कारोंसे सम्पन्न* होकर, वेदज्ञ, ईश्वरपरायण, लोभ-मोहादि दोषोंसे रहित सद्गुरुके समीप अपनी वेदशाखाका अध्ययन कर अन्यान्य विद्याओंका अभ्यास करे। इस प्रकार द्वादश वर्षपर्यन्त गुरुकी सेवा करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करे। इसके पश्चात् पचीस वर्षतक गृहस्थ रहकर गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करे और तदनन्तर वानप्रस्थका बाना लेकर पचीस वर्षतक वानप्रस्थ-धर्मका विधिवत् पालन करे। चतुर्विध ब्रह्मचर्य, षड्विध गार्हस्थ्य और चतुर्विध वानप्रस्थ धर्मका सम्यक् रीतिसे अभ्यास करके तथा तदनुसार समस्त कर्मोंको समाप्त कर साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होना होगा। मन, वचन, शरीर और कर्मके द्वारा समस्त संसारके प्रति सब प्रकारसे आशाका त्याग करना होगा। तदनन्तर निर्वैर, शान्त, दान्त और सर्वत्यागी होकर संन्यासाश्रम ग्रहण करके परमहंस आश्रममें अवस्थान करते हुए अस्खलित भावसे आत्मस्वरूपके चिन्तनमें निमग्न रहना होगा। जो इस प्रकार आत्मस्वरूपका साक्षात्कार प्राप्त करके आत्मस्वरूपका ध्यान करते-करते देह त्याग करते

---

* महर्षि गौतमके शास्त्रके मतमें संस्कार ४० हैं, तथा आत्मगुण ८ हैं। अतएव महर्षि गौतमके मतमें आत्मगुणके सहित कुल ४८ संस्कार हैं। किन्हीं-किन्हीं महर्षियोंका मत है कि संस्कार ३६ हैं तथा आत्मगुण आठके मिलानेसे कुल ४४ संस्कार हैं। आत्मगुणके विषयमें सबका एक मत है। महर्षि गौतमभणित ४० संस्कार नीचे दिये जाते हैं—जैसे १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चूडाकरण, ८. उपनयन, ९. ऋग्वेदव्रत, १०. यजुर्वेदव्रत, ११. सामवेदव्रत, १२. अथर्ववेदव्रत, १३. समावर्तन, १४. दारपरिग्रह, १५. देवयज्ञ, १६. पितृयज्ञ, १७. मनुष्ययज्ञ, १८. भूतयज्ञ, १९. ब्रह्मयज्ञ, २०. श्रावणी, २१. आग्रहायणी, २२. चैत्री, २३. आश्वयुजी, २४. पूर्वाष्टका, २५. मध्याष्टका, २६. अन्वष्टका, २७. अग्न्याधेय, २८. अग्निहोत्र, २९. दर्शपौर्णमास, ३०. आग्रयण, ३१. चातुर्मास्य, ३२. निरूढपशुबन्ध, ३३. सौत्रामणि, ३४. अग्निष्टोम, ३५. अत्यग्निष्टोम, ३६. उक्थ, ३७. षोडशी, ३८. वाजपेय, ३९. अतिरात्र, ४०. आप्तोर्याम (इनमें १५ से १९ पर्यन्त ५ महायज्ञ, २० से २६ पर्यन्त ७ पाकयज्ञ, २७ से ३३ पर्यन्त ७ हविर्यज्ञ, तथा ३४ से ४० पर्यन्त ७ सोमयज्ञ)। ये ४० संस्कार हुए। अब आत्मगुणकी बात कही जाती है—जैसे १. सर्वभूतोंके प्रति दया, २. क्षमा, ३. अनसूया (दूसरोंके दोष न देखना), ४. शौच, ५. अनायास (क्लेश न होना), ६. मंगल, ७. अकार्पण्य (उदारता) और ८. अस्पृहा (निष्कामता)। ये सब मिलाकर ४८ संस्कार हुए। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि कोई उक्त ४० या ३६ संस्कारोंके द्वारा संस्कृत होनेपर भी यदि ८ आत्मगुणोंसे युक्त न हो तो वह ब्रह्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हो सकता, अथवा उसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति नहीं हो सकती। दूसरी ओर, उक्त ४० या ३६ संस्कार यदि किसीके आंशिक भावमें भी पूर्ण होते हैं, और उक्त आठ गुण भी हैं तो वह ब्रह्मसायुज्य या ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे कृतार्थ हो सकता है।

हैं, वे अवश्य ही मुक्तिलाभ करते हैं, अवश्य ही मुक्तिलाभ करते हैं। यही उपनिषद् है ॥ १ ॥

इस अमूल्य महोपदेशको प्रदान करते समय भगवान् श्रीनारदने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार आश्रमोंका उल्लेख किया है।

१ 'चतुर्विधब्रह्मचर्यम्'—ब्रह्मचर्य (अतएव ब्रह्मचारी) चार प्रकारके हैं।

(क) 'गायत्र ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् त्रिरात्र सैन्धव लवणमात्र खाकर गायत्रीका अध्ययन करते हैं, उन्हें 'गायत्र' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ख) 'ब्राह्म ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् समस्त वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हैं, उन्हें 'ब्राह्म' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(ग) 'प्राजापत्य ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयनके पश्चात् एक वर्षतक ब्रह्मचर्य पालन कर वेदाध्ययन करते हैं, उन्हें 'प्राजापत्य' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(घ) 'नैष्ठिक या बृहद् ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्मचारी उपनयन-संस्कारके बाद मरणपर्यन्त गुरुकुलवास करते हैं, उन्हें 'नैष्ठिक या बृहत्' ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्यके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
× × ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥

(अथर्ववेदसंहिता ११।३।७)

अर्थात् ब्रह्मचर्यके प्रभावसे इन्द्रादि देवताओंने अमरत्व प्राप्त किया। मनुष्य, देवता, पशु, जङ्गली जीव, ग्रामवासी जीव—सभी जीवोंका जन्म, सभी जीवोंकी उन्नति ब्रह्मचर्यसे हो सकती है।

'स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति॥'

(अथर्ववेदसंहिता ११।७।१)

अर्थात् ब्रह्मचारी (जो अध्येतव्य—निरन्तर ध्येय वेदात्मक ब्रह्मका विधिपूर्वक अध्ययन करनेके लिये अवश्य आचरणीय शुक्र-धारणादि व्रतोंके पालनमें सदा तत्पर रहते हैं) अपनी तपस्यासे प्राप्त शक्तिके द्वारा स्वर्ग और भूलोकको धारण करते हैं; वे अपने तपके द्वारा कल्प और रहस्यपूर्वक वेदकी व्याख्या करनेवाले गुरुका भी पालन करते हैं।

इस मन्त्रका भाष्य करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—तथा—

आचार्यं स्वं गुरुं तेनैव तपसा पिपर्ति पालयति। सन्मार्गवृत्त्या आचार्यं परिपालयतीत्यर्थः। 'शिष्यं पापं गुरोरपि' इति शिष्यकृतेन पापेन गुरोरपि पातित्यस्मरणाद् एवमुक्तम्।

(अथर्ववेदभाष्य)

अर्थात् शिष्यकृत पाप गुरुको स्पर्श करता है, शिष्यके पापसे गुरुका पतन होता है—ऐसा स्मृतिमें कहा है। परन्तु जो शिष्य यथाविधि तपस्या करते हैं, अपने नियममें—ब्रह्मचर्य आदि व्रतके पालन करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, ऐसे शिष्यको कभी पाप स्पर्श नहीं करता; अतएव शिष्यका पाप गुरुमें सञ्चारित होकर शिष्यके द्वारा गुरुका पतन नहीं होता। इसी कारण कहा जाता है कि ब्रह्मचारी अपने तपके द्वारा आचार्यका भी पालन करता है।

भीगे हुए खेतमें हल चलाकर बीज बोते समय शरीरमें अवश्य ही कुछ-न-कुछ कीचड़ लग जाता है। इसी प्रकार शिष्यमें मोक्षरूपी बीज बोते समय शिष्यका पाप और अविद्यारूपी मल अन्ततः कुछ-न-कुछ गुरुमें संक्रान्त होता ही है।

पाप और अविद्या दोनों अव्यक्त वस्तुएँ हैं। अतएव पाप और अविद्याका सञ्चार उनके व्यक्त कार्यके द्वारा ज्ञात होता है। पापसे आधि (मानसिक अशान्ति), व्याधि (शारीरिक रोग), जरा (दन्त-नेत्रादि अङ्ग-प्रत्यङ्गकी अक्षमता), विघ्न, दैन्य, दुःख, शोक, दोष और अमङ्गल उत्पन्न होते हैं। तथा अविद्यासे आत्मज्ञान लुप्त हो जाता है और मोह उत्पन्न होता है।

गन्धर्व-तन्त्रमें लिखा है—

दापयेत् स्वकृतं दोषं पत्नी पापं स्वभर्तरि।
तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुमाप्नोति निश्चितम्॥

अर्थात् स्त्रीका स्वकृत दोष और पाप उसके स्वामीमें अर्पित होता है; इसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका अर्जित पाप गुरुमें संक्रान्त होता है।

कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

मन्त्रिदोषश्च राजानं जायादोषः पतिं यथा।
तथा प्राप्नोत्यसन्देहं शिष्यपापं गुरुं प्रिये॥

अर्थात् मन्त्रीका दोष राजाको तथा स्त्रीका दोष पतिको जिस प्रकार संक्रमण करता है, उसी प्रकार निश्चय ही शिष्यका पाप गुरुको आक्रमण करता है।

स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें वर्णित हुआ है—

पुरुषो हरते सर्वं भार्याया औरसस्य च।
अर्द्धं शिष्याच्चतुर्थांशं पापं पुण्यं तथैव च॥

पुरुष अपनी स्त्रीके समस्त, सन्तानके आधे, तथा शिष्यके चतुर्थांश पाप और पुण्यको ग्रहण करता है।

छान्दोग्य श्रुति उपदेश करती है—

तद्य एवैनं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव।

अर्थात् ब्रह्मचर्यके द्वारा ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानके बिना ब्रह्मलोककी प्राप्ति असम्भव है; यज्ञादि समस्त इष्टको प्राप्त करानेवाले तथा अनिष्टको दूर करनेवाले कर्मोंका समावेश ब्रह्मचर्यके अन्तर्गत हो जाता है।

ब्रह्मचर्य ही आत्मसाक्षात्कारका प्रधान उपाय है, इस विषयमें मुण्डकोपनिषद् कहता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

जो ब्रह्मचारी नहीं हैं, उन्हें आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' अर्थात् आत्मनिष्ठा प्रदान करनेवाले वीर्यसे हीन व्यक्तिको आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मसाक्षात्कारके लिये प्रयास करनेवाले साधकके लिये शारीरिक वीर्यका धारण करना अत्यन्त आवश्यक है, वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे शरीर और मन स्वस्थ रहता है और साधनामें सहायता मिलती है।

ज्ञानसङ्कलनी तन्त्रमें भगवान् शंकरने ब्रह्मचर्यको उत्तम तप बतलाया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्॥

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योग० २।३८)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा (सिद्धि) होनेपर वीर्यलाभ होता है—शरीर, इन्द्रिय और मनको अत्यन्त शक्ति प्राप्त होती है। शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है, इन्द्रिय-संयममें पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है। तथा सुने हुए उपदेशको पूर्णतः धारण करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

वेदभाष्यकार सायणाचार्य कहते हैं—

'ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुम् आचरणीयं समिदाधानभैक्ष्यचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम्।'

(अथर्ववेदभाष्य)

अर्थात् उपनयन-संस्कारके बाद गुरुके घरमें जाकर वेदाध्ययन करनेमें जिन व्रत या नियमोंका आचरण करना आवश्यक होता है उन सब व्रतोंका पालन करते हुए जो वेदाध्ययन करते हैं, वे ब्रह्मचारी हैं। तथा वेदाध्ययनके लिये अवश्य आचरणीय समिदाहरण, भैक्ष्यचर्या, मन-वचन-कर्मके द्वारा सम्यक् प्रकारसे वीर्यधारण इत्यादि कर्मोंको 'ब्रह्मचर्य' संज्ञा प्राप्त होती है।

पातञ्जलदर्शनके २। ३० सूत्रके भाष्यमें भगवान् वेदव्यास कहते हैं—'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।' गुप्तेन्द्रिय होकर अर्थात् चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंकी रक्षा करके, अर्थात् ब्रह्मचर्यभङ्गके भयसे विषयोंसे सब इन्द्रियोंको संयत करके, उपस्थेन्द्रियके संयम करनेका नाम 'ब्रह्मचर्य' है।

इस भाष्यकी टीकामें वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—

'ब्रह्मचर्यस्वरूपमाह—गुप्तेति। संयतोपस्थोऽपि हि स्त्रीप्रेक्षणतदालापकन्दर्पायतनतदङ्गस्पर्शनसक्तो न ब्रह्मचर्यवानिति तन्निरासायोक्तं गुप्तेन्द्रियस्येति। इन्द्रियान्तराण्यपि तत्र लोलुपानि रक्षणीयानीति।'

अर्थात् केवल उपस्थसंयम ही ब्रह्मचर्य नहीं। उपस्थसंयम करके भी यदि कोई रागवश स्त्रियोंका दर्शन करता है, अथवा स्त्रियोंके साथ वार्तालाप करता है, या कामभावनासे स्त्रियोंका स्पर्श करता है तो उसे ब्रह्मचर्यवान् नहीं कहा जा सकता। स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना; स्त्रियोंके मुख आदि अङ्ग प्रत्यङ्गोंको विशेषरूपसे देखना, अथवा छिपकर देखना, स्त्रियोंके रूप, यौवन, हाव-भाव, क्रिया, चेष्टा, चरित्र आदि जो ग्रन्थोंमें वर्णित है उन्हें पढ़ना या सुनना; स्त्रियोंका संग करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, उन्हें पानेके लिये बार-बार चेष्टा करना—ये सभी ब्रह्मचर्यहीनताके लक्षण हैं।

उपस्थ-इन्द्रियके संयमके साथ इन सभी ब्रह्मचर्यहीनताके लक्षणोंका त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। जो लोग देह, इन्द्रिय और मनको अत्यन्त समर्थ बनाना चाहते हैं, जिनके भीतर स्वास्थ्यसुखके उपभोग करनेकी इच्छा बलवती हो रही है, जिनके हृदयमें स्वस्थ, सबल, रूपवान्, सर्वजनरञ्जन, बहुगुणशील सन्तानकी प्राप्तिकी इच्छा बनी रहती है,

अलौकिक विभूतिके लाभकी आवश्यकताको जो विशेषरूपसे अनुभव करते हैं, देश और समाजकी उन्नतिके जो सदाभिलाषी हैं, मनुष्यजातिकी मङ्गलकामना जो अपनी प्रतिदिनकी प्रार्थनामें करते हैं, तथा परमानन्दरूप शाश्वत ब्रह्मभावमें मग्न रहनेके लिये जो सदा उत्कण्ठित रहते हैं, उनके लिये सब दुःखोंके बीजस्वरूप ब्रह्मचर्यहीनताका त्याग करके ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करना आवश्यक है ।

ब्रह्मचर्यका वेदोक्त अर्थ है—वेदाध्ययन और वेदार्थका ज्ञान । वीर्यधारणरूपी ब्रह्मचर्य ही वेदाध्ययन और वेदार्थ-ज्ञानका अनिवार्य कारण है । शुक्र-संरक्षणके बिना वेदाध्ययनमें कदापि सफलता नहीं मिल सकती, और वेदोंके अर्थका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मतत्त्वकी धारणा स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है । जो मनुष्य वस्तुतः ब्रह्ममें विचरण करनेकी अभिलाषा करता है, उसे उपस्थ-संयमरूपी ब्रह्मचर्यका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही पड़ेगा, इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं । ब्रह्मचर्य-हीनतामें स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार रसके चू जानेपर वृक्ष क्षीणताको प्राप्त हो जाता है ।

गरुडपुराणमें लिखा है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

अर्थात् सब अवस्थाओंमें, सब कालमें सर्वत्र मन, वचन और कर्मसे सब प्रकारके मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है ।

शास्त्रोंमें अष्टविध मैथुनका उल्लेख है—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्त्तनं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(कठरुद्रोपनिषद् ५ । ६)

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

(दक्षसंहिता ७ । ३१-३२)

अर्थात् स्त्रियोंके रूप-लावण्य, अङ्ग-प्रत्यङ्गादिका विशेष-रूपसे अवलोकन करना, कामवासनासे स्त्री वा बालकको स्पर्श करना, आलिङ्गन करना अथवा चुम्बन करना, स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक या कौतुक करना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन, श्री और शृङ्गारकी प्रशंसा करना, अथवा अश्लील ग्रन्थोंका पठन-पाठन या श्रवण करना, स्त्रियोंके साथ गुप्तरूपसे अश्लील वार्तालाप करना, स्त्रियोंके साथ मैथुन करनेके लिये मन-ही-मन सङ्कल्प करना, कामोपभोगके उद्देश्यसे मनमें स्त्रियोंके पानेके लिये नाना प्रकारसे पुनः-पुनः यत्न करना, तथा स्त्री-संभोग करना—ये ही आठ प्रकारकी चेष्टाएँ हैं । जिन्हें मनीषीगण मैथुन कहते हैं, ये सभी मैथुनके अन्तर्गत हैं । ('स्मरणम्' का अर्थ है किसी स्त्रीके रूप-लावण्य, हाव-भाव, कटाक्ष अथवा अपने किये हुए मैथुनादिका स्मरण करना, अथवा भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका चिन्तन करना ।)*

उपनयन† संस्कारके पश्चात् उपर्युक्त अष्टविध मैथुनका

* नारद-परिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—

न संभाषेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥ ३ ॥
एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति ॥ ४ ॥

—चतुर्थोपदेशः ।

अर्थात् किसी स्त्रीसे न तो सम्भाषण करे और न पहले देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरण करे । उनकी चर्चासे भी दूर रहे । यहाँतक कि स्त्रीके चित्रको भी न देखे । जो संन्यासी अज्ञानवश इन चार बातोंसे नहीं बचता उसके चित्तमें विकारका उत्पन्न होना निश्चित है और चित्तमें विकार होनेपर उसका पतन अवश्यम्भावी है ।

संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा ।
नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥

—षष्ठोपदेशः ।

अर्थात् ब्रह्मचारी आदिको चाहिये कि स्त्रियोंके साथ बातचीत करना तो अलग रहा, आवश्यकता होनेपर उनसे कोई बात पूछे भी नहीं और न उनके किसी प्रश्नका उत्तर ही दे । उन्हें देखना, उनके साथ नाचना-गाना अथवा उनके नृत्य-गीतको देखना-सुनना, उनके साथ हँसी-मजाक करना अथवा उनके हँसी-मजाकको सुनना—यहाँतक कि उनकी निन्दा करना भी खतरेसे खाली नहीं है । अतः इन सबसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये ।

† ब्रह्मचर्यके लिये मिताहारकी अत्यन्त आवश्यकता है । 'परिमित' घृत, दुग्ध आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार हो सकते हैं; परन्तु पर्याप्त दुग्ध, घृत, दधि आदि योगीके लिये सात्त्विक आहार नहीं है—ये तो भोगीके लिये सात्त्विक आहार हैं । मिताहार तथा परिमित निद्राके द्वारा शारीरिक क्लेश सहना

परित्याग करके शुक्रका संरक्षण करते हुए ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वेदाध्ययनके उद्देश्यसे गुरुगृहमें वास करनेको 'ब्रह्मचर्याश्रम' कहते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रमके वेदोक्त कर्तव्य—ब्रह्मचारी प्रतिदिन सायं और प्रातःकाल अग्निमें समिधाकी आहुति करे। प्रतिदिन भिक्षान्न लाकर आचार्यको अर्पण करके उनके आदेशानुसार भिक्षासे प्राप्त द्रव्यमेंसे जो कुछ गुरु प्रदान करें, उसका आहार करे। कदापि मधु और मांस भोजन न करे। गन्ध, माला, अञ्जन, छत्र और पादुकाका व्यवहार न करे। दिनमें न सोये। किसी सवारीपर न चले। बाजा न बजावे। दन्तधावन, देहमें तैलाभ्यङ्ग, नृत्य-गीत, द्यूतक्रीड़ा, परनिन्दा, स्त्रीदर्शन, स्त्री-स्पर्श, हीन वर्णकी सेवा, आनन्दमें अधीरता तथा भय न करे। ब्रह्मचारी काम, क्रोध, लोभ, मोहका त्याग करे; समस्त इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करे। गुरुके अधीन रहे, जटा रक्खे। चारपाईपर न सोये। गुरुके सोनेके बाद सोये। गुरुके जागनेके पहले उठ जाय। गुरुके खड़े होनेपर ब्रह्मचारी भी साथ-साथ उठकर खड़ा हो जाय। गुरुके चलनेपर उनके पीछे पीछे चले। गुरु सोये रहें तो स्वयं बैठकर उनकी सेवा करे। गुरु जब पढ़नेके लिये बुलायें, तुरंत पास जाकर पढ़ना शुरू कर दे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन तीन बार स्नान करे। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल सन्ध्योपासना करे। सन्ध्योपरान्त देव-ऋषि-तर्पण करे, तथा जिसके माता पिता मर गये हों वह पितृ-तर्पण भी करे। नाना प्रकारके व्रतों और नियमोंका अवलम्बन करके समस्त वेदों तथा उनके रहस्योंको जाने। शिक्षासहित षडङ्ग वेदोंका ही पहले अध्ययन करना पड़ता है, अन्य शास्त्रोंका पहले अध्ययन न करे। प्रतिदिन अध्ययनके आरम्भ और अन्तमें गुरुके चरणोंकी वन्दना करे। पुरुषके तीन परम गुरु हैं—माता, पिता और आचार्य। इनकी अत्यन्त भक्ति करे, इनके लिये प्रिय और हितकर कार्योंको करे। थोड़ा या अधिक जिससे शास्त्रसम्बन्धी उपदेश प्राप्त करे, उसे गुरु माने। सूर्योदयके पूर्व ही शय्या त्याग करे, सूर्यास्तके समय शयन न करे। इस बीचमें माता-पिता आदिकी सेवा करना मनुष्यमात्रका धर्म है। सन्ध्योपासना सभी द्विजोंका धर्म है।

(शेष फिर)

महा अमीरस

अहो नर नीका है हरिनाम।
दूजा नहीं नाँउ बिन नीका, कहि ले केवल राम ॥टेक॥
निरमल सदा एक अबिनासी, अजर अकल रस ऐसा।
दृढ़ गहि राखि मूल मन माहीं, निरख देखि निज कैसा ॥ १ ॥
यह रस मीठा महा अमीरस, अमर अनूपम पीवै।
राता रहै प्रेमसूँ माता, ऐसें जुगि जुगि जीवै ॥ २ ॥
दूजा नहीं और को ऐसा, गुर अंजन करि सूझै।
दादू मोटे भाग हमारे, दास बमेकी बूझै ॥ ३ ॥

—दादूदयाल

ब्रह्मचारीके लिये परम आवश्यक है। केवल उपस्थ-इन्द्रियको संयत रखनेसे ही ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती, इसके साथ-साथ पूर्णरूपसे अब्रह्मचर्यके आचरणका त्याग कर युक्ताहार, युक्त विहार, युक्त निद्रा तथा युक्त जागरण करना पड़ता है, तथा मनको कामविषयक संकल्पोंसे रहित करना होता है; तभी ब्रह्मचर्य सिद्ध (प्रतिष्ठित) होता है। ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तपस्या है, केवल इसी तपस्याके द्वारा आत्मदर्शन होगा। अतएव जीवनमें कभी व्यभिचार न करूँगा—इस प्रकारका दृढ़ सङ्कल्प करके 'उपस्थेन्द्रिय शुष्क हो जाय' इस प्रकारकी भावनाके द्वारा ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठाकी विशेष आवश्यकता है।

व्रत-परिचय

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

(१२)

(फाल्गुनके व्रत)

कृष्णपक्ष

(१) **सङ्कष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)–यह व्रत प्रत्येक मासकी कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदय-व्यापिनी चतुर्थी लेनी चाहिये। यदि वह दो दिन चन्द्रोदय-व्यापिनी हो तो 'मातृविद्धा प्रशस्यते' के अनुसार पहले दिन व्रत करे। व्रतीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिके पश्चात् व्रत करनेका संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायङ्कालमें पुनः स्नान करके लाल वस्त्र धारण कर, ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादिसे गणेशजीका पूजन करे, उसके बाद चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका पूजन करे और अर्घ्य एवं वायन देकर स्वयं भोजन करे तो सुख, सौभाग्य और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसकी कथा यह है कि सत्ययुगमें राजा युवनाश्वके पास सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता ब्रह्मशर्मा नामके ब्राह्मण थे, जिनके सात पुत्र और सात पुत्रवधूएँ थीं। ब्रह्मशर्मा जब वृद्ध हुए, तब बड़ी छः बहुओंकी अपेक्षा छोटी बहूने श्वशुरकी अधिक सेवा की। तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर उससे सङ्कष्टहर चतुर्थीका व्रत करवाया, जिसके प्रभावसे वह मरणपर्यन्त सब प्रकारके सुख साधनोंसे संयुक्त रही।

(२) **जानकीव्रत** (निर्णयसिन्धु)–यह व्रत फाल्गुन कृष्ण अष्टमीको किया जाता है। इसमें जनकनन्दिनी श्रीजानकीजीका पूजन होता है। गुरुवर वसिष्ठजीके कहनेपर भगवान् रामचन्द्रजीने समुद्रतटकी तपोमय भूमिपर बैठकर यह व्रत किया था। अतः सर्वसाधारणको चाहिये कि वे अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये इस व्रतको अवश्य करें। इसमें सर्वधान्य (जौ-चावल आदि) के चरु (खीर) का हवन और अपूप (पूए) आदिका नैवेद्य अर्पण किया जाता है। और 'व्रतमात्रेऽष्टमी कृष्णा पूर्वा शुक्लेऽष्टमी परा' के अनुसार पूर्व-विद्धा अष्टमी ली जाती है।*

(३) **कृष्णैकादशी** (स्कन्दपुराण)–यह व्रत प्रत्येक मासमें किया जाता है। शुद्धा, विद्धा आदिका पूरा निर्णय चैत्रके व्रत-परिचयमें दिया गया है। वहीं इसके सम्बन्धकी अन्य ज्ञातव्य बातें भी बतायी गयी हैं। इस एकादशीका नाम 'विजया' है। इसके प्रभावसे व्रतीका जय होता है। लंका-विजय करनेकी कामनासे 'बक एकदाल्भ्य' मुनिके आज्ञानुसार समुद्रके तटपर भगवान् रामचन्द्रने इसी एकादशीका व्रत किया था, जिससे रावणादि मारे गये और श्रीरामचन्द्रका विजय हुआ।

(४) **प्रदोष** (व्रतोत्सव)–इस सुप्रशस्त व्रतका उल्लेख पिछले सभी महीनोंमें किया गया है। और मासानुकूल विधान भी प्रत्येक व्रतके साथ लिख दिया है। अतः व्रतीको चाहिये कि गत सभी अङ्कोंके प्रदोषव्रतका विधान देखकर व्रत करे। और इसके उपयोगी जो कुछ विशेष विधान हों, उनका पालन करे।

(५) **शिवरात्रि** (नानापुराणशास्त्राणि)–यह व्रत फाल्गुन कृष्ण[1] चतुर्दशीको किया जाता है। इसको प्रति-वर्ष करनेसे यह 'नित्य' और किसी कामनापूर्वक करनेसे 'काम्य'[2] होता है। प्रतिपदादि तिथियोंके अग्नि आदि अधिपति[3] होते हैं। जिस तिथिका जो स्वामी हो, उसका उस तिथिमें अर्चन करना अतिशय उत्तम होता है। चतुर्दशीके स्वामी शिव हैं (अथवा शिवकी तिथि चतुर्दशी है)। अतः उनकी

* फाल्गुनस्य च मासस्य कृष्णाष्टम्यां महीपते।
जाता दाशरथेः पत्नी तस्मिन्नहनि जानकी॥
उपोषितो रघुपतिः समुद्रस्य तटे तदा।
सर्वसस्यैश्चरुस्तस्मात्तत् कर्तव्यमेव हि॥
सापूपैस्तैश्च सम्पूज्या विप्रसम्बन्धिबान्धवाः।
रामपत्नीं च सम्पूज्य सीतां जनकनन्दिनीम्॥
(निर्णयसिन्धु)

१. चतुर्दश्यां तु कृष्णायां फाल्गुने शिवपूजनम्।
तामुपोष्य प्रयत्नेन विषयान् परिवर्जयेत्॥
(शिवरहस्य)

२. 'नित्यकाम्यरूपमस्य व्रतस्येति।' (मदनरत्न)

३. तिथीशा वह्निकौ गौरी गणेशोऽहिर्गुहो रविः।
शिवो दुर्गान्तको विश्वे हरिः कामः शिवः शशी॥
(मु० चि०)

रात्रिमें व्रत किया जानेसे इस व्रतका नाम 'शिवरात्रि' होना सार्थक हो जाता है ।······यद्यपि प्रत्येक मासकी कृष्णचतुर्दशी शिवरात्रि होती है और शिवभक्त प्रत्येक कृष्णचतुर्दशीका व्रत करते ही हैं, किन्तु फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीके निशीथ (अर्धरात्रि) में 'शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।'—ईशानसंहिताके इस वाक्यके अनुसार ज्योतिर्लिङ्गका प्रादुर्भाव हुआ था, इस कारण यह महाशिवरात्रि मानी जाती है । और 'शिवरात्रिव्रतं नाम सर्वपापप्रणाशनम् । आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥'—के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अछूत, स्त्री-पुरुष और बाल-युवा-वृद्ध—ये सब इस व्रतको कर सकते हैं और प्रायः करते ही हैं । इसके न करनेसे दोष होता है ।··· जिस प्रकार राम, कृष्ण, वामन और नृसिंहजयन्ती एवं प्रत्येक एकादशी उपोष्य हैं, उसी प्रकार यह भी उपोष्य है और इसके व्रतकालादिका निर्णय भी उसी प्रकार किया जाता है ।······सिद्धान्तरूपमें आजके सूर्योदयसे कलके सूर्योदयतक रहनेवाली चतुर्दशी 'शुद्धा' और अन्य 'विद्धा' मानी गयी हैं । उसमें भी प्रदोष (रात्रिका आरम्भ) और निशीथ (अर्धरात्रि) की चतुर्दशी ग्राह्य होती है ।······अर्धरात्रिकी पूजाके लिये स्कन्दपुराणमें यह लिखा है कि (फाल्गुन शुक्ल १४ को) 'निशि भ्रमन्ति भूतानि शक्तयः शूलभृद्यतः । अतस्तस्यां चतुर्दश्यां सत्यां तत्पूजनं भवेत् ॥' अर्थात् रात्रिके समय भूत, प्रेत, पिशाच, शक्तियाँ और स्वयं शिवजी भ्रमण करते हैं; अतः उस समय इनका पूजन करनेसे मनुष्यके पाप दूर हो जाते हैं ।······यदि यह (शिवरात्रि) त्रिस्पृशा (१३ १४-३०—इन तीनोंके स्पर्शकी) हो तो अधिक उत्तम होती है । इसमें भी सूर्य या भौमवारका योग (शिव-योग) और भी अच्छा है ।······'पारण' के लिये 'व्रतान्ते पारणम्', 'तिथ्यन्ते पारणम्' और 'तिथिभान्ते च पारणम्' आदि वाक्योंके अनुसार व्रतकी समाप्तिमें पारण किया जाता है । किन्तु शिवरात्रिके व्रतमें यह विशेषता है कि 'तिथीनामेव सर्वासामुपवासव्रतादिषु । तिथ्यन्ते पारणं कुर्याद्विना शिवचतुर्दशीम् ॥' (स्मृत्यन्तर) शिवरात्रिके व्रतका पारण चतुर्दशीमें ही करना चाहिये और यह पूर्वविद्धा (प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी) चतुर्दशी होनेसे ही हो सकता है ।······व्रतीको चाहिये कि फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको प्रातःकालकी सन्ध्या आदिसे निवृत्त होकर भालमें भस्मका त्रिपुण्ड्र तिलक और गलेमें रुद्राक्षकी माला धारण करके हाथमें जल लेकर 'शिवरात्रिव्रतं ह्येतत्करिष्येऽहं महाफलम् । निर्विघ्नमस्तु मे चात्र त्वत्प्रसादाज्जगत्पते ॥' यह मन्त्र पढ़कर जलको छोड़ दे । और दिनभर (शिवस्मरण करता हुआ) मौन रहे ।······ तत्पश्चात् सायङ्कालके समय फिर स्नान करके शिव-मन्दिरमें जाकर सुविधानुसार पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे और तिलक तथा रुद्राक्ष धारण करके 'ममाखिलपापक्षयपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये शिवपूजनं करिष्ये' यह सङ्कल्प करे । इसके बाद ऋतुकालके गन्ध-पुष्प, बिल्वपत्र, धतूरेके फूल, घृतमिश्रित गूगलकी धूप, दीप, नैवेद्य और नीराजनादि आवश्यक सामग्री समीप रखकर रात्रिके प्रथम प्रहरमें 'पहली', द्वितीयमें 'दूसरी', तृतीयमें 'तीसरी' और चतुर्थमें 'चौथी' पूजा करे । चारों पूजन पञ्चोपचार, षोडशोपचार या राजोपचार—जिस विधिसे बन सके समानरूपसे करे और साथमें रुद्रपाठादि भी करता रहे । इस प्रकार करनेसे पाठ, पूजा, जागरण और उपवास—सभी सम्पन्न हो सकते हैं । पूजाकी समाप्तिमें नीराजन, मन्त्रपुष्पाञ्जलि और अर्घ्य, परिक्रमा करे । और प्रत्येक पूजनमें 'मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शङ्कर । शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे ॥'—से अर्घ्य देकर 'संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शङ्कर । प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥' से प्रार्थना करे । स्कन्दपुराणका कथन है कि फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको शिवजीका पूजन, जागरण और उपवास करनेवाला मनुष्य माताका दूध कभी नहीं पी सकता अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता—मोक्ष हो जाता है ।······इस व्रतकी दो कथाएँ हैं । एकका सारांश यह है कि एक बार एक धनवान् मनुष्य कुसङ्गवश शिवरात्रिके दिन पूजन करती हुई किसी स्त्रीका आभूषण चुरा लेनेके अपराधमें मार डाला गया । किन्तु चोरीके लिये वह आठ प्रहर भूखा-प्यासा और जागता रहा था, इस कारण स्वतः व्रत हो जानेसे शिवजीने उसको सद्गति दी ।······दूसरीका सारांश यह है कि शिवरात्रिके दिन एक व्याधा दिनभर शिकारकी खोजमें रहा, तो भी उसे शिकार नहीं मिला । अन्तमें वह गुँथे हुए एक झाड़की ओटमें बैठ गया । उसके अंदर स्वयम्भू शिवजीकी

१. 'सूर्योदयमारभ्य पुनः सूर्योदयपर्यन्ता 'शुद्धा' तदन्या 'विद्धा', सा प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी ग्राह्या ।' (तिथिनिर्णय)

त्रयोदश्यस्तगे सूर्ये चतसृष्वेव नाडिषु ।
भूतविद्धा तु या तत्र शिवरात्रिव्रतं चरेत् ॥
(वायुपुराण)

२. त्रयोदशी कला ह्येका मध्ये चैव चतुर्दशी ।
अन्ते चैव सिनीवाली 'त्रिस्पृशा' शिवमर्चयेत् ॥ (माधव)

एक मूर्ति और एक बिल्ववृक्ष था। उसी अवसरपर एक हरिणीपर वधिककी दृष्टि पड़ी। उसने अपने सामने पड़नेवाले बिल्वपत्रोंको तोड़कर शिवजीपर गिरा दिया और धनुष लेकर बाण छोड़ने लगा। तब हरिणी उसे उपदेश देकर जीवित चली गयी। इसी प्रकार वह प्रत्येक प्रहरमें आयी और चली गयी। परिणाम यह हुआ कि उस अनायास किये हुए व्रतसे ही शिवजीने उस व्याधाको सद्गति दी और भवबाधासे मुक्त कर दिया।''''''बन सके तो शिवरात्रिका व्रत सदैव करना चाहिये और न बन सके तो १४ वर्षके बाद 'उद्यापन' कर देना चाहिये। उसके लिये चावल, मूँग और उड़द आदिसे 'लिङ्गतोभद्र' मण्डल बनाकर उसके बीचमें सुवर्णादिके सुपूजित दो कलश स्थापन करे और चारों कोणोंमें तीन-तीन कलश स्थापन करे। इसके बाद ताँबेके नाँदियेपर विराजे हुए सुवर्णमय शिवजी और चाँदीकी बनी हुई पार्वतीको बीचके दोनों कलशोंपर यथाविधि स्थापन करके पद्धतिके अनुसार साङ्गोपाङ्ग षोडशोपचार पूजन और हवनादि करे। अन्तमें गोदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराके स्वयं भोजन कर व्रतको समाप्त करे। पूजनके समय शङ्ख, घण्टा आदि बजानेके विषयमें (योगिनीतन्त्रमें) लिखा है कि 'शिवागारे झल्लकं च सूर्यागारे च शङ्खकम्। दुर्गागारे वंशवाद्यं मधुरीं च न वादयेत्॥' अर्थात् शिवजीके मन्दिरमें झालर, सूर्यके मन्दिरमें शङ्ख और दुर्गाके मन्दिरमें मीठी बंसरी नहीं बजानी चाहिये।''''''शिवरात्रिके व्रतमें कठिनाई तो इतनी है कि इसे वेदपाठी विद्वान् ही यथाविधि सम्पन्न कर सकते हैं और सरलता इतनी है कि पठित-अपठित, धनी-निर्धन—सभी अपनी-अपनी सुविधा या सामर्थ्यके अनुसार शतशः रुपये लगाकर भारी समारोहसे अथवा मेहनत-मजदूरीसे प्राप्त हुए दो पैसेके गाजर, बेर और मूली आदि सर्वसुलभ फल-फूल आदिसे पूजन कर सकते हैं और दयालु शिवजी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी—सभी पूजाओंसे प्रसन्न होते हैं।

(६) मास-शिवरात्रि (मदनरत्न)–यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंकी कृष्ण चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें त्रयोदशीविद्धा बहुत राततक रहनेवाली चतुर्दशी ली जाती है। कारण यह है कि इसमें भी महाशिवरात्रिके समान चारों पहरोंमें पूजा और जागरण किया जाता है। इसमें जया (त्रयोदशी) का योग अधिक फलदायी होता है। इस व्रतका प्रथमारम्भ दीपावली या मार्गशीर्षसे करना चाहिये।

(७) फाल्गुनी अमा (लिङ्गपुराण)–फाल्गुन कृष्ण अमावस्याको रुद्र, अग्नि और ब्राह्मणोंका पूजन करके उन्हें उड़द, दही और पूरी आदिका नैवेद्य अर्पण करे और स्वयं भी उन्हीं पदार्थोंका एक बार भोजन करे। यदि 'अमा सोमे शनौ भौमे गुरुवारे यदा भवेत्। तत्पर्व पुष्करं नाम सूर्यपर्वशताधिकम्॥' अर्थात् अमावास्याके दिन सोम, मंगल, गुरु या शनिवार हो तो यह सूर्यग्रहणसे भी अधिक फल देनेवाली होती है। फाल्गुनी अमाके दिन युगका प्रारम्भ होनेसे इस दिन पित्रादिकोंका अपिण्ड श्राद्ध करना चाहिये।

शुक्लपक्ष

(१) पयोव्रत (श्रीमद्भागवत)–यह व्रत फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त बारह दिनमें पूर्ण होता है। इसके लिये गुरु-शुक्रादिका उदय और उत्तम मुहूर्त देखकर फाल्गुनी अमावस्याको वनमें जाकर 'त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता। उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥'–इस मन्त्रसे जंगली शूकरकी खोदी हुई मिट्टीको शरीरमें लगाये और समीपके सरोवरमें जाकर शुद्ध स्नान करे। फिर गौके दूधकी खीर बनाकर दो विद्वान् ब्राह्मणोंको उसका भोजन कराये और स्वयं भी उसीका भोजन करे। दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदाको) भगवान्‌को गौके दूधसे स्नान कराकर हाथमें जल लेकर 'मम सकलगुणगणवरिष्ठमहत्त्वसम्पन्नायुष्मत्पुत्रप्राप्तिकामनया विष्णुप्रीतये पयोव्रतमहं करिष्ये।' यह संकल्प करे। तदनन्तर सुवर्णके बने हुए हृषीकेशभगवान्‌का 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस मन्त्रसे आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करके—१ महापुरुषाय, २ सूक्ष्माय, ३ द्विशीर्ष्णे, ४ शिवाय, ५ हिरण्यगर्भाय, ६ आदिदेवाय, ७ मरकतश्यामवपुषे, ८ त्रयीविद्यात्मने, ९ योगैश्वर्यशरीराय नमः-से भगवान्‌को प्रणाम और पुष्पाञ्जलि अर्पण करके परिमित दूध एक बार पीये। इस प्रकार प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त १२ दिनतक व्रत करके त्रयोदशीको विष्णुका यथाविधि पूजन करे। पञ्चामृतसे स्नान कराये। और १३ ब्राह्मणोंको गोदुग्धकी खीरका भोजन कराये। तदनन्तर सुपूजित मूर्ति भूमिके, सूर्यके, जलके या अग्निके अर्पण करके गुरुको दे और व्रत विसर्जन करके १३वें दिन

---

१. चतुर्दशाब्दं कर्तव्यं शिवरात्रिव्रतं शुभम्। (कालोत्तरखण्ड)

२. यतः प्रतिचतुर्दश्यां पूजा यत्नेन मे कृता। तथा जागरणं तत्र सन्निधौ मे कृतं तथा॥ (स्कन्द)

स्वयं भी स्वल्पमात्रामें खीरका भोजन करे। यह व्रत पुत्र-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अपुत्र स्त्री-पुरुषोंके करनेका है। देवमाता अदितिके उदरसे वामनभगवान् इसी व्रतके प्रभावसे प्रकट हुए थे।

(२) **मधुकतृतीया** (पुराणसमुच्चय)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल तृतीयाको किया जाता है। उस दिन प्रातः-स्नानादिके पश्चात्—१ भूमिकायै, २ देवभूषायै, ३ उमायै, ४ तपोवनरतायै और ५ गौर्यै नमः—इन पाँच मन्त्रोंके उच्चारणके साथ क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—इन पाँच उपचारोंसे उमा (पार्वती) का पूजन करे और 'दौर्भाग्यं मे शमयतु सुप्रसन्नं मनः सदा। अवैधव्यं कुले जन्म ददात्वपरजन्मनि ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे।

(३) **अविघ्नकरव्रत** (वाराहपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करे, तिलोंके पदार्थका भोग लगाये, तिलोंका हवन करे, ताम्रादिके पाँच पात्रोंमें तिल भरकर ब्राह्मणोंको दे तथा उनको तिलोंके पदार्थका भोजन कराये। और स्वयं भी तिलोंका भोजन और तिलोंसे ही पारण करे। इस प्रकार ४ महीनेतक प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीका व्रत करके पाँचवें महीने (आषाढ़) में पूर्वोक्त पूजित मूर्ति ब्राह्मणको दे तो सब विघ्न दूर होते हैं। प्राचीन कालमें अश्वमेधके समय महाराज सगरने, त्रिपुरासुरयुद्धमें शिवजीने और समुद्रमन्थनमें विघ्न न होनेके लिये स्वयं भगवान्ने यही व्रत किया था।

(४) **मनोरथचतुर्थी** (मत्स्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करके नक्तव्रत करे। इस प्रकार बारह महीनेकी प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीको करता रहकर सालभर बाद उक्त मूर्तिका दान करे तो सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।

(५) **अर्कपुटसप्तमी** (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् 'खखोल्काय नमः' इस मन्त्रसे सूर्यनारायणका पूजन करे। इसके पहले दिन (षष्ठीको) एकभुक्त, उस दिन (सप्तमीको) निराहार और अष्टमीको (तुलसीपत्रके समान) अर्कपत्र (आकके पत्तों) का प्राशन करे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(६) **त्रिवर्गप्रदा सप्तमी** (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको 'ॐखोल्काय नमः' इस मन्त्रसे पूजनादि करके उपवास करनेसे त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) की सिद्धि होती है।

(७) **कामदा सप्तमी** (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको स्त्री या पुरुष जो भी हो, 'सूर्याय नमः' इस मन्त्रसे तमोऽपह (सूर्य) का गन्धादिसे पूजन करके उठते-बैठते, सोते-जागते, सर्वत्र ही सूर्यका स्मरण करता रहे और फिर अष्टमीको स्नान करके सूर्यका यथोक्त विधिसे पूजन कर ब्राह्मणको दक्षिणा दे। सूर्यके उद्देश्यसे हवन कर भगवान्को नमस्कार करे। नैवेद्यमें कसार (घीमें सेके हुए शर्करासंयुक्त खुले हुए आटे) का भोग लगाये। सात घोड़ोंका पूजन करे और पूजन-सामग्री ब्राह्मणको दे। इस प्रकार प्रतिमास करनेसे अपुत्रको पुत्र, निर्धनको धन, रोगीको आरोग्य और निराश्रयको पदप्राप्ति आदि सब कुछ होते हैं।

(८) **कल्याणसप्तमी** (पुराणसमुच्चय)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको सूर्यका पूजन करके सुवर्णसहित जलसे पूर्ण कलश और घी, गुड़ आदिका दान दे और दूसरे दिन ब्राह्मणोंका पूजन करके खीरका भोजन कराये और स्वयं भी एक बार खीर खाये।

(९) **द्वादशसप्तमी** (हेमाद्रि)—यह व्रत माघ शुक्ल सूर्यसप्तमीसे आरम्भ किया जाता है। विधान यह है कि १ माघमें 'भानवे', २ फाल्गुनमें 'सूर्याय', ३ चैत्रमें 'वेदांशवे', ४ वैशाखमें 'धात्रे', ५ ज्येष्ठमें 'इन्द्राय', ६ आषाढ़में 'दिवाकराय', ७ श्रावणमें 'आतपिने', ८ भाद्रपदमें 'रवये', ९ आश्विनमें 'सवित्रे', १० कार्तिकमें 'सप्ताश्वाय', ११ मार्ग-शीर्षमें 'भानवे' और १२ पौषमें 'भास्कराय नमः'—इन नामोंसे सूर्यनारायणका पूजन करके उपवास करे और माघ कृष्ण सप्तमीको शुद्ध भूमिके प्राङ्गणमें लाल चन्दनका लेप करके उसपर एक, दो या चार हाथके विस्तारका सिन्दूरसे सूर्यमण्डल बनाये और उसपर लाल वस्त्रोंसे ढके हुए तिलपूर्ण और दक्षिणासहित बारह कलश स्थापन करके लाल गन्ध-पुष्पादिसे उनमें सूर्यका पूजन करे और 'आकृष्णेन०' से हवन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और उक्त कलशादि ब्राह्मणोंको दे। इस प्रकार एक वर्षपर्यन्त करनेसे सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(१०) **लक्ष्मी-सीताष्टमी** (वीरमित्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको एक चौकीपर लाल वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये और उसपर लक्ष्मी तथा जानकीकी सुवर्णमयी मूर्ति स्थापन करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन

करे। फिर प्रदोषके समय हजार (अथवा जितनी सामर्थ्य हो उतने) दीपक जलाये। और ब्राह्मणोंको भोजन कराके बान्धवोंसहित स्वयं भोजन करे और दूसरे दिन पूजन-सामग्री आदि दो ब्राह्मणोंको दे। यह अष्टमी प्रदोषव्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन हो तो परा लेनी चाहिये।

(११) **बुधाष्टमी** (निर्णयामृत)—जब-जब शुक्लाष्टमी-को (विशेषकर फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको) बुधवार हो तो उसका व्रत करनेसे यथोक्त फल होता है। किन्तु सन्ध्याकालमें और देवशयनके दिनोंमें इस व्रतके करनेसे दोष होता है।

(१२) **आनन्दनवमी** (भविष्यपुराण)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल पञ्चमीसे प्रारम्भ होता है। विधि यह है कि—फाल्गुन शुक्ल पञ्चमीको एकभुक्त, षष्ठीको नक्त, सप्तमीको अयाचित, अष्टमीको निराहार और नवमीको उपवास करे। और देवी (सरस्वती) का यथाविधि पूजन करके दूसरे दिन विसर्जन करे।

(१३) **शुक्लैकादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन शुक्ल एकादशी 'आमलकी' कहलाती है। इस दिन आँवलेके समीप बैठकर* भगवान्‌का पूजन करे। ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे और कथा सुने। रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण करे। इसकी कथाका सार यह है कि वैदेशिक नगरमें चैत्ररथ राजाके यहाँ एकादशीके व्रतका अत्यधिक प्रचार था। एक बार फाल्गुन शुक्ल एकादशीके दिन नगरके सम्पूर्ण नर-नारियों-को व्रतके महोत्सवमें मग्न देखकर कौतूहलवश एक व्याधा वहाँ आकर बैठ गया और भूखा-प्यासा दूसरे दिनतक वहीं बैठा रहा। इस प्रकार अकस्मात् ही व्रत और जागरण हो जानेसे दूसरे जन्ममें वह जयन्तीका राजा हुआ। विशेष विधि-विधान और निर्णय आदि चैत्रके व्रतपरिचयमें दिये गये हैं। वहाँ देखने चाहिये।

(१४) **पापनाशिनी द्वादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् हाथमें जल लेकर 'द्वादश्यां तु निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि। भोक्ष्यामि जामदग्न्येश शरणं मे भवाच्युत ॥'—इस मन्त्रके उच्चारणसे व्रत ग्रहण करे। फिर आँवलेके वृक्षके नीचे एक वेदी बनाकर उसपर कलश स्थापन करके उसीपर ताँबे या बाँसके पात्रमें लाजा (खील) भरकर रक्खे और उसमें सुवर्णनिर्मित परशुरामकी मूर्ति रखकर 'क्षत्रान्तकरणं घोरमुद्वहन् परशुं करे। जामदग्न्यः प्रकर्तव्यो रामो रोषारुणेक्षणः ॥' से ध्यान करे। और उनको पञ्चामृतसे स्नान कराकर षोडशोपचार-पूजन करे। इसके अतिरिक्त 'पादयोर्विशोकाय', 'जान्वोः सर्वरूपिणे', 'नासिकायां शोकनाशाय', 'ललाटे वामनाय', 'भ्रुवो रामाय' और 'शिरसि सर्वात्मने नमः' से अङ्गपूजा और नाममन्त्रसे आयुध-पूजा करे। और फिर 'नमस्ते देवदेवेश जामदग्न्य नमोऽस्तु ते। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मालत्या सहितो हरे ॥' से अर्घ्य देकर 'माता पितामहश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूले सदा पयः ॥' से आँवलेका अभिषेक करके १०८, २८ या ८ परिक्रमा करे और ब्राह्मण-भोजनादिके पीछे व्रतका विसर्जन करे।

(१५) **सुगतिद्वादशी** (पृथ्वीचन्द्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल द्वादशीको भगवान्‌का पूजन करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके १०८ जप करे और उपवास रक्खे।

(१६) **सुकृतद्वादशी** (पुराणसमुच्चय)—इस व्रतमें फाल्गुन शुक्ल दशमीको मध्याह्नभोजन, एकादशीको उपवास, द्वादशीको एकभुक्त और त्रयोदशीको अयाचित भोजन करे।

(१७) **नन्दत्रयोदशी** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशीको श्रीकृष्णके उद्देश्यसे व्रत करे और उत्सव करके भगवान्‌का पूजन करे।

(१८) **प्रदोषव्रत** (व्रतोत्सव)—यह सुपरिचित पूर्वा-गत व्रत प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। इसके उपयोगी विशेष विधि-विधान और वाक्यादि चैत्रके व्रतोंमें दिये गये हैं।

(१९) **महेश्वरव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीको सोपवास शिवपूजन करके गोदान करनेसे अग्निष्टोमके समान फल होता है। यदि प्रतिमास दोनों चतुर्दशियोंको एक वर्षतक व्रत किया जाय तो कुलका उद्धार और पुण्डरीकाक्षका आश्रय प्राप्त होता है।

(२०) **वृषदानव्रत** (वीरमित्रोदय)—इसी दिन (फाल्गुन शुक्ल १४ को) यथोक्तगुण*-सम्पन्न वृषका गन्ध-

* फाल्गुने मासि शुक्लायामेकादश्यां जनार्दनः।
वसत्यामलकीवृक्षे लक्ष्म्या सह जगत्पतिः ॥
तत्र सम्पूज्य देवेशं शक्त्या कुर्यात् प्रदक्षिणाम्।
उपोष्य विधिवत् कल्पं विष्णुलोके महीयते ॥
(नृसिंहपरिचर्या)

* लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥
(हरिहर)

पुष्पादिसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मणको दे तो सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं।

(२१) सर्वार्तिहर व्रत (सनत्कुमारसंहिता)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीको प्रातः स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर 'मम सकलपापतापप्रशमनकामनया ईश्वरप्रीतयं सर्वार्तिहरव्रतं करिष्ये ।'—यह सङ्कल्प करके काम, क्रोध, लोभ, मोह, अनाचार और मिथ्याभाषणादि दोषोंका त्याग कर सूर्योदयसे सूर्यास्तपर्यन्त करबद्ध और विनम्र होकर सूर्यके सम्मुख अविचल खड़ा रहे। सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके भगवान्का विधिवत् पूजन करके निराहार व्रत रक्खे और दूसरे दिन भोजन करे तो इस व्रतके करनेसे ज्वरसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग, फोड़ा-फुन्सी, प्लीहा (तिल्ली), सब प्रकारके शूल (दर्द), सब प्रकारके कोढ़, अरुचि, अजीर्ण, जलाघात, अग्निमान्द्य और अतिसारादि प्रायः सभी रोग और भव-बाधादि सभी दुःख दूर होकर देवदुर्लभ सुख सुलभ हो जाते हैं। सूर्यके सम्मुख खड़ा रहनेके लिये कुछ दिन पहलेसे दो-दो, चार-चार घंटेतक खड़े रहनेका क्रमोत्तर अभ्यास करके फिर उक्त चतुर्दशीको दिनभर खड़ा रहे। सूर्यबिम्बको विशेष न देखे। नेत्रोंको नीचा रक्खे। यथासाध्य पृथ्वीको या तत्रस्थ फल-पुष्प और दूर्वा आदिको देखता रहे तो कष्ट नहीं होता। सूर्याभिमुख खड़ा रहे, उस दिन दिनके ३ भाग बनाये। फिर प्रातःकालीन पहले सवा पहरमें पूर्वाभिमुख, मध्याह्नकालीन दूसरे सवा पहरमें उत्तराभिमुख और सायङ्कालीन तीसरे सवा पहरमें पश्चिमाभिमुख रहे।

(२२) फाल्गुनी पूर्णिमा (बृहद्यम)—यह पूर्वविद्धा ली जाती है। इस दिन सायंकालके समय भगवान्को

चरणासमुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः।
लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत् ॥
भूमौ कर्षति लाङ्गूलं प्रलम्बं स्थूलवालधिः।
पुरस्तादुन्नतो नीलो वृषभः स प्रशस्यते ॥
श्वेतोदरः कृष्णपृष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते।
स्निग्धवर्णेन रक्तेन क्षत्रियस्य प्रशस्यते ॥
काञ्चनाभेन वैश्यस्य कृष्णः शूद्रस्य शस्यते।

(अन्यत्र)

यस्य प्रागायते शृङ्गे भ्रूमुखाभिमुखे सदा।
सर्वेषामेव वर्णानां स च सर्वार्थसाधकः ॥

(स्मृत्यन्तर)

हिंडोलेमें विराजमान कर आन्दोलित करे (उनका उसीमें पूजन करके हिंडोलेको हिलाये) और नीराजन करके यथा-स्थान विराजमान कर एकभुक्त भोजन करे। इसी दिन चन्द्रमा प्रकट हुआ था, अतः चन्द्रोदय होनेपर उसका पूजन करे।

(२३) व्रतद्वयी पूर्णिमा (कृत्यतत्त्वार्णव)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको कश्यप ऋषिके औरस और अदितिके गर्भसे अर्यमा (आदित्य) और अनसूयाके गर्भसे निशाकर (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए थे। अतः सूर्योदयके समय आदित्यका और चन्द्रोदयके समय चन्द्रमाका (अथवा चन्द्रोदयके समय सूर्य और चन्द्र दोनोंका) विधिपूर्वक पूजन करके गायन, वादन और नृत्यसे जागरण करे। इस दिन उपवास न करे। नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे।

(२४) फाल्गुन्यां पूर्वाफाल्गुनी (विष्णु)—यदि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र हो तो बिस्तर, चादर, रजाई और तकिया आदिसे युक्त और सुपूजित शय्याको 'अशून्यं शयनं नित्यमनूनां श्रियमुन्नतिम्। सौभाग्यं देहि मे नित्यं शय्यादानेन केशव ॥'—इस मन्त्रसे विद्वान् ब्राह्मणको दे तो आशामें रहनेवाली सुर सुन्दरी स्त्री प्राप्त होती है। और यदि यह दान स्त्री करे तो उसको धन, विद्या और सम्मानयुक्त सुन्दर पति प्राप्त होता है।

(२५) अशोकव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको मृत्तिका मिले हुए जलसे स्नान करे, मस्तकमें भी मृत्तिकाका मर्दन करे और मृत्तिकाका भक्षण भी करे। तत्पश्चात् शुद्ध भूमिमें वेदी बनाकर उसपर 'भूधर' नामके देवताकी कल्पना करके 'भूधराय नमः', इस नाम-मन्त्रसे उसका पूजन करे और 'धरणीं च तथा देवीमशोकेति च कीर्तयेत्। यथा विशोकां धरणिं कृतवांस्त्वां जनार्दनः ॥' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे। इस व्रतके करनेसे सब शोक निर्मूल हो जाते हैं और दस पीढ़ियोंतक सब सुखी रहते हैं।

(२६) लक्ष्मीनारायणव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःकालसे सायंकालपर्यन्त सभी प्रकारके, धूर्त, मूर्ख, पापी, पाखण्डी, परद्रव्यादिका अपहरण करनेवाले व्यभिचारी, दुर्व्यसनी, मिथ्याभाषी, अभक्त और विद्वेषी मनुष्योंसे वार्तालापतकका संसर्ग त्याग कर मौन रहे और मनमें भगवान्का स्मरण करे। और उनका प्रीतिपूर्वक प्रातःकालीन पूजन करके व्रत रक्खे। फिर सायंकालमें चन्द्रोदय होनेपर उसके बिम्बमें ईश्वर (परमेश्वर), सूर्य और लक्ष्मी—

इनका चिन्तन करके पूजन करे और 'श्रीनिशा चन्द्ररूपस्त्वं वासुदेव जगत्पते । मनोऽभिलषितं देव पूरयस्व नमो नमः ॥' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे और रात्रिमें तैलवर्जित एक बार भोजन करे । इस प्रकार फाल्गुनी, चैत्री, वैशाखी और ज्येष्ठीका व्रत करके 'पञ्चगव्य' (गौके दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्रको वस्त्रमें छानकर प्रमाणका) पीये । आषाढ़ी, श्रावणी, भाद्री और आश्विनीका व्रत करके 'कुशोदक' (दिनभर जलमें भीगी हुई डाभका जल) पीये; और कार्त्तिकी, मार्गशीर्षी, पौषी और माघीका व्रत करके सूर्यकी किरणोंमें दिनभर तपे हुए जलको पीये । इस प्रकार वर्षपर्यन्त व्रत करके उसका विसर्जन करे तो सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं ।

(२७) **कूर्चव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाके पहले दिन उपवास करके पूर्णिमाको पञ्चगव्य पीये और प्रतिपदाको हविष्यान्नका भोजन करे तो उस महीनेके सब पाप दूर हो जाते हैं । यह व्रत इन्द्रकी प्रसन्नताका है, अतएव सदैव किया जाय तो और भी अच्छा है ।

(२८) **पृथक्-पृथक्तीर्थक्षेत्रीय व्रत** (गर्ग-संहिता)—स्वस्थानकी अपेक्षा तीर्थस्थानोंमें किये हुए व्रतादिका अधिक फल होता है । यथा फाल्गुनकी पूर्णिमाको 'नैमिषारण्य' में, चैत्रीको 'गण्डकी' में, वैशाखीको 'हरिद्वार' में, ज्येष्ठीको 'जगदीशपुरी' (पुरुषोत्तमक्षेत्र) में, आषाढ़ीको 'कनखल' में, श्रावणीको 'केदार' में, भाद्रीको 'बदरिकाश्रम' में, आश्विनीको 'कुब्जाद्रि' (कुमुदगिरि) में, कार्तिकीको 'पुष्कर' में, मार्गीको 'कान्यकुब्ज' में, पौषीको 'अयोध्या' में और माघीको 'प्रयाग' में अभीष्ट व्रत, दान और यजन करनेसे कई गुना अधिक फल होता है ।

(२९) **होलिकादहन** (नानापुराण-स्मृति)—यह फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको होता है । इसका मुख्य सम्बन्ध होलीके दहनसे है । जिस प्रकार श्रावणीको ऋषिपूजन, विजयादशमीको देवीपूजन और दीपावलीको लक्ष्मीपूजनके पीछे भोजन किया जाता है, उसी प्रकार होलिकाके व्रतवाले उसकी ज्वाला देखकर भोजन करते हैं । होलिकाके दहनमें पूर्वविद्धा प्रदोषव्यापिनी पूर्णिमा ली जाती है । यदि वह दो दिन प्रदोषव्यापिनी हो तो दूसरी लेनी चाहिये । यदि प्रदोषमें भद्रा हो तो उसके मुखकी घड़ी त्याग कर प्रदोषमें दहन करना चाहिये । भद्रामें होलिकादहन करनेसे जनसमूहका नाश होता है । प्रतिपदा, चतुर्दशी, भद्रा और दिन—इनमें होली जलाना सर्वथा त्याज्य है । कुयोगवश यदि जला दी जाय तो वहाँके राज्य, नगर और मनुष्य अद्भुत उत्पातोंसे एक ही वर्षमें हीन हो जाते हैं । यदि पहले दिन प्रदोषके समय भद्रा हो और दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले पूर्णिमा समाप्त होती हो तो भद्राके समाप्त होनेकी प्रतीक्षा करके सूर्योदय होनेसे पहले होलिकादहन करना चाहिये । और यदि पहले दिन प्रदोष न हो और हो तो भी रात्रिभर भद्रा रहे (सूर्योदय होनेसे पहले न उतरे) और दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले ही पूर्णिमा समाप्त होती हो तो ऐसे अवसरमें पहले दिन भद्रा हो तो भी उसके पुच्छमें होलिकादीपन कर देना चाहिये । यदि पहले दिन रात्रिभर भद्रा रहे और दूसरे दिन प्रदोषके समय पूर्णिमाका उत्तरार्ध मौजूद भी हो तो भी उस समय यदि चन्द्रग्रहण हो तो ऐसे अवसरमें पहले दिन भद्रा हो तब

१. प्रदोषव्यापिनी ग्राह्या पूर्णिमा फाल्गुनी सदा । (नारद)
निशागमे तु पूज्येत होलिका सर्वतोमुखैः । (दुर्वासा)
सायाह्ने होलिकां कुर्यात् पूर्वाह्णे क्रीडनं गवाम् ।
(निर्णयामृत)

२. दिनद्वये प्रदोषे चेत् पूर्णा दाहः परेऽहनि । (स्मृतिसार)

३. पूर्णिमायाः पूर्वे भागे चतुर्थप्रहरस्य पञ्चघटीमध्ये
भद्राया मुखं ज्ञेयम् । (ज्योतिर्निबन्ध)

४. तस्यां भद्रामुखं त्यक्त्वा पूज्या होला निशामुखे ।
(पृथ्वीचन्द्रोदय)

५. भद्रायां द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा ।
(स्मृत्यन्तर)

६. प्रतिपद्भूतभद्रासु यार्चिता होलिका दिवा ।
संवत्सरं तु तद्राष्ट्रं पुरं दहति साद्भुतम् ॥
(चन्द्रप्रकाश)

७. दिनार्धात् परतो या स्यात् फाल्गुनी पूर्णिमा यदि ।
रात्रौ भद्रावसाने तु होलिकां तत्र पूजयेत् ॥
(भविष्योत्तर)

८. पृथिव्यां यानि कार्याणि शुभानि ह्यशुभानि च ।
तानि सर्वाणि सिद्ध्यन्ति विष्टिपुच्छे न संशयः ॥
(लल्ल)

९. पूर्णिमायाः पूर्वे भागे तृतीयप्रहरस्य घटात्रयं भद्रायाः पुच्छं ज्ञेयम् । (पञ्चद्वयद्विकृताग्निति मुहूर्तचिन्तामणौ)

१०. दिवाभद्रा यदा रात्रौ रात्रिभद्रा यदा दिवा ।
सा भद्रा भद्रदा यस्माद् भद्रा कल्याणकारिणी ॥
(ज्योतिषतत्त्व)

भी सूर्यास्तके पीछे होली जला देनी चाहिये । यदि दूसरे दिन प्रदोषके समय पूर्णिमा हो और भद्रा उससे पहले उतरनेवाली हो, किन्तु चन्द्रग्रहण हो तो उसके शुद्ध होनेके पीछे स्नान-दानादि करके होलिकादहन करना चाहिये। और यदि फाल्गुन दो हों (मलमास हो) तो शुद्ध मास (दूसरे फाल्गुन) की पूर्णिमाको होलिकादीपन करना चाहिये। स्मरण रहे कि जिन स्थानोंमें माघ शुक्ल पूर्णिमाको 'होलिका-रोपण' का कृत्य किया जाता है, वह उसी दिन करना चाहिये । क्योंकि वह भी होलीका ही अंग है ।······होली क्या है ? क्यों जलायी जाती है ? और इसमें पूजन किसका होता है ? इसका आंशिक समाधान पूजाविधि और कथासारसे होता है । होलीका उत्सव रहस्यपूर्ण है । इसमें होली, ढुंढा, प्रह्लाद और स्मरशान्ति तो हैं ही; इनके सिवा इस दिन 'नवान्नेष्टि' यज्ञ भी सम्पन्न होता है । इसी अनुरोधसे 'धर्मध्वज' राजाओंके यहाँ माघी पूर्णिमाके प्रभातमें शूर, सामन्त और शिष्ट मनुष्य गाजे-बाजे और लवाजमेसहित नगरसे बाहर वनमें जाकर शाखासहित वृक्ष लाते हैं और उसको गन्धादिसे पूजकर नगर या गाँवसे बाहर पश्चिम दिशामें आरोपित करके खड़ा कर देते हैं । जनतामें यह 'होली', 'होलीदण्ड' (होलीका डाँडा) या 'प्रह्लाद' के नामसे प्रसिद्ध होता है, किन्तु इसे 'नवान्नेष्टि' का यज्ञस्तम्भ माना जाय तो निरर्थक नहीं होगा । अस्तु,······व्रतीको चाहिये कि वह फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको प्रातः स्नानादिके अनन्तर 'मम बालक-बालिकादिभिः सह सुखशान्तिप्राप्त्यर्थं होलिकाव्रतं करिष्ये ।'[1] यह संकल्प करके काष्ठखण्डके खड्ग बनवाकर बच्चोंको दे और उनको उत्साही सैनिक बनावे । वे निःशङ्क होकर खेल-कूद करें और परस्पर हँसें । इसके अतिरिक्त होलिकाके दहन स्थानका जलके प्रोक्षणसे शुद्ध करके उसमें सूखा काष्ठ, सूखे उपले और सूखे काँटे आदि भलीभाँति स्थापन करें । तत्पश्चात् सायङ्कालके समय हर्षोत्फुल्ल मन होकर सम्पूर्ण पुरवासियों एवं गाजे-बाजे या लवाजमेके साथ होलीके समीप जाकर शुभासनपर पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठें । और 'मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य (पुरग्रामस्थजनपदसहितस्य वा) सर्वापच्छान्तिप्रशमनपूर्वकसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं ढुण्ढाप्रीतिकामनया होलिकापूजनं करिष्ये ।'[2] यह संकल्प करके पूर्णिमा प्राप्त होनेपर अछूतों या सूतिकाके घरसे बालकोंद्वारा अग्नि मँगवाकर होलीको दीप्तिमान् करें और चैतन्य होनेपर गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करके 'असृक्पाभयसंत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः । अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते भूतिप्रदा भव ॥' —इस मन्त्रसे तीन परिक्रमा या प्रार्थना करके अर्घ्य दें और लोकप्रसिद्ध होलीदंड (प्रह्लाद) या शास्त्रीय 'यज्ञस्तम्भ' को शीतल जलसे अभिषिक्त करके उसे एकान्तमें रख दें । तत्पश्चात् घरसे लाये हुए खेड़ा, खाँड़ा और वरकूलिया आदिको होलीमें डालकर जौ-गेहूँकी बाल और चनेके होलोंको होलीकी ज्वालासे सेंके और यज्ञसिद्ध नवान्न तथा होलीकी अग्नि और यत्किञ्चित् भस्म लेकर घर आयें । वहाँ आकर वासस्थानके प्राङ्गणमें गोबरसे चौका लगाकर अन्नादिका स्थापन करें । उस अवसरपर काष्ठके खड्गोंको स्पर्श करके बालकगण हास्यसहित शब्द करें । उनका रात्रि आनेपर संरक्षण किया जाय और गुड़के बने हुए पक्वान्न उनको दिये जायें । इस प्रकार करनेसे ढुंढाके दोष शान्त हो जाते हैं और होलीके उत्सवसे व्यापक सुख शान्ति होती है ।······कथाका सार यह है कि······(१) उसी युगमें हिरण्यकशिपुकी बहिन, जो स्वयं आगसे नहीं जलती थी, अपने भाईके कहनेसे प्रह्लादको जलानेके लिये उसको गोदमें लेकर आगमें बैठ गयी; किन्तु भगवान्‌की कृपासे ऐसा हुआ कि होली जल गयी किन्तु प्रह्लादको आँच भी नहीं लगी । उसके बदले हिरण्यकशिपु अवश्य मारा गया ।······ और (२) इसी अवसरपर नवीन धान्य (जौ, गेहूँ और चने) की खेतियाँ पककर तैयार हो गयीं और मानव समाजमें उनके उपयोगमें लेनेका प्रयोजन भी उपस्थित हो आया । किन्तु धर्मप्राण हिंदू यज्ञेश्वरको अर्पण किये बिना नवीनान्नको उपयोगमें नहीं ले सके, अतः फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको समिधास्वरूप उपले आदिका सञ्चय करके उसमें यज्ञकी विधिसे अग्निका स्थापन, प्रतिष्ठा, प्रज्वालन और पूजन करके 'रक्षोघ्न०' सूक्तसे यव-गोधूमादिके चरुस्वरूप बालोंकी आहुति दी और हुतशेष धान्यको घर लाकर प्रतिष्ठित किया । उसीसे प्राणोंका पोषण होकर प्रायः सभी प्राणी हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ हुए और होलीके रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञको सम्पन्न किया ।

१. अरुणशुक्ला पञ्चम्यां कर्माणि कुर्वीत भूतमत्र विसर्जयेत् ।' (स्मृतिकौस्तुभ)

२. सर्वदुष्टापशान्त्यर्थं सम्पूज्या होलिकाऽत्र तु । (धर्मसार)

३. चाण्डालसूतिकागेहाच्छिशुहारितवह्निना ।

प्राप्तायां पूर्णिमायां तु कुर्यात्तत्काष्ठदीपनम् ॥

(स्मृतिकौस्तुभ)

ये हँसते हुए फूल !

प्रातःकाल उषाकी अरुणिमामें तुमने खिले हुए फूलकी मुसकान देखी है—और उस मुसकानमें जब उसके अधरोंपर ओसकी नन्हीं-नन्हीं बूँदोंके साथ प्रातः-समीरण खेलना चाहता है उस समयकी सुषमा तुमने खुली आँखों देखी है और यदि देखी है तो क्या तुम्हारे हृदयमें 'कोई' मीठी-मीठी गुदगुदी नहीं उठाता ? सौन्दर्य तो हमारे चारों ओर उमड़-सा रहा है, हमारी आँखें ही इतनी अभागिनी हैं कि मुँदी ही रहती हैं—देखती हुई भी देख नहीं पातीं।

संसारमें इतनी मारकाट मची है, फिर भी ये फूल खिलते ही हैं और खिलते ही जाते हैं—नित्य नये सौन्दर्यके साथ, नित्य नये आकर्षणभरे, नित्य नयी मुसकान लिये। और इन फूलोंकी रहस्यमयी भाषाका राज—कोई क्या जाने, कोई क्या समझे ? किसे अवकाश है इनकी ओर देखनेकी, इनकी प्यारभरी बातें सुननेकी ? और हवाके एक हलके झोंकेसे जब इनका एक-एक दल सिहर उठता है उस समय किस मनुहारके साथ ये आनेवालोंका आवाहन करते हैं, किस प्रेमसे पास बुलाते हैं ! उस समयकी इनकी भेदभरी भाषा ! मीठी, प्यारी, अस्फुट, रससमय—ठीक जैसे दो प्रेमियोंकी प्यारभरी, मनुहारभरी बातचीत—ऐसी कि कोई निगोड़ा तीसरा न सुन ले। हाँ, तो, इनकी मीठी बोल—'ओ भोले मानव ! तू कहाँ भटक रहा है। आ, मेरे समीप आ। दुनियाके झगड़े-झमेलेमें क्या धरा है जो इतना ताना-बाना बुन रहे हो। देखो, तनिक मेरी ओर देखो और मेरे साथ इस प्रभातकी मधुमयी अरुणिमामें अपने हृदयको नहलाओ। तुम चाहे जितना और चाहे जबतक—मुझसे दो मीठी-मीठी बातें तो कर लो और तुम्हारे दिलपर जो इतना सारा गर्दगुब्बार जम गया है, वह, सच मानो, मेरी ओर देखते ही झड़ जायगा। तुम्हारे दिलमें जो धूआँ उठ रहा है और तुम्हारा आकाश मेघाच्छन्न है उसमें मैं तुम्हें आशा और प्रेमका सन्देश लेकर आया हूँ।

'पृथ्वीपर हम खिलते हैं और आकाशमें सितारे। ये सितारे भी आकाशमें खिले हुए जूही और चमेलीके, जवा और हरसिङ्गारके फूल हैं। तुम भी, सच मानो, ओ भोले मानव ! तुम भी उन्हीं अमरोंके देशके प्राणी हो—जहाँ फूल खिले ही रहते हैं, कभी मुरझाते नहीं; जहाँ प्रकाशको अन्धकार आच्छन्न नहीं करता; जहाँ प्रेममें वितृष्णा नहीं है, जहाँ रूपमें उतार नहीं है। उसी अमरोंके लोकसे हम तुम्हें आशाका सन्देश लाते हैं। तुमपर चिन्ताके ये बादल जो घुमड़ आये हैं, हवा इन्हें तुरत उड़ा ले जायगी। रातकी अँधियारीपर दिनका प्रकाश पड़ते ही सब कुछ प्रकाशमय हो जायगा। अशुभपर शुभकी विजय होगी, असत्यपर सत्यकी ध्वजा फहरायेगी, असुन्दरकी मरुभूमिमें सुन्दरका सागर लहरायेगा। रह जायगा सत्य, शिव और सुन्दर।

'विपत्तिके ये बादल, दुःखोंकी यह निविड़ अमावस्या जब टल जायगी और उनकी याद भी भूल जायगी तब भी हम आजकी तरह अपनी मीठी-मीठी मुसकानों एवं आनन्द-नृत्यसे तुम्हारा दिल हरा बनाये रखेंगे और तुम्हारे दिलको गुदगुदाते रहेंगे। हम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के प्रतीक हैं। जहां रहते हैं इसीकी खुशबू बिखेरते रहते हैं। दुनिया बदल जाय, सब-का-सब बदल जाय, हम बदलनेके नहीं। हम सदा-सर्वदा ज्यों-के-त्यों हैं—उसी मीठी मुसकानका नाज उठाये हम सदा स्नेहभरी दृष्टिसे संसारको देखते रहते हैं और हँसी बिखेरते रहते हैं। तुम हमें भले ही भूल जाओ, भुला बैठो, पर हम तो सदा तुम्हारे पथमें पलकें बिछाये, तुम्हारी अगवानीके लिये उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते हैं; और तुम्हें अन्धकार और बुराइयोंमें भटकते हुए देखकर भी हम निराश नहीं होते, क्योंकि जानते हैं कि किसी-न-किसी दिन तुम हमारे पथमें लौटोगे और हमारे मूक सौन्दर्य तथा माधुर्यका रसपान करोगे।

'ओ मानव ! तू अन्धकार और दुःखोंकी गलियोंमें क्यों भटक रहा है ? मेरी ओर देखो न। हम तो

अपने-आपको ही तुम्हारे सुख-सुहागके लिये दे देना चाहते हैं। देना-ही-देना हमने सीखा है। लुटाना-ही-लुटाना हम जानते हैं! सौन्दर्य बिखेरा करते हैं हम, सुगन्ध लुटाया करते हैं हम। और क्या बदलेमें कोई आशा रखकर? ना ना, ऐसा नहीं—हम बदलेमें कुछ भी नहीं चाहते। कुछ भी नहीं। आदर, स्नेह आदि भी नहीं। हम तो अपने हृदयका मधु और मदिर गन्ध लुटाना चाहते हैं।

'हम जितना ही लुटाते हैं 'दाता' उतना ही हमारा आँचल भर देता है। दाता तो एक ही है—क्या हमारा, क्या तुम्हारा। यह सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं कि हमारा हृदय दान करते-करते कभी रिक्त हो जायगा। बदलेमें स्नेहकी आशा भी व्यर्थ ही है। दिये जाओ, दिये जाओ और फिर भी दिये जाओ—आता तो है सब कुछ मालिकके अटूट भण्डारसे। हमारा काम तो केवल लुटाना-ही-लुटाना है।

'और, एक बात और कह दूँ—है तो रहस्यभरी, पर आज सुना ही दूँ। यह जो हमारे हृदयमें तैरता और नाचता हुआ सौन्दर्य, पवित्रता, माधुर्य, पूर्णता तुम देख रहे हो यह सब प्रभुके हृदयका प्रतिबिम्ब-मात्र ही तो है। कोई चिन्ता नहीं, कलके लिये कोई परेशानी नहीं—सर्वथा निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और अलमस्त। यह सब इसलिये ही न कि तुम भी हमारी इस अल-मस्तीमें मस्त रहना, निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व रहना सीख सको।'

यह है फूलकी प्यारी-प्यारी बात, उसीकी मूक भाषामें। इन फूलोंसे यारी जोड़ी जाय तो वे क्या-क्या नहीं देते, क्या-क्या नहीं कहते। प्यार करते हैं, मनुहार करते हैं—अपने दिलकी कहते हैं, हमारे दिलकी सुनते हैं। और इन हँसते हुए फूलोंको नेक आँखें डुबाकर देखो तो सही। ये अपने शृङ्गारके लिये कुछ भी श्रम नहीं उठाते—इनकी शोभा और सौन्दर्यको कोई भी राजराजेश्वर पा सका है? इन फूलोंका बार-बार यही कहना है कि कलकी परवा न करो, कल अपनी परवा आप कर लेगा—आज अभी मस्त रहना सीखो।

बाल-प्रश्नोत्तरी

(लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी गोयल बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकूकी लत

पिता—केशव! यहाँ जली हुई बीड़ी कौन छोड़ गया है?

केशव—मजदूरिनका छोकरा रमुआ पी रहा था। वही डाल गया होगा। कल आयगा तो उसकी खबर लूँगा।

पिता—नहीं-नहीं, खबर लेनेकी जरूरत नहीं। जैसे तुम बच्चे हो उसी तरह वह भी एक बच्चा है। और फिर जूठी बीड़ी छोड़ जाना कोई ऐसा भारी अपराध भी नहीं। दुःख तो इस बातका है कि अभी इस नन्हीं-सी अवस्थासे ही उसके मुँह यह जहर लग गया।

केशव—क्या बीड़ी जहर है?

पिता—हाँ, जहर तो है ही। बीड़ी, सिगरेट, सिगार, चिरुट और हुक्का सभी जहरीली चीजें हैं। ये सब तम्बाकूके पत्तोंसे बनती हैं और तम्बाकूके पत्तेमें एक प्रकारका जहर होता है, जिसे अंग्रेजीमें 'निकोटिन' (Nicotine) कहते हैं।

केशव—यह कैसा जहर है?

पिता—यह ऐसा जहर है कि केवल एक बूँदसे ही बड़ी-बड़ी बिल्लियोंको एक मिनटमें मार डालता है और खरगोश इससे तीन मिनटमें मर जाते हैं। मनुष्यके शरीरपर भी इसका बड़ा घातक परिणाम होता है। कई आदमी तो तम्बाकूके पत्तोंका काढ़ा शरीरभरमें लेप करनेसे ही केवल तीन घंटेके अंदर मर गये हैं और कितने ही सैनिक युद्धकार्यसे बचनेके लिये अपने पेट या बगलमें तम्बाकूका पत्ता बाँधते और जान-बूझकर

बीमार होते देखे गये हैं। इसीसे समझ सकते हो कि तम्बाकू कैसी जहरीली चीज है।

केशव—लेकिन पिताजी! तम्बाकू तो बहुत-से लोग पीते या खाते हैं। परन्तु वे तो बीमार नहीं पड़ते और न मरते ही हैं।

पिता—बात यह है कि हर एक जहरकी क्रिया उसकी मात्रापर और मनुष्यके अभ्यासपर निर्भर रहती है। यदि अधिक मात्रामें एकबारगी सेवन किया जाय तो अवश्य इससे तत्काल मृत्यु हो जायगी। किन्तु थोड़ी-थोड़ी मात्रामें अभ्यास बढ़ाकर नित्य सेवन किया जाय तो मृत्यु तो न होगी, परन्तु कुछ ऐसी स्थायी खराबियाँ शरीर और मस्तिष्कके अंदर पैदा हो जायँगी, जिनसे जीवनभर पीछा नहीं छूट सकता। उदाहरणके तौरपर अफीमको ही ले सकते हो। सब जानते हैं कि अफीम एक प्रकारका विष है। और बहुत-से लोग इसे अधिक मात्रामें खाकर प्राण गँवा चुके हैं; किन्तु अफीमची इसे अपनी बँधी हुई मात्रामें रोज ही खाया करता है और फिर भी नहीं मरता। हाँ, उसका शरीर अवश्य सूखकर काँटा बन जाता है और उसका मस्तिष्क किसी दूसरी दुनियामें चक्कर लगाया करता है, जिसे इस दुनियाके लोग 'पीनक' कहते हैं। ठीक वही नियम तम्बाकूके लिये भी लागू है। तम्बाकू भी एक प्रकारका विष है और इसे भी यदि अत्यधिक मात्रामें एकबारगी सेवन किया जाय, तो चक्कर, बेहोशी और अन्तमें मृत्युतक उपस्थित हो सकती है, किन्तु थोड़ी-थोड़ी मात्रामें नित्य सेवन करने और अभ्यास बढ़ानेसे मृत्यु तो नहीं होती, पर शरीर और मनका स्वास्थ्य सदाके लिये बिगड़ जाता है।

केशव—तो क्या रोज तम्बाकू पीनेसे शरीरमें रोग पैदा हो जाते हैं?

पिता—हाँ अवश्य। कुछ रोग तो स्वयं इससे पैदा होते हैं और कुछ दूसरे रोगोंके लिये शरीरमें रास्ता खुल जाता है।

केशव—कैसे?

पिता—देखो, सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चिरुट या हुक्का—चाहे जो पिया जाय, सबमें केवल जलती हुई तम्बाकूका धूआँ ही पीना पड़ता है; और यह जहरीला धूआँ बारम्बार अपने श्वासके साथ खींच-खींचकर फेफड़ोंमें भरना होता है। अस्तु, सबसे पहले तो जहाँ-जहाँ यह धूआँ अंदरकी दीवारोंसे छू जाता है वहाँ-वहाँ प्रदाह अर्थात् जलन उत्पन्न कर देता है, जिससे गलेमें पीड़ा, स्वरमें भारीपन, सूखी खाँसी, हँफनी, दमा इत्यादि रोग पैदा हो जाते हैं। साथ ही ये प्रदाहयुक्त स्थान उन तमाम छूतहे रोगोंके लिये भी रास्ता खोल देते हैं, जिनके कीटाणु हवामें नित्य उड़-उड़कर श्वास-द्वारा अंदर पहुँचते रहते हैं और उन प्रदाहयुक्त स्थानोंमें अपना अड्डा आसानीसे जमा सकते हैं। इस प्रकारके छूतहे रोगोंमें क्षयका रोग सबसे भयङ्कर है।

केशव—मैं समझ गया, तम्बाकू बड़ी बुरी चीज है।

पिता—हाँ, परन्तु अभी तुमने इसकी केवल थोड़ी-ही-सी बुराइयाँ सुनी हैं। इसका सबसे बुरा प्रभाव तो मनुष्यके स्नायु-संस्थानपर पड़ता है।

केशव—स्नायु-संस्थान क्या चीज है?

पिता—यह हमारे शरीरमें एक प्रकारकी अद्भुत तारबर्की है। तुम जानते हो कि जब कोई जरूरी सन्देशा दूर देशको भेजना होता है तो उसे चिट्ठीसे न भेजकर तारसे भेजते हैं। इसके लिये बहुत-से बिजलीके तार हमारे तारघरसे दूर-दूरके शहरोंतक चारों ओर लगे हुए हैं, जिनके द्वारा हर जगहके समाचार हमारे तारघरमें नित्य आया-जाया करते हैं। ठीक इसी प्रकारके, किन्तु इनसे बहुत सूक्ष्म और ऊँचे दर्जेके, सजीव तार हमारे सम्पूर्ण शरीरमें बिछे हुए हैं। इनका केन्द्र अर्थात् मुख्य तारघर हमारा मस्तिष्क है, जो हमारे मनका निवासस्थान भी है। यहींसे शरीरके प्रत्येक स्थानका सन्देशा इन्हीं सजीव तारोंद्वारा बराबर आया-जाया करता है और यहींसे शरीरके सम्पूर्ण कार्यकी व्यवस्था भी की जाती है। उदाहरणके तौरपर यदि तुम्हारा हाथ किसी जलते हुए कोयलेसे छू जाय तो तुम झट हाथको वहाँसे हटा लेते हो। यह क्यों? बात यह है

कि जो तार या स्नायु मस्तिष्कसे आकर तुम्हारे हाथकी खालतक फैले हुए हैं, उन्होंने ज्यों ही उस जलते हुए कोयलेका स्पर्श किया, त्यों ही उसकी खबर मस्तिष्क-तक पहुँचा दी। मस्तिष्कने भी तत्काल उसी हाथकी मांसपेशियोंतक जानेवाले तारोंसे मांसपेशियोंको आज्ञा भेजी कि हाथको वहाँसे हटा लो। निदान मांसपेशियां सञ्चालित हुईं और वह हाथ वहाँसे हट गया। यह सब कहनेमें तो बहुत समय लगता है, किन्तु मस्तिष्क-तक खबर पहुँचने और उसके आज्ञानुसार काम होनेमे क्षणभरका भी समय नहीं लगता। इसी प्रकार हम आँखोंसे जो कुछ देखते हैं, कानोंसे जो कुछ सुनते हैं, नाकसे जो कुछ सूँघते हैं, जीभसे जो कुछ स्वाद लेते हैं और शरीरसे जो कुछ छूते हैं—उन सबका ज्ञान इन्हीं तारों (अर्थात् स्नायुओं) द्वारा हमारे मस्तिष्क-तक पहुँचता रहता है। अस्तु, शरीरके एक छोरसे दूसरे छोरतक फैले हुए इन्हीं तमाम तारोंके समूहको 'स्नायु-संस्थान'के नामसे पुकारते हैं और तारोंको 'स्नायु' कहते हैं। हमारी सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति और कार्यशक्ति इन्हीं स्नायुओंपर अवलम्बित है। यदि किसी अङ्गके ये स्नायु काट दिये जायं तो वह अङ्ग हमारे लिये मुर्दा-सा हो जायगा। जैसे यदि हाथकी ओर जानेवाले सम्पूर्ण स्नायु काट दिये जायं, तो फिर हाथ चाहे जलकर राख ही क्यों न हो जाय, किन्तु हमें न तो उससे पीड़ा होगी और न हम हाथको आगसे हटा ही सकेंगे। यही हाल हमारे सब अङ्गोंका है, चाहे वे बाहरी अङ्ग हों जैसे हाथ, पैर, आँख, कान, नाक, मुँह इत्यादि और चाहे वे भीतरी अङ्ग हों जैसे हृदय, यकृत, पेट, प्लीहा, गुर्दे इत्यादि। सबकी क्रिया और ज्ञानशक्ति अपने-अपने स्नायुओंपर ही अवलम्बित है। मस्तिष्कको इन सब स्नायुसमूहोंका मूलस्थान अर्थात् जड़ समझना चाहिये। यहाँ जो गूदा है वह स्नायुओं-का भण्डार है और उसीमें हमारे सोचने-विचारनेकी शक्ति, समझनेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, इच्छा-शक्ति, कल्पना-शक्ति, आविष्कार-बुद्धि और सभी प्रकारकी बुद्धि तथा निश्चयोंका निवासस्थान है। थोड़ेमें यह कह सकते हो कि हमारे स्नायुओंमें ही हमारा जीवन है और उनके बिना यह शरीर बस, हाड़-मांसका एक ढेरमात्र रह जायगा। परन्तु ये स्नायु होते हैं बड़े सुकुमार और सूक्ष्मग्राही। इनपर हमारे छोटे-से-छोटे कार्यों और आदतोंका भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। अतएव स्वस्थ और सुखी जीवन बितानेके लिये इनकी बहुत सम्हाल करनेकी जरूरत है।

केशव—तम्बाकूका इन स्नायुओंपर क्या प्रभाव पड़ता है ?

पिता—तम्बाकू इन स्नायुओंको कमजोर और कुण्ठित बना देती है। फेफड़ोंमें पहुँचकर तम्बाकूका जहरीला धुआं पहले सीधे हमारे खूनमें मिलता है, जिससे हमारा खून शुद्ध और साफ होनेके बजाय तम्बाकूके जहरसे भर उठता है। बादमें यह जहर खूनके साथ-साथ सम्पूर्ण शरीरमें पहुँचता है, जिससे हर जगह-के स्नायु-संस्थान प्रभावित होते हैं और हर एक अङ्गकी क्रिया एवं शक्तिपर आघात पहुँचता है। उदाहरणार्थ फेफड़ोंसे होकर जब यह जहरीला खून हृदयमें पहुँचता है तो वहाँके स्नायुओंको खराब करके बहुधा हृदयकी दुर्बलता और धड़कन आदि रोगोंको जन्म देता है। अधिक तम्बाकू पीनेवालोंकी यदि नाड़ी देखी जाय तो वह अनियमितरूपसे चलती हुई जान पड़ेगी, जो इस बातकी प्रत्यक्ष सूचना है कि हृदयका काम ठीक ढंगपर नहीं हो रहा है। इसके बाद वह जहरीला खून शरीरके अन्य भागोंमें जाता है और वहाँ भी तरह-तरहकी खराबियाँ पैदा करता है। पेटमें जाकर पेटके स्नायुओं-को बिगाड़ता है जिससे अजीर्ण और अग्निमान्द्य रोग घेर लेते हैं; मस्तकमें पहुँचकर मस्तिष्कको कुण्ठित करता है, जिससे चित्तकी एकाग्रता चली जाती है, विचारशक्ति

घट जाती है, स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है, सिर चक्कर करता है, और नींद कम पड़ती है। कभी-कभी अत्यधिक सिगरेट या सिगार पीनेवालोंको एक प्रकारका नेत्ररोग भी हो जाता है जिसे डाक्टरी भाषामें 'तम्बाकू-एम्ब्लीओपिया' (Tobacco amplyopia) कहते हैं। यह रोग तम्बाकू पीनेवालोंकी आँखोंके मूल-स्नायु (optic nerve) में प्रदाह होनेके कारण पैदा होता है, और आँखके डाक्टरोंको इसके रोगी बहुधा मिला करते हैं, क्योंकि तम्बाकूका प्रचार इन दिनों बेहद बढ़ा हुआ है। इसी प्रकार नाक, कान और जीभके स्नायु-संस्थान भी तम्बाकू पीनेसे कुण्ठित और खराब हो जाते हैं, जिससे इन स्थानोंकी ज्ञानशक्ति धीमी पड़ जाती है अर्थात् सिगरेट, बीड़ी या तम्बाकू पीनेवालोंको जीभसे बहुत हल्का स्वाद, नाकसे बहुत हल्की गन्ध और कानसे बहुत हल्के शब्द नहीं समझ पड़ते। हाथ और पैर भी इनके उत्तम रीतिसे काम नहीं करते। इसीलिये सुनते हैं कि अमरीकाके दफ्तरोंमें क्लर्कोंकी भर्तीके समय प्रत्येक व्यक्तिसे पूछा जाता है कि वह तम्बाकू तो नहीं पीता, क्योंकि तम्बाकू पीनेवालोंके लेख सुन्दर नहीं होते। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दौड़की प्रतियोगितामें भाग लेनेवाले भी प्रायः तम्बाकू पीनेकी आदत महीनों पहलेसे छोड़ रखते हैं। कहाँतक कहें, थोड़ेमें यह समझ लो कि शरीरका कोई भी ऐसा भाग नहीं है, जो तम्बाकूके जहरीले आघातसे अछूता बचे।

केशव—तो फिर लोग तम्बाकू पीते क्यों हैं?

पिता—यह तो मेरे लिये भी अबतक एक आश्चर्य ही बना रहा। मैं भी अबतक यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाया कि तम्बाकू-जैसी एक कड़ुवी, दुर्गन्धयुक्त और जहरीली वस्तुको लोग क्यों इस प्रकार अपने मुँह लगानेके लिये दीवाने बने रहते हैं और क्यों इससे मुँहको गंदा करके स्वास्थ्यको नष्ट करनेके हेतु अपनी गाढ़ी कमाईका पैसा इस प्रकार शौकसे फेंक दिया करते हैं। कुछ भोले-भाले आदमियोंको यह कहते अवश्य सुना है कि तम्बाकू पीनेसे या खानेसे बादी पच जाती है, दाँतकी जड़ें मजबूत होती हैं और दस्त साफ होता है। किन्तु यह कोरी दन्तकथा ही जान पड़ती है। कोई वैज्ञानिक प्रमाण इसके लिये नहीं है। फिर भी यदि मान लें कि यह बात सच है तो क्या इस रत्तीभर गुणके लिये उसके पहाड़-जैसे दोषोंको भूल जाना चाहिये? क्या बादी पचने और दस्त साफ होनेके लिये कोई और अच्छा उपाय नहीं है? वास्तवमें यह कोई कारण नहीं, बल्कि तम्बाकू पीनेका एक बहानामात्र है। जब हम अपनी बुरी आदतोंको छोड़ना नहीं चाहते तब उनके लिये कोई-न-कोई इसी प्रकारके बहाने बना दिया करते हैं। जहाँतक मैं सोचता हूँ मुझे तो यही मालूम होता है कि तम्बाकू पीनेका कोई उचित कारण है ही नहीं और न उसका कोई खास उद्देश्य है। आरम्भ इसका केवल दूसरोंकी देखा-देखी और नकल करके किया जाता है, क्योंकि नकल करना मनुष्यका बन्दरोंकी तरह एक पैदाइशी स्वभाव है, और जब एक बार इसकी लत पड़ जाती है तो फिर जल्दी छूटती नहीं, बल्कि दिनोंदिन और तेजी पकड़ती जाती है। तुम्हें मालूम है कि बड़े-बड़े अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त अमीरोंके यहाँ दो-दो सौ तीन-तीन सौ रुपये महीनेतकके सिगार या चिरुट फुँक जाया करती हैं और गरीबोंके यहाँ भी चाहे खानेको न जुटे, किन्तु रुपये-आठ आने महीनेकी तम्बाकू-सिगरेट जरूर खर्च हो जाती है। यही कारण है कि तम्बाकूके व्यापारसे बहुत-सी बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी हो गयी हैं और कितनी ही विलायती कंपनियाँ हमारे हाथ यह जहर बेचकर करोड़ोंकी रकम हम गरीबोंकी जेबसे हर साल निकाल ले जाया करती हैं। न जाने कितनी भूमि यहाँ तम्बाकूकी खेतीमें फँसी रहती है जो यदि अनाज पैदा करनेके काममें आती तो इस भूखे भारतवर्षका बड़ा भारी उपकार होता। अस्तु, तुम देखते हो तम्बाकूमें कलेजा फूंककर हम अपना स्वास्थ्य तो नष्ट करते ही हैं, साथमें अपनी

गादी कमाईका बहुत-सा रुपया भी खोते हैं। इतना ही नहीं, इससे हम अपने जीवनकी बहुत कुछ नैतिक शुद्धताको भी नष्ट कर बैठते हैं।

केशव—कैसे ?

पिता—उस दिन मैं तुमसे 'स्वच्छवायु-सेवन' के सम्बन्धमें बातें करते हुए बतला चुका हूँ कि मनुष्यका यह एक नैतिक कर्तव्य है कि हवाको व्यर्थ गंदी न करे। जो व्यक्ति लापरवाहीसे हवाको बेकार गंदी किया करता है वह नैतिक दृष्टिसे समाजके प्रति बड़ा भारी अपराधी है। तम्बाकू पीनेवाला हवाको नित्य गंदी किया करता है और व्यर्थ गंदी किया करता है, क्योंकि इससे उसको सिवा हानिके कुछ लाभ नहीं होता और साथमें दूसरे लोगोंको भी उस गंदगीसे हानि उठानी पड़ती है। जब और जहाँ ये तम्बाकू पीनेवाले ज़रा फुर्सतसे बैठे कि सिगरेट, बीड़ी या सिगारका धूआँ उड़ा-उड़ाकर हवाको खराब करने लगते हैं। किसी कमरेके अंदर यदि दो एक भी ऐसे आदमी आकर बैठ गये तो थोड़ी ही देरमें सारा कमरा दुर्गन्धसे भर उठता है। जो लोग तम्बाकू नहीं पीते उनके लिये ऐसी जगह बैठे रहना एक भारी तपस्याका काम है। नाट्यशालाओं और सिनेमा-घरोंमें इस प्रकारका अनुभव नित्य ही हुआ करता है। चारों ओरसे बंद स्थान और लकड़ोंकी भीड़मे जिधर देखो उधर ही सिगरेट, बीड़ी और सिगार रावणकी चिताकी भाँति सुलग-सुलगकर धूआं उड़ाती रहती है और अपनी दुर्गन्धसे हवाको भरती रहती है। रेलगाड़ियोंमें विशेषकर जाड़ेकी रातके समय तो यह दृश्य और भी वीभत्स हो उठता है। तमाम खिड़कियाँ बंद कर दी जाती हैं और फिर बिल्कुल बेफिक्रीके साथ सिगरेट-पर-सिगरेट और बीड़ियों-पर-बीड़ियां फूंकी जाती हैं, जिससे सारा डब्बा दुर्गन्धपूर्ण धूएँसे भर उठता है और थूक तथा खखारसे सारी जमीन भी भर उठती है। बस, फिर मानो वहाँ साक्षात् नरककुण्डका दृश्य उपस्थित हो जाता है। किन्तु तम्बाकूके लती लोगोंको इसकी परवा नहीं होती। उनका मस्तिष्क स्वार्थान्धतासे इतना कुण्ठित हो जाता है कि उनको यह मालूम ही नहीं पड़ता कि उनकी इस गंदी आदतसे किसी दूसरेको कष्ट होता है या नहीं।

केशव—मेरे दर्जेमें दो-तीन ऐसे लड़के हैं, जो मास्टरोंसे छिपा-छिपाकर बीड़ी पिया करते हैं। वे जब मेरे पास बैठते हैं, तब उनके मुँहसे बदबू आती है।

पिता—बदबू तो आवेगी ही। तुम ऐसे लड़कोंका साथ हर्गिज मत करना। लड़कपनमें ऐसे लड़कोंके साथसे ही ये बुरी आदतें आ जाती हैं। इस प्रकारके लड़के स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको भी ले डूबते हैं। याद रखो कि तम्बाकूका ज़हर बड़ोंकी अपेक्षा बालकोंके शरीरको कहीं ज़्यादा हानि पहुँचाता है।

केशव—यह क्यों ?

पिता—इसलिये कि बालकोंका शरीर पूरी तौरपर बना हुआ नहीं होता। उनकी हड्डियाँ मुलायम, मांस-पेशियाँ सुकुमार और स्नायु तथा मस्तिष्क बिल्कुल कच्ची दशामें होते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि तम्बाकूका जहर उनमें घर कर ले तो फिर इन सबोंकी बाढ़ मर जायगी। सब कच्चे ही रहकर मुर्झा जायँगे। हड्डियां नाटी और कमज़ोर रह जायँगी, मांसपेशियाँ सुस्त और शिथिल पड़ जायँगी तथा मस्तिष्क एवं स्नायुसंस्थान मुर्झाकर मुर्दा-सा बन जायगा। जिस प्रकार चाकूकी चोटोंको पीपल या बरगदके बड़े-बड़े पेड़ तो आसानीसे बर्दाश्त कर सकते हैं, किन्तु एक पनपता हुआ पौधा उससे दो-एक क्षणोंके अंदर ही मर जायगा, वही हाल एक पूर्णवयस्क मनुष्य और छोटी उम्रके बालकके सम्बन्धमें तम्बाकूका भी समझो।

केशव—मैं समझ गया। आपकी बातोंको सदा ध्यानमें रखूँगा और ऐसी बुरी चीजके कभी पासतक न जाऊँगा।

श्रीहरिः

युगलसरकारकी प्रार्थना

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात् । गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥१॥
योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिह लोके परत्र च । तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ॥२॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः । अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः ॥३॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा । कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥४॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ । प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥५॥
इत्येवं जपता नित्यं स्थातव्यं पदपङ्कजम् । अचिरादेव तद्दास्यमिच्छता मुनिसत्तम ॥६॥

श्रीलाड़िलीजी एवं लालजी ! आप दोनों शरणागतवत्सल हैं। आप ही हमारे स्वामी एवं रक्षक हैं। पुत्र, मित्र, गृह आदिके बखेड़ोंसे भरे संसार-सागरसे आप ही हमें बचा सकते हैं। इस लोकमें अथवा परलोकमें जो कुछ मेरा है और जो कुछ मैं हूँ, आप दोनोंके श्रीचरणकमलोंमें समर्पित है। मैं अपराधोंका खजाना हूँ। सारे साधन मैंने छोड़ दिये हैं। मेरी स्वामिनी और स्वामी ! मुझ निरुपायको एकमात्र आप दोनोंका ही सहारा है। श्रीराधारमण ! मैं कर्म, मन और वाणीसे आपका हूँ। श्रीकृष्णप्राणाधिके राधिके ! मैं आपका ही हूँ। बस, केवल आप दोनों ही हमारे आश्रय हैं। हे करुणामय ! मैं आप दोनोंकी शरण आया हूँ। यद्यपि मैं दुष्ट और अपराधी हूँ, फिर भी आप कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मैं निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहूँ। भगवान् शङ्कर कहते हैं—देवर्षि नारद ! जो शीघ्र-से-शीघ्र श्रीयुगलसरकारकी सेवाके लिये लालायित हों, उन्हें श्रीयुगलसरकारके चरण-कमलोंका चिन्तन करते हुए नित्य उपर्युक्त प्रार्थना करनी चाहिये।

—पद्मपुराण